डॉ. उषा सिंहल

दुर्घटवृत्तिः

एक परिशीलन

दुर्घटवृत्ति से अभिप्राय ऐसी वृत्ति से है जिसमें असाधु प्रतीत होने वाले प्रयोगों को साधु सिद्ध करने की दृष्टि से समाधान देने का प्रयत्न किया गया हो। विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में तीन दुर्घटवृत्तियों का नामोल्लेख मिलता है, किन्तु अब तक शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति ही उपलब्ध हो सकी है। शरणदेव ने अपनी इस कृति में विभिन्न महाकाव्यों, स्तोत्रों, नाटकों, व्याकरण ग्रन्थों, स्वयं पाणिनि के सूत्रों आदि में प्रयुक्त १०४२ दुःसाध्य प्रयोगों पर विचार किया है। इन प्रयोगों के साधुत्व के प्रसंग में ४६२ सूत्रों, अनेक वार्तिकों तथा उनसे सम्बन्धित परिभाषा-परिभाषाओं, धातुओं और प्रत्ययों को उद्धृत किया गया है। आलोच्य कृति इसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन है। इसमें व्याकरण के प्रामाणिक एवम् आधारभूत ग्रन्थों के आधार पर शरणदेव के मत की परीक्षा की गई है और तदनन्तर यह निष्कर्ष दिया गया है कि उन्हें मान्य माना जाय या नहीं। अद्यावधि श्रीगणपति शास्त्री तथा प्रो० रेणु ने ही इस ग्रन्थ पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु दोनों विद्वानों की दृष्टि पाठ-संपादन पर अधिक रही है। इस प्रकार दुर्घटवृत्ति में दिए गए समाधानों के परीक्षण एवम् मूल्यांकन का कार्य उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत कृति इसी दिशा में किया गया पहला प्रयास है।

मूल्य—२८०

दुर्घटवृत्तिः

एक परिशीलन

लेखिका

डॉ० ऊषा सिंहल

एम० ए० (संस्कृत तथा हिंदी) एम० फिल् (हिन्दी)

पीएच० डी० (संस्कृत) स्वर्णपदक विजेता

भाषाविज्ञान तथा अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान में निष्णातोत्तर उपाधिपत्र

प्रवक्ता संस्कृत प्राकृत एवं पालि विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली-११०००७

प्रकाशक
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७

© डॉ० उषा सिंहल
प्रथम संस्करण : १९८९

ISBN 81-7110-087-2

मूल्य : २८०.००

मुद्रक :
चौहान प्रिंटिंग प्रेस,
ब्रह्मपुरी, दिल्ली-११००५३

उपोद्‌घात

संस्कृत व्याकरण साहित्य के इतिहास में पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी का अद्वितीय, असाधारण एवं अनुपम स्थान है। यद्यपि इसकी रचना से पूर्व भी अनेक व्याकरण रचे गये थे, परन्तु दुर्भाग्यवश आज उनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है। अष्टाध्यायी के सूत्रों के अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु व्यापक और सारगर्भित होने के कारण इसके विशिष्ट अर्थों को सुस्पष्ट और सरल करने के लिए इस व्याकरण से सम्बद्ध अनेक वार्तिक, भाष्य और वृत्ति ग्रन्थ लिखे गए। जहां तक वृत्ति ग्रन्थों का सम्बन्ध है सभी वृत्तियां एक परम्परागत ढर्रे पर लिखी जाती रहीं जिनमें प्रायः सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों पर विचार किया जाता रहा। अष्टाध्यायी के सूत्रों की सूक्ष्म परीक्षा और विवेचन की दृष्टि से तो ये वृत्तियां व्याकरण के विद्यार्थी के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होती हैं, परन्तु इन वृत्तियों में विविध प्रयोगों की दृष्टि से इस तरह के प्रश्न नहीं रखे गए जैसे दुर्घटवृत्ति में मिलते हैं। संभवतः इसीलिए दुर्घटवृत्तियों की परम्परा का प्रारम्भ हुआ जिन्हें व्याकरण के क्षेत्र में विशेष महत्व दिया गया।

'दुर्घट' शब्द का अर्थ है सुगमतापूर्वक न घटना—सिद्ध न होना—अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्रों की दृष्टि से जिन प्रयोगों की सिद्धि होती नहीं दिखाई देती, दूसरे शब्दों में जो आपाततः असाधु प्रतीत होते हैं। दुर्घटवृत्ति से अभिप्राय ऐसी वृत्ति से है जिसमें उन प्रयोगों का व्याकरण सम्मत समाधान देने का प्रयत्न किया गया हो। अद्यावधि पुरुषोत्तमदेव तथा शरणदेव द्वारा विरचित—दुर्घटवृत्तियों का उल्लेख मिलता है; परन्तु आज केवल शरणदेव द्वारा रचित दुर्घटवृत्ति ही उपलब्ध है।

अष्टाध्यायी पर लिखी गई वृत्तियों में शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि इस वृत्ति में अनेक प्राचीन ग्रन्थ तथा ग्रंथकारों के मतों को उद्धृत करते हुए, संस्कृत वाङ्मय के १०४२ दुस्साध्य एवं पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से आपाततः असंगत प्रतीत होने वाले, प्रयोगों के साधुत्व पर विचार किया गया है। इन प्रयोगों के साधुत्व के प्रसंग में ४९२ सूत्रों, अनेक वार्तिकों तथा उनसे सम्बन्धित परिभाषाओं, धातुओं और प्रत्ययों के विवादास्पद स्थलों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ की महत्ता तथा उपयोगिता के कारण ही शब्दकौस्तुभ आदि में इसके मतों का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।

परन्तु दुर्घटवृत्ति के सही मूल्यांकन के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि उसके मतों का प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रंथों के आधार पर परीक्षण किया जाए। इस दिशा में अब तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है। श्री गणपतिशास्त्री ने सन् १९०९ में इस ग्रंथ का सम्पादन मात्र किया था जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ। प्रो० रेणु ने सन् १९४० में इस ग्रंथ का सम्पादन किया, परन्तु यहां भी ग्रंथ की समीक्षा एवं पर्यालोचना का विशेष प्रयास नहीं मिलता।

आलोच्य कृति दुर्घटवृत्ति की व्यापक समीक्षा की दिशा में किया गया प्रथम प्रयास है। इस कृति में दुर्घटवृत्ति में प्रसंगतः आए हुए विवादास्पद प्रयोगों का व्याकरण के सभी प्रधान एवं आधारभूत ग्रन्थों की दृष्टि से, विवेचन किया गया है तथा दुर्घटवृत्तिकार द्वारा समस्या के रूप में प्रस्तुत किए गये पदों को अष्टाध्यायी के सूत्रों, वार्तिकों, परिभाषाओं आदि का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए यथावसर स्वतन्त्र निष्कर्ष दिए गए हैं।

दुर्घटवृत्ति में अनेक स्थलों पर अशुद्ध प्रतीत होने वाले पाठों के विषय में भी यथावसर विचार किया गया है और उनके स्थान पर शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन अनेक संशोधित पाठों को मूल स्रोतों द्वारा मिलाकर यथासंभव प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही दुर्घटवृत्तिकार के असंगत प्रतीत होने वाले समाधानों का खंडन भी किया गया है।

प्रस्तुत कृति अष्टाध्यायी के सूत्र क्रमानुसार आठ अध्यायों में विभक्त है। इनसे पूर्व भूमिका में संस्कृत व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास, दुर्घटवृत्तियों की परम्परा, शरणदेव की दुर्घटवृत्ति की महत्ता और इसके अध्ययन की आवश्यकता, शरणदेव द्वारा दिए गए समाधानों के विविध आधार प्रस्तुत अध्ययन की महत्ता आदि विषयों पर विचार किया गया है।

प्रस्तुत कार्य डा० कपिलदेव शास्त्री, सेवानिवृत्त प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र के निर्देशन में किया गया है। उन्होंने अपनी सूक्ष्मभेदिनी दृष्टि के द्वारा दुर्घटवृत्तिसदृश दुर्घट व्याकरण ग्रन्थ को हृदयंगम करने में तो सहायता दी ही, साथ ही अध्ययन के मध्य उठने वाली समस्याओं का समाधान करने के साथ-साथ निरन्तर कार्यरत रहने की प्रेरणा भी प्रदान की। उनकी प्रेरणा के अभाव में इस कार्य का पूरा होना नितान्त असंभव था। उनके इस सद्भावके लिए मैं चिरऋणी रहूंगी।

प्रस्तुत कार्य के निमित्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने छात्रवृत्ति देकर

मेरा जो उत्साहवर्धन किया तथा आर्थिक दुश्चिताओं से दूर रखा उसके लिए मैं उसके अधिकारियों का हृदय से आभार स्वीकार करती हूं।

यदि यह कार्य करते समय मुझे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा आर्कालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया के पुस्तकालयों से यथोचित सहायता न मिली होती तो इस कार्य का सम्पन्न होना सर्वथा दुष्कर था। अतः मैं इन संस्थाओं के अधिकारियों का भी आभार स्वीकार करती हूं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सारा श्रेय परिमल पब्लिकेशन के अध्यक्ष श्री के० एल० जोशी को है। वे स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं तथा संस्कृत वाङ्मय के मानक ग्रंथों के प्रकाशन में निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। उन्होंने अपने प्रकाशन संस्थान के माध्यम से इस कार्य को विद्वज्जनों के समक्ष रखने का जो अवसर दिया है उसके प्रति मैं हृदय से आभार मानती हूं।

उषा सिंहल
संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

भूमिका

संस्कृत व्याकरण का स्वरूप तथा उसमें पाणिनि का स्थान

संस्कृत वाङ्मय में पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरणशास्त्र में यह ग्रंथ 'शब्दानुशासन' के नाम से प्रख्यात है। पाणिनीय व्याकरण से पूर्व कई व्याकरण लिखे गए थे, परन्तु वे सब सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। स्वयं पाणिनि ने अपनी कृति में आपिशलि, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन नामक दस वैयाकरणों के मत उद्धृत किए हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन-अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि पाणिनि से पूर्व ब्रह्मा, वृहस्पति, इन्द्र आदि देवताओं ने भी व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन किया था। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इन्द्र से लेकर पाणिनि तक लौकिक तथा वैदिक संस्कृत से सम्बद्ध लगभग ८५ व्याकरण रचे गए थे जिनका उल्लेख प्रातिशाख्य आदि ग्रंथों में मिलता है।[1] लेकिन आज केवल पाणिनि कृत अष्टाध्यायी ही उपलब्ध है जो निर्विवाद-रूपेण सम्प्रति उपलब्ध समस्त व्याकरणों में सर्वाङ्गपूर्ण है।

अष्टाध्यायी का स्थान तथा उसकी विशेषताएँ

अष्टाध्यायी के सूत्र अत्यन्त परिमार्जित और व्यापक हैं। उसका क्रम इतना वैज्ञानिक है कि व्याकरण जैसा दुरूह विषय जितनी सरलता से इस ग्रन्थ द्वारा बुद्धिगम्य हो जाता है उतनी सरलता से सिद्धान्तकौमुदी जैसे प्रक्रिया ग्रन्थों से भी नहीं हो पाता। यह ग्रन्थ अनुवृत्ति, अनुबन्ध और प्रत्याहार की दृष्टि से अत्यन्त परिष्कृत है। सूत्र शैली का प्रयोग किए जाने पर भी इसके सूत्र अत्यन्त व्यापक, परिनिष्ठित तथा परिष्कृत हैं। इसमें उस प्रमाणभूत आचार्य ने पूर्व-वर्ती समस्त व्याकरण ग्रन्थों का सार-तत्त्व संगृहीत करने का सफल प्रयत्न किया था। इतना ही नहीं, अष्टाध्यायी के सूत्रों से ही अनेक ज्ञापक और परि-भाषाएँ निकाली गईं। संभवत: अष्टाध्यायी की इन विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए ही यह कहा जाने लगा कि भारतीय व्याकरण में ही सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन हुआ तथा प्रकृति और प्रत्ययों का अन्तर समझा जाने लगा। विश्व की किसी भी अन्य भाषा के व्याकरण में वे विशेषताएं दृष्टिगत नहीं होतीं जो हमें पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में मिलती हैं।

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ० ६३।

अष्टाध्यायी पर रचित वार्तिक ग्रंथ और उनमें कात्यायन का स्थान

यद्यपि पाणिनि ने अपने समय में प्रचलित भाषा के विविध रूपों का विवेचन और विश्लेषण करने का पूर्ण प्रयत्न किया था, परन्तु भाषा के उत्तरोत्तर विकास के कारण कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती रहीं जिनका समाधान पाणिनि व्याकरण द्वारा नहीं हो सका। इन समस्याओं के समाधान हेतु वार्तिक ग्रंथ लिखे गए। 'वार्तिक' शब्द का अर्थ है—'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्' अर्थात् वृत्ति के व्याख्यान को वार्तिक कहते हैं।[1] वार्तिक के स्वरूप का निरूपण नागेश भट्ट ने इस प्रकार किया है—

> **सूत्रेऽनुक्तदुरुक्तचिन्ताकरणत्वं वार्तिकत्वम्।**
> **उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरणत्वं हि वार्तिकम्॥**[2]

अर्थात् जिसमें उक्त, अनुक्त अथवा दुरुक्त रूप से पर विचार किया जाए उसे वार्तिक कहते हैं। कैयट ने वार्तिक को 'व्याख्यान सूत्र' नाम दिया है अर्थात् वार्तिक ऐसे सूत्रात्मक वाक्य हैं जिनमें पाणिनीय सूत्रों का व्याख्यान निहित है। भर्तृहरि ने वार्तिक को 'भाष्य सूत्र' नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः सूत्रों के व्याख्यान के बिना शास्त्र-प्रवृत्ति का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता।

अष्टाध्यायी पर अनेक वार्तिकें रची गईं जिसकी पुष्टि इस बात से होती है कि महाभाष्य में अनेक स्थलों पर 'अपर आह' निर्देश द्वारा अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख किया गया है।[3] महाभाष्यकार ने कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, बाडव, व्याघ्रभूति और वैयाघ्रपद्य नामक सात वार्तिककारों का उल्लेख भी किया है। इन सब वार्तिककारों में कात्यायन का नाम प्रमुख है। उनका वार्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग है जिसके अध्ययन के बिना व्याकरण का अध्ययन अधूरा रह जाता है। लेकिन कात्यायन ने जो वार्तिक पाठ तैयार किया है वह स्वतंत्र रूप से न मिलकर महाभाष्य में ही सम्मिलित है। कात्यायन पाणिनि के गम्भीर आलोचक थे। पाणिनि के सूत्रों में उन्हें जहाँ-कहीं तनिक-सा भी दोष दृष्टिगोचर हुआ उसके निवारण हेतु उन्होंने किञ्चित् भी संकोच नहीं किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहीं-

---

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पृ० २८१।

२. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ४४०।

३. 'जाग्रोगुणविधिः। अपर आह—जाग्रो गुणविधिः।'

—महाभाष्य, १।२।४, पृ० ८।

कहीं पाणिनि के सूत्रों को लक्ष्य न करके वृत्ति के वचनों को दृष्टि में रखते हुए वार्तिकों की रचना की।

पातञ्जल महाभाष्य

वार्तिकों के स्पष्टीकरण के लिए भाष्य लिखे गए जिनमें पतञ्जलि कृत महाभाष्य सर्वप्रमुख है। इसमें व्याकरण के जटिल तथा दुरूह नियमों का अत्यंत सरल और सरस ढंग से स्पष्टीकरण किया गया है। समस्त व्याकरण निकाय में सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ यही है तथा आचार्य पतञ्जलि सबसे अधिक प्रामाणिक आचार्य माने गए हैं—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।

सूत्र ग्रन्थों में अत्यन्त संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया गया है। परिणामतः सूत्रों के गूढ़ तथा विशिष्ट अर्थों को हृदयंगम कराने के लिए सूत्रों के व्याख्यायन की महती आवश्यकता थी। इस दृष्टि से अनेक व्याख्यान-ग्रंथ लिखे गए। व्याख्यान-ग्रंथों के स्वरूप का निरूपण करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है—'न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्-वृद्धि आत् ऐज् इति। किं तर्हि ? उदाहरणम्, प्रत्युदाहरणम्, वाक्याध्याहारः, इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति'[1] अर्थात् उसमें उदाहरण, प्रत्युदाहरण और अध्याहार भी होने चाहिएं। अन्यत्र भी व्याख्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसके पञ्च अवयवों का प्रतिपादन किया गया गया है—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्।[2]

अर्थात् पदच्छेद, पदों का अर्थ, समस्तपदों का विग्रह, वाक्य योजना, पूर्वपक्ष और समाधान में व्याख्यान के पञ्च अवयव हैं।

यहां पर यह कहा जा सकता है कि वार्तिक भी तो सूत्रों का व्याख्यान ही है। अतः वार्तिक तथा वृत्ति में पार्थक्य क्या है ? वस्तुतः दोनों के स्वरूप में अन्तर है। किसी भी व्याख्या का मुख्य उद्देश्य भाव प्रकट करना, असंगतियों को सुलझाना, आक्षेपों का उत्तर देना त्रुटियों की ओर संकेत करना होता है, वार्तिक में यह सब कुछ है, परन्तु वह सब सूत्र शैली में है। इसके विपरीत वृत्ति ग्रंथों में भी यह सब कुछ विद्यमान है परन्तु उसकी शैली में अन्तर है उसकी शैली है—उदाहरण और प्रत्युदाहरण में समन्वय।

---

१. महाभाष्य, १।१।१।
२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में भाषावृत्ति की सृष्टिधर विरचित विवृत्ति से उद्धृत।

अष्टाध्यायी के वृत्ति ग्रंथ

अष्टाध्यायी पर प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने अनेक वृत्तियां लिखी। महाभाष्य के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्य की रचना से पूर्व भी कम से कम पांच वृत्तियां लिखी गई थीं। महाभाष्य के पश्चात् जितनी वृत्तियों की रचना हुई उन सबका आधार महाभाष्य ही रहा है।

अब तक जितनी पूर्ण अथवा अपूर्ण वृत्तियों का पता लग सका है उनकी संख्या सैंतीस है।[1] ये वृत्तिकार हैं—स्वयं पाणिनि, श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि, देवनन्दी, चुल्लि भट्टि, निलूर, चूर्णि, जयादित्य और वामन, भागवृत्तिकार, भर्त्रीश्वर, भट्टजयन्त, केशव, इन्दुमित्र, मैत्रेय रक्षित, पुरुषोत्तम-देव, शरणदेव, भट्टोजिदीक्षित, अप्पय्य दीक्षित, नीलकण्ठ वाजपेयी, अन्नम्भट्ट-विश्वेश्वर सूरि, गोपाल कृष्ण शास्त्री, गोकुलचन्द्र, ओरम्भट्ट, स्वामी दयानन्द सरस्वती, अप्पन नैनार्य, नारायण सुधी, रुद्रधर, उदयन, उदयङ्कर भट्ट, रामचन्द्र, सदानन्द और स्वयं पाणिनीय लघुवृत्ति।

काशिका—इन सब वृत्तियों में जयादित्य वामन विरचित काशिका वृत्ति का विशिष्ट स्थान है। महाभाष्य और भर्तृहरि विरचित ग्रंथों के पश्चात् पाणिनीय व्याकरण में काशिका वृत्ति को ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। इस वृत्ति के आश्रय से ही हम पाणिनि के मर्म को भली प्रकार समझ सकते हैं। इस महती वृत्ति के रचयिता दो महान् वैयाकरण हैं—जयादित्य और वामन। यह अत्यन्त विवाद का विषय है कि काशिका के कितने अध्याय जयादित्य ने लिखे हैं और कितने वामन ने। फिर भी सर्वाधिक मान्य मत यही है कि जयादित्य ने प्रथम पांच अध्यायों की रचना की थी और वामन ने अन्तिम तीन की। जहां तक विचारों की प्रौढ़ता का प्रश्न है वह काशिका के उत्तरार्द्ध अर्थात् वामन विरचित अंशों में ही अधिक दृष्टिगत होती है।

काशिका वृत्ति की अपनी ही विशेषताएं हैं जिनमें सर्वप्रमुख है गणपाठ। इससे पूर्व की वृत्तियों में गणपाठ का सर्वथा अभाव था। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन वृत्तिकारों के मत भी उद्धृत किए गए हैं। महाभाष्य के अनेक विवादों को भी अति संक्षिप्त रूप में काशिकाकार ने यथावसर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वामन ने काशिका वृत्ति में इसकी विशिष्टता का प्रतिपादन करते हुए कहा है।

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग १), पृ० ४०३-४६१।

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृत्तगूढ़सूत्रार्थी ।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिवृत्तिरियं काशिका नाम।

अर्थात् काशिका वृत्ति में इष्टियों का उपसंख्यान, शुद्धगणों का विवरण, सूत्रों के गूढ़ अर्थों की विवृत्ति तथा व्युत्पन्न रूपों की सिद्धि की गई है। वास्तव में इस वृत्ति में ये सभी विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं।

न्यास—काशिका वृत्ति की महत्ता के कारण इस पर अनेक टीकाएं लिखी गईं जिनमें से प्राचीनतम न्यास है। इसी का दूसरा नाम है—काशिकाविवरण-पञ्जिका। इस ग्रन्थ की रचना बौद्ध आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने की थी। यह महती टीका काशिका पर अत्यन्त प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। न्यास की महत्ता के कारण इस पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी जिनमें मैत्रेय रक्षित विरचित तन्त्रप्रदीप सर्वप्रमुख हैं।

पदमञ्जरी—काशिका वृत्ति पर रचित टीकाओं में दूसरी महत्वपूर्ण टीका पदमञ्जरी है। इसके रचयिता हरदत्त हैं। यह कृति लेखक की प्रौढ़ता तथा पाण्डित्य की ज्वलन्त दिग्दर्शिका है। इस ग्रंथ पर भी अनेक व्याख्याएं लिखी गई।

भागवृत्ति—अष्टाध्यायी पर विरचित वृत्तियों में काशिका के पश्चात् भागवृत्ति का स्थान है। परन्तु दुर्भाग्यवश यह कृति उपलब्ध नहीं है। इसके उद्धरण सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ, दुर्घटवृत्ति आदि में उपलब्ध होते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने इन उद्धरणों का संकलन करके उन्हें 'भागवृत्ति संकलनम्' नाम से प्रकाशित किया है।

इस वृत्ति में लौकिक तथा वैदिक सूत्रों का विभाजन करके उनकी व्याख्या की गई है। अतः भागशः वृत्ति होने के कारण 'भागवृत्ति' अन्वर्थ संज्ञा है। युधिष्ठिर मीमांसक ने काशिका तथा भागवृत्ति के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि भागवृत्ति महाभाष्य में पूर्ण आस्था रखकर चलती है, जबकि काशिका में कहीं-कहीं महाभाष्य का खंडन दृष्टिगत होता है।[1]

भाषावृत्ति—काशिका पर रचित वृत्तियों में भागवृत्ति के पश्चात् भाषा-वृत्ति का स्थान आता है। इस वृत्ति में अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या की गई है।

अष्टाध्यायी की वृत्तियों में दुर्घटवृत्तियों की परम्परा तथा शरणदेव

सामान्यतया यह देखा गया है कि सभी वृत्तियां एक परम्परागत

१. द्र० भागवृत्तिसंकलन, प्रस्तावना, पृ० ४।

ढर्रे पर लिखी गईं जिनमें प्रायः सूत्रों का अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों पर विचार किया जाता रहा है। अष्टाध्यायी के सूत्रों की सूक्ष्म परीक्षा तथा विवेचन की दृष्टि से तो ये वृत्तियां संस्कृत व्याकरण के विद्यार्थी के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, परन्तु इन वृत्तियों में विविध प्रयोगों की दृष्टि से इस प्रकार के प्रश्न नहीं उठाए गए जैसे दुर्घट नामक ग्रन्थों में मिलते हैं। संभवतः इसीलिए दुर्घटवृत्तियों की परम्परा का आरम्भ हुआ जिसको व्याकरण में विशेष महत्व दिया जाने लगा।

'दुर्घट' शब्द का अर्थ है सुगमतापूर्वक न घटना—सिद्ध न होना अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्रों की दृष्टि से जिन प्रयोगों की सिद्धि सामान्यतया होती दिखाई नहीं देती या दूसरे शब्दों में जो आपाततः असाधु प्रतीत होते हैं। दुर्घटवृत्ति से अभिप्राय ऐसी वृत्ति से है जिनमें असाधु प्रतीत होने वाले प्रयोगों को साधु सिद्ध करने की दृष्टि से समाधान देने का प्रयत्न किया गया हो। विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों में तीन दुर्घटवृत्तियों का नामोल्लेख मिलता है, किन्तु अब तक शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति ही उपलब्ध हो सकी है। जो दुर्घटवृत्तियां आज उपलब्ध नहीं हैं उनके लेखक मैत्रेय रक्षित और पुरुषोत्तम देव हैं।

मैत्रेयरक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति : मैत्रेय रक्षित (समय लगभग सं० ११६५ से[1]) ने भी दुर्घटवृत्ति लिखी थी इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति के निम्नलिखित पाठ उद्धृत किए हैं—

(क) श्रीयमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः।[2]

(ख) कृदिकारादिति ङीषि लक्ष्मीत्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः।[3]

यद्यपि ये दो उदाहरण किसी ग्रंथ की सत्ता को प्रमाणित करने की दृष्टि से नगण्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके आधार पर मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि शरणदेव की दुर्घटवृत्ति में रक्षित के मत १२० बार उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि इनमें से बहुत से मत रक्षित के अन्य ग्रंथों से उद्धृत किए गए हों किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये धातुप्रदीप से उद्धृत नहीं हैं क्योंकि धातुप्रदीप से उद्धरण देते समय शरणदेव ने उसका स्पष्टरूपेण

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (भाग १), पृ० ४४२।

२. उणादिवृत्ति, पृ० ८०।

३. उपरिवत् पृ० १४२।

नामोल्लेख किया है। साथ ही इनमें से कोई भी मत सम्प्रति उपलब्ध धातु-प्रदीप में नहीं है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि ये मत तन्त्र प्रदीप से उद्धृत किए गए होंगे। साथ ही यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से कुछ मत मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति से प्रस्तुत किए गए हैं। दुर्घटवृत्ति नाम की समानता को देखते हुए बाद वाला अनुमान अधिक सुसंगत एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसमें विचारों की भिन्नता नहीं हो सकती कि शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति की रचना में मैत्रेय रक्षित द्वारा लिखित दुर्घटवृत्ति से पर्याप्त सहायता ली होगी।

यहां पर यह शंका की जा सकती है कि उज्ज्वलदत्त द्वारा उल्लिखित रक्षित कोई अन्य व्यक्ति न होकर दुर्घटवृत्ति का प्रतिसंस्कर्ता सर्वरक्षित ही है। इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि शरणदेव कृत दुर्घटवृत्ति में उपयुक्त पाठ उपलब्ध नहीं होते। अतः इससे यही प्रामाणित होता है कि मैत्रेय रक्षित ने भी दुर्घटवृत्ति लिखी थी।

पुरुषोत्तमदेव विरचित दुर्घटवृत्ति : पुरुषोत्तमदेव ने भी दुर्घटवृत्ति की रचना की थी इस बात की पुष्टि सर्वानन्द विरचित अमरकोश टीका सर्वस्व के इस वाक्य से होती है—पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटे साधुत्वमुक्तम्।[1] लेकिन अद्यावधि पुरुषोत्तमदेव द्वारा लिखित दुर्घटवृत्ति उपलब्ध नहीं है। शरणदेव ने भी अपनी दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव के नाम से विभिन्न स्थलों पर जो उद्धरण दिए हैं उनमें पुरुषोत्तमदेव की दुर्घटवृत्ति का उल्लेख नहीं है। हां, यह अवश्य है कि शरणदेव द्वारा उद्धृत अवतरणों में से तीन ऐसे हैं जो उसके प्राप्य ग्रन्थों—परिभाषावृत्ति, भाषावृत्ति तथा ज्ञापकसमुच्चय में उपलब्ध नहीं होते।[2] ऐसी स्थिति में यही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये उद्धरण उसके अनुपलब्ध ग्रन्थ दुर्घटवृत्ति से लिए गए होंगे।

शरणदेव और उसकी दुर्घटवृत्ति

अनेन प्रकारेण यह कहा जा सकता है कि आज केवल शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में महाकाव्यों, स्तोत्रों, नाटकों, व्याकरण-

---

१. अमरकोशटीका सर्वस्व, पृ० २२७।

२. (क) 'पुरुषोत्तमदेवश्च—उपभोगोऽत्र गौणार्थः। आत्मसात्कारणं वा अनवनम्।—दुर्घटवृत्ति, पृ० २१।

(क) 'शेषविवक्षायां षष्ठीति पुरुषोत्तमः।—दुर्घटवृत्ति, पृ० ४७।

(ग) 'स्थितः स्थिर इत्यर्थः ऊर्ध्वं स्थित इति पुरुषोत्तमदेवः'—दुर्घटवृत्ति, पृ० ७६।

ग्रन्थों, स्वयं पाणिनि के सूत्रों आदि में प्रयुक्त १०४२ दुःसाध्य प्रयोगों पर विचार किया गया है।

शरणदेव : जीवनवृत्त और रचना काल

यह सौभाग्य का विषय है कि शरणदेव के व्यक्तित्व के विषय में मतभेद नहीं है। आलोच्य कृति (दुर्घटवृत्ति), के मंगलाचरण विषयक श्लोकों के अध्ययन से यह स्वतः स्पष्ट है कि शरणदेव का जन्म बृहद्भट्ट नामक ग्राम में हुआ था तथा उसने अपनी वृत्ति की रचना सन् ११७२ में की थी।[1] शरणदेव केवल वैयाकरण ही नहीं थे अपितु कवि भी थे। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि शरण नामक कोई व्यक्ति दुरूह अर्थात् कठिन शब्दों के पद-पदार्थ के विवेचन की दृष्टि से श्लाघ्य था—'शरणः श्लाध्यो दुरूहद्रुते।[2] इस पर रसिकप्रिया टीका का लेखक लिखता है—'शरणसंज्ञः कविः दुरूहद्रुतेः' श्लाध्यो दुर्विचारपदपदार्थ ज्ञानात्प्रशस्यः।' इसी गीतगोबिन्द की बालबोधिनी टीका में कहा गया है कि—'शरणनामा कविः दुरुहस्य दुर्ज्ञेयस्य काव्यस्य द्रुते शीघ्रवचने श्लाध्यः। न तु प्रसादादि गुणैः युक्ते।' इन दोनों उद्धरणों से यही अनुमान किया जा सकता है कि जयदेव ने शरण नामक जिस व्यक्ति का उल्लेख किया है वह दुर्घटवृत्ति का रचयिता शरणदेव ही है। बलदेव उपाध्याय भी यही मानते हैं कि जयदेव द्वारा स्मृत शरण नामक व्यक्ति शरणदेव ही हैं।[3] लेकिन सदुक्तिकरणामृत नामक ग्रन्थ में शरण, चिरन्तन शरण शरणदेव, और शरणदत्त नामक चार व्यक्तियों का नामोल्लेख मिलता है। ये चारों नाम एक ही व्यक्ति के हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के इस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। परन्तु यह संभावना की जा सकती है कि ये चारों नाम एक ही व्यक्ति के न होकर अलग-अलग लेखकों के रहे होंगे। इसका कारण यह है कि एक ही कृति में एक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख न होकर एक ही नाम से उल्लेख होता है। प्रो० रेणु तथा सुरेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने इन चारों के एक होने की संभावना भी की है[4] जो मेरी दृष्टि से उचित नहीं जान

---

१. बृहद्भट्टजनाम्भोजकोशवीकासभास्वते।
शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनमोनवपञ्चविताने।
दुर्घटवृत्तिरकारि मुदे वः कण्ठविभूषणहारलतेव॥—दुर्घटवृत्ति, पृ० १।

२. गीतगोबिन्द, श्लोक ४।

३. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ४८१।

४. (क) प्रो० रेणु द्वारा सम्पादित दुर्घटवृत्ति, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० ४८-४९।
(ख) संस्कृत साहित्य बंगालीरदान, पृ० १०३।

पड़ती। परन्तु शरणदेव के अतिरिक्त अन्य तीन नाम वाले व्यक्तियों की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। साथ ही शरणदेव को शरणदेव अथवा शरण नाम से ही याद किया गया गया है। इस प्रकार यह मानना अधिक उपयुक्त है कि ये चारों भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं।

शरणदेव : एक बौद्ध आचार्य : संस्कृत व्याकरण सम्प्रदाय में अनेक ऐसे प्रतिष्ठित विद्वान हो चुके हैं जिन्होंने बौद्ध होते हुए भी पाणिनीय अष्टाध्यायी की व्याख्या अथवा विवेचन किया है। इतिहासकारों के अनुसार अष्टाध्यायी की सम्प्रति उपलब्ध सर्वाधिक प्रतिष्ठित काशिका वृत्ति के लेखक जयादित्य और वामन बौद्ध धर्मावलम्बी थे। इस प्रसंग में दुर्घटवृत्ति के उपजीव्य अथवा आधारभूत प्राचीन दुर्घटवृत्तियों के लेखक मैत्रेय रक्षित और पुरुषोत्तमदेव का भी नाम लिया जा सकता है। काशिका के व्याख्याकार जिनेन्द्रबुद्धि भी बौद्ध थे। शरणदेव भी बौद्धमतावलम्बी थे। इसकी पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

(क) शरणदेव ने अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण विषयक श्लोकों में बुद्ध के पर्यायवाची सर्वज्ञ को नमस्कार किया है।[1] अपनी कृति में अनेक बौद्ध ग्रन्थों यथा बुद्धचरित आदि के प्रयोगों पर विचार-विमर्श किया है।

(ख) शरणदेव ने जहां कहीं मैत्रेय रक्षित और महाभाष्य के मत साथ-साथ उद्धृत किए हैं वहां मैत्रेय रक्षित को पहले उद्धृत किया है तथा महाभाष्य को बाद में।[2] महाभाष्य समस्त व्याकरण निकाय में मूर्धन्य स्थान रखता है और सर्वाधिक प्रामाणिक माने जाने के कारण सर्वप्रथम प्रायः उसी को उद्धृत किया जाता है। दुर्घटवृत्ति में इस क्रम-विपर्यय का सर्वप्रमुख कारण शरणदेव की धार्मिक भावना ही प्रतीत होती है।

(ग) इसके अतिरिक्त जिन समस्याओं का समाधान महाभाष्य अथवा तत्सदृश पाणिनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध किसी प्राचीन व्याख्या ग्रंथ में मिल जाता है वहां भी शरणदेव ने महाभाष्य आदि का नाम न लेकर रक्षित के मत का ही उल्लेख किया है।[3]

(घ) शरणदेव ने अपनी कृति में स्वर और वेद विषयक सूत्रों पर विचार नहीं किया है तथा तत्सम्बन्धी सूत्रों से सम्बद्ध अष्टाध्यायी के षष्ठ अध्याय के

---

१. 'नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञ ज्ञानहेतवे।'—दुर्घटवृत्ति, पृ० १।

२. दुर्घटवृत्ति, ६।४।६६।

३. उपरिवत्।

द्वितीय पाद को पूर्णतया छोड़ दिया है। यही स्थिति जैनेन्द्र, चन्द्रगोमिन्, शाकटायन, हेमचन्द्र आदि बौद्ध विद्वानों के व्याकरणों में दृष्टिगत होती है।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि शरणदेव बौद्धमतानुयायी थे।

कृतित्व

आज शरणदेव की केवल एक ही कृति 'दुर्घटवृत्ति' उपलब्ध है। संस्कृत वाङ्मय में यह कृति अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है तथा उज्ज्वलदत्त कृत उणादिसूत्र वृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति, प्रौढ़मनोरमा, सर्वानन्द विरचित अमरकोश की टीका सर्वस्व, शब्दकल्पद्रुम तथा कीथ और विटंरनिट्ज के संस्कृत साहित्य के इतिहासग्रंथों में इसका उल्लेख हुआ है। भट्टोजि दीक्षित ने भी अपने शब्दकौस्तुभ में कई स्थलों पर शरणदेव के मतों का खंडन करते हुए उसे उद्धृत किया है।[1]

दुर्घटवृत्ति का प्रति संस्करण : दुर्घटवृत्ति के मंगलाचरण विषयक श्लोकों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि शरणदेव के आग्रह पर सर्वरक्षित ने दुर्घटवृत्ति को प्रतिसंस्कृत अथवा परिमार्जित किया था।[2] यह सर्वरक्षित कौन था इसके सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है, लेकिन शरणदेव ने उसके नाम के साथ 'श्री' विशेषण का प्रयोग किया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि शरणदेव के हृदय में सर्वरक्षित के लिए आदर की भावना थी। इस प्रसंग में 'छात्रावग्रहपीडया' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यहां 'छात्र' शब्द का संभवत: तात्पर्य यह है कि शरणदेव जो सर्वरक्षित के शिष्य थे, के अवग्रह अथवा आग्रह को न टाल सकने के कारण श्री सर्वरक्षित को दुर्घटवृत्ति का प्रतिसंस्कार करना पड़ा। अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सर्वरक्षित या तो शरणदेव के गुरु रहे होंगे या फिर गुरु तुल्य—इस विषय में श्री गणपति शास्त्री का भी यही विचार है।[3]

१. यतूक्तं दुर्घटवृत्तौ भ्रूशब्दाद् 'अप्राणिजातेश्च' (का० वा०) इत्यूङि-तस्य समुदाय मक्तत्वान्नोवङ्स्थानत्वमिति। तदतिस्थवीयः, प्रत्ययस्य भक्ताया निष्प्रमाणकत्वात्।' —शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।४, पृ० १०४।

२. 'वाक्याच्छरणदेवस्य च्छात्रावग्रहपीडया।
श्री सर्वरक्षितेनेषा संक्षिप्य प्रतिसंस्कृता ॥'—दुर्घटवृत्ति, पृ० १।

३. 'As the author speaks of the reviser of his work as 'Sri—Sarvarakshita' with the epithet, Sri, perfixcd to the name it appears that Saranadeva had great veneration a towards Sarvarakshita. Therefore Sarnadeva was probably a disciple of Sarvarakshita, or stood in that relation". Durghata Vṛtti, Preface, page No. 2.

लेकिन आश्चर्य की बात है कि शरणदेव ने अपने गुरुतुल्य आचार्य सर्वरक्षित के मत को केवल एक बार प्रस्तुत किया है[1] जबकि रक्षित आदि के मत अनेक स्थलों पर उद्धृत किए गए हैं। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि सर्वरक्षित और रक्षित कहीं एक ही व्यक्ति तो नहीं हैं। परन्तु यह प्रश्न इसलिए उपयुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि ये दोनों एक ही व्यक्ति होते तो फिर शरणदेव सर्वत्र रक्षित का ही नाम ले सकता था। अतः यह मानना ही उचित है कि सर्वरक्षित और रक्षित भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं।

दुर्घटवृत्ति की शैली : दुर्घटवृत्ति में सर्वत्र सूत्र-शैली अपनाई गई है जो अपने प्रतिपाद्यविषय के सर्वथा अनुरूप है। यदि इस ग्रंथ में व्यास-शैली अपनाई जाती तो यह ग्रंथ बृहदाकार ग्रहण कर लेता। दुर्घटवृत्ति की शैली महाभाष्य जैसी सरस, सरल और प्राञ्जल न होकर नीरस है। दुर्घटवृत्तिकार की विवेचन पद्धति यह है कि पहले सूत्र उद्धृत करता है, फिर 'कथम्' पद द्वारा विचाराधीन प्रयोग प्रस्तुत करता है तथा तदन्तर 'उच्चते' पद द्वारा समाधान देता है। जहां पर एक से अधिक समाधान दिए गए हैं वहां पर 'वा' पद का प्रयोग किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं इस पद्धति का व्यावर्तन भी हुआ है।[2] तर्क की अवस्था में 'ननु' और 'एवमपि' शब्दों का प्रयोग हुआ है। किसी महाकाब्य आदि का निर्देश करते हुए प्रायः अति संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया गया है यथा 'रघु', 'कुमारः' आदि।

दुर्घटवृत्तिकार ने अपने ग्रंथ में प्रत्येक अध्याय का प्रत्येक पाद आरम्भ करने के पूर्व पाद का प्रथम सूत्र उद्धृत किया है, तत्पश्चात् विचाराधीन सूत्र। परन्तु इस पद्धति का आरम्भ में ही व्यावर्तन हुआ है। शरणदेव की रचना-

---

१. दुर्घटवृत्ति, १।३।४०।

२. उपरिवत् (क) 'कथम्' पद का व्यावर्तन—२।३।१८, ३।२।१५, ३।२।८७, ३।२।१२३, ४।२।४५, ५।४।११९।

(ख) 'उच्यते' पद का व्यावर्तन—१।३।१७, १।३।३७, १।३।८७, १।४।२१, १।४।१०५, २।१।५२, २।२।२, २।२।६, २।३।५०, २।४।२३, २।४।५३, ३।१।९८, ३।१।१००, ३।२।५०,, ३।३।९४, ३।४।४६, ३।४।८६, ४।१।१७१, ४।२।८७, ५।१।१२६, ५।२।११२, ५।२।१२१. ५।३।१५, ५।३।२४, ५।३।१४०, ५।४।२९, ५।४।७८, ५।४।१३२, ५।४ १३५, ५।४।१४१, ६।१।१०, ६।१।२७, ६।१।४५, ६।३।९३, ६।१।२०१, ६।१।१३७, ६।३।२५, ६।३।६५, ६।३।६७, ६।४।८५, ७।१।६५, ७।१।८१, ७।१।१००, ७।२।१५, ८।२।६२, ८।३।९७।

शैली के अनुसार उसे पहले प्रथम पाद का प्रथम सूत्र 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) उद्धृत करना चाहिए था तथा उसके पश्चात् ही विचाराधीन 'त्रिङति च' (१।१।५) सूत्र।

दुर्घटवृत्ति में कहीं-कहीं पुनरुक्ति दोष भी दृष्टिगत होता है। उसमें चार प्रयोगों पर दो-दो बार विचार किया गया है। उदाहरणार्थ 'ऋत्विग्दधृक्...' (३।२।५९) सूत्र के प्रसंग में विचाराधीन 'नीचः' प्रयोग पर पुनः 'अच् प्रत्यन्वव...' (५।४।७५) सूत्र के प्रसंग में विचार किया गया है। इसी प्रकार 'सौदराद्यः' (४।४।१०६) सूत्र के विषय में विचाराधीन 'सोदरः' पर 'विभाषोदरः' (६।३।८८) सूत्र की व्याख्या में पुनः विचार किया गया है तथा 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) सूत्र की दृष्टि से प्रस्तुत किए गए 'आदध्यात्' प्रयोग को 'श्लो' (६।१।१०) सूत्र पर विचार करते हुए पुनः प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'अपि शाकं पचानस्य' (दुर्घटवृत्ति, ३।२।१२४) प्रयोग पर पुनः 'आने मुक्' (७।२।८२) सूत्र के प्रसंग में विचार किया गया है।

दुर्घटवृत्ति में तीन चार ऐसे सूत्र भी उद्धृत किए गए हैं जिन पर तनिक भी विचार नहीं किया गया। यथा 'असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) सूत्र। यहां पर यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक ने ऐसा किस अभिप्राय से किया है।

दुर्घटवृत्ति में कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनका सम्बन्ध विचारधीन सूत्र से न होकर किसी अन्य सूत्र से ही है। यहां पर यह स्पष्ट नहीं होता कि दुर्घटवृत्तिकार ने ऐसा क्यों किया। वह इन प्रयोगों पर अलग से भी विचार कर सकता था। वे प्रयोग ये हैं—प्रशंसीयात्, शयानेन भुक्तम्, वीज्यते, प्रेमः, पूर्णिमा, सीतामूचे सुखाभव, महाष्टमी, त्रिष्टुप्, निंस्से तथा अनुष्टुप्।[1]

दुर्घटवृत्ति का प्रतिपाद्य विषय : दुर्घटवृत्ति का प्रतिपाद्य विषय इसके नाम के ही अनुरूप ऐसे प्रयोगों के साधुत्व का निरूपण करना है जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार असाधु प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त इस वृति में उन प्रयोगों की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराया गया है जिनकी ओर सामान्यतया लोगों का ध्यान नहीं जाता। स्वयं पाणिनि के सूत्रों में ऐसे प्रयोग हुए हैं जो अपाणिनीय प्रतीत होते हैं। उन प्रयोगों को प्रायः यह कह कर सिद्ध माना गया है कि आचार्य पाणिनि के प्रमाणभूत होने से ये प्रयोग साधु ही हैं। उदाहरणार्थ—'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।४) सूत्र की दृष्टि से

१. दुर्घटवृत्ति, २।३।२८, २।३।३६, २।४।५६, ५।१।११९, ५।४।५९, ६।३।४२, ८।३।१११, ८।३।५९, ८।३।१११।

'गुप्तिजकिद्भ्यः सन्' (३।१।५) सूत्रस्थ 'सन्' पद असाधु ठहरता है, क्योंकि पाणिनीय नियमों के अनुसार तो यहां पर 'न्' लोप और दीर्घादेश होकर 'सन्' के स्थान पर 'सा' पद बनना चाहिए था। इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि व्याकरणशास्त्र प्रयोगों के प्रति परतन्त्र है अर्थात् लोक में शिष्टों के द्वारा शब्द जिस रूप में प्रयुक्त होते हैं उनके निरूपणार्थ अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययों आदि पर विचार करने के लिए ही व्याकरणशास्त्र की रचना की जाती है। इसी प्रयोग के लिए दूसरा समाधान यह दिया गया है कि सन्देह की निवृत्ति के लिए ही पाणिनि ने ऐसा किया है। पाणिनि यदि यहां पर 'सा' पद का प्रयोग कर देते तो विद्यार्थी को सन्देह हो सकता था कि 'सूत्र में 'सन्' प्रत्यय का ग्रहण अभीष्ट है अथवा स्त्रीलिंग में 'तद्' शब्द का 'सा' प्रयोग।[1] दुर्घटवृत्ति के ये दोनों समाधान सर्वथा उचित ही है क्योंकि व्याकरण का लक्ष्य परिस्थिति का स्पष्ट विश्लेषण करके सन्देह की निवृत्ति करना है न कि उसे और अधिक जटिल तथा दुरुह बनाना। अतः पाणिनि का प्रयोग साधु ही है।

दुर्घटवृत्तिकार ने जहां ऐक ओर व्याकरण निकाय में उल्लिखित समस्याओं एवं समाधानों का संकलन कर उन पर विचार-विमर्श किया वहां दूसरी ओर कुछ ऐसी समस्याएँ भी प्रस्तुत की हैं जिनका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। उदाहरणार्थ 'बभूव', 'न वयं वैयाकरणाः' आदि प्रयोगों को लिया जा सकता है। इन्धिभवतिभ्यां च' (१।२।६) सूत्र की दृष्टि से 'अस्' धातु के 'लट्' लकार के 'बभूव' प्रयोग में यह समस्या रखी गई है कि इस सूत्र द्वारा 'अस्तेर्भूः (२।४।५२) सूत्र से आदिष्ट 'भू' आदेश का ग्रहण अभीष्ट है अथवा नहीं। यदि यह ग्रहण अभिप्रेत नहीं है तो 'बभूव' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'इन्धिभवतिभ्यां च' सूत्र द्वारा यहां पर 'लिट्' प्रत्यय के कित्वत् न होने के कारण गुण की प्राप्ति होगी।[2] 'न वयं वैयाकरणः' प्रयोग पर 'सविशेषणानां प्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक के अनुसार यह प्रश्न उठाया गया है कि यहां पर 'वैयाकरणाः' पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के कारण बहुवचन न होकर एकवचन होना चाहिए था।[3] इसी प्रकार 'कूक्तिः', उद्गीयः',

---

१. कथं 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३।१।५) इति। उच्यते। अतएव निर्देशाल्लक्ष्यपरतन्त्रत्वाद्वा शास्त्रस्य। सन्देहप्रसक्तेश्च नात्र दीर्घलोपौ।
—दुर्घटवृत्ति, ६।४।४।

२. 'कथमस्तेर्भूभावे बभूवेति, भवतीति श्तिपा निर्देशात्!
—दुर्घटवृत्ति, १।२।६।

३. 'सविशेषणानां प्रतिषेधो वक्तव्यः इत्युक्तम्। कथं पुनर्न वयं वैयाकरणा इति।'—दुर्घटवृत्ति, १।२।५९।

'पूजिया', गन्धवर'[1] आदि प्रयोगों पर किया गया विचार भी शरणदेव के उर्वर मस्तिष्क का ही फल है, क्योंकि ये शब्द वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुम, अमरकोश, त्रिकाण्डशेष, मोनियर विलियम तथा आप्टे जैसे ख्यातिप्राप्त कोशग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते।

दुर्घटवृत्तिकार ने पाणिनि के सूत्रों से निकलने वाले कुछ ऐसे ज्ञापकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराया है जिनका उल्लेख पाणिनि-सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। यहां पर यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इन ज्ञापकों का उल्लेख पुरुषोतमदेव के ज्ञापकसमुच्चय में भी नहीं है जिसकी रचना अष्टाध्यायी के सूत्रों से निकलने वाले ज्ञापकों के संकलन की दृष्टि से ही की गई हैं। ऐसे ज्ञापक हैं—

1. 'उरिति वक्तव्ये वर्णग्रहणस्यानित्यत्वार्थम्[2]—यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया है कि 'ऋवर्णाच्च' वार्तिक में 'उः' कहने से ही अभीष्ट अर्थ प्रकट हो सकता है, फिर 'उः' न कह कर जो 'ऋवर्णात्' कहा गया। उससे यही ज्ञापित होता है कि णत्वविधान अनित्य है। परन्तु यह ज्ञापक बहुत स्पष्ट नहीं है।

2 'दिवादौ' ध्या चिन्तायामि' ति कर्तव्ये भूवादो 'ध्यै चिन्तायामि' ति ज्ञापकात् गणकार्यानित्यत्वात्।[3] गणकार्य की अनित्यता का ज्ञापक भौवादिक 'ध्यै' धातु को माना गया है। इस धातु से 'लट्' में 'ध्यायते' प्रयोग बनता है। यदि यह धातु दिवादिगण में 'ध्या' रूप में पढ़ी जाती तो भी 'श्यन्' होकर यही रूप बनता। अतः दिवादिगण में पढ़ने के स्थान पर भ्वादिगण में 'ध्यै' रूप में पठित होने से यही ज्ञापित होता है कि गणकार्य अनित्य है।

3. 'इतरेतरान्योन्योपपदाच्च इतिवचनात्[4] सूत्र से यह ज्ञापक निकाला गया कि 'विनिमय' आदि शब्दों से व्यतीहार अर्थ द्योतिक करने के लिए आत्मनेपद की आवश्यकता है, क्योंकि सूत्रकार ने अन्योन्य' पद से व्यतीहार अर्थ के द्योतिक हो जाने पर भी 'कर्तरि कर्मव्यतीहारे' (१।३।१४) सूत्र से प्राप्त आत्मनेपद का निषेध किया है।

4. 'अथवा यजुः क्रतुरिति वक्तव्ये' अध्वर्युक्रतुः' (२।४।४) इति ज्ञापकात् छान्दसा अपि क्वचिद्भाषायां प्रयुज्यन्त इति रक्षितः।[5] अध्वर्युक्रतुः (२।४।४)

---

१. दुर्घटवृत्ति, ६।३।१०९, ६।४।६६, ६।४।५१, ७।१।२२।
२. उपरिवत् १।१।९।
३. उपरिवत्, १।३।१२।
४. उपरिवत्, १।३।१४।
५. उपरिवत् ३।२।१५।

सूत्र में प्रयुक्त 'अध्वर्यु' शब्द से यह ज्ञापक निकाला गया है कि भाषा में कभी-कभी छान्दस् प्रयोग भी प्रयुक्त होते हैं। 'अध्वर्यु' शब्द कर्मकाण्ड का विशुद्ध वैदिक शब्द है। यजुःक्रतुः' कहने के स्थान पर 'अध्वर्युक्रतुः प्रयोग ज्ञापित करता है कि भाषा में यदा-कदा छान्दस् प्रयोग भी हो जाते हैं।

५. गा का 'शब्द' इति दिवादौ पठितव्ये कै गै शब्द इति भ्वादौ पाठाद् ज्ञापकाद् आत्वमनित्यमिति ज्ञापकसमुच्चयः।[1] आत्वकार्य की अनित्यता का ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि दिवादिगण में 'गा' 'का' रूप में पढ़ने के स्थान पर जो भ्वादिगण में 'कै' 'गै' इस रूप में ये धातुएं पढ़ी गईं, उससे यही ज्ञापित होता है कि आत्व कार्य अनित्य है। यदि यह कार्य नित्य होता तो ये धातुएं दिवादिगण में ही 'का' 'गा' रूप में पढ़ दी जातीं। दुर्घटवृत्तिकार ने इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय के नाम से किया है, परन्तु वहां पर यह ज्ञापक नहीं मिलता।

दुर्घटवृत्तिकार ने अनेक परिचित प्रयोगों के विषय में कुछ नवीन एवम् असाधारण समस्याओं की उद्भावना की है। उदाहरणार्थ 'आदेश प्रत्यययोः' (८।३।५९) सूत्र की दृष्टि से 'प्रियस्य' प्रयोग पर रखी गई समस्या को लिया जा सकता है। यहां समस्या इस प्रकार रखी गई है कि 'ए' के कण्ठ और तालु दो स्थान माने जाते हैं। अतः उसके द्विस्थानीय होने के कारण उसे कण्ठ्य भी कहा जा सकता है और तालव्य भी। 'यो ह्युयोभस्थाने निष्पद्यते लभतेऽसौ प्रत्येकमपि व्यपदेशम्' नियम के अनुसार उसके कण्ठ्य होने के कारण 'ए' के साथ अकार (कण्ठ्य) का सावर्ण्य सिद्ध है और दोनों के सवर्णी होने के कारण 'ए' के द्वारा 'अ' का ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार जैसे 'इण् प्रत्याहार में 'ए' माना जाता है वैसे ही अकार को भी इस प्रत्याहार में मानते हुए 'इण्' रूप में 'अ' से परे 'स्' को 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र द्वारा षत्व होना चाहिए।[2]

दुर्घटवृत्तिकार ने अपनी कृति में कुछ ऐसे प्रश्न प्रस्तुत किए हैं जो अनावश्यक प्रतीत होते हैं। जैसे 'सहस्य सः संज्ञायाम् (६।३।७८) सूत्र के विचार प्रसंग में 'सहकारः' शब्द पर विचार।[3] यहां पर यह समझ में नहीं आता कि दुर्घटवृत्तिकार ने यह समस्या क्यों रखी, क्योंकि सूत्रकार ने 'स' भाव का विधान उसी स्थान पर किया है जब 'स' भाव होने पर उससे संज्ञा अर्थ का बोध हो। 'सहकार' शब्द 'स' भाव रहित होकर ही लोक में प्रयुक्त होता है और इसी

---

१. दुर्घटवृत्ति, ६।१।४५।
२. उपरिवत्, ८।३।५९।
३. दुर्घटवृत्ति, ६।३।७८।

रूप में प्रसिद्ध है। यदि यहां पर 'स' भाव कर भी दिया जाए तो 'सकार' शब्द 'आम्र' अर्थ का बोध न करा कर सकार व्यञ्जन का बोध कराएगा। यह तो निर्विवादरुपेण मान्य है कि व्याकरण की रचना शब्दों की सिद्धि के लिए हुई है, न कि शब्दों की रचना उसके लिए।

इसी प्रकार से 'अजेर्व्यघञपोः' (२।४।५६) सूत्र की दृष्टि से प्रस्तुत किए गए 'वीज्यते' प्रयोग पर उठाया गया यह प्रश्न अनावश्यक प्रतीत होता है कि इस प्रयोग के 'अज्' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'अजेर्व्यघञपोः' सुत्र द्वारा 'वी' भाव क्यों नहीं हुआ ?[1] इस प्रयोग में 'अज्' धातु की स्थिति मानना बड़ा हास्यास्पद सा लगता है, क्योंकि यह प्रयोग कोशग्रन्थानुसार 'वीज्' धातु से निष्पन्न माना गया है तथा यह मानना है भी उचित।

दुर्घटवृत्तिकार ने कुछ ऐसे प्रयोगों पर भी विचार किया है जिनका शुद्ध पाठ उन आधारभूत ग्रन्थों के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध है, यथा—

शरणदेव द्वारा उद्धृत पाठ	**उपलब्ध शुद्ध पाठ**
१. प्राप्तनाभिह्लदमज्जनमाशु[2]	प्राप्तनाभिह्नदमज्जनमाशु[3]
२. धनपतिगृहादुत्तरेण[4]	कुछ संस्करणों में 'धनपति गृहानुतरेण' पाठ मिलता है।[5]
३. अङः क्तिना बाधा भवति तथा 'सुटा सीयुटो बाधा मा भूत्।[6]	'अङोऽपवादकस्य बाधकः' तथा 'सुटाबाधनं भवति।[7]
४. चतुर्दिशीशानवमन्य[8]	चतुर्दिगीशानवमत्य[9]
५. न हिमहा हिमहानिकरोऽभवत्[10]	न हि महाहिमहानिकरोऽभवत्[11]

---

१. दुर्घटवृत्ति, २।४।५६।
२. उपरिवत्, १।४।११।
३. शिशुपालवध, १०।६०।
४. दुर्घटवृत्ति, २।३।१८।
५. मेघदूत, (उत्तरमेघ), ७४, प्राच्यवाणी मन्दिर, कलकत्ता, प्रकाशन, १९५।
६. दुर्घटवृत्ति, २।३।६६
७. काशिका, ३।३।९५, ३।४।१०६।
८. दुर्घटवृत्ति, २।४।१।
९. कुमारसंभव, ५।५३।
१०. दुर्घटवृत्ति, ३।२।८७।
११. शिशुपालवध, ६।६३।

६. यथाह धात्र्या प्रथमोदितं वच:[1]	उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वच:[2]
७. अनन्यगुण्यास्तव केन केवल:[3]	अनन्यगुर्वास्तव केन केवल:[4]
८. परिषद्वलान् महाब्राह्मे:[5]	पर्षत्वलान् महाब्राह्मै:[6]
९. उच्चेस्तरां वक्ष्यति शैलराज:[7]	उच्चेस्तरं वक्ष्यति शैलराज:[8]
१० विनसा हतबान्धवा:[9]	विनसा हतबान्धवा[10]
११ अन्वलश्च रसा:[11]	अन्वलश्च रसा:[12]
१२ चतुर्दिगीशानवमन्य[13]	चतुर्दिगीशानवमत्य[14]
१३ वेदि सम्पार्जदक्षा:[15]	वेदि संमार्गदक्षा:[16]
१४ प्रांगणो पान्तु युष्मान्ष्माणाण्[17]	प्रांगने पान्तु यूष्मान्ष्माणाम्[18]
१५ अङ्णं चत्वराजिरे[19]	अंगनं चत्वराजिरे[20]

यहां यह विचारणीय है कि क्या शरणदेव के समय में मूलस्थलों में ये पाठ उसी रूप में विद्यमान थे जिस रूप में शरणदेव ने उन्हें उद्धृत किया है

१. दुर्घटवृत्ति, ३।२।१२३ ।
२. रघुवंश, ३।२५ ।
३. दुर्घटवृत्ति, ४।१।४४ ।
४. शिशुपालवध, १।३५ ।
५. दुर्घटवृत्ति, ५।२।११२ ।
६. भट्टिकाव्य, ४।१२ ।
७. दुर्घटवृत्ति, ५।४।११ ।
८. कुमारसंभव, ७।६८ ।
९. दुर्घटवृत्ति, ५।४।११९ ।
१०. भट्टिकाव्य, ५।८ ।
११. दुर्घटवृत्ति, ६।१।६६ ।
१२. अमरकोश, १।५।९ ।
१३. दुर्घटवृत्ति, ६।४।३८ ।
१४. कुमारसंभव, ५।५३ ।
१५. दुर्घटवृत्ति, ७।३।५२ ।
१६. कुमारसंभव, १।६० ।
१७. दुर्घटवृत्ति, ८।४।३२ ।
१८. सूर्यशतक, श्लोक ३ ।
१९. दुर्घटवृत्ति, ८।४।३२ ।
२०. अमरकोश, २ २।१३ ।

अथवा शरणदेव आदि विद्वानों द्वारा उठाए गए विवाद के आधार पर उन ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रयोगों में व्याकरण की दृष्टि से सुधार कर लिया गया। यहां पर दूसरी संम्भावना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है क्योंकि यदि ये प्रयोग उस समय शुद्ध रूप में ही प्राप्य होते तो शरणदेव आदि विद्वानों को इनके अशुद्ध रूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या थी ?

दुर्घटवृत्ति के स्रोत

दुर्घटवृत्तिकार ने अपने ग्रन्थ में ७३ ग्रन्थों और ५६ ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। इन उद्धारणों के दो स्रोत हैं—(i) व्याकरण विषयक ग्रन्थ और (ii) साहित्यक ग्रन्थ ।

(i) **व्याकरण विषयक स्रोत**—व्याकरण विषयक ग्रन्थों में महाभाष्य, न्यास, अनुन्यास, तन्त्रप्रदीप, धातुप्रदीप, भागवृत्ति तथा ज्ञापकसमुच्चय प्रमुख हैं जो क्रमश: २६, ६६, २२, १२०, ६, ५५, तथा ५ बार उद्धृत किए गए हैं। दुर्घटवृत्तिकार ने अपने ग्रन्थ में अनुपदकार, उज्ज्वलदत्त और कैयट के मत भी उद्धृत किए हैं। परन्तु इनमें जहां मेत्रयरक्षित को १२० बार उद्धृत किया गया है वहां अनुपदकार, उज्ज्वलदत्त तथा कैयट के मत बहुत कम उद्धृत किए गए हैं। इस प्रकार इन स्रोतों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विषय-विवेचन की दृष्टि से न्यास शरणदेव का मुख्य स्रोत रहा है क्योंकि न केवल न्यास को ही ६६ बार उद्धृत किया गया है अपितु मैत्रेय रक्षित कृत तन्त्रप्रदीप और इन्दुमित्र कृत अनुन्यास भी न्यास पर ही लिखी गई विस्तृत व्याख्याएँ हैं।

दुर्घटवृत्ति में उद्धृत व्याकरण विषयक ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का संक्षिप्त परिचय

(क) ग्रन्थों का परिचय

१. **कलाप**—(काल २००० वि० पू०)—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में कलाप व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके रचियता शववर्मा हैं। व्याकरण जगत में यह ग्रन्थ कातन्त्र और कौमार नामों से भी प्रसिद्ध है। यह व्याकरण अति संक्षिप्त है तथा इसमें विशुद्ध लौकिक शब्दों का विवेचन किया गया है। इसमें अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रों को सर्वथा छोड़ दिया गया है तथा कुछ सूत्रों को अपने ही ढंग से सम्मिलत किया गया है। इसमें वेद और स्वर सम्बन्धी सूत्रों पर विचार नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ का पठन-पाठन अधिकतर बिहार, बंगाल तथा गुजरात प्रदेशों में रहा है।

यह व्याकरण चार भागों में विभक्त है जिनमें पारिभाषिक संज्ञाएं, सन्धि के नियम, प्रक्रिया नियम, समास, तद्धित आदि विषयों पर विचार किया गया

है। इसका सूत्र-क्रम अष्टाध्यायी से भिन्न है तथा इनमें कुल सूत्र १४१२ हैं जिनमें वार्तिकों को भी स्थान दिया गया है।

२. **अनुन्यास**— (काल सं० ११५० से पूर्व) —इन्दुमित्र नामक वैयाकरण ने अनुन्यास नामक महती व्याख्या लिखी थी। इस व्याख्या की रचना न्यास पर की गई है। दुर्भाग्यवश आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसके उदाहरण उज्ज्वलदत्त कृत उणादिवृत्ति, सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति, अमर टीका सर्वस्व, दुर्घटवृत्ति आदि में मिलते हैं।

३. **चान्द्र व्याकरण**—(काल लगभग १००० वि०पू०)—पाणिनि व्याकरण के आधार पर चन्द्रगोमिन् नामक बौद्ध आचार्य ने चान्द्र व्याकरण की रचना की थी। इस ग्रन्थ की रचना में लेखक ने महाभाष्य से पर्याप्त सहायता ली है। इस ग्रंथ में उन्हीं सूत्रों के न्यासान्तर को स्वीकार किया गया है जिन्हें पतञ्जलि ने निर्दोष माना है तथा जिन सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया गया उन्हें इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया। इस व्याकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें किसी पारिभाषिक संज्ञा यथा 'घि', 'टि' आदि का विवेचन नहीं किया। यह व्याकरण छह अध्यायों में विभक्त है। यद्यपि इस व्याकरण का आधारभूत ग्रन्थ अष्टाध्यायी है, परन्तु इसमें वेद तथा स्वर विषयक सूत्रों पर विचार नहीं किया गया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इस ग्रंथ में ये प्रकरण भी उपलब्ध थे।[1]

४. **भागवृत्ति**— (काल १२-१३वीं शती के लगभग) —अष्टाध्यायी पर रचित वृत्तियों में विमलमति विरचित भागवृत्ति प्राचीनतम वृत्ति है। वृत्तियों में काशिका वृत्ति के अनन्तर इसका स्थान ही सर्वोपरि है, परन्तु यह वृत्ति आज अनुपलब्ध है। इसके उद्धरण पदपंजरी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, अमरकोश की टीकासर्वस्व, शब्दकौस्तुभ और सिद्धांतकौमुदी में मिलते हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने उन सभी उद्धरणों का संकलन 'भागवृत्ति संकलनम्' नाम से तैयार किया है।

यह वृत्ति अपने समय में काशिकावृत्ति के समान ही प्रामाणिक मानी जाती थी। इस बात की पुष्टि भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक से होती है—

> काशिकाभागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बौद्धमस्ति धीः।
> तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम॥

५. **धातु पारायण**— (काल १५वीं शती पूर्व) —धातुपारायण के रचयिता जुमरनन्दिन् जैन विद्वान् थे। रसवती नामक व्याकरण के पूरक के रूप में रचे

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ५२४।

गए इस ग्रन्थ में धातुओं का विवेचन है। रसवती व्याकरण संक्षिप्त सार नामक व्याकरण पर विस्तृत एवं संशोधित व्याख्या है।

६. **धातुवृत्ति**—(काल १४वीं शताब्दी)—वेदभाष्य के रचयिता सायणाचार्य ने धातुवृत्ति नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह वृत्ति उनके प्रकृष्ट पाण्डित्य का ज्वलन्त उदाहरण है। यह वृत्ति 'माधवीया धातुवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य सायण ने यह नाम अपने अग्रज माधव के उपकार स्मरण रूप में दिया है। इस ग्रन्थ में धातुओं तथा उनसे निष्पन्न शब्दों पर विचार-विमर्श किया गया है। धातुओं से सम्बन्धित रचित धातुप्रदीप तथा क्षीरतरङ्गिणी में विस्तार का अभाव है।

७. **प्रक्रिया कौमुदी**—(काल १५वीं शताब्दी)—रामचन्द्र विरचित प्रक्रिया कौमुदी का व्याकरणशास्त्र में विशिष्ट स्थान है। यह ग्रन्थ आठ भागों में विभक्त है जिनमें अष्टाध्यायी के सूत्रों को भिन्न रूप से संकलित किया गया है। इसमें विषय विभाजन सिद्धांतकौमुदी के सदृश है। सिद्धांतकौमुदी की रचना से पूर्व यह ग्रन्थ अत्यन्त ख्यातिप्राप्त था। इस पर अनेक टीकाएं लिखी गई यथा—प्रक्रियाप्रसाद, प्रक्रियाप्रकाश, प्रक्रियाप्रदीप, अमृतस्तुति आदि।

८. **लक्षण**—इस ग्रन्थ का पूरा नाम लक्षण-संग्रह है। व्याकरण विषयक इस ग्रन्थ की रचना रत्नेश नामक वैयाकरण ने की थी किन्तु इसका रचनाकाल अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

ग्रन्थाकार

१. **गोनर्दीय**—गोनर्दीय नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्याकरणाचार्य गोनर्द नामक देश से सम्बन्ध रखते थे। विद्वानों में इस विषय में पर्याप्त मत-भेद है कि यह प्रदेश देश का कौन सा भाग है। कुछ विद्वानों के अनुसार महाभाष्यकार के समय में अवध का नाम ही गोनर्द था तथा अन्य विद्वानों के अनुसार यह वर्तमानकालीन गोंडा प्रदेश का पर्यायवाची था।

महाभाष्य में अनेक स्थलों पर गोनर्दीय के मत उद्धृत हैं। कैयट ने एक स्थान पर गोनर्दीय को महाभाष्यकार का दूसरा नाम माना है। अतः कतिपय विद्वानों के अनुसार गोनर्दीय महाभाष्यकार पतञ्जलि ही थे परन्तु अन्य विद्वानों को यह मत मान्य नहीं है। हरिदीक्षित, कील्हार्न, युधिष्ठिर मीमांसक आदि के मतानुसार तो गोनर्दीय महाभाष्यकार न होकर वार्तिककार थे। दुर्घटवृत्ति में इनका एक मत उद्धृत किया गया है।

२. **भर्तृहरि**—(काल ७०० ई०पू०) संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में महाभाष्यकार के पश्चात् भर्तृहरि का प्रमुख स्थान है। इन्होंने व्याकरण सम्बन्धी अनेक ग्रंथों यथा—महाभाष्य दीपिका, वाक्यप्रदीय, वाक्यप्रदीय के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों की स्वोपज्ञ टीका की रचना की थी। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके नाम से शतकत्रय, मीमांसाभाष्य, वेदांतसूत्र और शब्दधातुसमीक्षा भी प्रसिद्ध हैं। व्याकरण के दार्शनिक विवेचन करने वाले ग्रन्थों में वाक्यप्रदीय का मूर्धन्य स्थान है।

३. **वृत्तिकार**—(काल सं० ६५०-७००) दुर्घटवृत्ति में शरणदेव ने वृत्ति से अनेक मत उद्धृत किए हैं। यद्यपि व्याकरणशास्त्र में अनेक वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु 'वृत्ति' शब्द प्रायः काशिका वृत्ति के लिए ही प्रयुक्त होता है। यह वृत्ति काशिका वृत्ति ही है। इसके लेखक हैं जयादित्य और वामन। इस वृत्ति पर पहले विचार किया जा चुका है।

४. **कैयट**—(काल सं० ११००)—कैयट ने महाभाष्य पर प्रदीप नामक महती टीका की रचना की थी। महाभाष्य पर रचित टीकाओं में भर्तृहरि की महाभाष्य दीपिका के पश्चात् यही टीका प्राचीनतम है। व्याकरणशास्त्र में इस टीका का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्वानों के अनुसार प्रदीप टीका महाभाष्य को हृदयंगम कराने में प्रकाश का कार्य करती है। अर्वाचीन वैयाकरण इसको महाभाष्य के समान महत्व देते हैं। इसीलिए व्याख्याकार 'तदुक्तं भाष्यकैयटयोः' कहकर इसे आदर प्रदान करते हैं। इस पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें उद्योत टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

५. **मैत्रेयरक्षित**—(काल सं० ११६५ का समीप)—बंगीय वैयाकरणाचार्यों में बौद्ध आचार्य मैत्रेय रक्षित का प्रमुख स्थान है। इन्होंने चार ग्रन्थों—तन्त्रप्रदीप, धातुप्रदीप, दुर्घटवृत्ति तथा महाभाष्य की टीका—की रचना की थी, परन्तु अद्यावधि केवल धातुप्रदीप ही उपलब्ध है। तन्त्रप्रदीप के उदाहरण धातुवृत्ति, दुर्घटवृत्ति आदि में मिलते हैं। मैत्रेय रक्षित को वैयाकरणों ने प्रायः रक्षित के नाम से उद्धृत किया गया है। कहीं कहीं उन्हें मैत्रेय रक्षित अथवा मैत्रेय के रूप में भी स्मरण किया गया है। शरणदेव ने केवल दो स्थलों पर मैत्रेय के नाम से उसके मत उद्धृत किए हैं।

६. **पुरुषोत्तमदेव**—(काल सं० १२०० से पूर्व)—वंगीय वैयाकरणों में पुरुषोत्तमदेव का भी विशिष्ट स्थान है। वह भी बौद्ध मतावलम्बी थे तथा बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के समकालीन। उन्होंने भाषावृत्ति, ज्ञापकसमुच्चय परिभाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति नामक चार व्याकरण ग्रन्थों की रचना की थी। इनके

अतिरिक्त उन्होंने चार कोशों हारावली, त्रिकाण्डशेष, दिपकोश तथा एकाक्षर कोश की भी रचना की थी ।

७. **उज्ज्वलदत्त**— (काल १५वीं शती पूर्व) —उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्रों पर उणादिसूत्रवृत्ति की रचना की थी । उणादिसूत्रों की वृत्ति में इस वृत्ति का प्रमुख स्थान है। यह वृत्ति अत्यन्त प्रमाणिक, प्रौढ़ तथा विस्तृत है । इस वृत्ति में अनुन्यास, भाषावृत्ति आदि के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उज्ज्वलदत्त जाजलि नाम से भी प्रसिद्ध है ।

दुर्घटवृत्ति में उपरि उद्धृत ग्रंथों तथा ग्रन्थकारों के अतिरिक्त कतिपय ऐसे ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का भी उल्लेख मिलता है जिनके विषय में कोई सूचना नहीं मिल सकी । यथा—अष्टधातु, पदम्, व्याख्यानशील, सुभूति, सोमनन्दी, अनुपदकार, कायस्थ, शुद्ध सुबन्त, वृद्धसुवर्ण, सुवर्णरेखा आदि । अतएव इस दशा में शोध- कार्य की अपेक्षा है ।

(ii) **साहित्यिक स्रोत**—दुर्घटवृत्तिकार ने जिन प्रयोगों पर विचार किया है वे प्राय: महाकाव्यों, नाटकों स्तोत्रग्रन्थों और स्वयं पाणिनि के सूत्रों से लिए गए हैं । दुर्घटवृत्तिकार द्वारा उद्धृत ग्रन्थों में भट्टिकाव्य, किरातार्जुनीयम्, कुमारसंभव, चण्डी (दुर्गासप्तशती), कादम्बरी, कुट्टनीमतम् आदि ग्रन्थ विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं जिनमें से क्रमश: ७०, ४८, २१, ३६, १६, २, २ प्रयोगों पर विचार किया गया है । इसके अतिरिक्त अमरकोश, त्रिकाण्डशेष और विश्वप्रकाश में प्रयुक्त प्रयोगों पर भी विचार किया गया है । इन कोशों की सहायता से दुर्घटवृत्तिकार ने कई स्थलों पर समाधान भी दिए हैं।

दुर्घटवृत्तिकार ने कुछ उदाहरण ऐसे ग्रंथों से भी दिए हैं जो आज प्राप्य नहीं हैं, यथा—अर्धनारीश्वरकम्, कल्पपञ्चिका, प्रयोगमुखी, लेखमालिका । इन सभी ग्रन्थों से केवल एक-एक उदाहरण लिया गया है ।

दुर्घटवृत्ति में दिए गए उदाहरणों की समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है दुर्घटवृत्तिकार ने ये उदाहरण जिस रूप में प्रस्तुत किए हैं वे मुलग्रंथों में उसी रूप में उपलब्ध नहीं होते । उदाहरणार्थ महाभाष्य और न्यास से दिए गए उद्धरणों का आशय तो मूल ग्रंथों में मिल जाता है, परन्तु भाषा वही नहीं मिलती । इतना अवश्य है कि भाषावृत्ति के उद्धरण अपने मूल रूप में ही उद्धृत हुए हैं । संभवत: इसका कारण यह है कि शरणदेव ने अपने ग्रन्थ में अत्यन्त संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया है । फलत: उसने अत्यन्त संक्षेप में लिखी गई भाषावृत्ति को तो उसी रूप में ग्रहण कर लिया है जबकि अत्यन्त विस्तारपूर्वक लिखे गए महाभाष्य और न्यास का आशय मात्र देना उपयुक्त समझा है। एक अन्य

कारण यह भी हो सकता है कि सर्वरक्षित ने दुर्घटवृत्ति को प्रतिसंस्कृत करते समय इसके उद्धरण संक्षिप्त कर दिए हों।

दुर्घटवृत्ति में तीन उद्धरण ऐसे हैं जिन्हें जिस काव्य अथवा टीका के नाम से उद्धृत किया गया है वे उस काव्य अथवा टीका में उपलब्ध न होकर अन्यत्र ही उपलब्ध होते हैं। यथा—

(क) कथं चरैराचरचञ्चुरे 'ति भट्टिः'[1] श्लोकांश वर्तमान में प्राप्य भट्टिकाव्य में न मिलकर तनिक से अन्तर के साथ किरातार्जुनीयम् में 'चारैराचरचञ्चुरा' रूप में मिलता है।[2]

(ख) इसी प्रकार 'दधतः पुरातनमुनेर्मुनितामि' ति (माघः)[3] पद्यांश भी शिशुपालवध में न मिलकर किरातार्जुनीयम् में ही मिलता है।[4]

(ग) 'यस्मिन् जाते प्रासूतेति व्यपदेशस्तस्य क्रियाभिसबन्धात् प्राधान्यात् शत्रुघ्ने कनीयसि प्रसूते तथा व्यवहारात् तस्य प्राधान्यमि 'ति जयमंगला'[5] मत भट्टिकाव्य की जयमंगला टीका में न मिल कर इसी काव्य की चन्द्रकला -विद्योतिनी टीका में इस रूप में मिलता है —'अत्र लक्ष्मणस्य क्रियापदेन सह सम्बन्धाभावादप्रधानत्वात् शत्रुघ्नाऽपेक्षया न कनीयस्त्वं शंक्यम्। 'पित्रा सहागतः पुत्रः इत्यत्रेव शब्दक्रमानुरोधेन पुत्राऽपेक्षया पितुरिव लक्ष्मणस्यापि शत्रुघ्नाऽपेक्षया ज्यायस्त्वमेव वेयम्।[6]

इस प्रकार कतिपय उदाहरण ऐसे हैं जो न तो उन ग्रंथों में ही उपलब्ध होते हैं जिनकी ओर दुर्घटवृत्तिकार ने संकेत किया है और न वे अन्यत्र उपलब्ध हो सके हैं। ये उदाहरण निम्नलिखित हैं :

१. धातुवृत्तावुक्तम्— त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति बहुव्रीह्यर्थेवृत्तत्वात् समानकाल एव निषेधादकचोऽप्रवृतिः।[7]

२. 'न सम्पपृच्छे गमनाय सत्वरा' इति घोषः।[8]

१. दुर्घटवृत्ति, ३।१।२४।
२. किरातार्जुनीयम्, १५।३८।
३. दुर्घटवृति, ४।३।२३।
४. किरातार्जुनीयम्, ६।१९।
५. दुर्घटवृति, २।३।१९।
६. चन्द्रकला—विद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, १।१४।
७. दुर्घटवृति, १।३।७८।
८. उपरिवत्, १।२।५।

(३) 'प्रेषे तत्क्षणमास्यानाम्' इति चाणक्य: ।[1]
(४) 'छन्दश्शास्त्रे' प्रह्वे वा 'इति सूत्रेण विकल्पेन गुरुत्वमिति कश्चित् ।[2]
(५) 'समुदयार्थम् इङ्युपचर्यं धातुत्वं न्यास उक्तम्' ।[3]
(६) 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धय:' इति जातकमाला ।[4]
(७) 'रुद्रैकादशी' ति हरिश्चन्द्रप्रयोग: ।[5]
(८) 'नृपतिसभामगमन्न वेपमाना' इति कीचकवधे ।[6]
(९) 'एवं चात्र' लालायित फणी' 'ति भाष्यकारप्रयोग:' ।[7]
(१०) 'सकलभुवनराज्यं कारयामास तेन इति नन्दी' ।[8]
(११) 'स भुक्तवति पौलस्त्ये भूयोऽप्याह महेश्वर: इति कैलासोद्धरणम् ।[9]
(१२) 'संसारबन्धश्छिदुरान् द्विजातीनि' 'ति घोष:' ।[10]
(१३) 'करीन्द्रबन्धच्छिदुरं मृगेन्द्रमि' 'ति विजय:' ।[11]
(१४) प्रायिकमेतदिति 'ग्रहवृद्' (३।३।५८) इत्यादौ न्यास:' ।[12]
(१५) 'रकारादीन् वर्णानि' 'ति कल्पपञ्चिका' ।[13]
(१६) 'माच्छादयामी' 'ति रूपावतार:' ।[14]
(१७) 'स्थित स्थिर इत्यर्थ: । ऊर्ध्वे स्थित इति पुरुषोत्तमदेव:' ।[15]
(१८) 'स्वपरजनदेवराज्ञां कुक्चे ति' ।[16]

---

१. दुर्घटवृति, १।६।७८ ।
२. उपरिवत्, १।४।११ ।
३. उपरिवत्, २।२।१८ ।
४. उपरिवत्, २।३।२ ।
५. उपरिवत्, २।४।१ ।
६. उपरिवत्, २।४।२३ ।
७. उपरिवत्, ३।१।१६ ।
८. उपरिवत्, ३।१।२६ ।
९. उपरिवत्, ३।२।१२३ ।
१० उपरिवत्, ३।२।१६२ ।
११ उपरिवत्, ३।२।१६२ ।
१२ उपरिवत्, ३।३।१८ ।
१३. उपरिवत् ३।३।१०८ ।
१४. उपरिवत्, ३।३।१७५ ।
१५. उपरिवत्, ३।४।१२ ।
१६. उपरिवत्, ४।२।१३८ ।

(१७) तथा च श्रीगोविन्दे 'तेनेदं काञ्चनमयं निर्मितं पुरमुत्तममिति बाल्मीकिः ।'[1]

(१८) 'पुरतः प्रथमे चाग्रे इति विश्वप्रकाशः' ।

(१९) 'पाकेक्षी राज्यपयसामि' ति चन्द्राः' ।[2]

(२० 'गाका शब्द इति दिवादौ पठितव्ये के गे शब्द इतिभ्वादी पाठाद् ज्ञापकाद् आत्वमनित्यमिति ज्ञापकसमुच्चयः ।[3]

(२१) 'पुत्रौ दुहितात्मजावि' ति त्रिकाण्डशेषः ।[4]

(२२) 'कूपदेशप्रविष्टोऽयं वारितो न निवर्तते ।
न निमज्जत्यधो यावन्नरोऽपि च घटोऽपि च' ।। इति शूलपाणिः ।[5]

(२३) 'मान्यचरैभिर्गन्धवरैभिः' इति बौद्धप्रयोगः ।[6]

(२४) 'उदधिस्योत्तरे कूले मृतः किमनुशोच्यते' इति वृद्धिः ।[7]

(२५) 'अर्जुनस्य सखा कृष्णः कृष्णस्य सखा सखिरर्जुनः 'इति भारतः' ।[8]

दुर्घटवृति में कुछ ऐसे उद्धरण भी हैं जिनके मूल लेखक का नामोल्लेख न करके 'अन्य' अथवा 'केचित्' मात्र कह दिया गया है । उदाहरणार्थ—

(क) अन्ये तु स्थास्नुसिद्धये स्था आ इत्याकारप्रश्लेषाद् 'घुमास्थागे' ति (६।४।६६) नेत्वमिति च वर्णयन्तः कित्वाद् गुणाभावमाहुः ।[9]

प्रस्तुत मत वामन का है, ऐसा काशिका से पता लगता है।[10]

(ख) सर्वादावुभयशब्दः पठ्यते । तस्यार्थग्रहणाद् द्वयशब्दस्यापि सर्वादित्वमित्यन्यः ।[11]

दुर्घटवृति में पर्याप्त उद्धरण ऐसे भी हैं जिनके मूल स्रोतों का न तो कोई निर्देश किया गया और न ही वे मिल सके हैं—

१. दुर्घटवृति, ४।३।१४४ ।
२. उपरिवत्, ५।३।४० ।
३. उपरिवत्, ६।१।२७ ।
४. उपरिवत् ६।१।४५ ।
५. उपरिवत्, ६।३।२५ ।
६. उपरिवत्, ६।३।१०१ ।
७. उपरिवत्, ७।१।९ ।
८. उपरिवत्, ७।१।१२ ।
९. उपरिवत्, ७।३।९३ ।
१०. काशिका, ७।२।११ ।
११. दुर्घटवृति, १।१।३२ ।

(१) 'कर्णापुच्छं मया त्यक्तं भग्नो दन्तस्तथैव च ।
एष कालः समुत्पन्नो यः पलाति स जीवति' ।[1]

(२) 'नीचं समृद्धमपि सेवति नीच एव दूरेण तं परिहरति पुनर्महान्तः' ।[2]

(३) 'लभन्ति पुनरुत्थानम्' ।[3]

(४) 'त्राहि मामुरुदुःखितम्' ।[4]

(५) मण्डपे शयामि किमतः परम्' ।[5]

(६) 'प्रत्यूषकाले जगदङ्गनानां मुखेषु कामः प्रतिजृम्भति' ।[6]

(७) 'परिष्वजति पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम्' ।[7]

(८) 'न सहेन्न कथं तुषारम्' ।[8]

(९) 'नाथ । त्वामनुनाथे विजहिहि संरम्भम्' ।[9]

(१०) 'जलधिमनुहरते सरः' ।[10]

(११) 'वारिपूर्णां महीं कृत्वा पश्चात् संक्रमते गुरुः' ।[11]

(१२) 'अर्धरात्रे कलाहीने यदा संक्रमते रविः' ।[12]

(१३) 'स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते' ।[13]

(१४) 'दासत्वं गच्छते नार्या वृद्धस्तु पुरुषोत्तमः' ।[14]

(१५) 'मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति' ।[15]

(१६) 'रजसा शुध्यते नारी' ।[16]

---

१. दुर्घटवृत्ति, १।३।१२ ।
२. उपरिवत्, १।३।१२ ।
३. उपरिवत्, १।३।१२ ।
४. उपरिवत्, १।३।१२ ।
५. उपरिवत्, १।३।१२ ।
६. उपरिवत्, १।३।१२ ।
७. उपरिवत्, १।३।१२ ।
८. उपरिवत्, १।३।१२ ।
९. उपरिवत्, १।३।२१ ।
१०. उपरिवत्, १।३।२१ ।
११. उपरिवत्, १।३।४३ ।
१२. उपरिवत्, १।३।४३ ।
१३. उपरिवत्, १।३।७८ ।
१४. दुर्घटवृत्ति, १।३।७८ ।
१५. उपरिवत्, १।३।७८ ।
१६. उपरिवत्, १।३।७८ ।

(१७) 'कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी' ।[1]

(१८) 'पातालहंसाः पटुभिनिनादैः प्रबोधयन्तु नृप । राजकन्याः' ।[2]

(१९) 'सखिना वानरेन्द्रेण' ।[3]

(२०) 'पतिना नीयमानायाः पुरः शुक्रो न दुष्यति' ।[4]

(२१) 'पत्यौ जीवति या नारी उपोष्य व्रतचारिणि ।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत्' ।[5]

(२२) 'वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते ।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपे खनति दुर्मतिः' ॥[6]

(२३) 'येन यथा भवितव्यं न ते भवति चान्यथा ।'[7]

(२४) 'कथं दूतेषु कल्याणं यदि बुद्धो न तिष्ठति ।'[8]

(२५) 'यदीच्छति जगत्सर्वं वशीकर्तुमयत्नतः ।
परापवादसस्येषु चरन्ती गोर्निवार्यताम् ॥'[9]

(२६) 'एकध्वनिमुखशीकरपल्लवितः ।'[10]

(२७) 'रत्नज्योतिर्दन्तुरः ।'[11]

(२८) 'कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रभृत् ।
तस्य संकीर्तनादेव हृतं नष्टं च लभ्यते ।'[12]

(२९) परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
तादृशं वर्जयेन्मित्रं विषकुम्भपयोमुखम् ।'[13]

(३०) 'जनयति कुमुदभ्रान्तिं धूर्तबको बालमत्स्यानाम् ।'[14]

---

१. दुर्घटवृत्ति, १।३।७८ ।
२. उपरिवत्, १।३।८६ ।
३. उपरिवत्, १।४।७ ।
४. उपरिवत्, १।४।८ ।
५. उपरिवत्, १।४।८ ।
६. उपरिवत्, १।४।२१ ।
७. उपरिवत्, १।४।२१ ।
८. उपरिवत्, १।४।२१ ।
९. उपरिवत्, १।४।२१ ।
१० उपरिवत्, 2।१।३० ।
११. उपरिवत्, २।१।३० ।
१२. उपरिवत्, २।१।५७ ।
१३. उपरिवत्, २।१।५७ ।
१४. उपरिवत्, २।१।६५ ।

(३१) 'एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशश्रृंगधनुर्धरः ।'[1]

(३२) 'आयाते चैत्रमासे दिशि दिशि रुचिरं श्रूयते कोकिलानां ।
हा कष्टं किं करोमि प्रियतमविरहे कामदूतो वसन्तः ।[2]

(३३) 'कामस्यास्य विवेकशून्यमनसो मा देहि मुग्धे बलिम् ।[3]

(३४) 'इन्दुना प्रविभज्यन्ते नमस्कृत्य मुनित्रयम् ।'[4]

(३५) 'जीर्णमन्नं प्रशंसीयात् भार्यां च गतयौवनाम् ।
रणे प्रत्यागतं शत्रुं सस्यं च गृहमागतम् ।[5]

(३६) 'जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।'[6]

(३७) स्वप्नोदयशशी मायाकारः न तु गिरिसागरविहारः ।'[7]

(३८) 'हे रोहिणि ! त्वमसि शीतकरस्य भार्या
एनं निवारय पतिं सखि ! दुर्विनीतम् ।
जालान्तरेण मम वासगृहं प्रविश्य
श्रोणीतटं स्पृशति किं कुलधर्म एषः ।'[8]

(३९) 'मा भैः शशांक ! मम सा धुरि नास्ति राहुः ।'[9]

(४०) 'अस्मिंश्चन्द्रमसि प्रसन्नमहसि व्याकोचकुन्दत्विषि
प्राचीनं खमुपेयुषि त्वयि गते दूरं निजप्रेयसि ।
श्वासः कैरवकोरकीयति मुखं तस्याः सरोजीयति ।।
क्षीरोदीयति मन्मथो दृगपि च द्राक् चन्द्रकान्तीयति ।।[10]

(४१) 'कोकिला विष्णुरूपेण राजकन्यामजीहरन् ।'[11]

(४२) 'सम्भावयां राघवामास वृष्टेः ।'[12]

---

१. दुर्घटवृत्ति,, २।२।८।
२. उपरिवत्, २।३।२ ।
३. उपरिवत्२।३।१३ ।
४. उपरिवत्, २।३।१६ ।
५. उपरिवत्, २।३।२८।
६. उपरिवत्, २।३।३६।
७. उपरिवत्, २।४।१७ ।
८. उपरिवत्, २।४।३४ ।
९. उपरिवत्, २।४।७७ ।
१०. उपरिवत् ३।१।७ ।
११. उपरिवत्, ३।१। २६ ।
१२. उपरिवत्, ३।१।४० ।

(४३) किं किं मां समुपेत्य चुम्बसि बलान्निर्लज्ज । लज्जा कुतो
वस्त्रान्तं शठ ! मुञ्च मुञ्च शपथैः किं धूर्त्त ! निर्बन्धसे ।
खिन्नाहं तव रात्रिजागरतया तामेव याच प्रियां
निर्माल्ये सति पुष्पदामनिकरे का षट्पदानां रतिः ।'[1]

(४४) 'उत्तार्यते जलान्यष्टो लङ्काया उदकस्पृशः ।'[2]

(४५) 'तैले च तैले सं प्रविष्टं कृते च मांसे च बलं प्रविष्टम् ।
भव्यासु नीचासु मतिः प्रविष्टा सर्वं पदं हस्तिपदे प्रविष्टम् ।[3]

(४६) 'पतनान्ताः समुच्छ्रया ।[4]

(४७) 'परिमलं कस्तूरिकाद्रं धनुः ।'[5]

(४८) 'उत्पन्नसर्वमाङ्गल्यो नष्टनिश्शेषचेष्टितः ।
स्वायगम्यनयः कोपि जयताद्रज्ञो महाचरः ।'[6]

(४९) 'सर्वे ते सह जायन्ते ।'[7]

(५०) 'तत्र देव सर्वतः ।[8]

(५१) 'गामेकां सवर्णमेकं वा भूमेरप्यर्धङ्गुलम् ।'[9]

(५२) 'आ उदकान्तं पद्गं प्रियमनुव्रजेत् ।'[10]

(५३) 'मध्यन्दिनार्कसन्तप्तः सरसीं गाहते गजः ।''[11]

(५४) 'तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ।[12]

(५५) 'महाबलपरीवारो महांश्चापपतिर्बलिः ।'[13]

---

१. दुर्घटवृत्ति, ३।१।१२४।
२. उपरिवत्, ३।२।५८।
३. उपरिवत्, ३।३।१८।
४. उपरिवत्, ३।३।४९।
५. उपरिवत्, ३।३।५६।
६. उपरिवत्, ३।४।८६।
७. उपरिवत्, ४।४।१०९।
८. उपरिवत्, ५।३।३५।
९. उपरिवत्, ५।३।१०१।
१०. उपरिवत्, ६।१।८७।
११. उपरिवत्, ६।३।६७।
१२. उपरिवत्, ६।३।८८।
१३. उपरिवत्, ६।३।१२२।

(५६) 'नदीनां च नखीनां च श्रृङ्गिणां शस्त्रपाणिनां। विश्वासो नैव कर्त्तव्यः।'[1]

(५७) 'मा मा सखेऽवदन्तस्य सुतोऽहं विजने वने।'[2]

(५८) 'उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैः'[3]

(५९) 'विश्रामस्थितिहेतवो न गणिता वन्धूपमाः पादपाः।'[4]

(६०) 'विश्रामाज्जायते बलम्।'[5]

(६१) 'अविद्यः पुरुषः शोच्यः।'[6]

(६२) 'निर्गच्छन्नकाले चतुर्थी न पतति।'[7]

(६३) 'कुर्वतेऽपि तूष्णीका नाम गम्भीरचेतसः।
लघवो घोषयन्त्येव न कुर्वन्ति कदाचन।'[8]

(६४) 'गेये केन विनीतौ वाम्।'[9]

(६५) 'अहोवचनविन्यासः पठ्यते न च बुध्यते।'[10]

(६६) 'गौरीमुखतिरस्कारलज्जयेव न वर्धते।'[11]

दुर्घटवृत्ति का महत्व—अष्टाध्यायी पर लिखी गई वृत्तियों में शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि इसके द्वारा जहां एक और मैत्रेयरक्षित, इंदुमित्र, भागवृत्तिकार, पुरुषोत्तमदेव आदि के काल-निर्धारण में सहायता मिलती है वहां दूसरी ओर इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन और दुर्लभ ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों यथा शुद्ध सुबन्त, प्रसिद्धपद, प्रयोगमुखी, सुवर्णरेखा (ग्रन्थ), अनुन्यासकार, उज्ज्वलदत्त, इन्दुमित्र, अनुपदकार आदि

१. दुर्घटवृत्ति, ६।४।३।
२. उपरिवत्, ७।१।१२।
३. उपरिवत्, ७।२।१०।
४. उपरिवत्, ७।३।३४।
५. उपरिवत्, ७।३।३४।
६. उपरिवत्, ७।३।५२।
७. उपरिवत्, ७।३।७७।
८. उपरिवत्, ७।४।१३।
९. उपरिवत्, ८।१।२०।
१०. उपरिवत्, ८।२।६९।
११. उपरिवत्, ८।३।४२।

के मतों को उद्धृत करते हुए संस्कृत वाङ्मय के १०४२ दुःसाध्य एवं पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से आपाततः असंगत प्रतीत होने वाले प्रयोगों के साधुत्व पर विचार किया गया है। इन प्रयोगों के साधुत्व के प्रसंग में ४९२ सूत्रों, अनेक वार्तिकों तथा उनसे सम्बन्धित परिभाषाओं, धातुओं और प्रत्ययों के विवादास्पद स्थलों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रंथ की महत्ता तथा उपयोगिता के कारण ही शब्दकौस्तुभ आदि में इसके मतों को अनेक स्थलों पर उद्धृत किया गया है। कृच्छाध्य प्रयोगों के साधुत्व को दर्शाने के लिए इस ग्रंथ में जिस शैली को अपनाया गया है, उसका अनुसरण अनेक वृत्तिकारों ने भी किया है।

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में शरणदेव का योगदान

दुर्घटवृत्ति का समालोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि संस्कृत व्याकरण के इतिहास में दुर्घटवृत्तिकार का क्या योगदान रहा है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शरणदेव ने अपनी कृति में १०४२ ऐसे प्रयोग संकलित किए हैं जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार आपाततः असाधु प्रतीत होते हैं और फिर इन प्रयोगों को अनेक ढंगों से साधु व संगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसने अनेक ग्रंथों से प्रमाण देते हुए समाधान प्रस्तुत किए हैं। संपूर्ण कृति में केवल तीन चार स्थल ही ऐसे हैं जहां पर समाधान स्पष्ट प्रतीत नहीं होते और इन स्थलों पर भी मूल पाठ असंगत एवं अशुद्ध प्रतीत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि शरणदेव ने विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु मुख्यतः अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का संकलन किया है, परन्तु उसके साथ-साथ अनेक स्थलों पर उसका अपना बुद्धि कौशल भी द्रष्टव्य है। हां, यह अवश्य है कि वह अन्य विद्वानों का मत प्रस्तुत करने के पश्चात् ही अपना मत प्रस्तुत करता है। ये समाधान प्रायः पदसंस्कार पक्ष, ज्ञापक और परिभाषाओं, वक्ता की विवक्षा, पाठान्तर आदि के रूप में दिए गए हैं। कहीं-कहीं दर्शन की भी सहायता ली गई है।[1]

पदसंस्कार पक्ष द्वारा दिए गए समाधान—व्याकरण-सम्प्रदाय में शब्दों की सिद्धि के लिए दो पद्धतियों-वाक्य संस्कार पक्ष तथा पदसंस्कारपक्ष का आश्रय लिया गया है जिनमें से पदसंस्कार पक्ष अधिक प्रसिद्ध है। इन दोनों पक्षों का आधार व्याकरण संप्रदाय में स्वीकृत स्फोट के दो रूप—वाक्य स्फोट और पद स्फोट हैं। संस्कृत व्याकरण के कुछ विद्वान् पदस्फोट को सिद्धान्त भूत

---

१ 'नमनं हि गतिभेद इति वैशेषिकाः,—यदाहुः, 'भ्रमणाकुञ्चन—प्रसारणोर्ध्वज्वलननमनादयो गतिविषया इति।'—दुर्घटवृत्ति, ३।४।७०।

तत्त्व मानते हैं तो भर्तृहरि जैसे कुछ मूर्धन्य मनीषी केवल वाक्य स्फोट को एकमात्र तत्त्व मानते हैं तथा पदस्फोट एव वर्णस्फोट को शास्त्रीय कार्यों के निर्वाह के लिए कल्पित तत्त्वों के रूप में ही मान्यता प्रदान करते हैं। संस्कृत-व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों यथा वाक्यपदीय, लघुमंजूषा आदि में इन दोनों पक्षों का विस्तृत प्रतिपादन देखा जा सकता है।

वाक्यसंस्कार पक्ष में शब्दों की सिद्धि का तात्पर्य है पूरे वाक्य को एक मानते हुए तथा वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के पारस्परिक संबंध को ध्यान में रखते हुए वाक्यघटित पदों के साधुत्व का निरूपण जबकि पदसंस्कारपक्ष में पदों को सर्वथा स्वतंत्र मानकर उनकी सिद्धि प्रस्तुत की जा सकती है। दुर्घटवृत्तिकार ने इसी दूसरे पक्ष द्वारा पर्याप्त स्थलों पर समाधान दिए हैं। उदाहरणार्थ—'गोर्बाहीकः' तथा 'गार्बाहीकम्' प्रयोगों में महाभाष्य आदि का अनुकरण करते हुए पद—संस्कारपक्ष द्वारा 'गौः बाहीकः' तथा 'गां बाहीकम्' पदों को अलग-अलग मानकर वृद्धि तथा आत्व कार्य सिद्ध किए गए हैं।[1] इसी प्रकार 'अंके निविशती' 'नदी कूलं पिपतिषति—' आदि प्रयोगों की सिद्धि द्रष्टव्य है।[2]

ज्ञापक तथा परिभाषाओं द्वारा दिए गए समाधान—पाणिनीय धातुपाठ में आत्मनेपद के रूप में पठित धातुओं का परस्मैपद के रूप में, अथवा धातुपाठ में अपठित धातुओं के, प्रयुक्त होने पर इन प्रयोगों को ज्ञापकों तथा परिभाषाओं द्वारा सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार कई बार 'अनिट्' धातुओं को 'सेट्' रूप में प्रयोग मिलता है तथा भाषा में छान्दस् प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। इन सभी प्रयोगों को ज्ञापकों तथा परिभाषाओं द्वारा ही सिद्ध किया गया है। यथा 'शिञ्जत्' प्रयोग में 'शिजि' धातु आत्मनेपदी है परन्तु यहां पर परस्मैपद के रूप में प्रयुक्त हुई है। यह प्रयोग, अनुदात्तेत् विधि को अनित्य मानते हुए, सिद्ध किया गया है।[3] वस्तुतः पाणिनि के आत्मेनपद और परस्मैपद निर्धारण विषयक नियम प्रायिक हैं। इसी प्रकार अपठित धातुओं का प्रयोग होने पर अथवा अनिट् धातुओं का प्रयोग होने पर अथवा अनिट् धातुओं के सेट् रूप में प्रयुक्त होने पर उन शब्दों को 'गणकार्यमनित्यम्' परिभाषा द्वारा सिद्ध किया गया है। छान्दस् प्रयोगों के भाषा में प्रयुक्त होने पर उन्हें 'छान्दसा अपि भाषायां क्वचित् प्रयुज्यन्ते' परिभाषा द्वारा सिद्ध किया गया है।

---

१. दुर्घटवृत्ति, १।१।१५।
२. उपरिवत्, १।३।१७।
३. उपरिवत्, १।३।१२।

वक्ता की विवक्षा के आधार पर दिए गए समाधान

दुर्घटवृत्तिकार द्वारा दिए गए समाधानों में एक ढंग यह भी है कि प्रयोग वक्ता की विवक्षा के अनुसार ही होते हैं। व्याकरणशास्त्र में इस सिद्धान्त को प्रमुख मान्यता प्राप्त है तथा इस सम्बन्ध में कहा गया है—'विवक्षा हि शब्दव्युत्पत्तेः प्रधानं कारणम्, न वस्तुतः सत्ता' अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति का प्रधान कारण विवक्षा है न कि उनकी सत्ता। वक्ता उसी रूप में शब्दों का प्रयोग करता है जिस रूप में उसकी इच्छा होती है।

निपातनों के आश्रयण से दिए गए समाधान

शरणदेव ने कुछ प्रयोगों को निपातनों द्वारा भी सिद्ध किया है। व्याकरणशास्त्र में 'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' परिभाषा मिलती है। इस परिभाषा के अनुसार निपातनों के अबाधक होने के कारण उनके जैसे प्रयोग साधु माने जाते हैं। वस्तुतः पाणिनि के काल में भाषा में कुछ ऐसे शब्द प्रचलित थे जिनके लिए पाणिनि ने कोई विशेष नियम न बनाकर सूत्रों में ही उनका निर्देश कर दिया। यथा—विंशतेरधिको द्रोणः।' यहां पर पाणिनि के 'षष्ठी शेषे' (२।३।५०) नियम के अनुसार 'अधिक' के योग में 'विंशति' शब्द से षष्ठी होनी चाहिए। परन्तु स्वयं पाणिनि ने 'यस्मादधिकम्—' (२।३।९) सूत्र में पंचमी का प्रयोग किया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अधिक' के योग में पंचमी भी होती है।[1]

व्यवस्थितविभाषा द्वारा दिए गए समाधान

व्याकरणशास्त्र में वैयाकरणों ने प्रयोगों की सिद्ध के लिए व्यवस्थित-विभाषा का आश्रय भी लिया है। व्यवस्थितविभाषा का अभिप्राय है कि अभीष्ट प्रयोगों में ही प्रासंगिक सूत्र का कार्य हो, अन्यत्र नहीं। कई बार ऐसा होता है कि किसी विशेष प्रयोग अथवा कुछ विशेष प्रयोगों में ही कार्य की प्रवृत्ति अभीष्ट होती है, सर्वत्र नहीं। ऐसी अवस्था में व्यवस्थितविभाषा का आश्रय लिया जाता है। उदाहरणार्थ, 'तुन्दपरिमृजः' प्रयोग को लिया जा सकता है। 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते' परिभाषा के अनुसार पक्ष में वृद्धि होकर 'तुन्दपरिमार्जः' प्रयोग भी बनना चाहिए। परन्तु यह रूप अभीष्ट नहीं है। अतः यहां पर व्यवस्थितविभाषा द्वारा यही निर्णय दिया जाएगा कि यह नियम इस प्रयोग में प्रवृत्त नहीं होगा।

योगविभाग द्वारा दिए गए समाधान :

दुर्घटवृत्तिकार ने कुछ प्रयोग सूत्रों के योगविभाग द्वारा अर्थात् अष्टाध्यायी

---

१. द्र० दुर्घटवृत्ति, १।१।५।

एक सूत्र को अलग-अलग विभक्त कर उन्हें स्वतंत्र सूत्र मानते हुए भी सिद्ध किए हैं। व्याकरणशास्त्र में यह पद्धति अत्यन्त प्राचीन रही है। कात्यायन, पतंजलि, जयादित्य आदि ने भी सूत्रों के योगविभाग के आधार पर कुछ ऐसे प्रयोगों को जो सामान्य रूप से सिद्ध नहीं होते थे, सिद्ध करके असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। शरणदेव ने भी इस पद्धति का अनेक स्थलों पर आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ 'भारनिवोढुम्' प्रयोग को 'द्वितीयाश्रितातीतपतित' (२।१।२४) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'द्वितीया' से सिद्ध किया गया है।[2]

दुर्घटवृत्तिकार द्वारा किए गए कुछ सूत्रों का योगविभाग अन्य वैयाकरणों द्वारा सम्मत है, परन्तु कुछ ऐसे सूत्र भी हैं जिनका योगविभाग केवल शरणदेव ने ही किया है। संभवतः उसके पूर्ववर्ती मैत्रेयरक्षित ने यह योगविभाग स्वीकार किया हो। ऐसे स्थलों पर हमें शरणदेव का बुद्धि-कौशल स्वीकार करना होगा कि उसने किस प्रकार अन्य वैयाकरणों द्वारा सम्मत न होने पर भी इन प्रयोगों को योगविभाग द्वारा सिद्ध किया है।

प्रयोगों को आर्ष मान कर दिए गए समाधान

यह संस्कृत वैयाकरणों की मान्यता है कि व्यास आदि ऋषि वाणी के विषय में स्वतंत्र थे अर्थात् वे व्याकरण की सीमाओं के आबद्ध नहीं थे।[1] पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना उनके लिए नहीं की थी। इसीलिए वेद, महाभारत, स्मृति आदि में कुछ ऐसे प्रयोग दृष्टिगत होते हैं जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार असाधु ठहरते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के 'अर्जुनस्य सखा कृष्णःकृष्णस्य सखिरर्जुनः' श्लोकांश का 'सखिः' पद लिया जा सकता है। नियमानुसार यहां पर 'अनङ्' आदेश होकर 'सखा' शब्द बनना चाहिए था। परन्तु यह प्रयोग किसी साधारण व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त न होकर स्वयं व्यास मुनि द्वारा प्रयुक्त हुआ है। अतः उनसे ऋषि होने के कारण यह प्रयोग आर्ष है तथा साधु है। इस प्रकार के सभी प्रयोगों को उनके आर्ष होने के कारण वैयाकरणों द्वारा उन्हें साधु माना गया है। 'आर्ष' शब्द का अभिप्राय है वेदों में प्रयुक्त अथवा किसी ऋषि (आप्त) द्वारा प्रयुक्क्त। ये दोनों प्रकार के प्रयोग अपाणनीय अथवा व्याकरण असम्मत होते हुए भी साधु हैं।

'बहुल' वचन द्वारा दिए गए समाधान

---

१. दुर्घटवृत्ति, २।१।२४।

२. 'न हि व्यासप्रभृतीनधिकृत्याष्टाध्यायी कृता। ते हि भगवन्तो वाग्विषये स्वतन्त्राः।'—द्र० दुर्घटवृत्ति, ७।१।९३।

पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में 'बहुल' शब्द का प्रयोग किया है। 'बहुल' का अर्थ है—

'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।[1]'

इस कारिका का आशय है यह है कि कभी-कभी नियम की प्रवृत्ति होती है तथा कभी नहीं होती। इसी प्रकार कभी-कभी विकल्प से नियम प्रवृत्त होता है तो कभी अन्य प्रयोग के समान ही बन जाता है अर्थात् उसका रूप अन्य किसी शब्द के समान हो जाता है। दुर्घटवृत्तिकार ने इस 'बहुल द्वारा अनेक प्रयोग सिद्ध किए हैं। उदाहरणार्थ 'शीकरपल्लवितः' प्रयोग 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र के 'बहुलम् वेचन द्वारा सिद्ध किया गया है।

व्यक्तिपक्ष तथा जातिपक्ष द्वारा दिए गए समाधान

व्याकरणशास्त्र में विद्वानों ने दोनों व्यक्तिपक्ष तथा जातिपक्ष को ग्रहण किया है। प्रथम पक्ष में किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से कार्य की प्रवृत्ति मानी जाती है तथा द्वितीय पक्ष में कार्य सभी प्रयोगों में सामान्य रूप से होते हैं। कई बार विशेष प्रयोगों की दृष्टि से व्यक्तिपक्ष का आश्रय लिया जाता है। शरणदेव ने दो तीन स्थलों पर इस पक्ष की सहायता से प्रयोगों को सिद्ध किया है। यथा—'कुमार्यै शोभनायै' प्रयोग।[2]

लोकाश्रयता के आधार पर दिए गए लिङ्ग सम्बन्धी समाधान :

दुर्घटवृत्ति में ऐसे अनेक प्रयोगों पर विचार किया गया है जिनमें लिङ्ग सम्बन्धी समस्या प्रस्तुत की गई है। इन प्रयोगों को महाभाष्य के 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्' वचन के आधार पर सिद्ध किया गया है। इस वचन का तात्पर्य यह है कि शब्दों के लिङ्ग निर्धारण का निर्णय लोकाश्रित है अर्थात् लोक में शिष्ट लोग जिस लिंग में उनका प्रयोग करते हैं वही उचित है। जैसे 'गृहस्थूणम्' प्रयोग। यहां पर 'परवल्लिगम्—' (२।४।२६) सूत्र के अनुसार 'स्थूणा' शब्द के लिंग के समान लिंग का प्रयोग होना चाहिए था परन्तु लोक में यह शब्द नपुंसकलिंग के रूप में ही प्रसिद्ध है।

अतः यहां पर नपुसंकलिंग का प्रयोग साधु है।[3]

---

१. दुर्घटवृत्ति, २।१।३०।
२. उपरिवत्, २।२।१८।
३. दुर्घटवृत्ति, २।२४।२६।

उपसर्गों को प्रतिरूपक मानकर दिए गए समाधान

भाषा में अनेक प्रयोग ऐसे होते हैं जो उपसर्गों के कारण असाधु ठहरते हैं। ऐसे स्थलों पर वैयाकरणों ने उन्हें उपसर्ग न मानकर उनका प्रतिरूपक माना है। महाभाष्य में भी यह बात स्वीकार की गई है। यथा 'दुस्थः' प्रयोग में उपसर्गात्सुनोति (८।३।६५) सूत्र के अनुसार 'षत्व' होना चाहिए। यहां पर शरणदेव आदि विद्वानों ने 'दुर्' को उपसर्ग न मानकर उपसर्ग का प्रतिरूपक माना है। प्रतिरूपकता के आधार पर उसका उपसर्गत्व नष्ट हो जाएगा। अतः 'षत्व' का अभाव सिद्ध हो सकेगा।[1]

पाठान्तर के रूप में दिए गए समाधान

शरणदेव ने पर्याप्त स्थलों पर किसी अन्य पाठ की कल्पना करके शब्दों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु इन समाधानों को उसी स्थिति में औचित्यपूर्ण माना जा सकता है जब उद्धृत अंशों का प्रामाणिक मूल स्थल ज्ञात हो, क्योंकि मूल स्थलों को जाने बिना यह नहीं कहा जा सकता कि ये पाठान्तर छन्द अथवा अर्थ की दृष्टि से पूर्णतया उपर्युक्त होंगे अथवा नहीं। उदाहरणार्थ 'शिरः कप्पयते युवा' पाठ के स्थान पर 'शिरः कम्प्यते' पाठ की कल्पना की गई है।[2] इसी प्रकार 'दूतेषु कल्याणम्' के स्थान पर 'दूते सुकल्याणम्' पाठ प्रस्तुत किया गया है।[3]

यों भी पाठान्तर के रूप में दिए गए समाधानों को वास्तविक समाधान नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी प्रयोग को असाधु मानने पर ही तो अन्य पाठ की कल्पना की जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि लेखक ने अन्य पाठों की कल्पना करके अपने बुद्धिकौशल का अत्यन्त पुष्ट परिचय दिया है।

शब्दों की प्रक्रिया-सिद्धि द्वारा दिए गए समाधान

दुर्घटवृत्तिकार ने यत्र तत्र शब्दों की खींचातानी करके शब्दों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वह सर्वप्रथम शब्द विशेष को दो भागों में विभक्त कर लेता है और तदनन्तर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। यथा 'जिघांसीयात्' प्रयोग में 'णिनि' प्रत्ययान्त 'जिघांसी' शब्द को 'लिङ्' लकार के 'इयात्' प्रयोग से अलग करके जिघांसीयात्' प्रयोग को साधु ठहराया गया है।[4]

---

१. दुर्घटवृत्ति, ८।३।६५।
२. उपरिवत्, १।३।८७।
३. उपरिवत्, १।४।२१।
४. उपरिवत्, ३।४।१०३।

इस प्रकार यह प्रयोग साधु तो अवश्य सिद्ध हो जाता है परन्तु जब तक इसका मूल स्थल ज्ञात न हो तब तक यह कहना अत्यन्त कठिन होगा कि प्रयोक्ता जो कुछ व्यक्त करना चाहता था, उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई सिद्धि द्वारा हुई अथवा नहीं ।

यद्यपि शरणदेव द्वारा दिए गए अधिकांश समाधान अत्यन्त औचित्यपूर्ण हैं, किन्तु कतिपय समाधान ऐसे भी हैं जो उचित नहीं जान पड़े । यथा—

(१) दिवादौ 'ध्या चिन्तायामिति कर्त्तव्ये भूवादौ ' ध्यैं चिन्तायामि 'ति ज्ञापकात् गणकार्यानित्यत्वात्'[1]

(२) 'जात्याख्यायामेकस्मिन्' (१।२।५८) इति बहुवचनम् ।[2]

(३) सादृश्येऽसमास एवायम् ।[3]

(४) तिङन्तत्वे वा 'अस्तिक्षीरादिवचनं कर्तव्यमि' ति समासः ।[4]

(५) अन्ये त्वाहुः । पार्वतीं पातीति पार्वतीपः शिवः । 'रमा जलधिजा देवी' ति त्रिकाण्डशेषः । रमाया ईश्वरो रमेश्वरः विष्णुः तो वन्द इत्यर्थः ।[5]

(६) ऋते योगे द्वितीये 'ति कश्चित्[6]

(७) 'ईज गतिकुत्सनयोरि' त्यस्य रूपम् ।[7]

(८) कृत्तिविकृत्तशब्द उपपदे 'कर्मण्यण्' (३।२।१) पृषोदरादित्वात् कृत्तविकृत्तशब्दस्य क्रव्यादेश इति कश्चित् ।[8]

(९) शिवादित्वादण् ।[9]

इन समाधानों के अनौचित्य के कारणों पर उन-उन स्थलों पर विचार किया जा चुका है । ऐसी स्थिति में इस प्रबन्ध में शरणदेव द्वारा उसी प्रयोग पर दिए गए अन्य समाधानों से सहायता ली गई है या फिर अन्य समाधान दिए गए हैं ।

---

१. दुर्घटवृत्ति, १।३।१२ ।
२. उपरिवत्, १।४।११ ।
३. उपरिवत्, २।१।७ ।
४. उपरिवत्, २।२।३४।
५. उपरिवत्, २।२।३४ ।
६. उपरिवत्, २।३।२ ।
७. उपरिवत्, २।४।५६ ।
८. उपरिवत्, ३।२।६९ ।
९. उपरिवत्, ५।१।१२४ ।

दुर्घटवृत्तिकार ने एकाध स्थल पर ऐसे समाधान भी दिए हैं कि उनमें एकरूपता का अभाव खटकने लगता है। यथा—'कापथ:' शब्द के विषय में विचार करते समय प्रथम समाधान में तो दुर्घटवृत्तिकार ने इसे पुल्लिंग सिद्ध किया है किन्तु दूसरे समाधान में इसे नपुंसकलिंग माना है। तीसरे समाधान में पुन: इसकी पुल्लिंगता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है।[1]

अत: यह कहना उचित ही है कि दुर्घटवृत्ति संस्कृत व्याकरण शास्त्र की एक संक्षिप्त पर अपने ढंग की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसका महत्व इस कारण भी असाधारण है कि दुर्घटवृत्ति की परम्परा में आज यही एक वृत्ति विद्यमान है जो अपने प्रचीन आचार्यों के विविध मतों, विचारों, वचनों को अपने में संजोती हुई तथा शरणदेव की उर्वर प्रतिभा से प्रतिभासित होती हुई अपनी दुर्घटनीयता को इस रूप में भी चरितार्थ करती है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों में दुर्घटवृत्ति का विशिष्ट स्थान है, लेकिन दुर्घटवृत्ति के सही मूल्यांकन के लिए अत्यधिक आवश्यक है कि उसके मतों का व्याकरण के प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रन्थों के आधार पर परीक्षण किया जाए। इस दृष्टि से अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का परीक्षण करने पर यह विदित होता है कि इस दिशा में अब तक कोई विशेष कार्य नहीं किया गया।

श्री गणपति शास्त्री ने इस ग्रन्थ को सन् १९०९ में सम्पादित किया जिसका दूसरा संस्करण सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ। इन संस्करणों में गणपतिशास्त्री का मूल उद्देश्य दुर्घटवृत्ति का सम्पादन करना रहा है। परिणामत: इस ग्रन्थ में न केवल दो पृष्ठीय भूमिका देकर काम चला लिया गया है अपितु इसकी पाद-टिप्पणियां भी अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण हैं।

दुर्घटवृत्ति का दूसरा संस्करण प्रो० रेणु द्वारा सम्पादित है। यह संस्करण सन् १९४० में फ्रेंच भाषा में पेरिस से प्रकाशित हुआ था। पांच खण्डों में विभक्त इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड के प्रथम भाग में १४४ पृष्ठीय विस्तृत भूमिका है तथा शेष खण्डों में दुर्घटवृत्ति के फ्रेंच अनुवाद के साथ-साथ रोमन अक्षरों में मूल पाठ तथा टिप्पणियां दी गई हैं। भूमिका-खंड चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संस्कृत व्याकरण के इतिहास का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय

१. दुर्घटवृत्ति, २।४।३०।

दिया गया है, दूसरे अध्याय में दुर्घटवृत्ति के रचनाकाल, प्रतिपाद्य विषय, स्रोतों आदि का विश्लेषण है, तीसरे अध्याय में संस्कृत व्याकरण की विवेचन पद्धति का निरूपण है और चौथे अध्याय में दुर्घटवृत्ति के फ्रेंच संस्करण का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि गणपति शास्त्री के समान प्रो० रेणु ने भी दुर्घटवृत्ति के संपादन पर ही अधिक बल दिया है—हां, यह अवश्य है कि गणपति शास्त्री की तुलना में उनकी भूमिका अधिक व्यापक है। इसका कारण यह है कि प्रो० रेणु ने यह संस्करण फ्रेंच भाषी उन पाठकों के लिए तैयार किया है जिन्हें संस्कृत विषयक ग्रंथ उतने सुलभ नहीं है जितने भारतीय पाठकों को। वस्तुत: प्रस्तुत शोधप्रबन्ध दुर्घटवृत्ति के समालोचनात्मक अध्ययन की दिशा में किया गया प्रथम प्रयास है। इस शोध प्रबन्ध में दुर्घटवृत्ति में प्रसंगत: आए हुए सूत्रों के विवादास्पद विषयों का व्याकरण के सभी प्रधान एवं आधारभूत ग्रन्थों की दृष्टि से विवेचन किया गया है तथा दुर्घटवृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट पदों की दृष्टि से अष्टाध्यायी सूत्रों पर विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए अपना निष्कर्ष दिया गया है। उदाहरणार्थ 'ह्वरि:', 'तुन्दपरिमृज:', 'जिष्णु:' तथा 'दङ्क्षणव: पशव:' प्रयोगों में साधारणतया 'क्ङिति च' (१।१।५) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'ह्वरि:' प्रयोग में इक्' प्रत्यय के परे होने पर 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध होना चाहिए। 'तुन्दपरिमृज:' में भी 'क' प्रत्यय के परे होने पर 'मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते' परिभाषा द्वारा विकल्प से वृद्धि की प्राप्ति होती है। 'जिष्णु:' प्रयोग में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'स्थास्नु:' प्रयोग की सिद्धि के लिए 'क्स्नु' प्रत्यय को 'कित्' न मान कर 'गित्' माना गया है। अत: गुण होना चाहिए। इसी प्रकार 'दङ्क्षणव: पशव:' प्रयोग में 'क्ङिति च' सूत्र द्वारा अनुनासिक लोप की प्राप्ति होती है। दुर्घटवृत्तिकार ने इन सभी प्रयोगों पर उपस्थित दोषों का यथासम्भव समाधान दिया है। इस प्रबन्ध में उन समाधानों का भली-भांति परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया गया है कि उन्हें मान्य माना जाए अथवा नहीं।

दुर्घटवृत्ति की समीक्षा करते समय कतिपय स्थल नितान्त अस्पष्ट प्रतीत हुए हैं। अतएव ऐसे स्थलों की समीक्षा नहीं की गई है। ये स्थल निम्नलिखित हैं:

(१) 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) इति वचनाद् ज्ञापकाद् भावार्थक्तस्य 'क्तल्युडि'त्यत्र ग्रहणाद् वर्तमानार्थक्तेन वासरूपविधिना लडपि भवति। अपरं बहुत्वान्नोक्तम् ॥[1]

---

१. दुर्घटवृत्ति, ३।१।९४।

(२) 'यत्तु 'नथाः शेषस्ये' (६।३।४४) त्यत्र रक्षितेनोक्तं शेषशब्दस्यावशिष्टलिङ्गत्वादिति, तत् परिशिष्टार्थे द्विलिङ्गाव्यभिचाराद् इहालोपित्वात् कथं भागमिति सिध्यतीति ।[1]

(३) 'यकारसाहचर्यात् न (य ? प) रलवि (ष) ये लोपः ।'[2]

(४) 'स्थे च भाषायाम्' (६।३।२०) इत्यत्र चेष्टाव्यावृत्तये गापाग्रहणादीत्वाभावोऽनुमीयते इति रक्षितः ।[3]

(५) '(यत्तु ? यैस्तु) प्रत्ययविधिविषयमित्युच्यते तेषां विकृतिनिर्देशाल्लिङ्गात् नास्यतिग्रहणम् । यत्तु रक्षितेनोक्तम् विकृतिनिर्देश उत्तरसूत्रे निर्देशभेदार्थ इति, तत्तु मन्दधियां सुखप्रतिपत्तये ।[4]

(६) चार्वी बुद्धिरतत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वीतिवत् । आचि (रा ? वा) उदधिस्या (वा) नापि पुरुषः (चारू ? उ) दधिस्य ।[5]

(७) सुदलश्च । 'एकादाकिनिच्चासहाय' (५।३।५२) इत्यत्र कन्लुकौ चानुवर्तेते । तत्र महाविभाषया प्रकृतिश्रवणे सिद्धे लुग्विधानं सर्वकार्याभावार्थमिति 'अट्कुपु' (८।४।२) इति सूत्रे रक्षितः ।'[6]

(८) 'अतोऽम्' (७।१।२४) सूत्र स्पष्ट नहीं हो सका ।[7]

(९) 'गणस्थमूदन्तमि' ति । गणस्थग्रहणं नागणस्थनिवृत्यर्थे; किन्तु स्वरूपग्रहणम् ।[8]

(१०) 'एरजन्तानां तु आर्धधातुक इत्यस्य विषयसप्तमीत्वं लब्धम् । अतः परसप्तमीपक्षे अच् । विषयसप्तम्यां तु पचाद्यच् ।'[9]

(११) 'अस्या लिङ्ग' (वचनं समान ?) निर्देशः । तत्रावर्णान्तत्वात् 'सुपि च' (७।३।१०२) इति दीर्घत्वं प्राप्तमेव । एवंविधे एकदेशविकृतपरिभाषया न प्रवर्तितव्यमित्यत्राप्येतदेव लिङ्गम्' ।[10]

---

१. दुर्घटवृत्ति, ३।३।१८ ।
२. उपरिवत्, ६।१।६६ ।
३. उपरिवत्, ६।४।६६ ।
४. उपरिवत्, ६।४।१११ ।
५. उपरिवत्, ७।१।१२
६. उपरिवत्, ७।१।१२ ।
७. उपरिवत्, ७।१।२४ ।
८. उपरिवत्, ७।२।१० ।
९. उपरिवत्, ७।३।५२ ।
१०. उपरिवत्, ७।३।१०१ ।

(१२) 'आशीष्कः' 'व (लि ? हि) ष्क' इत्यत्र बिसर्जनीयत्वषत्वादेरसिद्धत्वात् प्राप्तेश्चान्तरतम्यात् न तु सावर्ण्यात् 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इति सावर्ण्यनिषेधात् ।।'[1]

(१३) 'सडिति (सन्) सकारादारम्य (आ) महिङो ङकारात् ।'[2]

(१४) 'अन्यथा दासीष्टेत्यत्र षत्वं स्यात् । (वयस्या ? वेला) स्विति निर्देशान्न च 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इति निषेधः अगृहीतसवर्णा नामचां प्रतिषेधवचनात् । अयं (च) न्यासोऽसङ्गतः स्यात् 'अत्राप्येवंक्रमेण षत्वाभावाद् इण्ग्रहणादि' ति न्यासः ।'[3]

(१५) तथा चान्द्रं सूत्रं—'नि (:) प्रतिभ्यां स्तम्भेरि' ति । 'खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः' । निरस्सकारविसर्जनीयलोपः ।'[4]

(१६) 'यथा 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) इत्यत्र वृत्तौ अकारितरामित्यत्र लुकि पुनस्त (यो ? रपो) लुङ् नास्ति 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) इति ।'[5]

इसी प्रकार से कोष्ठगत स्थलों पर भी विचार नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि ये स्थल समस्या से सम्बद्ध नहीं जान पड़े, किन्तु जहां-कहीं ये समस्या से सम्बद्ध प्रतीत हुए हैं वहां उन पर विचार अवश्य किया गया है ।

दुर्घटवृत्ति में अनेक स्थलों पर अशुद्ध प्रतीत होने वाले पाठों के विषय में भी यथावसर विचार किया गया है और उनके स्थान पर शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इन संशोधित पाठों को मूल स्रोतों द्वारा मिलाकर प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है, यथा—

दुर्घटवृत्ति में उद्धृत अशुद्ध पाठ	**संशोधित पाठ**
६. केचिदनुप्रयोगादन्यत्रास्तेर्भू भावं नेच्छन्ति इति धातुप्रदीपः ।[6]	केचिदनुप्रयोगादन्यत्रापि नेच्छन्ति ।[7]

---

१. दुर्घटवृत्ति, ३।४।१३ ।
२. उपरिवत्, ८।२।३० ।
३. उपरिवत्, ८।३।५९ ।
४. उपरिवत्, ८।३।१११ ।
५. उपरिवत्, ८।४।१४० ।
६. उपरिवत्, २।४।५२ ।
७. धातुप्रदीप, पृ० ५७ ।

२. पुरस्सरा वाम्[1]	पुरस्सरा वाचः[2]
३. महिष्मत्या साध्यं भावेऽर्थेऽण्[3]	महिष्मत्यास्तत्र भवेऽर्थेऽण् ।
२. तन्मते नैते प्रयोगा:[4]	तन्मतेनैते प्रयोगाः ।
५. परोक्षम्[5]	पराक्षम्
६. उपधात्वात्[6]	उपधत्वात्
७. ज्ञापयितुम्[7]	ज्ञपयितुम्[3]
८. भृम्नि:[9]	भूम्नि:
९. राष्ट्रालम्भ:[10]	राष्ट्रलम्भ:[11]
१०. नित्यमत्रेत्यवधारणार्थम्[12]	नित्यमेवात्रेत्यवधारणार्थम्
११. वीभावोऽपि[13]	वीभावोऽपि अनुदात्तः ।
१२. जूत्वा[14]	जीर्त्वा[15]
१३. भिषज (इद) मित्यादि[16]	भिषजामिदमित्यपि ।
१४. अभीयात्, परीयात्[17]	अभियात्, परियात् ।
१५. पुंवत्[18]	पुव्ंवत् ।

---

१. दुर्घटवृत्ति, ३।२।१८।
२. भाषावृत्ति, ३।२।१८।
३. दुर्घटवृत्ति, ४।२।८७।
४. उपरिवत्, ५।२।११८।
५. उपरिवत्, ६।१।१०१।
६. उपरिवत्, ६।३।६४।
७. उपरिवत्, ६।४।९२।
८. काशिका, १।४।३४।
९. दुर्घटवृत्ति, ६।४।१४६।
१०. उपरिवत्, ७।१।६७।
११. भाषावृत्ति, ७।१।६७।
१२. दुर्घटवृत्ति, ७।१।७१।
१३. उपरिवत्, ७।२।१०।
१४. उपरिवत्, ७।२।५५।
१५. न्यास (भाग ३), ७।२।५५।
१६. दुर्घटवृत्ति, ७।२।११७।
१७. उपरिवत्, ७।४।२४।
१८. उपरिवत्' ८।४।५९।

दुर्घटवृत्तिकार ने कतिपय स्थलों पर मूल स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न भी किया गया है। दुर्घटवृत्ति में अनुल्लिखित जिन उद्धरणों के मूल स्रोत हमने ढूंढ निकाले हैं उनकी सूची इस प्रकार है—

१. अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः ।[1]
२. तवोपशयिका यावद्राक्षसस्यश्चेतयन्ति न ।[2]
३. दिवमाक्रममाणेव केतुतारा भयप्रदेति महिः ।[3]
४. तच्छृणुष्व मयाख्यात यथावत् कथयामि ते ।[4]
५. स्वराज्यं प्राप्स्यते भवान् ।[5]
६. गते मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।[6]
७. नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ।[7]
८. बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ।[8]
९. सत्यानुरक्तं नरकस्य जिष्णवः ।[9]
१०. दन्तमुष्टितलैः ।[10]
११. सोऽयं मदभुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यता कौरवाः ।[11]
१२. कालप्रभाता शरदा प्रावृषा तु जलार्णवाः ।[12]
१३. कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।[13]
१४. पूर्वापरी वारिनिधी विगाह्य स्थितः ।[14]

---

१. पञ्चतन्त्र, १।४४ ।
२. भट्टिकाव्य, ८।१२३ ।
३. यह श्लोकांश भट्टिकाव्य में मिलता है ।—भट्टिकाव्य, ८।२३ ।
४. दुर्गासप्तशती, ४।४२ ।
५. उपरिवत्, १३।२० ।
६. पराशर स्मृति, श्लोक १५८ ।
७. पञ्चतन्त्र, १।१४८ ।
८. उपरिवत् ४।१५ ।
९. शिशुपालवध, १२।३ ।
१०. दुर्गासप्तशती, ३।१७ ।
११. वेणी संहार, ३।४७ ।
१२. त्रिकाण्डशेष, १।४।२९ ।
१३. पञ्चतन्त्र, ४।११ ।
१४. कुमारसंभव १।१ ।

१५. स्वस्थे को वा न पण्डित: ।[1]
१६. वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम् ।[2]
१७. अवैतयुद्धाभिनिवेशसौम्य: ।[3]
१८. प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम् ।[4]
१९. ववाह रक्तं पुरुषा: ।[5]
२०. दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णाम् ।[6]
२१. दिवं नम: ।[7]
२२. चालयन् सकलां पृथ्वीम् ।[8]
२३. ववलिरे वलिरेचितमध्यमा ।[9]
२४. सुतनो, स्तनौ च दयितोपगमे ।[10]

१. पञ्चतन्त्र, १।१३८ ।
२. रघुवंश, २।१ ।
३. शिशुपालवध, ३।१ ।
४. अमरकोश, १।७।२७ ।
५. दुर्गासप्तशती ८।४६ ।
६. पञ्चतन्त्र, ३।१ ।
७. त्रिकाण्डशेष, १।१।४ ।
८. दुर्गासप्तशती, १०।२७ ।
९. शिशुपालवध, ६।३८ ।
१०. उपरिवत्, ६।२२ ।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद

क्ङिति च (१।१।५)—ह्वरि १, तुन्दपरिमृजः १-३, जिष्णुः ३-४। **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१।१।९)—प्रक्लृप्यमानः ४-५। **ओत्** (१।१।१५)—गोमवेत्—६-७। **न बहुव्रीहौ** (१।१।२९)—त्वकापितृकः ७-९। **विभाषा जसि** (१।१।३२)—द्वयेषाम् ९—१२। **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (१।१।५७)—वैयाकरणः १२-१४। **द्विर्वचनेऽचि** (१।१।५९)—अधिजगे १४-१५, निन्यतुः १५-१६ **अदर्शनं लोपः** (१।१।६०)—वृत्रः १७-१८, **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१।१।६२)—भवति १९-२०, ग्रामणीः २०-२१, गोहितम् २१, अतृणेट् २१-२२, मुद् २२, **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६३)—अधित्वत् २२-२३।

प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद

गाङ्कुटाः (१।२।१)—धवित्रम् २४-२५, लेखन २५-२६, विव्यचिथ २६-२७, **विज इट्** (१।२।२)—उद्वेजिता २७-२९, **असंयोगाल्लिट् कित्** (१।२।५)—सम्पपृच्छे २९-३०, **इन्धिभवतिभ्यां च** (१।२।६)—बभूव ३०-३१, **हलन्ताच्च** (१।२।१०)—दिदृक्षते ३१-३२, **निष्ठाशीङ्** (१।२।१९) उड्डयितम् ३२-३३, **हलोव्युपधाद्धलादेः संश्च** (१।२।२६)—कुटित्वा ३३-३४। **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७)—वनाय ३४-३६। **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य**—(१।२।४८)—अर्धपिप्पली ३६-३८। **अस्मदोर्द्वयोश्च** (१।२।५९)—३८-३९। **फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे** (१।२।६०)—पूर्वफल्गुनी ३९-४०। **पुमान् स्त्रिया** (१।२।६७)—भवौ ४०-४१, दासीदासम् ४१।

प्रथम अध्याय, तृतीय पाद

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२)—पलाति ५२-५३, उच्चुकुटिषति ५३-५४, बोभूयते ५४-५५, शिञ्जत् ५५-५६, शयामि ५६-५७, आदध्यात् ५७, आपोमयम् ५७-५८। **कर्तरि कर्मव्यतिहारे** (१।३।१४)—दधतुः ५८-६०, सम्प्रहरिष्यन्तो ६०, **नेर्विशः** (१।३।१७) निविशती ६०, **आङो दोऽनास्यविहरणे**

(१।३।२०)—दत्से ६१, यमयुङ्क्त ६१, **क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च** (१।३।२१)—क्रीडते ६२, **शप उपालम्भन इति वक्तव्यम्**—शपामि ६२, **आशिषि नाथः**—नाथसे ६३-६४। **हरतेर्गतितात्छील्य इति बक्तव्यम्**—जलधिमनुहरते सरः ६४, **उदोऽनूर्ध्वकर्मणि** (१।३।२४)—उत्तिष्ठते वासुकिनापि दष्टः ६५। **आङो यमहनः** (१।३।२८)—आजघ्ने ६५-६७। **समोगम्पृच्छिप्रच्छिस्वरत्यश्रुविदिभ्यः** (१।३।२९)—तच्चैक्यं समगच्छत ६७, सम्पपृच्छे ६८। **सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषुनियः** (१।३।३६)—विनिन्युः ६८-६९। **कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि** (१।३।३७)—नयन्ति पौरुषम् ६९-७०। **आङ् उदगमने** (१।३।४०)—आक्रामति ७०-७१। **प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्** (१।३।४२)—प्रचक्रमुः ७१-७२। **अनुपसर्गाद्वः** (१।३।४३)—संक्रमते ७२-७३। **अकर्मकाच्च** (१।३।४५)—अभिजानामि ७३। **उपाद्यमः स्वकरणे** (१।३।५६)—उपायंस्त ७४। **म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च** (१।३।६१)—मम्रे ७५। **भुजोऽनवने** (१।३।६६)—भोक्ष्यते ७५-७६। **अनुपसर्गाज्ज्ञः** (१।३।७६)—अनुजज्ञे ७६-७७। **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (१।३।७८)—प्रशास्महे ७७-७८, पच्यते ७८, गच्छते ७८, सस्रे ७८, गुच्यते ७९, शुद्धयते ७९, चुचुम्बे ७९-८०, अन्वेषमाणम् ८०, नन्दते ८०, प्राप्स्यते ८०-८१, वलमानः ८१, प्रसज्यते ८१। **बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः** (१।३।८६)—प्रबोधयन्ते ८१-८२, **निगरणचलनार्थेभ्यश्च** (१।३।८७)—कम्पयते—८२।

प्रथम अध्याय, चतुर्थ पाद

यूस्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)—अतिलक्ष्म्यै ब्राह्मणाय ८३, सुमतये प्रियविप्राय ८३-६४, **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** (१।४।४)—हे सुभ्रु ८४-८५, वर्षाम्वे ८६। **शेषो घ्यसखि** (१।४।७)—सखिना, ८६, अतिसखेः ८६-८७, बहुसंख्या ८७-८८। **पतिः समास एव** (१।४।८)—पतिना ८८, जीवपत्याम् ८९। **संयोगे गुरु** (१।४।११)—भोक्ता ८९, अभिह्लद ८९-९०। **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१।४।१३)—नुवति ९०। **स्वादिष्व सर्वनामस्थाने** (१।४।१७)—राजा ९०-९१। **बहुषु बहुवचनम्** (१।४।२१)—दारा ९२, उपासते ९२-९४, वहन्ति, ९४, **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (१।४।२४), ९४-९५। **वाराणार्थानामीप्सितः** (१।४।२७)—सत्येषु ९४, कूपादन्धं वारयति ९५-९६। **जनिकर्तुः प्रकृतिः** १।४।३०—वंशे ९६। **स्पृहेरीप्सितः** (१।४।३६)—स्पृहणीया विभूतिः ९६, मुक्ताजालम् १०२, सितिम्ना १०२-१०३, सत्कारैः १०३, **अर्यादिच्विडाचश्च** (१।४।६१)—आविश्चक्षुषोऽववत् १०३-१०५ **विभाषा कृञि** (१।४।१०५)—तिरस्कृत्य १०५, **युष्मद्युपपदे** (१।४।१०५)—परमत्वं पठसि—१०६, अतित्वं पचति १०६-१०७, त्वद् भवति १०७, त्वत्तरो

यासि १0७, त्वत्कल्पो देवदत्तो याति १०७, **अस्मद्युत्तमः** (१।४।१०७)—अहमिव करोति १०८।

द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद

समर्थः पदविधिः (२।१।१)—असूर्यपश्या राजदाराः १०६-१११, **सहसुपा** (२।१।४) भूतपूर्वः १११, **अव्ययं विभक्ति**—(२।१।६) प्रत्यक्ष १११-११२, अर्थमर्थं प्रति ११२, प्रत्येकम् ११२, **यथा सादृश्ये**—(२।१।७)—यथोक्तरीत्या ११५-११६। **अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः** (२।१।१२)—अपशब्दः, ११६-११७, बहिर्ग्रामात् ११७, करस्य करमोबहिः ११७। **तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च** (२।१।१७)—आतिष्ठद्गु ११८, **अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्** (१।१।२१) सराजम् ११८-११६। **द्वितीया-श्रितातीत-पतित-गतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (२।१।२४)—भारनिबोढुम्, ११६। **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (१।१।३०)—शीकर पल्लवितः १२०। **पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः** (२।१।३१)—गुरूतुल्यः १२०-१२२। **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः**—(२।१।३६)—वासगृहम् १२१-१२२। **पञ्चमी भयेन** (२।१।३६) सितेतस्य १२२, परश्शताद्याः १२२-१२४। **कृत्यैर्ॠणे** (२।१।४६)—संवत्सरकरणीयम् १२४। **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** (२।१।४६)—वर्णकम् १२५, पुराणेकम् १२५-१२६। **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (२।१।५१)—पञ्चगुः १२६-१२७। **संख्यापूर्वो द्विगुः** (२।१।५२)—एकापूपी १२७-१२८, **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (२।१।५७)—मेरूपर्वतः १२८-१३०, इदभस्त्री १३०, विषकुम्भम् १३०-१३१। **पोटायुवतिस्त्रीक कतिपय वृष्टि धेनुवशावेहद्-बाष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापक धूर्तेर्जाति**—धूर्तबकः १३१-१३२, परमपूज्यः, १३२।

द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद

अर्धं नपुंसकम् (२।२।१)—शरीरार्धम् १३३—१३४। **प्राप्तापन्ने च द्वितीया** (२।२।४) प्राप्तजीविका, १३४—१३५। **नञ्** (२।२।६)—अनेके १३५-१३६। **षष्ठी** (२।२।८)—वन्ध्यासुतः, १३७। **न निर्धारणे** (२।२।१०)—पुरुषोत्तमः १३७-१३६। गोस्वामी १३६। **पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्य समानाधिकरणेन** (२।२।११)—तमस्तानवम् १३६-१४०, तदुपरि १४०-१४१, सत्कर्त्तव्यम् १४१-१४२, फलैर्नानारसैः तृप्ता १४२-१४३। **क्तेन च पूजायाम्** (२।२।१२)—राममहितः १४३-२४४। **कर्मणि च**—२।२।१४—गृहवित्तभर्त्री १४४, शब्दानुशासनम् १४४-१५०। **कर्तरि च** (२।२।१६)—भयशोकहर्ता १५०-१५२। **कुगति प्रादयः** (२।२।१८)—अलं कुमार्यै १५२-१५३, अधीत्य १५३, कुरूतेन १५४, **उपपदमतिङ्** (२।२।१६) साधु खलु पयसः पानम् १५४-१५५, अम्भगां निधिः १५४। **अनेकमन्यपदार्थे** (२।२।२४)—१५५-१५६।

उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) — अपेतमैथिलीम् १५६-१५७, वार्तिसूत्रिकम् १५७, सपत्नीमाता १५७-१५८ । **अल्पाच्चरम्** (२।२।३४) — भूषणभूष्यभाव: १५८-१५६ । शिष्योपाध्यायम् १५६, पार्वतीपरमेश्वरौ १५६-१६० । **सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ** (२।२।३५) — शान्त्युदकुम्भहस्ता १६०-१६२, यदक्षपादः १६२ । **निष्ठा** (२।२।३६) — अल्पश्रुत: १६२ ।

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद

कर्मणि द्वितीया— (२।३।२) — हा पित: क्वासि हे सुभ्रु १६३-१६४, कां दिशं गन्तव्यम् १६४-१६६, भ्रान्तं देशम् १६६-१६७, उपर्युपरि बुद्धीनाम् १६७, यावच्छीतम् १६७-१६८, पुरूषाराधनमृते १६८, वाक्यस्मरणयोङित् १६८-१६९, अधिस्त्रि १७०, अपर्णामिति १७०-१७१, मन्ये धातुर्विभाषित: १७१, वक्ष्यति कर्मणि द्वितीया १७१, पक्त्वौदनो भुज्यते १७१-१७२, ग्रामो गन्तुमिष्यते १७२ । **अन्तरान्तरेणयुक्ते** (२।३।४) — आवयोरन्तरा वेदि० १७२-१७३ । **गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि** (२।३।१२) — यानेनवनस्य १७४-१७५, अजां नयति ग्रामम् १७५-१७६, शोभनं ग्रामं गच्छति १७६, तस्याभिगमनस्य १७६ । **चतुर्थी सम्प्रदाने** (२।३।१३) — कामस्य १७६, हितमात्मन: १७६-१७७ । नम: **स्वस्तिस्वधालंवषड्योगाच्च** (२।३।१६) — नमस्कृत्य मुनित्रयम् १७७-१७८, प्रणम्य शितिकण्ठाय १७८-१८०, ममाय प्रभुः १८० । **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) — अधिपतिना १८१, एकाकिना न गन्तव्यम्, १८१, उत्तरेण १८१-१८२, उच्चारणार्थवर्णान्तर्भावेन भक्तिः १८२-१८३, प्रभूयते भृत्य: १८३, ग्रामं गन्तुमुपक्रम्यते— १८४ । सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) — सह लक्ष्मणेन १८३-१८४, शशिना सह १८४ । **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२।३२५) — अनुपलब्धेः १८४-१८५, दृष्टेः १८५, **अपादाने पंचमी** (२।३।२८) — कटकान् महाबाणकं सम्पातयति १८६, गृहादारभ्य १८६-१८७, विंशतेरधिको द्रोणः १८७, रणे प्रत्यागतम् १८७, प्रशंसीयात्, १८८, दारिद्र्याददतिमूर्खत्वम् १८८ । **अन्याराादितर्ते दिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२।३।२९) — पूर्वकायस्य, १८८, समुदायिभ्योऽनन्य: १८९ । **षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन** (२।३।३०) — प्रातिपदिकात् परतः १८९ । **सप्तम्यधिकरणे च** (२।३।३६) — जन्मजन्म यदभ्यस्तम् १९०, दात्रेण धान्यं लुनाति १९०, यूपाय दार्वानय १९०-१९१, शयानेन भुक्तम् १९१, **प्रातिपदिकार्थलिङ परिमाणवचनमात्रे प्रथमा** (२।३।४६) — वृक्षोऽयम् १९१-१९२, मञ्चाः क्रोशन्ति १९२, प्रसूतस्य १९३ । **षष्ठी शेषे** (२।३।५०) — तदस्मिन्नधिकम् १९३ । **कर्तृकर्मणो: कृति** (२।३।६५) — रक्षोगणैक्षिप्तुम् १९३-१९५ । **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२।३।६६) — अङ क्तिन ना बाधा भवति १९५-९६ । **क्तस्य च वर्तमाने** (२।३।६७) त्वया रक्षितः १९६-१९७, दोषाणां विवर्जितम्, १९७ । न **लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२।३।६९) — नरकस्य जिष्णवः

१९७-१९८ । **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्** (२।३।७२)—स्फुतोपमं भूमिसितेन शम्भुना १९८-१९९ । **चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्र कुशलसुखार्थ हितैः** (२।३।७३)—गोम्यः स्वास्ति १९९ ।

द्वितीय अध्याय, चतुर्थ पाद

द्विगुरेकवचनम् (२।४।१)—रुद्रैकादशी २००, पञ्चमूलय इमाः २००-२०१, एकमूली २०१, चतुर्दिशी मेधोदयः २०१-२०२ । **द्वन्द्वश्च पाणितूर्य-सेनाङ्गानाम्** (२।४।२) ग्रीवाकुक्षिललाटेषु २०२-२०४ । अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् (२।४।५)—छात्रोपाध्यायम् २०४ । **जातिरप्राणिनाम्** (२।४।६)—२०४-२०५ । **येषां च विरोधः शाश्वतिकः** (२।४।९), देवासुरैः २०५-२०६ । **स नपुंसकम्** (२।४।१७)—गिरिसागरविहारः, २०६-२०७ । **सभाराजा मनुष्यपूर्वा** (२।४।२३)— नृपतिसभा २०७-२०८ । **परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (२।४।२६)—गृहस्थूणम् २०८ । **रात्राह्नाहा पुंसि** (२।४।२९)—गणरात्रम् २०८-२११ । **अपथं नपुंसकम्** (२।४।३०)—अपन्थानम् २११-२१२, कापथः २१२-२१४ । **अस्तेर्भूः** (२।४।५२)—आस २१५-२१६ । **ब्रुवो वचिः** (२।४।५३)—प्रेष्य ब्रुवः २१६-२१७, अजनैः २१७ । **अजेर्व्यघञपोः** (२।४।५६) वीज्यते २१७, **वायौ** (२।४।५७)—२१७-२१८ । **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्** (२।४।६२)—कौरव्याः २१८-२२०, पाण्ड्याः २२० । **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (२।४।७२)—विश्वसेत्—२२०-२२२ । **गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु** (२।४।७७)—मा भैः २२२ ।

तृतीय अध्याय, प्रथम पाद

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७)—नदीकूल पिपतिषाति २२३-२२४, मुमूर्षति २२४ । **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** (३।१।११)—गर्वायसे २२४-२२५, कैरवकोर कीयति २२५, प्रावृषायते २२५-२२६ । **नित्यं कौटिल्ये गतौ** (३।१।२३)—यायावराः २२६ । **लुपसदचरजपजभद हदशगृभ्यो भावगर्हायाम्** (३।१।२४) चञ्चुरा २२७ । **सत्यापपाशरूपवीणा-श्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्** (३।१।२५) लिखापयति २२७-२२८, जुघुषुः २२८-२२९ । **हेतुमति च** (३।१।२६)—रामो राज्यमकारयत् २२९ । **गुपुधूपविच्छिपणिपनिभ्यः आयः** (३।१।२८) गुपितम् २३०, पणायितम् २३०-२३१, गां विच्छति २३१ । **कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि** (३।१।३५)—ददरिद्रौ—२३४, कासाञ्चक्रे २३४-२३५ । **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (३।१।३६)—समीहे २३३-२३४ । **कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि** (३।१।४०)—पातयां प्रथममास २३४-२३५ । सार्त्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च (३।१।५६)—स्मारन्त २३५-२३६ । **कृदतिङ्** (३।१।९३)—ककारः २३६-२३७ । वासरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)—पचानि २३७, कण्डूति २९७-२३८ ।

अचो यत् (३।१।९७)—भाव्यम् २३६। **पोरदुपधात्** (३।१।९८)—जाप्या २३८। **गदमदचरयमश्चानुपसर्गे** (३।१।१००), विनियम्यम् २३८-२३६। **वदः सुपि क्यप् च** (३।१।१०६)—सत्यवद्यः २३६-२४० अनूद्यम्, २४०। **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (३।१।१०६)—स्तव्यः २४०। **ऋहलोर्ण्यत्** (३।१।१२४)—जागरतया २४१, निर्बन्धसे २४१। **ण्वुल् तृचौ** (३।१।१३३) आधिष्ठकः २४१। **दुन्योरनुपसर्गे** (३।१।१४२)—दवाग्नि २४१-२४२

तृतीय अध्याय, द्वितीय पाद

कर्मण्यण् (३।२।१)—जातिस्मरौ २४३, कलहंसरामहितः २४३। **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।३) नदीष्ठाः २४३-२४४। **हरतेऽनुद्यमनेऽच्** (३।२।९)—तमोज्योत्सनाहरः २४४-२४५। **अधिकरणे शेतेः** (३।२।१५)—२४५-२४६। **चरेष्टः** (३।१।१६)—सहचरीम् २४६। **पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः** (३।२।८)—पुरस्सरा वाम् २४७। **फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च** (३।२।२६)—उदरम्भरयः २४७-२४८। **अपेः क्लेशतमसो** (३।२।५०)—भयापहाः २४८। **अमनुष्यकर्तृके च** (३।२।५३)—कृतघ्ने २४८। **स्पृशोऽनुदके क्विन्** (३।२।५८)—उदकस्पृशः २४६। **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** (३।१।५६) नीचः २४६। **क्रव्ये च** (३।२।६६)—क्रव्यादः २४६-२५०। **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये** (३।२।७८)—स्वैरिणी २५०-२५१, वृत्रस्य हन्तुः, २५२। **परोक्षे लिट्** (३।२।११५)—अभून्नृपः २५२, केकयी २५२-२५३, खे मरुतः चरन्ति २५३। **वर्तमाने लट्** (३।२।१२३) आह २५३-२५४, अथ कंसो निहन्यते २५४, लेखके नास्ति दोषः २५४, न ज्ञास्यति प्रभुः २५४। **लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (३।२।१२४)—पचानस्य २५४-२५५। **स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्** (३।२।१५८)—ईर्ष्यालुः २५५-२५६। **विदिभिदिच्छिदेः कुरच्** (३।२।१६२)—भिदुरम् २५६। सनाशंस-भिद उः (३।२।१६८)—अनुसूयुः २५६-२५७। **बिन्दुरिच्छुः** (३।२।१६६)—तैलविन्दवः २५७। **मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** (३।२।१८८) त्वया ज्ञातो मया भीतः २५८ त्वया शीलतो मया ज्ञातः २५८-२५६, राममहितः २५६-२६०, इष्यते २६०, विदितः २६१।

तृतीय अध्याय, तृतीय पाद

भावे (३।३।१८), पयश्शेषम् २६२, पद २६२। **परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः** (३।३।२०)—सप्तदशः प्रत्यताः २६३। **उपसर्गे रुवः** (३।३।२२)—रावः २६३। **श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे** (३।३।२४)—प्रादुर्भावः २६३-२६४, प्रभावः २६४, नयो नीतः २६४। **उदिश्रयतियौतिपुद्रुवः** (३।३।४६), समुच्छ्रयाः २६५। **एरच्** (३।३।५७)—परिमलम् २६५-२५६, भयनम् २६६-२६७। **ऋदोरप्**

(३।३।५६)—भर: २६७, रूपावतारक्रिया, २६७, अवतारो नद्याः २६७-२६८, प्रसरम् २६८। **ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च** (३।३।५८)—स्वयंग्राहः २६८-२६६, परिवारशतैवृत: २६६, परीवार: २६६ सारसंग्रहः २६६-२७०, वरम् २७०। **व्यधजपोऽनुपसर्गे** (३।३।६१)—कर्णजापः २७१। **मदोऽनुपसर्गे** (३।३।६७)—मादः २७१। **संघोद्घो गणप्रशंसयो:** (३।३।८६)—अरिसंघातान् २७२। **उपसर्गे घोः किः** (३।३।६२)—विश्वसृड्विधिः २७२-२७३। **स्त्रियां क्तिन्** (३।३।६४)—ग्लानिः २७३-२७४। **ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च** (३।३।६७)—कीर्त्तना २७४। **व्रजयजोर्भावे क्यप्** (३।३।६८)—याष्टिः २७४। **संज्ञायां समजनिषदनिपतमन विदमुञ्शीङ्भृञिणः** (३।३।६६)—भार्या २७५ मृतिः २७५, समितिः २७६, मतिः २७६। **अ प्रत्ययात्** (३।३।१०२)—कण्डूतिः २७६, कण्डूया २७७, शोभा २७७-२७८, पीडा २७८-२७६। षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४)—उपलब्धिः २७६, क्षान्तिः २७६, परभित्ति कृत् २८०, मृजा २८०, मृष्टि २८१। **आतश्चोपर्गे** (३।३।१०६)—प्रमितौ २८१। **ण्यासश्रन्थो युच्** (३।३।१०७)—दंष्ट्रा तुला २८१-२८२ पाक्तिः २८२। **रोगाख्यायायां ण्वुल् बहुलम्** (३।३।१०८)—२८२-२८३। रकारादीन्, २८३। **ल्युट् च** (३।३।११५)—इतिकरणः २८३, मृषणाः २८३। **ईषद् सुदुःच्छा-कृच्छार्थेषु खल्** (३।३।१२६) २८४। **आतो युच्** (३।३।१२८)—दुर्विज्ञेयम्। **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (३।३।१६४)—२८४-२८५। **लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ** (३।३।१६६)—लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यात् २८५, **माङि लुङ्** (३।६।१७५) मा भवतु २८५, माच्छादयामि २८५।

तृतीय अध्याय, चतुर्थ पाद

समानकर्तृकयो पूर्वकाले—(३।४।२१)—अनाराध्य २८६, केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्, २८६-२८७, कणेहत्य पयः पिबति २८७, पूर्वापरौ वारनिधौ विगाह्य स्थितः, २८७-२८८, **अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्**—(३।४।२०) अन्यथा कृत्वागतः २८८। **कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः** (३।४।४६)—२८८-२८६। **कर्तरि कृत्** (३।४।६७)—स्वस्थे को वा न पण्डितः २८६। **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (३।४।७०)—फलानामशितः २८६-२६०, गुरौ भक्तः २६१-२६२, भवितव्यम् २६१, शयनीयं शय्या २६१, कृष्णं श्रितः २६१। **हित आत्मनेपदानां तेरे** (३।४।७६)—कर्तारौ २६१-२६२, शेरते—२६२-२६३। **एरुः** (३।४।८६)—जयति २६३। **नित्यं ङितः** (३।४।६६)—विदधामः २६३-२६४। **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च** (३।४।१०३)—जिघांसीयात् २६४।

चतुर्थ अध्याय, प्रथम पाद

अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)—त्वं ब्राह्मणी २६५-२६६, वृत्तौ २६६-२६७।

ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५)—नप्ता २९७, नप्त्री २९८। **उगितश्च** (४।१।६)—करिष्यमाणा २९८। **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दध्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (४।१)—सहचरीम् २९९, मधुपी ३००, ईश्वरी ३००-३०१, लवणा ३०१, श्रवणा ३०१, किंकराः ३०१-३०२, पुरस्सरा ३०२। **कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च** (४।१।१९)—माण्डूकि ३०२-३०३। **वयसि प्रथमे** (४।१।२०)—बालाम् ३०३। **षिद्गौरादिभ्यश्च** (४।१।४१)—त्रया ३०३-३०४। **वोतो गुणवचनात्** (४।१।४४)—अनन्यगुर्व्याः ३०४। **बह्वादिभ्यश्च** (४।१।४५)—वञ्चकवृत्तयः ३०४-३०५। **इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्** (४।१।४९)—ब्रह्माणी ३०५, ब्राह्मी ३०५-३०६, भिक्षुणी ३०६। **क्तादल्पाख्यायाम्**—(४।१।५१)—अक्षरलवक्षिप्ता ३०६। **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (४।१।५४)—शुभाङ्गी ३०६-३०७। **न क्रोडादिबह्वचः** (४।१।५६)—कल्याणक्रोडी ३०७। **ऊङुतः** (४।१।६६)—भीरवः ३०७। **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (४।१।६९)—पीवरोरू ३०८। **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४।१।८८)—पाञ्चकपालो भागः ३०८, चातुर्थिकः ३०९-३१०, चातुर्विद्यः ३१०, चातुर्वर्ण्यम् ३१०। **अत इञ्** (४।१।९५)—वासुदेवः ३१०-३११। **स्त्रीभ्यो ढक्** (४।१।१२०)—सौमित्रे ३११. सापत्नः ३११। **द्व्यचः** (४।१।१२१)—पार्थः ३१२। **कौसल्यकार्मार्याभ्यां च** (४।१।१५५)—कौसल्यायनिः ३१२। **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (४।१।१६८)—कैकयी ३१३-३१४। **वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्** (४।१।१७१)—पाण्डवाः ३१४।

चतुर्थ अध्याय, द्वितीय पाद

लुबविशेषे (४.२।४)—अद्य रात्रौ पुष्यः ३१५। आग्रहयण्यश्वत्थाट्ठक् (४।२।२२)—आग्रहायणो मासः ३१५-३१६। **सास्य देवता** (४।२।२४)—ऐन्द्रम् ३१६। **सोमाट्ट्यण्** (४।२।३०)—३१६-३१७। **संग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः** (४।२।५६)—भारतो ग्रन्थः ३१७-३१८। **क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्** (४।२।६०) चातुर्विद्यः ३१८। **कुमुदनवेतसेभ्यो ड्मतुप्** (४।२।८७)—माहिष्मतीम् ३१८-३१९। **कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु** (४।२।९६)—ग्रैवेयः ३१९। **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (४।२।१०१)—प्राक्तन ३१९-३२०, प्राच्यासु वृत्तिषु, ३२०। **इञश्च** (४।२।११२)—पाणिनीयम् ३२०। **वृद्धाच्छः** (४।२।११४)—कातीयः, ३२१। **धूमादिभ्यश्च** (४।२।१२७)—दाक्षिणापथी वृत्ति, ३२१। **मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्** (४।२।१३४)—सैन्धवः ३२१-३२२। **गहादिभ्यश्च** (४।२।१३८)—स्वकीयस्थ ३२२, सौवम् ३२३, स्वीयम् ३२३, नान्तरीयकः ३२३।

चतुर्थ अध्याय, तृतीय पाद

कालाट्ठञ् (४।३।११)—औपसः ३२४-३२५। **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य-**

ष्ट्युयुट्लौ तुट् च (४।३।२३)—साम्प्रतिकः ३२५, शाश्वतिक ३२५, शाश्वतकः ३२५-३२६, आकास्मिकम् ३२६, पुरातन ३२६-३२८। **द्व्यज्ब्राह्मणार्कप्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याट्ठक्** (४।३।६२)—शास्त्रीया ३२८। **आधिकृत्य कृतेग्रन्थे** (४।३।८७)--ज्योतिषम् ३२८, वासवदत्ताख्यायिका ३२८-३२९। **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (४।३।१४४)—काञ्चनीम् ३२९-३३०। जगन्मया, ३३०, आप्यम् ३३०।

चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद

सोदराद्यः (४।४।१०९)—सोदरः ३३०।

पंचम अध्याय, प्रथम पाद

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः (५।१।९)—पञ्चजनीयः ३३२, सार्वजनीनः ३३२-३३३, विनाशकालीनः ३३३। तेन **तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (५।१।११५)—पुत्रं मित्रवदाचरेत् ३३३, पितृवत् स्थूलः पुत्रः ३३३-३३४। **तस्य भावस्त्वतलौ** (५।१।११९)—स्त्रीत्वम् ३३१, सुरता ३३४-३३५, आस्तित्वम् ३६५, नानात्वम् ३३५-३३६, प्रेमः ३३६, पूर्णिमा ३३६। **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (५।१।१२४)—वैरम्, ३३७, चापल· ३३७। **सख्युर्यः** (५।१।१२६)—दौत्येन ३३८। **इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** (५।१।१३१)—काव्यम् ३३८-३३९। **योपधात् गुरूपोत्तमाद् वुञ्** (५।१।१३२)—साहाय्यम् ३३९-३४०। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५।१।१३३)—गुरूलाघवम् ३४०।

पंचम अध्याय, द्वितीय पाद

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् (५।५।९६)—शिखी ९४१। **सिध्मादिभ्यश्च** (५।५।९७)—कुष्ठी ३४१। रजः **कृष्यालुसुतिपरिषदो वलच्** (५।२।११२)—परिषदवलान् ३४२-३४३, रजोयुक्ताभूः ३४३। **ज्योत्स्नातमिश्राशृङ्गिणोर्जस्वन्नूजस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः** (५।५।११४)—ज्योतिष्मती ३४३। **अत इनिठनौ** (५।२।११५)—हल-ताद् ३४३-३४४, सर्पिणी ३४७, पठिपठी ३४४-३४५, श्रावीप्रत्ययः ३४५-३४६, गुर्विणी ३४६। **व्रीह्यादिभ्यश्च** (५।२।११६)—मालिकः ३४६। **तुन्दादिभ्य इलच्च** (५।५।११७)—जिह्वाले ३४६-३४७। **एकगोपूर्वात्ठञ् नित्यम्** (५।२।११८)—एकादशी अवयवी ३४७-३४८, अनुबन्धवत् ३४८। **अस्मायामेधास्त्रजो विनिः** (५।२।१२१)—सरस्वान् ३४८-३३९, फलवान् ३४९-३५०। **द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः** (५।२।१२४)—चर्मवती कन्या ३५०।

पंचम अध्याय, तृतीय पाद

सर्वैकान्यकियत्तदः काले च (५।३।१५)—तत्र देव सर्वतः ३५१। **इदमस्थमुः** (५।दु।२४)—इत्थंभूतः ३५१। **दक्षिणादाच्** (५।३।३६)—दक्षिणापथः

३५२ । **अस्ताति च** (५।३।४०)—पुरतः ३५२-३५३ । **याप्ये पाशप्** (५।३।४७)—रक्षः पाशान् ३५३ । **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (५।३।५७)—गोतरः ३५३ । **प्रकारवचने जातीयर्** (५।३।६९)—एकजातीया ३५३-३५४ । **वा बहुनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्** (५।३।९३)—कतमो भवतां देवदत्तः ४५४ ।

पंचम अध्याय, चतुर्थ पाद

अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः (५।४।७)—अधीनम् ३५५-३५६ । **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (५।४।११)—उच्चैस्तराम् ३५६ । **यावादिभ्यः कन्** (५।४।२९)—कृत्रिमपुत्रकैः, ३५६ । **अपादाने चाहीयरूहोः** (५।४।५५)—मत्त ३५६-३५७ । **ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः** (५।४।७८)—ब्रह्मवर्चसः ३५८ । **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः** (५।४।८६)—अङ्गुलम् ३५८ । **राजाहस्सखिभ्यष्टच्** (५।४।९१)—वायुसंख्या ३५८-३५९, वर्तमानाहर ३५९ । **उपसर्गाच्च** (५।४।११९)—विनमा ३५९-३६०, अपनासिको बालः ३६० । **धनुषश्च** (५।४।१३२)—धृतधनुषम् ३६१ । **गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः** (५।४।१३५)—सुगन्धौ ३६१-३६२ । **वयसि दन्तस्य दतृ** (५।४।१४१)—सुदति ३६२ । **नधृतश्च** (५।४।१५३)—वरतनु ३६२-३६३ ।

षष्ठ अध्याय, प्रथम पाद

श्लौ (६।१।१०)—आदध्यात् ३६४, **वचिस्वपियजादीनां किति**(६।१।१५)—ववाह ३६४-३६५, यष्टिः ३६५ वाच्यति ३६५-३६६, कर्णवेधः ३६६ । **श्रतं पाके** (६।१।२७)—धान्यपटोलयोः ३६६-३६७ । **आदेच उपदेशेऽशिति**-(६-१-४५)**आह्वयः** ३६८, **पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नुनां-सञ्छरप्रभृतिषु** (६।१।६३)—मासि ३६८ । लोपो व्योर्वलि (६।१।६६)—अन्वलश्च ३६८, वृश्चिकः ३६९ । **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** (६।१।६८)—अर्धपिप्पली ३६९-३७० । **आद्गुणः** (६।१।८७)—पश्य उलूकपूर्णाम्, ३७०, आउदकान्तम् ३७०-३७१ । **वृद्धिरेचि** (६।१।८८)—शुद्धोदनः ३७१, पुञ्ज एतौ ३७१ । **औतोऽम्-शसोः**(६।१।९३)—चित्रगुम् ३७१-३७२ । **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) प्रध्ययनस्य, ३७२, प्राध्यनम् ३७२-३७३, अधीयते ३७३-३७४, परोक्षम् ३७४ । **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**(६।१।१०२)—देवो याति ३७४ । **सम्प्रसारणाच्च** (६।३।१०८)—विव्ययुः ३७४-३७६ । **ऋत उत्** (६।१।१११)—जाग्रोऽविचि ३७५-३७६ । **ख्यत्यात्परस्य** (६।१।११२)—संख्याः ३७६ । **दिव उत** (६।१।१३१)—दिवोकसः ३७६-३७७ । **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** (६।1।१३२)—सो वा ३७७-३७८ । **सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे** (६।१।१३७)—संस्कारः ३७८ ।

षष्ठ अध्याय तृतीय पाद

औजस्सहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६।३।३—नैशततमोवृत्तम् ३७९-३८०। **आनङ्ऋतो द्वन्द्वे** (६।३।२५)—अध्वेतृवेदित्रोः ३८०, होतृ पोतृनेष्टोद्गातारः, ३८०, दुहितात्मजौ ३८०-३८१। **देवताद्वन्द्वे च** (६।३।२६), रविचन्द्रौ ३८१। **ईदग्नेः सोमवरुणयोः** (६।३।२७)—कुशीलवौ ३८१-३८२। **स्त्रियाः पुंवद्भाषितः पुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु** (६।३।३४)—दृढभक्तिः। ३८२-३८३, भवतीसुतक्षयकरः ३८३। **तसिलादिष्वा कृत्वसुचः** (६।३।३५)—सतीत्वम् ३८३-३८४। **पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६।३।४२)—गौरी ब्राह्मणितरा ३८४, महाष्टमी ३८४। **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (६।३।४६)—महतीप्रियः ३८४-३८५। **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (६।३।४७)—सन्देहद्वापरौ ३८५-३८६। **ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्** (६।३।६३)—वेदेहिबन्धः ३८६। **त्वे च** (६।३।३४)—जातेरेकत्वात् ३८६, उपधत्वात् ३८७। **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (६।३।६७)—आढ्यंसुकरणम् ३८७, धुरन्धरः ३८७। **नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्र नक्रनाकेषु प्रकृत्या** (६।३।७५)—नासत्यः ३८८। **सहस्य सः संज्ञायाम्** (६।३।७८)—सहकारः। **ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु** (६।३।८५)—सपक्षः ३८९, समानपक्षः ३८९। **कोः कत्तत्पुरुषेऽचि** (६।३।१०१)—कूक्तिः ३८९-३९०, कूपदेशः ३९०। **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६।३।१२२)—परीवारः ३९०।

षष्ठ अध्याय, चतुर्थ पाद

हलः (६।४।२)—तृतीया ३९१, पितॄणाम् ३९१। **नामि** (६।४।३)—नखीनाम् ३९२, दीधीनाम् ३९२-३९३। **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (६।४।८)—सन् ३९३। **अत्वसन्तस्य चाधातोः** (६।४।१४)—गोमान् ३९३-३९४। **अनिदितां हल् उपधायां क्ङिति** (६।४।२४)—प्रकृतिरञ्जनात् ३९४। **घञि च भावकरणयोः** (६।४।२७)—रङ्गरचनात् ३९४-३९५। **शास इदङ्हलोः** (६।२।३४)—शास्यैः ३९५, शास्तिः ३९५-३९६। प्रशस्तिः ३९६। **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति**—नितान्त ३९६। हन्वः ३९६-३९७। **वा ल्यपि** (६।४।३८)—अवमन्य ३९७। **भ्रस्जो रोपधयोरन्यतरस्याम्** (६।४।४७)—भृष्टम् ३९७-३९८। **णेरनिटि** (६।४।५१)—गणेयम् ३९८, चिन्तिया ३९८-३९९, गण्याः ३९९। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (६।४।६६)—संस्थाः ३९९। **न ल्यपि** (६।४।६९)—आपीय ३९९-४००, उद्गीय—४००। **न माङ्योगे** (६।४७४)—मात्वमगमः ४००-४०१। **अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (६।४।७७)—क्रयादिः ४०१,

दुर्धियः ४०१-४०२, वातप्रमी ४०२ । **मितां ह्रस्वः** (६।४।९२)—नियमयति ४०२, संक्रामयति ४०३, ज्ञापयितुम् ४०३-४०४, उद्घाटनम् ४०४, चालयन् ४०४, **हुझल्भ्यो हेर्धिः** (६।४।१०१)—रूदिहि ४०५-४०५। **इनसोरल्लोपः** (६।४।१११)—निरस्यति, ४०५। **न शसददवादिगुणानाम्** (६।४।१२६)—वेभुः ४०५-४०६ । **अर्वणस्त्रसावनञः** (६।४।१२७)--अर्वताम् ४०६ । **पादः पत्** (६।४।१३०)—पादे ४०७, आतो धातोः (६।४।१४०) क्त्वो ल्यप्—४०७-४०८ । **तेः** (६।४।१५५)—आशिषयति ४०८, **नस्तद्धिते** (६।४।१४६)—स्वायंभुवम् ४०९, मूम्निः ४०९, पट्वी ४०९-४१० । **यस्येति च** (६।४।१५८) उपाध्यायी ४१०, मत्वर्थीय ४१०, वृक्षे ४१०-४११ ।

सप्तम अध्याय, प्रथम पाद

अतो **भिस् ऐस्** (६।१।९)—गन्धर्वरेभिः ४१२। **टाङसिङसामिनात्स्याः** (७।१।१२) उदधिस्य ४१२, सखेऽवदन्तस्य ४१२-४१३, अतिजरसस्य ४१३, दरिद्रस्य ४१३, पुत्रादेकात् ४१३-४१४, एकैकशः ४१३। **नपुंसकाच्च** (७।१।१०९) —दधिसुमनसी ४१४। **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्यप्** (७।१।३७)—त्यज्य ४१४-४१५ । **त्रेस्त्रयः** (७ १।५३)—त्रीणाम् ४१५। **ह्रस्व नद्यापोनुट्** (७।१।५४)—दरिद्राणाम् ४१५-४१६ । **आङो यि** (७।१।६५) उपालभ्यः ४१६ । **उपसर्गात् खल्घञोः** (७।१।६७)—दुरालभः ४१६, निर्लाभा वाणिज्ये ४१६, राष्ट्रलम्भः ४१६-४१७ । **न सुर्दुभ्यां केवलाभ्याम्** (७।१।६८) अतिसुलभम् ४१७। **इकोऽचि विभक्तौ** (१।१।७३)—प्रसूल्वः ४१७-४१८। **शप्श्यनोर्नित्यम्** (७।१।८१)—कुर्वन्ती ४१८, **अनङ सौ** (७।१।९३)—सखिः ४१८ । **ऋतइद्धातोः** (७।१।१००) उदगिरणम् ४१९।

सप्तम अध्याय, द्वितीय पाद

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०)—प्रवेता ४२०, भरितम् ४२०-४२१ । **श्रयुकः किति** (७।२।१४)--यतितम् ४२१ । **यस्य विभाषा** (७।२।१५)—धावितः ४२१-४२२ । घुषिरविशब्दने (७।२।२३)—उच्चैर्घुष्टम् ४२२-४२३ । **गदान्तधुरषिरविशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः** (७।२।२७)—पूर्त्तम् ४२३ । **हृषेर्लोमसु** (७।२।२९)--हृष्टः पुरुषः ४२३ **आर्धधातुकस्येडवलादेः** (७।२।३५)—तर्तुम् ४२४, विश्वस्तः ४२४ । **स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते** (७।२।३६)—४२४-४२५ । **जृव्रश्च्योः क्त्वि** (७।५।५५)—जृत्वा ४२५-४२६ । **उपदेशेऽत्वतः** (७।२।६२)--पेचिथ ४२६ । तुष्टोथ ४२६ । **विभाषा गमहनविदविशाम्** (७।२।६८)—विदितः ४२६-४२४ । **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** (८।२।९९)—त्रयो गायः ४२७। **अदस् औ सुलोपश्च** (७।२।१०७)—अमुकः ४२९-४२८ । **अचोञ्णिति** (७।२।११६)—

अतिशायनम् ४२८ । **अत उपधायाः** (७।२।११६)—वाहनम् ४२८-४२९, भाण्डे ४२९, प्रतिषेधपदम् ४२९, प्रथयितुम् ४२९-४३० । अभ्यस्या ४३०, तुद्यम: ४३० । **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७)—भेषजम् ४३१, ज्योतिषम् ४३१ ।

सप्तम अध्याय, तृतीय पाद

द्वारादीनां च (७।३।४)—स्वाभाव्यात् ४३२, द्वारिकः, ४३२ । **हृदभग सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च** (७।३।१९)—सौहृदम् ४३२-४३३ । **अनुशतिकादीनां च** (७।३।२०)—आतिशायिकः ४३३-४१४ । **हृगस्तऽचिण्णलोः** (७।३।३२) —वार्त्रघ्नम् ४३४-४३५ । **नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः** (७।३।३४)— वसः ४३५, आमः ४३५, विश्रामः ४२६, उपरम ४२६ । **इसुसुक्तान्तात् कः** (७।३।५१)—आकस्मिक: ४३७ । **चजोः कुः घिण्यतोः** (७।३।५६)—४३७-४३८, शोच्यः, ४३८, आलोचः ४३८ काचाः, ४३८-४३९ । **इषुगमियमां छः** (७।३।७७)—प्रतीच्छिष्यामि ४३९, निर्गच्छन् ४३९-४४०, व्यतिपपे ४४० । **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६) ष्ठीवनम् ४४०-४४१, भेत्ता ४४१, तुलयति ४४१, लिखनम् ४४१-४४२, लेखकः ४४२ । **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१)— अयन्ति ४४२-४४३ । सुपि च (७।३।१०२)—वृक्षाय ४४३ । **आङि चापः** (७।३।१०५)—अतिखट्वेन ४४३-४४४ । **ह्रस्वस्य गुणः** (७।३।१०८)— सुतनु ४४४-४४५ हे कर्तु ४४५ । हे वारे ४४६ । **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (७।३।११०)—कर्तुणि ४४६ । **घेर्ङिति** (७।३।१११)—वारिणः ४४६ । **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** (७।३।११४)—अनन्तरायाः ४४७ । **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (७।३।११६) क्त्वायाम् ४४७ ।

सप्तम अध्याय, चतुर्थपाद

केऽणः (७।४।१३)—तूष्णीकः ४४८, एकः ४४८-४४९ **एर्तेलिङि** (७।४।२४)—अभियात् ४४९-४५० । **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (७.४।२५)— प्रावृषायते ४५० । **रिङ् शयग्लिङ्क्षु** (७।४।२८)४५०-४५१ । **गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः** (७।४।२९)—संस्क्रियते ४५१ । **ह्रस्वः** (७।४।५९) ४५१-७५२ । **भवतेरः** (७।४।७३)—बभूव ४५२ ।

अष्टम अध्याय प्रथम पाद

नित्यवीप्सयोः (८।१।४)—एकशः ४५३ । **उपर्यध्यघसस्सामीप्ये** (८।१।७) —उपर्युपरि ४५४ । **प्रकारे गुणवचनस्य** (८।१।१२)—भीत भीत इव ४५४-४५५ नवं नवम् ४५५, मन्दं मन्दं नुदति ४५५-४५६ । **द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचन व्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु** (८।१।१५)—द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः ४५६ । **युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थी द्वितीया स्थयोर्वान्नावौ** (८।१।२०)—विनीतौ वाम् ४५७ ।

अष्टम अध्याय, द्वितीय पाद

पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१)—वृक्ष:४ ५८, प्रागियम् ४५८-४५९, रजोपमा ४५९ **कृपो रोल:** (४।२।१८) क्लृप्ता ४५९। कृपा ४५९-४६०। **धि च** (८।२।२५) पयोधि: ४६०। **चो: कु:** (८।२।३०), अलाच्चतरम् ४६१, ऋुञ्च् ४६१। **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज-राजभ्राजच्छशां ष:** (८।२।३६) परिव्राट् ४६१। **झलां जशोन्ते** (८।२।३९)—जश्त्वम् ४६१-४६२। **रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य च द:** (८।२।।४२)—आर्त्त:, ४६२-४६३, निमित्तम् ४६३। **क्विन् प्रत्ययस्य कु:** (८।२।६२)—दृग्भ्याम् ४६३, रज्जुसृड्भ्याम् ४६३-४६४, विश्वसृग्विधि: ४६४। **रोऽसुपि** (८।२।६९)—अहोवचन ४६४-४६५। **उपधायां च** (८।२।७८) —विव्यतु: ४६५-४६६। चतुयिते:, ४६६।

अष्टम अध्याय तृतीय पाद

पुम: खय्यम्परे (८।३।६)—पुंस्काण्डम् ४६७। **नश्छव्यप्रशान्** (८।३।७) —महान् ४६७। **खरवसानयोर्विसर्जनीय:** (८।३।१५) रथातिगा: ४६७-४६८। **लोप: शाकल्यस्य** (८।३।१९)—गवित्याह ४६८। **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४)—कुवलयं वलयन् मरूदावतवौ ४६९। **कुप्वो: क पौ च** (८।३।३७) —४६९। **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य** (८।३।४१)—४६९-४७०, मातु: करोति ४७०। **तिरसोऽन्यतरस्याम्** (८।३।४२)—४७०-४७१। **षष्ठ्या: पतिपुत्र-पृष्ठपारपदपयस्पोषेषु** (८।३।५३)—श्रिय: पति: ४७१, वाचस्पति: ४७१-४७२। **आदेश प्रत्यययो:** (८।३।५९)—प्रियस्य ४७२-४७३। निंस्से ४७३, पुंसु ४७३। **उपसर्गात्सुनोतिवतिसुस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्ज-स्वञ्जाम्** ८।३।६५—दु:स्थ: ४७३-४७४। अतिस्तुतम् ४७४। **अवाच्चा-लम्बनाविदूर्ययो:** (८।३।६८)—अवष्टब्ध: ४७४। **अम्वाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रि: कुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमे बर्हिर्दिव्यग्निभ्य: स्थ:** (८।३।९७)—सव्येष्ठा: ४७४-४७५। **सात्पदाद्यो:** (८।३।१११) तनुषेकमलम् ४७५, त्रिष्टुप् ४७५, निष्टब्धा ४७६।

अष्टम अध्याय चतुर्थ पाद

पूर्वपदात् संज्ञायामग: (८।४।३)—नरवाहन: ४७७। **वाहनमाहितात्** (८।४।८)—नरवाहन: ४७४। **एकाजुत्तरपदे ण:** (८।४।१२)—ब्रह्मघ्नम् ४७८। **कुमति च** (८।४।१३)—दु:खेन ४७८-४७९। शास्त्रवाक्यानि, ४७९। **प्रातिपदिकान्तनुं विभक्तिषु च** (८।४।११)—प्रेन्वनम् ४७९-४८०, क्षत्रिययूनाम् ४८०। **उपसर्गादिसमासेऽपि णोपदेशस्य** (८।४।१४)—दुर्नीतम् ४८०-४८१। कृत्यच: (८।४।२९) प्रख्यानम् ८४१। **इजादे: सनुम:** (८।४।३२ —प्राङ्गणे ४८१-४८२। **स्तो: श्चुना श्चु:** (८।४।४०) शत्रून् जयति, ४८२, अल्पाच्तरम् ४८२, मज्जति ४८२-४८३। **ष्टुना ष्टु:** (८।४।४१)—षड्धा, षोढ़ा ४८४। **खरि च** (८।४।५५ —अस्ति ४८५-४८५। **वा पदान्तस्य** (८।४।५९)—पुंवत् ४८५। **झरो झरि सवर्णे** (८।४।६५)—भवद्भ्याम् ४८५—४८६।

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद

क्ङिति च (१।१।५)

ह्वरि

'क्ङिति च' सूत्र द्वारा 'कित्' तथा 'ङित्' प्रत्ययों के परे होने पर गुण तथा वृद्धि कार्यों का निषेध किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'ह्वरेश्छन्दसि' (७।७।३१) सूत्र में प्रयुक्त 'ह्वरि' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'इक्' प्रत्यय के परे होने के कारण इस सूत्र के गुण का निषेध होना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग की सिद्धि के लिए दो समाधान दिये हैं। प्रथम समाधान रक्षित के नाम से यह दिया है कि पाणिनि का यह प्रयोग ही इस बात का प्रमाण है कि 'ह्वरिः' प्रयोग साधु है अर्थात् 'क्ङिति च' सूत्र द्वारा यहां पर गुण का निषेध अभीष्ट नहीं है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'इक्' प्रत्यय न होकर केवल 'इ' प्रत्यय है, इसलिए गुणनिषेध का प्रश्न नहीं उठता।

तुन्दपरिमृज:

'तुन्दपरिमृजापनुदोः (३।२।५) सूत्र द्वारा 'तुन्द' शब्द के उपपद होने पर 'परि' उपसर्ग के साथ 'मृज्' धातु से 'क' प्रत्यय करके 'तुन्दपरिमृजः' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां यह विचारणीय है कि 'क' प्रत्यय के 'क्' अनुबन्ध का लोप हो जाने पर जब वह अजादि प्रत्यय बन जाता है तो उस स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते'[1] वार्तिक द्वारा बिकल्प से वृद्धि का विधान मान कर 'क' प्रत्यय के संयोग से ही 'तुन्दपरिमृजः' तथा 'तुन्दपरिमार्ज' : प्रयोग क्यों नहीं बनते और नित्य 'तुन्दपरिमृजः' प्रयोग ही साधु क्यों माना जाता है।

---

१. अष्टाध्यायी पृ० १०२

२. काशिका १।१।५।

इस समस्या के तीन समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम यह कि वार्तिक में व्यवस्थितविभाषा मानी जाए जिसका अभिप्राय यह है कि अभीष्ट प्रयोगों में ही कार्य हो, अन्यत्र नहीं।[1] अतः वृद्धिरहित 'तुन्दपरिमृजः' प्रयोग ही बनेगा, वृद्धिसहित 'तुन्दपरिमार्जः' नहीं।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि उपर्युक्त वार्तिक में 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे'[2] परिभाषा के अनुसार केवल 'अचि' पद के प्रयोग से भी अजादि प्रत्ययों का बोध हो सकता था परन्तु यहां 'अचि' न कहकर 'अजादि' कहा गया है। इसलिए 'अजादि' पद के प्रयोग से यह ज्ञापक निकलता है कि वार्तिक में 'अजादि' पद से मुख्य अजादि प्रत्ययों का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। 'क' प्रत्यय में 'क' अनुबन्ध के लोप हो जाने के बाद ही वह अजादि बन पाता है। इसलिए 'क' प्रत्यय मूलतः अजादि नहीं है। पदमञ्जरी में भी यही समाधान दिया गया है।[3] 'मार्जन्ति' प्रयोग में विकल्प से वृद्धि इसलिए होती है कि यहां एक 'झ' के स्थान पर आया हुआ 'अन्ति' आदेश मुख्य अजादि ही है।

उपर्युक्त दोनों समाधान कात्यायन की वार्तिक की दृष्टि से दिये गये हैं। 'एकमुनि व्याकरणम' सिद्धन्त को मानते हुए यदि पाणिनि के सूत्र को ही एकमात्र प्रमाण माना जाए तो उस पक्ष में इस समस्या का समाधान दिया गया है कि 'अचोञ्णिति' (७।२।११५) सूत्र के 'अच्' पद को योगविभाग द्वारा अलग कर दिया जाए तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्र में 'जराया जरसन्यतरस्याम' (७।२।१०१) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की मण्डूकप्लुतिन्याय द्वारा अनुवृत्ति लायी जाए। इस अनुवृत्ति को व्यवस्थितविभाषा मान कर 'तुन्दपरिमृजः' में वृद्धि नहीं होगी।

महाभाष्य, काशिका, न्यास आदि ग्रंथों में 'तुन्दशोकयोः' सूत्र की व्याख्या में 'तुन्दपरिमृजः' के साथ-साथ 'तुन्दपरिमार्जः' प्रयोग भी साधु माना गया है। परन्तु यह 'तुन्दपरिमार्जः' प्रयोग 'अण्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न हुआ है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में अर्थ की दृष्टि से भी पर्याप्त अन्तर है।

---

1. "An option which does not apply universally in all instances ....but applies necessarily in some cases."
   —Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 349.
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा सं० ३३।
३. पदमंजरी, (भाग २), ३।२।५, पृ० ६१३

पहले का अर्थ है आलसी तथा दूसरे का अर्थ है पेट को पोंछने या साफ करने वाला।[1]

अनर्घराघव में मुरारि ने 'तुन्दपरिमृजः' का प्रयोग आलसी अर्थ में ही किया है।[2] मैत्रेय रक्षित ने धातुप्रदीप में दोनों प्रयोग दिये हैं।[3] परन्तु यहां यह स्पष्ट नहीं है कि वह 'क' प्रत्यय के साथ ही दोनों प्रयोगों को निष्पन्न मानता है या क्रमशः 'क' और 'अण्' प्रत्ययों के संयोजन द्वारा। दुर्घटवृत्तिकार ने जिस ढंग से उसका मत प्रस्तुत किया है उससे तो यही स्पष्ट होता है कि 'क' प्रत्यय के परे होने पर ही विकल्प से वृद्धि होकर दोनों प्रयोग बनाये गये हैं। शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम् आदि कोषों में दोनों प्रयोगों को साधु माना गया है।

जिष्णुः

यदि 'क्स्नु' प्रत्यय को, जो आपाततः 'कित्' है, 'कित्' माना जाए तो 'स्थास्नुः' में 'स्था' धातु को 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३।२।१३९) सूत्र से 'ग्स्नु' प्रत्यय करके 'घुमागापा...' (६।४।६६) सूत्र द्वारा 'ईत्व' की प्राप्ति होगी। 'स्थास्नुः' प्रयोग में ईत्व' के निवारण की दृष्टि से 'क्स्नु' को 'कित्' न मान कर यदि 'गित्' माना जाए तो 'जिष्णुः' जैसे प्रयोगों में गुण का निषेध नहीं हो सकेगा तथा वहां गुण की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त 'भूष्णुः' प्रयोग में प्रत्यभ के 'गित्' होने के कारण 'श्र्युकः किति' (७।७।११) से 'इट्' का निषेध नहीं हो सकेगा। इस प्रकार 'क्स्नु' को 'कित्' मानने पर 'स्थास्नुः' में दोष आता है। 'गित्' मानने पर 'जिष्णुः' तथा 'भूष्णुः' में दोष उपस्थित होता है।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस समस्या के दो समाधान दिये हैं। प्रथम यह कि 'क्ङिति च' और 'श्र्युकः किति' सूत्रों तथा 'क्स्नु' प्रत्यय में 'ककार' के साथ 'गकार' का प्रश्लिष्ट निर्देश मान लिया जाए। 'स्नोर्गित्वान्न—' श्लोक वार्तिक में भी, जो महाभाष्य आदि ग्रंथों में उद्धृत है, ऐसा माना गया है। 'क्स्नु' प्रत्यय में 'क' के साथ 'ग' प्रश्लिष्ट मानने पर 'स्था' को 'ईत्व' की प्राप्ति नहीं होगी। 'क्ङिति च' सूत्र में 'गकार' का प्रश्लेष मानने पर 'जिष्णुः' में गुण का निषेध भी हो जाएगा तथा 'श्र्युकः किति' में भी इसी प्रकार

१. महाभाष्य: ३।२।५, पृ० २३०।

२. अनर्घराघ: ७।११०।

३. धातुप्रदीप: पृ० ८३।

प्रश्लिष्ट निर्देश मानने पर 'भूष्णु:' प्रयोग में 'इट्' की प्राप्ति भी नहीं होगी। न्यास तथा पदमंजरी में ऐसा ही मना गया है।[1]

परन्तु वामन को यह मत अभीष्ट नहीं। उनके अनुसार 'वस्नु' प्रत्यय को 'गित' न मानते हुए भी 'स्थास्नु:' में 'ईत्व' की प्राप्ति इसलिए नहीं होगी क्योंकि 'ग्लाजिस्थश्च···' सूत्र में 'स्था+आ' इस प्रकार का प्रश्लिष्ट निर्देश है। अत: यहां 'ईत्व' नहीं होगा।[2] दुर्घटवृत्तिकार ने यह मत 'अन्ये तु' कहकर दिया है।

दङ्क्ष्णव: पशव:

परन्तु 'वस्नु' प्रत्यय को यदि इस प्रकार 'कित्' ही माना जाए तो 'दंशेश्छन्दस्युपसंख्यानम्' द्वारा 'दङ्क्ष्णव: पशव:' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'अनिदितौ...' (६।४।२४) सूत्र से अनुनासिक लोप की प्राप्ति होगी। इसका समाधान दुर्घटवृतिकार ने सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'[3] कह कर दिया है। न्यासकार ने इसका समाधान इस प्रकार दिया है कि 'कित्' मानने पर भी अनुनासिक लोप की प्राप्ति नहीं होगी। 'नाञ्चे: पूजायम् (६४।३०) सूत्र के योगविभाग द्वारा 'न' को अलग करके अनुनासिक लोप का निषेध हो जाएगा।[4]

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९)

प्रक्लृप्यमान:

'ऋकारलृकारयो: सवर्णसंज्ञा वक्तव्या' वार्तिक की दृष्टि से प्रक्लृप्यमान: प्रयोग में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऋकार और लृकार की सवर्ण संज्ञा होने के कारण 'ऋवर्णाच्च' वार्तिक द्वारा 'णत्व' की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ?

इस समस्या के दो समाधान दिये गये हैं। प्रथम समाधान 'ऋवर्णाच्च' वार्तिक के आधार पर यह दिया गया है कि इस वार्तिक में केवल 'उ:' कहने से

१. (क) न्यास (भाग १), ३।२।१३९, पृ० ६५३।
   (ख) पदमंजरी, (भाग १), ३।२।१३९, पृ० ६५२।
२. काशिका, ७।२।११।
३. परिभाषेन्दुशेखर, संख्या ३५।
४. न्यास (भाग १), ३।२।१३९, पृ० ६५४।

ही अभीष्ट अर्थ प्रकट हो सकता था, फिर 'उ' न कह कर उसके स्थान पर जो 'ऋवर्णात्' कहा गया, उससे णत्व विधान की अनित्यता ज्ञापित होती है। इस प्रकार णत्वविधान की अनित्यता हो जाने से 'प्रक्लृप्यमानः' प्रयोग में णत्वविधान की अनिवार्यता समाप्त हो जाएगी। परन्तु यहां पर यह विचारणीय है कि 'क' के स्थान पर 'ऋवर्ण' कह देने मात्र से यह ज्ञापक किस प्रकार निकाला गया।

दूसरा समाधान 'ऋ' और 'लृ' की पारस्परिक संज्ञा को अनित्य बताते हुए यह दिया गया है कि यदि ऋकार और लृकार का सावर्ण्य नित्य है तो 'ऋलृक्' प्रत्याहार में 'लृकार' के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहेगी। जिस प्रकार सवर्णी होने से 'ऋकार' 'लृकार' का ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार वह अपने सवर्णी 'लृकार' का भी ग्रहण कर लेगा। फिर जो 'ऋलृक्' सूत्र में 'लृ' का उपदेश किया गया उससे यह ज्ञापित होता है कि इनका सावर्ण्य अनित्य है। इसी कारण 'क्लृप्तशिखः' प्रयोग में 'गुरोरनृतो...' (८।२।८६) सूत्र द्वारा 'प्लुत' हो जाता है। यदि इन दोनों में 'ऋ' और 'लृ' का सावर्ण्य नित्य होता तो यहां प्लुत की प्राप्ति नहीं हो सकती थी, क्योंकि सूत्र में ऋकार की प्लुतता का निषेध किया गया है। इसी प्रकार सावर्ण्य अनित्य होने के कारण 'प्रक्लृप्यमानः' में भी 'णत्व' का निषेध हो सकेगा।[1]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्य में कहा गया है कि सवर्णसंज्ञा के अभाव में भी 'प्रक्लृप्यमानः' प्रयोग में 'कृत्यचः' (८।४।२९) सूत्र द्वारा 'णत्व' की प्राप्ति होगी,[2] परन्तु वहीं उसका समाधान यह दिया गया है कि 'लृकार' के एकदेश 'ल्' का व्यवधान होने के कारण 'णत्व' का निषेध हो जाएगा।[3] अग्रहण पक्ष की दृष्टि से कैयट ने यह समाधान दिया है कि इस प्रयोग को क्षुभ्नादिगण में मान कर 'क्षुभ्नादिषु च' सूत्र द्वारा 'णत्व' का निषेध मान लेना चाहिए।[4]

---

१. "तज्ज्ञापयति ऋकारलृकारयोः इति प्रतिषेधः ।" दुर्घटवृत्ति, पृ० २-३ तुलना करो : 'अत्रोच्यते, न तावद्वार्तिकं दृष्ट्वा सूत्रकृत प्रवृत्तिः। आरब्धेऽपि वार्तिके ऋकारलृकारयोः लृकारग्रहणात्। —शब्दकौस्तुभ (भाग २), पृ० ३६।'

२. महाभाष्य, १।१।६, पृ० २०७।

३. उपरिवत्।

४. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।६ पृ० २०७।

ओत् (१।१।१५)

गोभवेत्

'ओत्' सूत्र द्वारा ओदन्त निपातों की प्रगृह्य संज्ञा की गई है। इस सूत्र की दृष्टि से यह विचारणीय है कि 'अगोर्गोः समपद्यते इति गोभवेत्' के 'गोभवेत्' अंश में 'एङः पदान्तादति' (६।१।१००) सूत्र से पूर्वरूप की प्राप्ति कैसे हुई, क्योंकि च्व्यन्त शब्द निपात संज्ञक होते हैं तथा 'गोभवेत्' प्रयोग में 'गौ' शब्द 'च्वि' प्रत्ययान्त है। अतः 'ओदन्त' अथवा ओकारान्त निपात होने से 'ओत्' सूत्र द्वारा 'गो' की प्रगृह्य संज्ञा होगी और फिर 'प्लुतप्रगृह्या' (६।१।१२५) सूत्र से 'गोभवेत्' प्रयोग में प्रकृतिभाव की प्राप्ति होगी।

महाभाष्य, पदमंजरी तथा दुर्घटवृत्ति में 'ओत्' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'च्वि' प्रत्ययान्त शब्द 'अभूततद्-भाव' अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण स्वभाव से ही गौणार्थवृत्ति वाले होते हैं। इसलिए 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः'[1] परिभाषा के अनुसार 'च्वि' प्रत्ययान्त शब्दों के अतिरिक्त ओदन्त निपातों की प्रगृह्य संज्ञा हो जाएगी। यद्यपि 'गौर्वाहीकः' जैसे प्रयोगों में वाहीक को भी 'गो' कहा जाता है परन्तु यहां वाहीक···में विद्यमान जड़ता, मूर्खता, बुद्धि की मन्दता इत्यादि गो के धर्मों का वाहीक में आरोप करके लक्षणावृत्ति से वाहीक को गो कहा गया है। इस रूप में वाहीक में गोत्व गौण है, मुख्य नहीं। मुख्य न होने के कारण ही 'गोरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' जैसे वाक्यों में 'गो' शब्द से वाहीक का ग्रहण अभि-प्रेत नहीं है। इसी प्रकार 'ओत्' सूत्र द्वारा मुख्य ओकारान्त निपातों, जैसे 'आहो' इत्यादि की ही प्रगृह्य संज्ञा अभिप्रेत है, 'गोभवेत्···' इत्यादि के 'गो' जैसे गौण ओकारान्त निपातों की नहीं। इसलिए 'गो' की प्रगृह्य संख्या न होने पर, प्रकृति भाव के अभाव में पूर्वरूप ही होगा।[2]

यहां पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि कार्य मुख्य में ही होता है तो 'गौर्बाहीकः', 'गां बाहीकम् आनय' प्रयोगों में गोत्व के गौण अथवा आरोपित होने के कारण 'गोतो णित्' (७।१।९०) तथा 'ओतोऽम्शसोः' (६।१।९३) सूत्रों द्वारा 'गो' शब्द को वृद्धि तथा आत्व जैसे कार्य नहीं हो सकेंगे।

---

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १५।
२. महाभाष्य, १।१।१५; पृ० २३१।

महाभाष्य तथा पदमंजरी में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'गौण मुख्ययो····' परिभाषा केवल उन कार्यों में उपस्थित होती है जो अर्थाश्रित होते हैं जैसे 'गोरनुबन्ध···' इत्यादि वाक्य । इनमें गाय का बन्धन आदि कार्य शब्दाश्रित न होकर अर्थाश्रित हैं किन्तु वृद्धि और आत्व कार्य अर्थाश्रित न होकर शब्दाश्रित हैं अर्थात् ये कार्य 'गो' शब्द में होते हैं न कि उसके अर्थ में। इसीलिए यहां यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी ।[1]

दुर्घटवृत्तिकार ने महाभाष्य तथा भागवृत्ति का नाम लेकर यह कहा है कि पदसंस्कार पक्ष द्वारा बाहीक आदि अर्थ की अपेक्षा न होने के कारण, 'गो' शब्द में वृद्धि और आत्व जैसे कार्य हो जाएंगे ।

यहाँ पदसंस्कार पक्ष का तात्पर्य यह है कि 'गौर्वाहीकः,' 'गौर्वाहीकम्' आदि वाक्यों की सिद्धि दो प्रकार से की जा सकती है—या तो पूरे वाक्य को एक साथ सिद्ध किया जाए अथवा प्रत्येक पद को अलग-अलग मान कर सभी पदों को पृथक्-पृथक् सिद्ध किया जाए। पहले को 'वाक्य संस्कारपक्ष' तथा दूसरे को 'पदसंस्कारपक्ष' कहते हैं। कैयट ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रातिपदिक से विभक्ति आदि कार्य हो जाने के पश्चात् दूसरे शब्दों का सान्निध्य होने पर ही गौणत्व की प्रतीति होती है।[2] परिभाषा वृत्ति में कहा गया है कि 'गोतो णित्' तथा 'औतोऽम्शसोः' सूत्रों में 'गो' शब्द के प्रधान रूप से निर्दिष्ट होने के कारण अर्थाश्रित गौण और मुख्य का तो विचार ही नही होना चाहिए ।[3]

न बहुव्रीहौ (१।१।२९)

त्वकत्पितृकः

'न बहुव्रीहौ' सूत्र का सामान्यतया यह अर्थ किया गया है कि बहुव्रीहि समास में 'सर्व' आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। इस अर्थ को देखते हुए 'त्वं पिता अस्य' तथा 'अहं पिता अस्य' प्रयोगों में बहुव्रीहि समास होने के कारण सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाने से, सर्वनामता के आधार पर होने वाला 'अकच्' प्रत्यय नहीं हो सकता तथा 'अकच्' प्रत्यय के अभाव

---

१. महाभाष्य, १।१।१५ पृ० २३१ ।
२. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।१५, पृ० २३१-३२ ।
३. परिभाषावृत्ति, पृ० ४ ।

में 'त्वकत्पितृकः' तथा 'मकत्पितृकः' प्रयोग नहीं बन सकते। इसके विपरीत 'प्रागिवात्कः' (५।३।७०) सूत्र से 'अकच्' के स्थान में 'क' प्रत्यय के आ जाने से 'त्वत्कपितृकः' तथा 'मत्कपितृकः' प्रयोग ही बनेंगे।

काशिका, न्यास, पदमंजरी, धातुवृत्ति, सिद्धान्त कौमुदी आदि के लेखकों ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्टरूपेण यह कहा है कि 'त्वं पिताऽस्य' इत्यादि बहुब्रीहि समास के प्रयोगों में 'अकच्' प्रत्यय नहीं आयेगा और 'क' प्रत्यय के साथ 'त्वत्कपितृकः' तथा 'मत्कपितृकः' जैसे प्रयोग ही बनेंगे।[1] पदमञ्जरी, धातुवृत्ति तथा सिद्धान्त कौमुदी में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बहुब्रीहि समास की स्थिति से पहले की प्रक्रिया दशा अर्थात् 'त्वं पिताऽस्य' विग्रह वाक्य के स्वतंत्र 'त्वम्' पद के साथ भी 'अकच्' प्रत्यय नहीं लाया जा सकता क्योंकि यदि इस प्रकार इन शब्दों की सर्वनाम संज्ञा मान ली जाएगी तो उस स्थिति में 'न बहुब्रीहौ' सूत्र व्यर्थ हो जाएगा।[2] इस प्रकार पाणिनि के इन व्याख्याकारों के मत में 'त्वकत्पितृकः' 'मकत्पितृकः' प्रयोग नहीं बन सकते। संभवतः इन विद्वानों की व्याख्या को ही ध्यान में रखते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने यह प्रश्न उठाया है कि 'न बहुब्रीहौ' सूत्र के रहते हुए 'त्वकत्पितृकः' जैसे प्रयोग कैसे साधु सिद्ध हो सकेंगे।

महाभाष्य में 'अकच् स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' वचन मिलता है, जिसका अर्थ है कि 'अकच्' प्रत्यय तथा 'स्वर' विषयक कार्य प्रत्यङ्ग अर्थात् प्रत्येक अवयव की दृष्टि से कर दिए जाने चाहिए। इसलिए 'त्वं पिताऽस्य' विग्रह वाक्यों के अवयव या अंगभूत 'त्वम्' तथा 'अहम्' आदि से 'अकच्' प्रत्यय होगा ही और 'त्वकत्पितृकः' प्रयोग ही साधु है, 'त्वत्कपितृकः' नहीं।[3] इस प्रकार पतञ्जलि ने 'न बहुब्रीहौ' सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया। कैयट का यह विचार है कि यहां पतञ्जलि का मत ही मान्य है, क्योंकि वह अन्तिम मुनि हैं।[4] दुर्घटवृत्तिकार का यह विचार है कि अनुन्यासकार के अनुसार पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यङ्ग' शब्द का अर्थ 'अन्तरंग' है।

पतञ्जलि के इस मत का उल्लेख भट्टोजि दीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ

१. काशिका, १।१।२९।
२. पदमंजरी (भाग १), १।१।२९, पृ० ८०।
३. महाभाष्य, १।१।२८, पृ० २९३।
४. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।२८, पृ० २९३।

में किया है; परन्तु वहाँ पर दीक्षित का मत यही प्रतीत होता है कि 'त्वकत्पितृक:' जैसे प्रयोग नहीं बन सकेंगे। परन्तु बाद में वह 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुसार पतञ्जलि को मानने के लिए बाध्य दिखाई देते हैं।[1]

विभाषा जसि (१।१।३२)

कोशकारों ने सामान्यतया 'द्वि' शब्द से 'तयप्' प्रत्यय करके 'द्वय' शब्द सिद्ध किया है। अष्टाध्यायी में 'संख्याया अवयवे तयप्' (५।२।४२) सूत्र के द्वारा संख्यावाचक शब्दों से 'तयप्' का विधान करके 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (५।२।४३) सूत्र में 'द्वि' तथा 'त्रि' शब्दों से आने वाले इस 'तयप्' के स्थान पर विकल्प से 'अयच्' का आदेश किया गया है। इस प्रकार 'द्वय' तथा 'त्रितय' शब्दों की सिद्धि की गई है।

'द्वित्रिभ्याम्' इस सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ 'अयच्' न होकर 'तयप्' का आदेशमात्र है।[2] इसी कारण 'जस्' विभक्ति के परे रहने पर 'प्रथमचरम···' (१।१।३३) सूत्र द्वारा विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होकर 'द्वये' तथा 'द्वया:' प्रयोग निष्पन्न हो पाते हैं।

इस प्रकार यदि 'द्वय' शब्द से 'तयप्' प्रत्यय माना जाए तो 'प्रथमचरम···' सूत्र के अनुसार केवल 'जस्' विभक्ति के परे होने पर ही 'द्वय' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होनी चाहिए, अन्य विभक्तियों में नहीं। इस स्थिति में यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्[3] श्लोकांश में माघ द्वारा प्रयुक्त 'द्वयेषाम्' प्रयोग कैसे साधु माना जाए?

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रश्न के उत्तर में तीन समाधान दिए हैं—प्रथम समाधान 'द्वित्रिभ्याम्' सूत्र से 'द्वय' शब्द को 'अयच्' प्रत्यय के संयोजन द्वारा निष्पन्न मानकर यह दिया है कि व्यवस्थितविभाषा के द्वारा 'जस्' विभक्ति के के अतिरिक्त षष्ठी विभक्ति के बहुवचन आदि अभीष्ट स्थलों में भी सर्वनाम संज्ञा हो जाएगी और 'द्रयेषाम्' जैसे प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। स्वयं पाणिनि की सूत्रशैली (तयस्य अयच्वा) से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अयच्' प्रत्यय

---

१. शब्दकौस्तुभ, (भाग १), १।१।२९, पृ० २७१।
२. काशिका, ५।२।४३।
३. शिशुपालवध, १२।१३।

स्वतंत्र प्रत्यय न होकर आदेशमात्र है। इस समाधान में ध्यातव्य है कि 'विभाषा जसि' सूत्र में दुर्घटवृत्तिकार के अतिरिक्त अन्य किसी वैयाकरण अथवा कोशकार ने व्यवस्थितविभाषा नहीं मानी है। इसके अतिरिक्त वाचस्पत्यम् कोश में तो 'द्वयेषाम्' जैसे प्रयोगों को असाधु ही माना गया है।[1]

महाभाष्यकार की एक पंक्ति 'अयच् प्रत्ययान्तरं वा' से यह आशय निकलता है कि वह 'अयच्' प्रत्यय को 'तयप्' के स्थान पर आदेश न मान कर स्वतंत्र प्रत्यय मानते हैं।[2] भाष्य के इस कथन को दृष्टि में रखते हुए, यदि 'द्वय' शब्द में 'तयप्' प्रत्यय की सत्ता न मानी जाए तब तो 'जस्' विभक्ति के परे होने पर भी 'द्वय' शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी; परन्तु स्वयं महाभाष्यकार ने 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्र की व्याख्या में सर्वनामसंज्ञक कार्य सहित 'द्वये' रूप का प्रयोग किया हैं।[3] यह 'द्वये' रूप तभी साधु होगा जब 'अयच्' को प्रत्ययान्तर माना जाए। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के इस वदतोव्याख्यात दोष का समाधान यह कह कर दिया है कि 'अयच् प्रत्ययान्तरं' की बात महाभाष्य में 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) सूत्र की दृष्टि से कही गयी है न कि 'द्वित्रिभ्यां' सूत्र की दृष्टि से।

काशिका, पदमंजरी, न्यास तथा बालमनोरमा टीका में 'द्वित्रिभ्याम्...' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'अयच्' प्रत्यय को भिन्न न मान कर 'तयप्' के स्थान पर आदेश माना गया है तथा 'द्वये' और 'द्वयाः' दोनों प्रयोग साधु माने गये हैं।[4] शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् कोशों में भी 'तयप्' को स्थानी मान कर 'अयच्' को आदेश माना गया है।[5]

दुर्घटवृतिकार ने इस समस्या का दूसरा समाधान यह दिया है कि 'इष् जतौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके 'इष्' शब्द बनाया जाए तथा 'द्वय' शब्द के साथ गुण सन्धि करके 'द्वयेष्' शब्द। इस 'द्वयेष्' शब्द का षष्ठी बहुवचन का रूप 'द्वयेषाम्' माना जाए। इस रूप में 'द्वयेषाम्' का विग्रह

---

१. 'व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीमृतामि 'ति माघे द्वयेषामित्यसाधु।'
—वाचस्पत्यम्।

२. महाभाष्य, १।१।४३, पृ० ३३६।
३. महाभाष्य २।३।६५, पृ० ८३२।
४. पदमंजरी (भाग २), ५।२।४३, पृ० २६८।
५. 'अवयवे तयप् तस्य वा अयच्!' —वाचस्पत्यम्।

होगा : 'द्वयं द्वैधं' गच्छन्तीति द्वयेषः तेषाम् द्वयेषाम्'। यह समाधान सुधानिधि में 'अपरे' निर्देश द्वारा दिया गया है।[1] शब्दकौस्तुभ तथा वाचस्पत्यम् के अनुसार भी यही समाधान उचित प्रतीत होता है।

दुर्घटवृत्तिकार ने तीसरा समाधान यह दिया है कि सर्वादिगण में पठित 'उभय' शब्द को अर्थपरक मानकर 'द्वय' शब्द की भी, उभयार्थक होने के कारण, सर्वनाम संज्ञा हो जाएगी और 'द्वयेषाम' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। शब्दकौस्तुभ में यह समाधान 'कश्चित' कह कर तथा सुधानिधि में 'केचित्' निर्देश द्वारा दिया गया है।[2]

भट्टोजि दीक्षित की दृष्टि में यह समाधान इसलिये उचित नहीं है कि किसी भी वृत्तिकार ने 'उभय' शब्द को सर्वादिगण में अर्थपरक स्वीकार नहीं किया है।[3] सुधानिधि में इस समाधान का विरोध इसलिए किया गया है कि स्वयं शिशुपालवध काव्य में सर्वनामकार्य रहित 'गुह्यद्वयाय गुरुणोः' आदि प्रयोग मिलते हैं।[4] 'उभय' को अर्थपरक मानते हुए इन प्रयोगों की कोई संगति नहीं लगती। इस प्रसंग में सुधानिधि के लेखक ने एक अन्य समाधान यह दिया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में स्मृत चाक्रवर्मण वैयाकरण के मत में 'द्वय' शब्द भी सर्वनाम संज्ञक था।[5] यह मत शब्दकौस्तुभ में 'कश्चित्' निर्देश द्वारा दिया गया है। सुधानिधि में यही समाधान उचित माना गया है। परन्तु भट्टोजि दीक्षित को यह मत मान्य नहीं है क्योंकि मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि) ने साधु और असाधु का जो विभाग कर दिया है, वही सामान्यतया इष्ट है।[6]

शब्दकौस्तुभ में कहा गया है कि यदि यह कहा जाए कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह प्रयोग साधु ही है तो भी उचित नहीं, क्योंकि स्वयं महाकवियों ने सर्वनाम संज्ञा रहित प्रयोग भी किये हैं।[7]

यह सारा विवाद शिशुपालवध के 'द्वयेषाम्' प्रयोग की दृष्टि से उपस्थित

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग १), १।१२७, पृ० १६५।
२. उपरिवत् (भाग १), १।१।२७, पृ० १६५।
३. उपरिवत् (भाग २), १।१।२७, पृ० १६५।
४. सुधानिधि, १।१।२६, पृ० ३१३।
५. उपरिवत्
६. शब्दकौस्तुभ, (भाग १), १।१।२७, पृ० १६५।
७. उपरिवत्

हुआ है । इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐसे प्रयोग नहीं मिलते । पतञ्जलि ने केवल 'जस्' 'विभक्ति में 'द्वये' शब्द का सर्वनाम कार्य युक्त प्रयोग किया है जिसकी सिद्धि 'प्रथमचरम…' सूत्र से 'अयच्' को 'तयप्' का आदेश मानते हुए हो जाती है । जहाँ तक 'द्वयेषाम्' प्रयोग की बात है, दुर्घटवृत्तिकार का दूसरा समाधान ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि न तो 'विभाषा जसि' में किसी ने व्यवस्थितविभाषा की स्थिति मानी है और न ही सर्वादिगण में 'उभय' पाठ को किसी ने अर्थपरक माना है ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५७)

वैयाकरणः

'अच: परस्मिन्…' सूत्र का अर्थ यह किया जाता है कि परनिमित्तक अजादेश पूर्वविधि के प्रति स्थानिवत् हो जाता है ।[1] यहां 'पूर्वविधि' शब्द का अर्थ विवादास्पद है । इस विषय में वैयाकरणों ने तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं । प्रथम विकल्प में अनादिष्ट 'अच' अथवा स्थानी की अपेक्षा पूर्वता मानी गयी है । दूसरे विकल्प में आदेश (स्थानी के स्थान पर आया हुआ आदेश) की अपेक्षा तथा तीसरे विकल्प में जो निमित्त है, अजादेश में जो उसकी अपेक्षा पूर्वता मानी जाती है ।

'व्याकरण' शब्द से 'अण्' प्रत्यय करने पर जब 'व्य्+आकरण+अण्' स्थिति बन जाती है, तब 'न युवाभ्याम्' (७।३।३) सूत्र से वृद्धि निषेध होकर 'य्' से 'पूर्व' 'व्' को 'ऐच' आगम होकर 'वैयाकरण:' शब्द बनता है । परन्तु यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि 'अच: परस्मिन्…' सूत्र द्वारा 'य्' आदेश को परनिमित्तक होने के कारण, स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होगी अर्थात् वहां 'य्' को 'इ' भाव हो जायेगा । इस प्रकार स्थानिवद्भाव होने से 'ऐच्' का आगम कैसे हो सकता है ।

दुर्घटवृत्ति में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि जो अनादिष्ट 'अच' से पूर्व होता है उस विधि के प्रति स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होती है । 'वैयाकरण:' प्रयोग में तो 'इ' अनादिष्ट 'अच्' न होकर आदिष्ट 'अच्' है क्योंकि इसके स्थान पर यणादेश होकर 'इ' का 'य्' हो गया है । अत: यहां पर स्थानिवद्भाव नहीं होगा और 'अच' का आगम हो जाएगा । यह समाधान अजपेक्षा ('अच्' की अपेक्षा) का पूर्वत्व

---

१. काशिका: १।१।५७ ।

ग्रहण करके दिया गया है ।

महाभाष्य, पदमञ्जरी, न्यास तथा शब्दकौस्तुभ में इस समस्या पर विचार करते समय निमित्तापेक्षत्व तथा आदेशापेक्ष को दृष्टि में रखकर यह उपस्थित किया गया है कि यदि निमित्तापेक्षा अथवा आदेशापेक्ष पूर्वत्व को माना जाए तो 'वैय्+आकरण' स्थिति में 'य्' के स्थानिवत् हो जाने से 'एचोऽय···'(६।१।७८) सूत्र द्वारा 'ऐ' को 'आय्' आदेश की प्राप्ति होगी तथा 'वैयाकरण:' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा ।[1]

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्य तथा शब्दकौस्तुभ में यह दिया गया है कि अनादिष्ट 'अच्' अथवा स्थानी की अपेक्षा पूर्व जो विधि होती है उसके प्रति स्थानिवद्भाव नहीं होता ।[2] यह समाधान अजपेक्षा का पूर्वत्व ग्रहण करके दिया गया है ।[3]

दुर्घटवृत्ति में, न्यास के कथन रूप में तथा पदमञ्जरी और न्यास में यह समाधान दिया गया है कि 'आय' आदेश अंतरंग है तथा 'ऐच्' आगम तद्धिताश्रित और अङ्गाश्रित होने के कारण बहिरंग है। अत: 'असिद्धं बहिरंग अन्तरंगे' परिभाषा के द्वारा 'आय्' आदेश के प्रति 'ऐच्' के असिद्ध होने के कारण यहां पर 'आय्' आदेश की प्राप्ति नहीं होगी ।[4]

'तन्वन्ति' प्रयोग में 'तन्+उ+अन्ति=तन्+व्+अन्ति' स्थिति बन जाने पर निमित्तापेक्ष की पूर्वता का ग्रहण किया गया है । 'व्' को स्थानिवद्भाव हो जाने से 'आर्धधातुकस्य...' (७।२।३५) सूत्र द्वारा 'इट्' की प्राप्ति नहीं होगी ।[5] परन्तु यदि सर्वत्र ही निमित्तापेक्ष की पूर्वता का ग्रहण किया जाए तो 'भवति' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई होगी कि 'भो+अ+ति' स्थिति में 'ओ' के स्थानिवत् हो जाने से 'अव्' आदेश की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अत: यहां पर स्थानिवद्भाव का अभाव विचारणीय है ।

दुर्घटवृत्ति तथा परिभाषावृत्ति में इस समस्या के दो समाधान दिये गये हैं। प्रथम यह कि निमितापेक्ष की पूर्वता का ग्रहण कभी-कभी प्रयोग की

---

१. (क) महाभाष्य, १।१।५७, पृ० ४४३ ।
   (ख) पदमञ्जरी, (भाग १), १।१।५७, पृ० १११ ।
२. महाभाष्य, १।१।५७, पृ० ४४१ ।
३. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।५७, पृ० ४४१
४. पदमञ्जरी (भाग १), १।१।५७, पृ० १११ ।
५. उपरिवत्, पृ० ११२ ।

दृष्टि से किया जाता है, सर्वत्र नहीं। दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'यण्' बहिरंग है तथा 'इट्' अन्तरंग। अतः बहिरंग के प्रसिद्ध होने के कारण अन्तरंग 'इट्' नहीं हो सकेगा।[1]

द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९)

अधिजगे

'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'इङ्' धातु से 'लिट्' के प्रथम पुरुष एकवचन में 'अधिजगे' प्रयोग बनता है। यदि यहां पर 'त' को 'लिटस्तझयो···' (३।४।८१) सूत्र द्वारा 'एश्' आदेश करने के बाद उस 'ए' को निमित्त मानते हुए 'गाङ्लिटि' (२।४।४९) सूत्र से 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश किया जाए तो 'अधि+गाङ्+ए' स्थिति में 'गा' को द्वित्व करते समय 'गाङ्' को 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र द्वारा द्वित्व की प्राप्ति होगी। इस सूत्र का अर्थ है—द्विवचन निमित्तक 'अच्' के परे होने पर जो अजादेश होता है वह द्विवचन करने में स्थानिवत् हो जाता है।[2] यहां पर 'ए' द्विवचन का निमित्त है तथा उसके ही परे होने पर 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश किया गया है। इसलिए यहां पर अजादेश 'गाङ्' को स्थानिवद्भाव होकर 'इ' को द्वित्व की प्राप्ति होगी तथा 'अधिजगे' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वार्तिककार ने इस समस्या का समाधान 'तत्र गाङ्प्रतिषेधः'[3] कह कर दिया है। परन्तु इस प्रकार के प्रतिषेध को अनावश्यक ठहराते हुए 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की व्याख्या में ही महाभाष्य, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ तथा धातुवृत्ति में यह समाधान दिया गया है कि 'गाङ् लिटि' सूत्र में 'गाङ्ल्लिटि' इस प्रकार का द्विलकार सहित निर्देश है।[4] अतः इस सूत्र का अर्थ किया जाना चाहिए — लकारादि 'लिट्' के परे होने पर 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश होगा। उसके लकारादि बने रहते ही अर्थात् 'एश' आदेश के पूर्व ही 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश हो जाता है। अब 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश करने में 'लिट् ही निमित्त है, न कि 'ऐश्'। अतः द्विर्वचन निमित्तक 'एश्' के अजादेश 'गाङ्'

---

१. परिभाषावृत्ति, पृ० १८।
२. काशिका, १।१।५९।
३. महाभाष्य, १।१।५९, वा० ३।
४. (क) महाभाष्य, १।१।५९, पृ० ४६७।
(ख) धातुवृत्ति, पृ० ३५७।

का निमित न होने के कारण 'गाङ्' को द्वित्व करते समय स्थानिवद्भाव नहीं होगा।

दूसरा समाधान न्यास के नाम से, यह दिया है कि 'गाङ्लिटि' सूत्र में 'गाङ्' आदेश केवल 'लिट्' की अपेक्षा करता है, इसलिए वह अन्तरंग है। इसके विपरीत 'एश्' आदेश 'लिट्' तथा उसके स्थान पर आदिष्ट 'त' दोनों की अपेक्षा करता है, अतः वह वहिरंग है। अतः अन्तरंग होने के कारण 'गाङ्' आदेश पहले हो जाएगा। इस प्रकार द्विवचन निमित्तक 'एश्' से पहले ही हो जाने के कारण 'गाङ्' आदेश रूप स्थानिवद्भाव को प्राप्त नहीं हो सकता।[1]

निन्यतुः

'नी' धातु से 'लिट्' के प्रथम पुरुष द्विवचन में 'अतुस्' के परे होने पर यदि 'अचि श्नु...' (६।४।७७) सूत्र द्वारा 'नी' को 'इयङ्' आदेश कर दिया जाए तो 'निय्+अतुस्' स्थिति में द्वित्व, अभ्यास आदि कार्य होने के पश्चात् 'निनियतुः' अनिष्ट प्रयोग बनेगा। अतः यहां यह विचारणीय है कि 'इयङ्' आदेश को बाध कर किस प्रकार यणादेश द्वारा 'निन्यतुः' प्रयोग सिद्ध किया जाए।

'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—पहली व्याख्या के अनुसार इस सूत्र में 'स्थानिवत्' की अनुवृत्ति लाकर द्विर्वचन का निमित्त 'अच्' परे होने पर द्विर्वचन करने में स्थानिवत् हो जाता है' यह अर्थ किया जाता है।[2] दूसरी व्याख्या में 'स्थानिवत्' की अनुवृत्ति न लाकर 'न पदान्त···'(१।१।५८) सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति लाते हुए सूत्र का यह अर्थ किया जाता है—द्विवचन निमित्त 'अच्' के परे होने पर अजादेश नहीं होता।[3]

दुर्घटवृति में उपर्युक्त दोनों अर्थों की दृष्टि से दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम अर्थ की दृष्टि से "उपजातनिमित्तोऽप्युत्सर्ग उपजनिष्यमाणनिमित्तेनापवादेन बाध्यते"[4] परिभाषा द्वारा यह दिया गया है 'कि यण्' द्वारा 'इयङ्'

---

१. न्यास (भाग १), २।४।४६, पृ० ४६५।
२. काशिका, १।१।५६।
३. सिद्धान्त कौमुदी (भाग ३) १।१।५६।
४. परिभाषेन्दु शेखर में यह परिभाषा 'उपसंजिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसंजातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधत इति' इस रूप में मिलती है। परिभाषा संख्या, पृ० ६५।

बाधित हो जाता है। 'यण' आदेश अपवाद है। उसका निमित द्वित्व के पश्चात् उत्पन्न होता है। 'इयङ्' आदेश उत्सर्ग है। उसका निमित्त पहले ही विद्यमान है। कैयट ने कहा है कि "प्रक्लृप्य वापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते" परिभाषा द्वारा वहां 'इयङ्' नहीं होगा। द्विवचन के पश्चात् 'एरनेकाचो···' (६।४।८०) सूत्र द्वारा 'इयङ्' का बाध होकर 'यण्' हो जाएगा तथा 'निन्यतुः' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।[1]

दूसरा समाधान 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र के दूसरे अर्थ की दृष्टि से यह दिया गया है कि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में 'न पदान्त···' सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति लाकर इस सूत्र का अर्थ होगा—'द्विर्वचननिमित्तेऽचि द्विर्वचन कर्त्तव्येऽप्यजादेशो न भवति।' इस प्रकार स्थानिवद्भाव की निवृत्ति हो जाने से 'नी' को 'इयङ्' आदेश नहीं होगा।

यदि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति न भी मानी जाए तो भी कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि द्वित्व से पहले 'इयङ्' आदेश हो जाने के कारण स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होकर 'नी' को ही द्वित्व की प्राप्ति होगी 'नी+नी+अतुस्' स्थिति बन जाने पर पुनः उत्तरखंड 'नी' को 'इयङ्' आदेश की प्राप्ति होगी। शब्दकौस्तुभ और प्रदीप टीका में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'एरनेकाचो...' सूत्र से 'इयङ्, का निषेध हो जायेगा तथा 'निन्यतुः' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। धातुवृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है।[2] दुर्घटवृत्ति से पता लगता है कि भागवृत्तिकार ने सूत्र की दूसरी व्याख्या को मानकर दूसरा समाधान दिया था। महाभाष्य में भी दूसरे अर्थ का संकेत मिलता है।[3] सिद्धान्तकौमुदी में दूसरी व्याख्या को माना गया है। इस दृष्टि से शब्दकौस्तुभ में समाधान देकर पुनः प्रथम व्याख्या की दृष्टि से समाधान दिया गया है। इसके अतिरिक्त वहां पर एक अन्य समान यह दिया गया है कि 'इयङ्' आदेश आभीय कार्य होने के कारण असिद्ध है। अतः यण् ही होगा।[4]

१. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।५६, पृ० ४७०।
२. धातुवृत्ति, पृ० २३५।
३. महाभाष्य, १।१।५६, पृ ४६८।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग १), १।१।५६, पृ० २५०।

अदर्शनं लोपः १।१।६०

वृक्षः

'अदर्शनं लोप:' सूत्र में सर्वप्रथम विचारणीय यह है कि 'अदर्शनम्' शब्द का अर्थ क्या है तथा 'लोप' संज्ञा किसकी होती है। सामान्यतया 'अदर्शन' शब्द का अर्थ है दर्शन का अभाव अर्थात् दिखाई न देना।[1] 'काशिका' के अनुसार इसका अर्थ है अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव तथा वर्णविनाश। ये शब्द समानार्थक हैं।[2] इन शब्दों के द्वारा जिस कार्य का अभिधान किया जाए वह 'अदर्शन' है। इस प्रकार लोप संज्ञा प्रसक्त के अदर्शन (विद्यमान रहकर अविद्यमान हो जाने) की होती है। यह शब्द की न होकर अर्थ की है।[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार 'वृद्धि' तथा 'गुण' संज्ञाएँ 'तद्भावित' तथा 'अतद्भावित' की मानी जाती हैं,[4] उसी प्रकार लोप संज्ञा भी सामान्य रूप से 'तद्भावित' और 'अतद्भावित' दोनों प्रकार के 'अदर्शन' की होती है।[5] 'तद्भावित' का अर्थ है ऐसा लोप जिसका विधान 'तत्' अर्थात् लोप शब्द के उच्चारण द्वारा किया गया हो। यथा 'रोरि' (८।३।२४) सूत्र में रेफ लोप का विधान 'लोप' कह कर किया गया है। इस प्रकार का लोप ही मुख्य लोप होता है। 'अतद्भावित' का अर्थ है ऐसा लोप जिसका विधान 'लोप' शब्द द्वारा न किया गया हो। जैसे 'चादिलोपे विभाषा' (८।१।६३) सूत्र में 'चादि लोपे' का अर्थ है जहाँ 'च' का लोप हो पर 'च' का प्रयोग न किया गया हो। जैसे—देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु देवदत्त एवारण्यं गच्छतु। ग्रामं चारण्यं गच्छत्वित्यर्थः।[6] इस वाक्य में 'च' की स्वतः अविद्यमानता का लोप माना गया है तथा इस लोप का विधान कहीं भी 'लोप' शब्द द्वारा नहीं किया गया है। अतः यह अतद्भावित लोप है। यही स्थिति 'ल्यब्लोपे[7] कर्मण्युपसंख्यानम्' वार्तिक में हैं। इस वार्तिक में 'ल्यब्लोपे' का अर्थ है—ऐसी स्थिति जहाँ 'ल्यप्' का प्रयोग न होकर उसका अर्थ ही प्रतीत होता हो, जैसे—प्रासादात्प्रेक्षते। इस प्रकार के लोप को गौण लोप माना जाता है।

'अतद्भावित' लोप की भी 'लोप' संज्ञा होने के कारण यह प्रश्न उपस्थित

---

१. 'न दर्शनम् अभावार्थे' वाचस्पत्यम्।
२. काशिका, १।१।६०।
३. उपरिवत् १।१।६०।
४. काशिका १।१।१।
५. न्यास (भाग १) पृ० १२०।
६. काशिका, ८।१।६२।
७. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), १।४।३१।

होता है कि 'वृक्षः' 'प्लक्षः' आदि प्रयोगों में जब 'सु' को रुत्व और विसर्ग कर देने पर रेफ का (विसर्ग रूप में परिवर्तित हो जाना रूप) अदर्शन हो जाता है तो उस स्थिति में 'ढ्रलोपे' (६।१।१११) सूत्र द्वारा पूर्ण 'अण्' (अकार) को दीर्घ की अनिष्ट प्राप्ति होगी।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम में इतना ही कहा गया है कि इन प्रयोगों में रेफ का अदर्शन रूप जो लोप है, वह औपचारिक है, क्योंकि 'रोरि' सूत्र से किए जाने वाले 'रेफ' लोप के समान यहां 'लोप' शब्द द्वारा रेफ का लोप नहीं हुआ है अपितु वह रेफ के विसर्ग रूप में परिवर्तित हो जाने के रूप सामर्थ्य के कारण स्वतः उद्भूत है—अतद्भावित है। फलतः गौण है। अतः इस प्रकार के 'र' लोप का ग्रहण 'ढ्रलोपे' सूत्र में अभीष्ट नहीं हो सकता। वहां तो मुख्य लोप ही अभीष्ट है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'ढ्रलोपे' शब्द में तत्पुरुष (ढ्रोलोपो ढ्रलोपः तस्मिन्) समास न मान कर बहुव्रीहि समास (ढ्रयोलोपो यस्मिन् इति) माना जाए।[1] यह मानते हुए 'वृक्षः' 'प्लक्षः' आदि प्रयोगों में दीर्घ प्राप्ति का प्रश्न इसलिए नहीं होगा कि अवसान स्वयं अभाव रूप होता है। अतः उसके परे होने पर 'र्' लोप की बात नहीं बनती अथवा दूसरे शब्दों में उसके परत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। परत्व के अभाव में पूर्वत्व की कल्पना सुसंगत नहीं हो सकती। 'ढ्रलोपे' सूत्र द्वारा पूर्व 'अण्' (पूर्वस्य अणः) को ही दीर्घ होता है। अतः पूर्वत्व के अभाव में दीर्घ की प्राप्ति नहीं होगी।

परन्तु दूसरे समाधान में एक अन्य कठिनाई यह उपस्थित हो सकती है कि 'वृक्षस्तिष्ठति' जैसे प्रयोगों में' 'वृक्ष' के अकार रूप 'अण्' को दीर्घ की प्राप्ति होगी, क्योंकि वहां रेफ के लोप में निमित्तभूत 'खर्' रूप 'त' के विद्यमान होने के कारण परत्व और पूर्वत्व की शर्त पूरी हो जाती है, इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अवसान में भी बुद्धि-कल्पित परत्व तो हो ही सकता है—क्योंकि वहां वर्ण उच्चरित होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। अतः उनमें बुद्धिकल्पित परत्व और पूर्वत्व होता ही है।

परन्तु जहां तक 'वृक्षस्तिष्ठति' प्रयोग में पूर्व 'अण्' को दीर्घत्व की प्राप्ति का प्रश्न है उसका उत्तर यह दिया गया है कि 'तस्मिन्निति···' (१।१।६६) परिभाषा सूत्र के अनुसार अव्यवहित पूर्व में ही दीर्घ विधि की जा सकती है, क्योंकि इस सूत्र का अर्थ है—सप्तमी से निर्दिष्ट कार्य अव्यवस्थित पूर्व वर्ण को ही होते हैं।[2] इस प्रयोग में तो विसर्ग (स्) का व्यवधान है। अतः दीर्घ नहीं होगा।

---

१. महाभाष्य, ६।३।१११, पृ० ६५६।

२. काशिका, १।१।६६।

प्रत्यलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६२)

भवति

'प्रत्ययलोपे...' सूत्र में 'प्रत्ययलोप' शब्द का अर्थ विचारणीय है। 'अदर्शनं लोपः' सूत्र पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि लोप का अर्थ है—अदर्शन। जब प्रत्यय विद्यमान (प्रसक्त) होकर व्याकरण की प्रक्रिया द्वारा लुप्त (अविद्यमान) हो जाए—एक प्रत्यय लोप इस प्रकार का हो सकता है।[1] दूसरा लोप इस प्रकार का हो सकता है कि कोई प्रत्यय चाहे विद्यमान (प्रसक्त) न रहकर अविद्यमान न भी हुआ हो तो भी चूँकि वह प्रत्यय दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिए वहाँ प्रत्यय का लोप माना जाए। यदि यह लोप भी माना जाता है तो 'भवति' जैसे प्रयोगों में अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है। 'भवति' प्रयोग में 'क्विप्' प्रत्यय के अप्रसक्त रूप अदर्शन होने पर उसकी 'लोप' संज्ञा होने के कारण 'प्रत्ययलोपे...' 'सूत्र......' के अनुसार 'भवति' के वर्ण को 'ह्रस्वस्य पिति...' (६।१।७१) सूत्र द्वारा 'तुक्' की अनिष्ट प्राप्ति होगी। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यय लोप का विषय पहले वाली ही स्थिति है। प्रत्यय प्रसक्त होकर व्याकरण की प्रक्रियानुसार लुप्त हो जाता है, क्योंकि न्यासकार ने 'आयादय...' (३।१।३१) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि इस सूत्र के 'आर्ध-धातुके' पद में सप्तमी मानी गई है तथा परसप्तमी मानते हुए या तो प्रत्यय की उत्पत्ति विकल्प द्वारा होगी अथवा उसकी निवृत्ति। यदि 'वा' ग्रहण से उसकी निवृत्ति मानी जाए तो 'प्रत्ययलोपे...' सूत्र द्वारा 'आय् व' का लोप मानते हुए प्रत्यय लक्षण द्वारा धातु के प्रत्ययान्त हो जाने से 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय की प्राप्ति होगी तथा 'गोपा' अनिष्ट प्रयोग बनेगा।[2] न्यासकार के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रत्यय चाहें प्रशक्त हो या अप्रसक्त दोनों स्थितियों में उसकी अविद्यमानता को प्रत्ययलोप का विषय मान लिया जाएगा।

परन्तु उपर्युक्त समस्या एक कल्पित समस्या है, क्योंकि 'प्रत्ययलोपे—' सूत्र में 'प्रत्ययलोप' का सीमित अर्थ है। उसका विषय केवल वे प्रयोग हैं जहाँ प्रत्यय प्रसक्त होकर व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार लुप्त हुआ हो।[3] पाणिनि के सभी व्याख्याकार इस मत की एक स्वर से पुष्टि करते हैं। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है है—सिद्धं तु प्रसक्तस्यादर्शनस्य लोपसंज्ञत्वात् अर्थात् प्रसक्त के अदर्शन की प्रत्ययलोप संज्ञा मानते हुए 'त्रपु' 'जतु' में क्विप् का अदर्शन मानने पर प्रत्ययलक्षण रूप 'तुक्' की प्राप्ति-रूप दोष का समाधान हो जाता है। स्वयं न्यासकार ने भी

---

१. काशिका, १।१।६०।
२. न्यास (भाग १), ३।१।२१, पृ० ५२१-५२२।
३. महाभाष्य, १।१।६०, वा० ५।

यह कहा है कि अदर्शन शब्द का अर्थ प्रसक्त का एक अदर्शन होता है।[1] 'प्रसक्त' का अर्थ न्यासकार के अनुसार (प्रसंगवान्) है। इस प्रसंगवान की प्राप्ति 'स्थानिवद्···' (१।१।५६) सूत्र से 'स्थानी' पद की अनुवृत्ति लाकर की गई है।[2] इस प्रकार स्थानी, प्रसक्त तथा प्रसंगवान् ये तीनों अपने शब्द पर्यायवाची हैं। कथन की पुष्टि में पतञ्जलि के समान न्यासकार का कहना है कि यदि 'प्रसक्त का अदर्शन' यह अर्थ न किया जाए तो 'त्रपु,' 'जतु' प्रयोगों में 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) सूत्र से 'सु' और 'अम्' विभक्तियों का लोप हो जाने पर अप्रसक्त 'क्विप्' के अदर्शन रूप प्रत्ययलोप होने के कारण वहां पर 'तुक्' की प्राप्ति होगी।[3] 'क्विप्' प्रत्यय के 'धातो:' (३।१।९१) सूत्र के अधिकार में विहित होने के कारण अधातु (नाम शब्द) 'त्र' और 'जतु' से परे 'क्विप्' का प्रसंग हो ही नहीं सकता।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके उसके उत्तरपक्ष में न्यासकार के कथन का प्रमाणरूप में प्रस्तुत कर दुर्घटवृत्तिकार ने इस सूत्र के सिद्धान्तभूत अर्थ को प्रस्तुत किया है।

ग्रामणी:

यदि 'प्रत्ययलोप' का यही अर्थ माना जाता है कि प्रत्यय का प्रसंग होने पर ही प्रत्ययलक्षण की प्राप्ति होकर प्रत्ययाश्रित कार्य होते हैं तो 'ग्रामणी:' प्रयोग में दोष आता है। 'सत्सूद्विष' (३।२।६१) सूत्र द्वारा 'ग्राम+नी' से 'क्विप्' हो जाने पर भी 'कर्मण्यण्' (३।२।१) सूत्र 'अण्' का प्रसंग होने के कारण 'अण्' प्रत्यय का लोप मानते हुए 'ग्रामणी:' के 'नी' अंश की वृद्धिरूप प्रत्ययलक्षण कार्य की प्राप्ति होगी।

इस दोष के निवारण के लिए 'अदर्शन लोप:' सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य तथा पदमञ्जरी में यह समाधान दिया गया है कि 'पूर्वापवादाः प्रवर्तन्ते पश्चादुत्सर्गा:'[4] परिभाषा द्वारा यहाँ पर 'अण्' का प्रसंग ही नहीं होगा, क्योंकि अपवादरूप 'क्विप् द्वारा उत्सर्ग रूप 'अण्' का बोध हो जाएगा।[5] यही समाधान शरणदेव ने भी दिया है।

---

१. न्यास (भाग १), १।१।६०, पृ० ११८।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत् पृ० ११७-११८।

४. परिभाषेन्दुशेखर में यह परिभाषा 'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गा:' इस रूप में मिलती है। परिभाषा संख्या, ६३।

५. (क) महाभाष्य, १।१।६० पृ० ४७५।
(ख) प्रदीप, महाभाष्य, १।१।६०, पृ० ४७५।

इस सूत्र में दूसरा विचारणीय विषय यह है कि यहाँ दो बार 'प्रत्यय' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया ? यदि 'प्रत्ययलोपे तल्लक्षणम्' सूत्र बनाया जाता तो सर्वनाम के पूर्वपरामर्शी होने के कारण अभीष्ट अर्थ निकल सकता था। फिर भी 'प्रत्यय' शब्दका जो पुन: ग्रहण किया गया उसका विशेष प्रयोजन यही है कि प्रत्यय को निमित्त मानकर जो कार्य होते हैं, वे ही कार्य प्रत्यय लोप होने पर हों। वर्ण को निमित्त मानकर जो कार्य होते हैं, वे न हों। 'प्रत्ययलक्षणम्' के स्थान पर 'तल्लक्षणम्' पद रखने पर यह अर्थ नहीं निकल सकता था। तब तो प्रत्यय जिस जिस भी कार्य में निमित्त बनता—चाहे वहाँ प्रत्यय अपनी वर्णरूपता के आश्रय से निमित्त हो अथवा अपनी प्रत्ययरूपता के आश्रय से—दोनों स्थितियों में प्रत्ययलक्षण कार्य होने लगता, क्योंकि सर्वनाम वस्तुमात्र का परामर्शी होता है। इस प्रकार प्रत्यय जहाँ अपनी प्रत्यय-रूपता से निमित्त बनता है, वहीं कार्य हो सके, इस अर्थ को बताने के लिए पाणिनि ने पुन: 'प्रत्यय' शब्द रखा। द्वितीय 'प्रत्यय' शब्द के इस विशेष अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए शरणदेव ने 'गोहितम्' प्रयोग में प्रत्ययलक्षण द्वारा अवादेश प्राप्ति-रूप दोष प्रस्तुत किया है।

गोहितम्

'गोहितम्' समस्तपद के अलौकिक विग्रह वाक्य (गो + ए + हितम्) में 'ए' विभक्ति का 'सुपो धातु···(२।४।७१) सूत्र द्वारा लोप हो जाने पर 'एचोऽय'··· (६।१।७८) सूत्र से 'अव्' आदेश रूप प्रत्ययलक्षण कार्य की प्राप्ति होगी तथा यह प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

यहां पर उत्तरपक्ष में शरणदेव ने द्वितीय 'प्रत्यय' शब्द द्वारा ज्ञापित अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्णाश्रय विधि में प्रत्ययलक्षण कार्य नहीं होता। 'एचोऽय···' सूत्र में 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्र 'अचि' की अनुवृत्ति आ रही है। इसलिए 'अव्' आदि आदेश 'अच्' वर्णों को निमित्त मानकर होने के कारण वर्णाश्रित कार्य हैं, न कि प्रत्ययाश्रित इसलिए यह कार्य प्रत्ययलक्षण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'गोहितम्' प्रयोग में 'अव्' आदेश नहीं होगा। यही समाधान न्यास, पदमञ्जरी में 'तृणह इम्' (७।३।९२) सूत्र की व्याख्या में तथा परिभाषावृत्ति में दिया गया है।[1]

अतृणेट्

परन्तु यदि वर्णाश्रयविधि में यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता तो 'अतृणेट्' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा। वहां 'त्' प्रत्यय का लोप हो जाने के बाद प्रत्ययलक्षण द्वारा हलादि 'पित्' एवं सार्वधातुक 'त्' को परे मान कर तृण्ह् के 'ह्' को 'इम्'

---

१. न्यास (भाग ३), ७।३।९२, पृ० ८२१।

आगम का विधान किया गया है। यह 'इम्' आगम रूप कार्य वर्णाश्रित है। अतः यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा कार्य नहीं हो सकता।

इस समस्या का समाधान 'प्रत्ययलोपे'''सूत्र की व्याख्या में ही दुर्घटवृत्ति तत्त्वबोधिनी तथा सुधानिधि में यह दिया गया है कि 'इम्' आगम हलादि 'पित्' सार्वधातुक के परे होने पर होता है। यह हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय ही हो सकता है। अतः यह कार्य प्रत्ययाश्रित है, वर्णाश्रित नहीं। इस प्रकार यहां पर 'इम्' आगम में कोई कठिनाई नहीं होगी।[1]

न्यास और परिभाषावृत्ति में इस समस्या का एक अन्य समाधान यह मिलता है कि 'वर्णाश्रय विधि में प्रत्ययलक्षण नहीं होता' यह नियम नित्य न होकर प्रायिक है। अतः 'अतृणेट्' में प्रत्ययलक्षण कार्य हो जाएगा।[2]

मुद्

परन्तु यदि हलादि सार्वधातुक का लोप होने पर तदाश्रित कार्य प्रत्यय लक्षण द्वारा हो जाता है तो 'मोदते इति मुद्' प्रयोग में 'मुद्' धातु से 'क्विप्' परे मान कर 'क्विप्' के 'व्' को वलादि मानते हुए 'आर्धधातुक''' (७।२।३५) सूत्र से इट् की प्राप्ति होगी।

इस दोष का निवारण 'वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणं नास्ति' परिभाषा को अनित्य मानते हुए किया गया है तथा प्रमाण रूप में न्यास को उद्धृत किया गया है।[3]

न लुमताऽङ्गस्य १।१।६३

अधित्वत्

'न लुमताऽङ्गस्य' सूत्र 'लुमत्' शब्द के द्वारा प्रत्यय का लोप होने पर अङ्ग प्रति प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध करता है। इस दृष्टि से शिशुपालवध के 'आधित्वदनेन मा निपाति'[4] श्लोकांश के 'अधित्वत्' (त्वयि अधि) इस अव्ययीभाव समास के प्रयोग की सिद्धि विचारणीय हैं क्योंकि 'सुपो धातु' (२।४।७१) सूत्र द्वारा 'सु' का 'लुक्' होने से 'न लुमताऽङ्गस्य' सूत्र द्वारा प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो जाता है। अतः 'सु' को निमित्त मानकर होने वाला 'युष्मद्' को 'त्व' आदेश नहीं हो सकेगा।

---

१. तत्त्वबोधिनी (भाग १, १।१।६२, पृ० २२३।
२. न्यास (भाग २) ६।४।३४, पृ० ५३०-५३१।
३. उपरिवत्।
४. शिशुपालवध, ७।४१।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि पाणिनि ने 'इकोऽचि बिभक्तौ' (७।१।७३) सूत्र में जो 'अच्' पद पढ़ा है उसका प्रयोजन यह है कि 'हे त्रपो' प्रयोग में सम्बुद्धि के 'सु' का लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण द्वारा गुण हो सके।[1] इससे यह ज्ञापक निकलता है कि 'न लुमताऽङ्गस्य' सूत्र अनित्य है। अतः 'प्रत्ययलोपे…' सूत्र द्वारा 'त्व' आदेश होकर 'अधित्वत्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अधित्वत्' प्रयोग में 'त्वत्' पद विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है जिसका अर्थ है 'त्वयि'। इस प्रकार इसे अव्यय मानते हुए 'त्वत्' आदेश की बात ही नहीं उठती। 'त्वयि' शब्द सर्वादिगण में पठित 'त्व' और 'त्वत्' से भिन्न अर्थ वाला है।

मल्लिनाथ ने इस प्रयोग को साधु बताते हुए एक अन्य हेतु यह दिया है कि 'त्वमावेकवचने (७।२।८७) सूत्र में 'एकवचने' पद अर्थनिर्देशपरक है। अतः 'सु' विभक्ति के अभाव में भी एक अर्थ के वाचक 'युष्मद्' शब्द को 'त्व' आदेश होगा ही। यह कहकर मल्लिनाथ ने वल्लभ के इस विचार का कि 'अधित्वत्' प्रयोग साधु है, खण्डन कर दिया।[2]

१. महाभाष्य, ७।१।७३, पृ० ६६।
२. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, ७।४१।

प्रथम अध्याय द्वितीय पाद

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)

धवित्रम्

'गाङ्कुटादि' सूत्र 'गाङ्' आदेश तथा कुटादि धातुओं से परे अञ्णित् प्रत्ययों की ङित्वत् करता है। अतः कुटादि 'धू' धातु से 'अर्तिलूधू···' (६।२।१४६) सूत्र द्वारा विहित 'इत्र' प्रत्यय के ङित्वत् हो जाने के कारण 'क्ङिति च' सूत्र से गुणनिषेध होकर धातु को 'उवङ्' आदेश द्वारा 'धुवित्रम्' प्रयोग ही बन सकेगा तथा 'धवित्रम्' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। भाषा तथा कोशों में 'धवित्रम्' और 'धुवित्रम्' दोनों प्रयोग मिलते हैं।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) सूत्र में 'गुण' शब्द के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि संज्ञापूर्वक विधि अनित्य होती है अर्थात् यदि किसी संज्ञा का नाम लेकर कोई विधान किया जाये तो वह अनित्य मानी जायेगी। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'ओर्गुणः' न कह कर सूत्रकार 'ओरोत्' कहते तो भी अर्थ निकल आता तथा सूत्रन्यास अपेक्षाकृत लघु होता। 'गुण' संज्ञा के द्वारा 'ओ' का विधान किए जाने पर यह विधि अनित्य मानी जाएगी जिससे 'स्वायंभुवः' प्रयोग में गुणरूप अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होगी तथा उसके स्थान पर 'उवङ्' हो सकेगा। इस ज्ञापक का उल्लेख काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में भी मिलता है।[1] धातुवृत्ति में इस समस्या का समाधान 'केचित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'कुटेः किच्च' (सि० कौ० ५२०) इस उणादिसूत्र से यह ज्ञापक निकलता है कि 'गाङ्कुटादि' सूत्र द्वारा विहित कार्य अनित्य है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि इस सूत्र द्वारा 'कुट्' धातु से 'अरु' प्रत्यय का विधान किया गया है। यह 'अरु' प्रत्यय 'गाङ्कुटादि···' सूत्र से स्वतः ङित्वत् हो जाएगा। 'कुटे : किच्च' सूत्र द्वारा उसे 'कित्' करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार अनावश्यक कित्व विधान से यह ज्ञापित होता है कि 'गाङ्कुटादि···' सूत्र से विहित कार्य अनित्य है।[2] परन्तु यदि 'ओर्गुणः' सूत्र द्वारा संज्ञापूर्वक विधि की अनित्यता का ज्ञापन हो चुका है तो फिर इस ज्ञापन की आवश्यकता समझ में नहीं आती। संभवतः इसीलिए धातुवृत्तिकार ने 'केचित्' निर्देश द्वारा यह मत प्रस्तुत किया है तथा

१. काशिका, ६।४।१४६।
२. धातुवृत्ति, पृ० ४७६।

भट्टोजि दीक्षित ने 'कुटेः क्रिच्च' सूत्र की व्याख्या में कित्वविधान को चिन्त्य (अवांछनीय) ठहराया है।[1]

हरदत्त ने इस समस्या पर दो प्रकार से विचार किया है। पहले तो उसने यहां गुणाभाव मानते हुए 'अचिश्नु···' (६।४।७७) सूत्र द्वारा 'उवङ्' करके 'धुवित्रम्' प्रयोग को सिद्ध किया है। 'धवित्रम्' प्रयोग उसके अनुसार छान्दस् होने के कारण साधु है।[2] इस विषय में उसने दूसरा विचार यह प्रस्तुत किया है कि 'विदिभिदि···' (३।२।१६) सूत्र में कुरच् इस नए प्रत्यय के विधान की अपेक्षा इससे पहले के सूत्र 'भजभासमिदो' (३।२।१६१) से विहित 'घुरच्' को ही इस सूत्र में 'ङित्' विधान करने से काम चल सकता था। फिर जो नए प्रत्यय का विधान किया गया, वह इस बात का ज्ञापक है कि अतिदेशिक कार्य अनित्य होता है।[3] इसीलिए 'घुरच्' को ङितवत् मानने का अर्थ होगा कि कभी 'विदुरः' प्रयोग बनेगा तो कभी 'वेदुरः'। 'विदुरः' जैसे ही प्रयोग हों, इसलिए प्रत्यय को साक्षात् 'कित्' बनाने के लिए 'कुरच्' प्रत्यय का एक विधान किया गया। इस रूप में 'गाङ्कुटादि'···से विहित आति देशिक ङित्वद्भाव को अनित्य मानते हुए गुण होकर 'धवित्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। धातुवृत्तिकार ने समाधान के रूप में यही समाधान हरदत्त के नाम से दिया है।' क्षीरतरङ्गिणी में 'धवित्रम्' तथा धातुप्रदीप में 'धुवित्रम्' ही मिलता है। धातुप्रदीप में 'केचित्' कहकर 'धवित्रम्' भी दिया गया है।[4]

लेखन

'गाङ् कुटादि'···सूत्र के विषय में यह भी विचारणीय है कि 'लिख्' धातु को कुटादि माना जाए अथवा नहीं। धातुपाठ में 'लिख्' धातु 'कुट्' पहले पढ़ी गई है। यदि 'कुटादि' पद में तत्पुरुष मानते हुए 'कुटस्य आदिः' यह विग्रह किया जाए तो 'लिख्' धातु कुटादि बन जाएगी। उस स्थिति में 'लेखनी' 'आलेखन' जैसे प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इनसे परे प्रत्ययों के ङितवत् हो जाने से गुणनिषेध हो जाएगा। यदि 'कुटादि' पद 'बहुब्रीहि समान मानते हुए 'कुट आदि येषाम्' यह विग्रह किया जाए तो 'लिख्' धातु के 'कुट्' से पहले पढ़े जाने के कारण कुटादि नहीं बन सकता। इस स्थिति में 'लिखितुम्', 'लिखिष्यते' जैसे प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), उणादिसूत्र ५२०।
२. पदमञ्जरी (भाग १), १।२।१, पृ० १४६।
३. उपरिवत् (भाग १), १।२।१, पृ० १४६.
४. धातुवृत्ति, पृ० ४७६।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'कुटादि' पद में तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि की सहविवक्षा मानकर तथा दोनों का एक शेष वताकर, 'लिख' धातु को कुटादि मानते हुए 'लेखनी' जैसे गुणसहित प्रयोगों की असिद्धि का प्रश्न उठाया है ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अपाच्चतुष्पा... (६।१।१४२) सूत्र निर्देश तथा 'रद विलेखने' धातुनिर्देश में निपातित 'विलेखन' और आलेखन' से शब्दों स्पष्ट है कि ल्युडन्त 'लिख्' धातु से आचार्य को गुण अभीष्ट है ।

पदमञ्जरी तथा शब्दकौस्तुभ में इसी सूत्र की व्याख्या में 'कुटादि' पद में तत्पुरुष की विवक्षा को अनुचित मानकर उसका खंडन किया गया है ।[1] इनका कहना है कि 'कुटादि' पद में यदि तत्पुरुष माना गया तो 'रलो व्युपधा······' (१।२।२६) सूत्र के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'लिखित्वा,' आदि प्रयोग तथा पाणिनि के उपर्युक्त 'आलेखन' 'विलेखन,' शब्द सिद्ध नहीं हो सकेंगे। धातुवृत्ति[2] में 'केचिद्' निर्देश द्वारा उन विद्वानों का मत प्रस्तुत किया गया है जो 'कुटादि' पद में दोनों समास मानते हैं। साथ ही हरदत्त तथा वर्धमान द्वारा इस मत के खंडन की बात भी कहीं गयी है। अत: इन विद्वानों की दृष्टि में संज्ञापूर्व-को विधिरनित्य:' परिभाषा का आश्रय लिया जाना चाहिए । धातुप्रदीप में भी यही समाधान दिया गया है । तत्त्वबोधिनी में इस मत को पुष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि 'लिख्' धातु सूत्रकार की दृष्टि में कुटादि थी तो उन्हें 'गाङ् कुटादिभ्यो···' के स्थान पर लिख ? दिभ्यों······सूत्र बनाना चाहिए था । अत: 'कुटादि' पद में बहुव्रीहि समास ही उचित है ।[3]

विव्यचिथ

इसके अतिरिक्त इस सूत्र से सम्बद्ध एक समस्या वह है कि 'व्यच्' धातु कुटादि धातुओं में पठित नहीं है । परन्तु इस धातु से कुछ प्रत्ययों (तृच्, तुमुन्, तव्य) के परे होने पर धातु को 'ङित्' मानते हुए सम्प्रसारण कार्य से युक्त 'उद्-विचिता,' 'उद्विचितुम्' आदि प्रयोग बनते हैं । इसी कारण 'व्यच्' ङित्' बनाने की दृष्टि से कात्यायन के 'व्यचे: कुटादित्वमनसि'[4] ('असुन्' प्रत्ययों से भिन्न के परे होने पर धातु को कुटादि माना जाएगा) वार्त्तिक के अनुसार 'विव्यचिथ' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि 'थल्' प्रत्यय के ङित्वत् हो जाने से

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।२।१, पृ० १४६ ।
२. धातुवृत्ति पृ० ४७५ ।
३. तत्त्वबोधिनी [भाग ३] १।२।२, पृ० ३१० ।
४. महाभाष्य, ६।१।१७ वा० ४ ।

'ग्रहिज्या'…… (६।१।१६) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण की प्राप्ति होगी तथा 'विविचिथ' बनेगा।

इस प्रश्न का उत्तर दुर्घटवृत्ति में धातुपारायण के नाम से तथा पदमञ्जरी में यह दिया है कि 'नञ्' समास 'अनसि' प्रयोग में प्रसज्यप्रतिषेध न होकर पर्युदास प्रतिषेध है। पर्युदास विधिप्रधान हुआ करता है तथा प्रसज्यप्रतिषेध निषेध प्रधान। 'नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'[1] परिभाषा के अनुसार पर्युदास प्रतिषेध के स्थलों में तत्सदृश में कार्य का विधान किया जाता है। अतः 'असुन्' प्रत्यय के समान जो अन्य 'कृत्' प्रत्यय हैं, उनके ही परे होने पर 'व्यच्' को कुटादि माना जाएगा। इस कारण 'तिङ् थल्' प्रत्यय के परे होने पर व्यच् को कुटादि नहीं माना जा सकता तथा कुटादि न मानने पर ङित्व तथा सम्प्रसारण की बात भी नहीं उठती। धातुवृत्ति में भी यही समाधान 'हरदत्तादयः कहकर दिया गया है।[2] परन्तु वहां पर अन्य विद्वानों का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि 'अनसि' में प्रसज्यप्रतिषेध है। अतः सम्प्रसारण होकर 'विविचिथ' प्रयोग बनेगा। धातुवृत्तिकार को संभवतः हरदत्त का मत ही अभीष्ट है, क्योंकि उसने प्रसज्यप्रतिषेध वाले मत का खंडन करते हुए कहा है कि प्रसज्यप्रतिषेध पक्ष में प्रमाण खोजना पडेगा तथा वाक्यभेद की स्थिति प्राप्त होगी।[3]

दुर्घटवृत्ति में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि धातुवृत्ति में रक्षित का यह मत उल्लिखित है कि सम्प्रसारण होकर 'विविचिथ' प्रयोग बनेगा। परन्तु धातुवृत्ति में कहीं भी रक्षित के नाम से यह मत नहीं मिलता। दुर्घटवृत्तिकार के इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि धातुवृत्ति में 'अन्येतु' कहकर जो मत दिया गया है, वह रक्षित का ही है। लेकिन धातु-प्रदीप में 'विव्यचिथ' और 'विविचिथ' दोनों प्रयोग मिलते हैं। 'विविचिथ' प्रयोग 'केचित्' कह कर दिया गया है।[4] अतः यहाँ के 'केचित्' पद से स्पष्ट है कि यह प्रयोग रक्षित को अभीष्ट नहीं है। इसलिए दुर्घटवृत्ति का 'धातुवृत्तौ तु' कथन चिन्त्य प्रतीत होता है।

विज इट् (१।२।२)

उद्वेजिता

'विज इट्' सूत्र 'ओविजी' धातु से इडादि प्रत्ययों को ङित्वत् करता है। इस सूत्र की दृष्टि से कुमारसंभव के 'उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ती'[3] श्लोकांश

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ७५।
२. धातुप्रदीप, पृ० १०६।
३. कुमारसंभव, १।५।
४. धातुवृत्ति, पृ० ४६३।

का 'उद्वेजिता' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि इस सूत्र द्वारा गुणनिषेध हो जाने के कारण गुणरहित 'उद्विजिता' प्रयोग ही बनना चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रयोग विजन्त है। 'विज' धातु से 'णिच्' करने पर लघूपध गुण पहले ही हो जाएगा। 'क्त' प्रत्यय तथा 'इट्' आगम उसके पश्चात् ही होंगे। धातुवृत्तिकार ने भी 'उद्वेजितम्' प्रयोग को णिजन्त ही माना है।[1]

परन्तु व्याकरण की एक परिभाषा है—'प्रकृतिग्रहणे व्यधिकस्यापिग्रहणम् जिसका अर्थ है—प्रकृति के ग्रहण में णिजन्त प्रकृति का भी ग्रहण होता है। इस परिभाषा का ज्ञापक 'हेरचङि' (७।३।५३) सूत्र के 'अचङि' पद से यह निकाला गया कि प्रकृति ग्रहण में णिजन्त का भी ग्रहण होता है।[2] यदि सूत्रकार को ऐसा अभीष्ट न होता तो वह सूत्र में 'अचङि' पद न रखते, क्योंकि प्रकृति के णिजन्त होने के कारण 'णिश्रिदुस्रु....' (३।१।४८) सूत्र से 'च्लि' को चङ' आदेश होने पर 'कुत्व' का निषेध स्वतः हो जाता तथा 'कुत्व' रति 'प्रजिघीषति' प्रयोग बन जाता। अतः इस परिभाषा के अनुसार 'विज्' धातु से 'णिच्' आदि परे होने पर गुणनिषेध हो जाएगा। अतः समस्या बनीं ही रहेगी।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि इस परिभाषा का विषय केवल 'हेरचङि' सूत्र ही मानना चहिए, क्योंकि 'व्यन्तानां च मादीना-मुपसंख्यानम्'[3] वर्तिक से यही आशय निकलता है। यदि वार्तिककार को ऐसा अभीष्ट न होता तो इस वर्तिक की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि पूर्वोक्त परिभाषा के आधार पर 'न भाभूपू....' (८।४।३४) सूत्र द्वारा ही णिजन्त धातुओं से णत्व का निषेद हो जाता। महाभाष्य में भी इस ज्ञापक का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'ज्ञापकं त्वन्यत्र ण्यधिकस्य कुत्वविज्ञानार्थम्।'[4] 'यहां के कुत्वविज्ञा ना र्थम्' पद से स्पष्ट है कि इस ज्ञापक को कुत्व कार्य अथवा 'हेरचङि' सूत्र तक हमी सीमित माना गया। परिभाषेन्दुशेखर तथा तत्त्वबोधिनी में भी यह मत माना गया है।[5] कैयट ने उपर्युक्त वार्तिक के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि णिजन्त धातु शुद्ध धातु से भिन्न दूसरी धातु बन जाती है। अतः 'न मा भूपूक-मिगमि' सूत्र द्वारा णत्व का निषेध नहीं हो सकेगा।[6]

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा सख्या ९२।
२. महाभाष्य, ७।३।५।६, पृ० २१९।
३. उपरिवत्, ८।४।३४, वा० २।
४. उपरिवत्, ७।३।५६, पृ० २१९।
५. तत्त्वबोधिनी (भाग ४), ८।४।३४, पृ० ७।
६. प्रदीप, महाभाष्य, ८।४।३।४, पृ० ५०५।

इस समस्या का दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'णिच्' के परे होने पर 'क्त' तथा 'इट्' से पहले ही गुण कार्य के अन्तरंग (अल्पापेक्ष) होने के कारण गुण होकर उद्व 'जिता' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५)

सम्पपृच्छे

'असंयोगा……' सूत्र असंयोगान्त धातु से परे अपित् लिट् प्रत्ययों को कित्वत करता है। इस सूत्र की दृष्टि से अश्वघोष के 'न सम्पपृच्छे गमनाय सत्वरा' श्लोकांश का 'सम्पपृच्छे' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'प्रच्छ्' धातु के संयोगान्त होने के कारण 'लिट्' के परे होने पर प्रत्यय के कित्वद् न होने से धातु को सम्प्रसारण नहीं हो सकेगा। विभिन्न कोशों' धातुवृत्ति आदि में 'पप्रच्छे' प्रयोग ही उपलब्ध होता है।

इस प्रयोग को पहले तो अपशब्द कह कर असाधु ठहराया गया है परन्तु बाद में साधु सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया है। शरणदेव का कहना है कि 'प्रच्छ्' धातु से 'छे च' [६।१।७३] सूत्र द्वारा 'तुक्' तथा उस को 'चुत्व' आदेश हुआ है। 'यजयाचयत……' [३।३।९०] सूत्र द्वारा प्रत्यय को ङित्करण से यह ज्ञापित होता है कि आगमशासन अनित्य होता है। यह ज्ञापक समच्चय न्यास आदि में निकाला गया है। इन विद्वानों के विचार में इस सूत्र द्वारा विहित 'नङ्' प्रत्यय को 'ङित्' करने का प्रयोजन 'प्रच्छ्' धातु के विषय में कुछ भी दिखाई नहीं देता। जहाँ तक 'ग्रहिज्या…… ' [६।१।६१] सूत्र द्वारा सम्प्रसारण के प्रश्न की बात है वह 'प्रश्ने चासन्नकाले' [३।२।११७] सूत्र में निपातित 'प्रश्न' शब्द से सिद्ध हो जाती है; प्रत्यय को 'ङित्' करने का प्रयोजन यही है कि 'विच्छ्' धातु से लघूपध गुण का निषेध किया जा सके[1]। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि 'छे च' सूत्र से विहित 'तुक्' नित्य है तो 'तुक्' होने पर लघूपध के अभाव में गुण की प्राप्ति स्वत: नहीं होगी। अत: उसका निषेध करना व्यर्थ हो गया। इस प्रकार ङित्करण से ज्ञापित होता है कि आगम शासन अनित्य है। आगम (तुक्) को अनित्य मानने पर गुण निषेध करना आवश्यक है, क्योंकि उस स्थिति में धातु में लघूपधता मिल सकती है।

इस प्रकार आगम शासन के अनित्य होने से 'प्रच्छ्' धातु में भी, प्रछ्' इस प्रकार की तुगाभाव की स्थिति मानते हुए धातु के असंयोगान्त होने के कारण सम्प्रसारण हो जाएगा। उसके पश्चात् धातु में विद्यमान ह्रस्व 'ऋ' को 'छ्' परे

१. (क) न्यास [भाग १], ३।३।१०, पृ० १०१।
(ख) ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ११।

'छे च' सूत्र से तुगागम होकर 'सम्पपृच्छे' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

'तुक्' को अनित्य मानने पर एक अन्य कठिनाई यह उपस्थित हो सकती है कि 'च्छ्वोः...' सूत्र अपना कार्य नहीं कर सकेगा, क्योंकि इससे 'तुक्' सहित छकार' को 'शकार' आदेश का विधान किया गया है। परन्तु न्यासकार ने इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया है कि इस सूत्र में द्विच्छाकार (च्छ् और छ) इस प्रकार का निर्देश है प्रथम निर्देश में सतुक् 'छ' संकेतित है तथा द्वितीय में 'तुक्' रहित। अतः 'तुक्' की स्थिति में प्रथम निर्देश के आधार पर 'छकार' को 'शकार' आदेश हो जाएगा।[1]

इन्धिभवतिभ्यां च (१।२।६)

बभूव

'इन्धिभवति···' सूत्र 'इन्ध्' तथा 'भू' धातुओं से परे 'लिट्' प्रत्ययों को कित्वत् करता है। सूत्रों में धातुओं का निर्देश करते समय सामान्यतया 'इक्' अथवा 'श्तिप्' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। इस सूत्र में 'इन्ध्' धातु का निर्देश 'इक्' द्वारा हुआ है तथा 'भू' धातु का निर्देश 'श्तिप्' द्वारा। यहाँ विचारणीय यह है कि सूत्रस्थ 'भवति' पद से कौन-सी धातु का ग्रहण अभिप्रेत माना जाए। यह तो स्पष्ट है कि यहाँ पर 'भू' धातु अभिप्रेत है। यहाँ यह विचारणीय है कि 'अस्' धातु को 'अस्तेर्भूः' सूत्र से आदिष्ट 'भू' आदेश भी 'भवति' पद से अभीष्ट है अथवा नहीं। पूर्वपक्ष के रूप में कहा जा सकता है कि चूँकि यहाँ पर 'श्तिप्' प्रत्यय मूल 'भू सत्तायाम्' के साथ ही प्रयुक्त होकर निर्दिष्ट हुआ है, इसलिए उसी को निर्दिष्ट मानना चाहिए, न कि 'अस्' के स्थान पर आदिष्ट 'भू' को।

परन्तु यदि इस आदिष्ट 'भू' का इस सूत्र द्वारा ग्रहण न माना जाए तो 'अस्' धातु के 'लिट्' लकार में 'बभूव' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ पर 'लिट्' प्रत्यय के 'इन्धिभवति···' सूत्र द्वारा कित्वत् न होने के कारण गुण की प्राप्ति होगी।

नित्यशब्दवाद तथा कार्यशब्दवाद सिद्धान्तों की दृष्टि से इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान यह कि संस्कृत व्याकरण शब्द, अर्थ और उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध इन तीनों को नित्य मानता है। अतः 'अस्तेर्भूः' सूत्र का अर्थ यह करना चाहिए—'अस्' धातु को आदिष्ट 'भू' रूप का भी ग्रहण इस सूत्र द्वारा अभीष्ट है। इस प्रकार नित्य शब्दवाद सिद्धान्त के अनुसार 'अस्' के स्थान पर सीधे 'बभूव' प्रयोग को साधु मान लेने के कारण उपर्युक्त समस्या समाप्त हो जाती है, क्योंकि 'भू' धातु से इस सूत्र द्वारा निष्पन्न 'बभूव' प्रयोग ही 'अस्' के स्थान पर निर्दिष्ट मान लिया जाएगा।

---

१. न्यास (भाग १), ३।३।१० पृ० १०१।

दूसरा समाधान कार्यशब्दवाद सिद्धान्त की दृष्टि से शब्दों को अनित्य मानते हुए अनुन्यासकार के मत रूप में यह दिया गया है कि सूत्रकार को किसी न किसी व्यक्ति (शब्द व्यक्ति) ही तो निर्देश करना था। उसने 'अस्' के द्वारा निर्देश न करके 'भू' व्यक्ति द्वारा निर्देश कर दिया। यह 'भवति' निर्देश अधिकृत 'भू' धातु तथा विकृत (अस् के स्थान पर आदिष्ट) 'भू' दोनों से सम्बन्धित है। अतः इस 'भवति' पद में इन दोनों रूपों का एकशेष द्वारा अन्तर्भाव अभीष्ट है। 'अस्' धातु से निष्पन्न होने वाला 'बभूव' प्रयोग भी 'भू' धातु से निष्पन्न 'बभूव' के समान ही है। इसलिए यह भी इस सूत्र का विषय बन सकेगा।

हलन्ताच्च (१।२।१०)

दिदृक्षते

'हलन्ताच्च' सूत्र इगन्त अथवा 'इक्' के समीपस्थ 'हल्' से परे झलादि 'सन्' को कित्वत् करता है। अतः इस सूत्र द्वारा 'दृश्' तथा 'सृज्' धातुओं से परे 'सन्' के 'कित्' हो जाने के कारण, 'अकित्' प्रत्ययों के सम्बन्ध में विहित 'अम्' आगम के न होने से 'दिदृक्षते' और 'सिसृक्षते' प्रयोग बनते हैं। परन्तु इस प्रसंग में एक दूसरा सूत्र 'सृजिदृशो...' (६।१।५८) भी उपस्थित होता है। ये दोनों सूत्र इन प्रयोगों की दृष्टि से तुल्यबल वाले हैं। इस प्रकार के सूत्रों के विरोध को व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में विप्रतिषेध कहा जाता है।[1] इसलिए विचारणीय यह है 'हलन्ताच्च' तथा 'सृजिदृशो...' सूत्रों में से कौन-सा सूत्र कार्य करेगा। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) परिभाषा के अनुसार 'सृजिदृशो...' सूत्र के परे होने के कारण 'अम्' की प्राप्ति होने पर ये प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

दुर्घटवृत्ति तथा ज्ञापकसमुच्चय में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा यहाँ पर 'सृजिदृशो...' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा अपितु 'हलन्ताच्च' सूत्र के अनुसार यहाँ पर 'सन्' 'कित्' हो जाएगा। इस प्रकार 'सन्' के कित्' होने के कारण 'अम्' नहीं होगा।[2]

पूर्वविप्रतिषेध से अभिप्राय तुल्यबल वाले ऐसे दो सूत्रों से है जिनमें 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के अनुसार बाद वाला सूत्र बलवान् माना जाता है। परन्तु कभी-कभी कतिपय इष्ट प्रयोगों की दृष्टि से पहले सूत्र को बाद वाले सूत्र की अपेक्षा अधिक बलवान् माना जाता है।[3] यह पूर्वविप्रतिषेध अर्थ भी 'विप्रतिषेधे

१. काशिका, १।४।२।

२. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ६१।

३. "Conflict of two rules where the preceding rule supercedes the later rule, as the arrival at the correct form requires it."—A Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 238.

परं कार्यम्, सूत्र के ही प'रम्' पद का 'इष्ट' अर्थ करके निकाला गया है।[1]

यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा 'हलन्ताच्च' सूत्र 'सन्' के कित्' हो जाने पर भी 'सृजिदृशो···' सूत्र के 'अकिति' पद में पर्युदा मानते हुए 'अम्' की प्राप्ति होगी ही। महाभाष्य, पदमञ्जरी तथा परिभाषावृत्ति में स्पष्टत: 'अकिति' पद में ('किति न') प्रसज्य प्रतिषेध माना गया है।[2]

निष्ठाशीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः (१।२।१९)

उड्डयितम्

'निष्ठाशीङ्···' 'सूत्र' 'शीङ्' आदि धातुओं से परे सेट् निष्ठा को कित्व का निषेध करता है। 'डीङ्' धातु के इस सूत्र में न पढ़े जाने के कारण इस धातु से परे सेट् निष्ठा को अकित् नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से 'उड्डयितम्' प्रयोग की साधुता चिन्त्य है।

कोशों में 'उड्डीन:' (गुण रहित) तथा 'उड्डयितम्' (गुण सहित) दोनों प्रकार के प्रयोग 'क्त' प्रत्ययान्त 'डी' धातु से मिलते हैं। यदि 'डी' को अकित् न माना गया तो 'उड्डयितम्' का प्रयोग चिन्त्य होगा और यदि उसे 'अकित्' माना गया तो 'उड्डीन:' प्रयोग चिन्त्य होगा।

भाषावृत्ति, धातुप्रदीप और दुर्घटवृत्ति में धातु पारायण के नाम से इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत समस्या का समाधान यह दिया गया है कि भावादिक 'डीङ्' धातु निष्ठा के परे होने पर 'अकित्' है।[3] इन विद्वानों के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि धातुपारायण में 'शीङ्' आदि धातुओं के साथ 'डीङ्' धातु भी पढ़ी गई थी। अत: इसके 'अकित्' होने के कारण गुण होकर 'उड्डयितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

धातुवृत्ति में यही समाधान, धातुपारायण के नाम से, इस प्रकार दिया गया है कि 'निष्ठा शीङ्' सूत्र का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'निष्ठा' द्वारा 'क्त' प्रत्यय के परे होने पर भावादिक 'डी' धातु को 'अकित्' विधान किया जाए। इस प्रकार 'उड्डयितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[4] धातुवृत्ति में यह समाधान भ्वादिगण के प्रसंग में 'पारायणे' कहकर तथा दिवादिगण में 'सीरदेवादय:' निर्देश द्वारा दिया गया है।[5]

'डीङ्' धातु के भ्वादि तथा दिवादि गणों में पढ़े जाने के कारण यह कठिनाई

---

१. महाभाष्य, १।४।२, पृ० ३२४।
२. महाभाष्य, १।२।१, पृ० ६।
३. (क) धातुप्रदीप पृ० ७०। (ख) भाषावृत्ति, १।२।१९।
४. धातुवृत्ति, पृ० २७७।
५. धातुवृत्ति, पृ० ८१७।

उपस्थित होती है कि दैवादिक 'डीङ्' धातु के उदात्त और 'सेट्' होने से[1] 'क्त' प्रत्यय के परे होने पर 'ओदितश्च' (८।२।४५) सूत्र द्वारा 'क्त' के 'त' को नत्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह सूत्र 'अनिट्' 'त' को ही 'नत्व' विधान करता है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि दैवादिक 'डीङ्' धातु 'स्वादयः ओदितः' गणसूत्र में समाविष्ट है। इस प्रकार इस गणसूत्र द्वारा 'डी' धातु को 'ओदित्' माना गया। 'ओदित्' होने से यह 'अनिट्' है। इससे यह भी ज्ञापित होता है कि यदि इस धातु से परे वलादि 'इट्' का आगम हो जाए तो 'ओदितश्च' सूत्र से नत्व नहीं हो सकता। इसलिए उस स्थिति में धातु को 'ओदित्' पढ़ना व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि धातु को 'ओदित्' मानने का एकमात्र प्रयोजन 'नत्व' की प्राप्ति ही है। इस ज्ञापक का उल्लेख 'श्वीदितो···' सूत्र की व्याख्या में काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि में मिलता है[2]।

इलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)

कुटित्वा

'रलो व्युपधा···' सूत्र इकारोकारोपध हलादि एवं हलन्त धातुओं से परे 'सेट्' 'क्त्वा' तथा 'सन्' प्रत्ययों को विकल्प से 'कित्' करता है। इस सूत्र की दृष्टि से विचारणीय है कि 'कुट्' धातु जो उकारोपध है तथा हलादि और हलन्त भी है, से 'क्त्वा' प्रत्यय करने पर नित्य गुण रहित 'कुटित्वा' प्रयोग कैसे बन सकता है? क्योंकि विकल्प से कित्वद्भाव होने के कारण पक्ष में 'कोटित्वा' भी बनना चाहिए।

दुर्घटवृत्ति और धातुवृत्ति में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि पूर्व-विप्रतिषेध द्वारा इस सूत्र से विहित 'कित्' के विकल्पत्व से पूर्व ही 'गाङ्कुटादि' सूत्र द्वारा 'क्त्वा' प्रत्यय ङित्वत् हो जाता है, क्योंकि यहां पर ङिद्वद्भाव अभीष्ट है।[3] पूर्वविप्रतिषेध का ज्ञापक 'सर्वत्र सन्नन्तादात्मनेपदप्रतिषेधः'[4] वार्तिक है। यदि 'कुट्' धातु के सन्नन्त प्रयोग 'उच्चुकुटिषति' में 'सन्' को 'रलो व्युपधा···' सूत्र द्वारा विद्भाव की प्राप्ति हो जाती तो यहां आत्मनेपद की प्राप्ति ही न होती, क्योंकि आत्मनेपद का विधान करने वाला 'अनुदात्तङित···' (१।३।१२) सूत्र 'ङित्' धातुओं को ही आत्मनेपद का विधान करता है, 'कित्' को नहीं। परन्तु यदि

१. न्यास (भाग ३), ७।२।१४, पृ० ७०६।
२. काशिका, ७।२।१४।
३. धातुवृत्ति, पृ० ४७५।
४. महाभाष्य, १।२।१, वा० ६।

पूर्वविप्रतिषेध द्वारा 'उच्चुकुटिषति' प्रयोग में 'गाङ्कुटादिभ्यो…' सूत्र द्वारा ङिद्वद्भाव… की प्राप्ति मान ली जाए तो उसके 'ङित्' हो जाने से आत्मनेपद की प्राप्ति होती है, जिसके निवारण के लिए 'सर्वत्र सन्नन्तादात्मनेपदप्रतिषेधः'[1] वार्तिक की आवश्यकता है। इस वार्तिक की सार्थकता तभी सिद्ध हो पाती है, यदि इस पूर्वविप्रतिषेध को स्वीकार किया जाए। इस प्रकार पूर्वविप्रतिषेध द्वारा प्रत्यय के 'ङित्' होने से नित्य 'कुटित्वा' प्रयोग ही बनेगा।

इसके अतिरिक्त एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'गाङ्कुटादिभ्यो…' सूत्र से विहित ङिद्वद्भाव कुटादि धातुओं से परे अञ्णित् प्रत्ययों की अपेक्षा करता है। इसके विपरीत 'रलो व्युपधा…' सूत्र से विहित 'कित्व' विधान व्युपध हलादि रलन्त धातुओं से परे 'सेट्' 'सन्' तथा 'क्त्वा' प्रत्ययों की अपेक्षा करता है। अतः 'ङित्व' 'कित्व' की अपेक्षा अल्पापेक्ष है। इसलिए उसके अन्तरंग होने के कारण 'असिद्धं बहिरंगमन्तरङ्गे' परिभाषा के अनुसार यहां पर ङित्व की ही प्राप्ति होगी, वैकल्पिक कित्व की नहीं।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७)

वनाय

'ह्रस्वो नपुंसके…' सूत्र नपुंसकलिंग के अर्थ में प्रयुक्त प्रातिपदिक के अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'वनाय' तथा 'वनेभ्यः' प्रयोगों की सिद्धि विचारणीय है। 'वन' शब्द से 'ङे' तथा 'भ्यम्' विभक्तियों के परे होने पर दीर्घ और एत्वादेश होकर 'वनाय' और 'वनेभ्यः' प्रयोग बनते हैं। यदि इन्हें 'ह्रस्वो नपुंसके…' सूत्र द्वारा ह्रस्व कर दिया जाए तो ये प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

महाभाष्य, पदमञ्जरी तथा दुर्घटवृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'[2] परिभाषा द्वारा यह समाधान दिया गया है कि दीर्घत्व और एत्व विधियाँ बह्वपेक्ष होने के कारण बहिरंग हैं। ये केवल प्रातिपदिक की अपेक्षा न करके 'सुप्' की भी अपेक्षा करती हैं। इसके विपरीत ह्रस्व विधि प्रातिपदिक की ही अपेक्षा करने के कारण अल्पापेक्ष है। बह्वपेक्ष कार्य बहिरंग तथा अल्पापेक्ष कार्य अन्तरंग होते हैं। अतः दीर्घत्व और एत्व विधियों के बहिरंग होने के कारण ये विधियाँ ह्रस्वविधि के प्रति असिद्ध हैं। इसलिए ह्रस्वत्व का प्रश्न ही नहीं उठेगा।[3]

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ४७५।

२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ५०।

३. महाभाष्य, १।२।४७, पृ० ८८।

यहाँ यह विचारणीय है कि 'ह्रस्वो नपुंसके···' सूत्र द्वारा विहित ह्रस्व विधि भी प्रातिपदिक के साथ-साथ लिङ्ग की भी अपेक्षा करती है, क्योंकि सूत्र के 'नपुंसके' पद में नपुंसक शब्द के अर्थभूत धर्म नपुंसकलिंग का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार उसके भी बह्वपेक्ष एवं बहिरंग होने के कारण उपर्युक्त परिभाषा का आश्रय नहीं लिया जा सकता। अतः ह्रस्व की प्राप्ति होगी।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'परस्मैपदेषु' इस प्रकार के एत्व सहित सौत्र निर्देश से ज्ञापित होता है कि इन प्रयोगों में ह्रस्व नहीं होता।

वने

इसी प्रकार का दोष 'वने' प्रयोग में उपस्थित होता है। 'वन' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचनान्त और 'सप्तम्यन्त वने' प्रयोग में, जहाँ 'वन' के अकार एवं परभूत (विभक्त्यंश) 'ईकार' दोनों के स्थान पर 'एकार' रूप एकादेश होता है तथा 'अन्तादिवच्च' (६।१।८५) सूत्र के अनुसार 'ए' आदेश प्रातिपदिक 'वन' का अन्त बन जाता है, 'ए' के अन्तिम 'अच्' होने के कारण इस सूत्र द्वारा ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इस प्रकार 'वने' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

दुर्घटवृत्ति, पदमञ्जरी तथा प्रदीप टीका में 'ह्रस्वो नपुंसके···' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'ह्रस्वो नपुंसके···' सूत्र में 'अर्थवदधातु···' (१।४।४५) सूत्र से 'प्रातिपदिक' शब्द की अनुवृत्ति आ रही है। फिर भी इस सूत्र में जो पुनः 'प्रातिपदिक' शब्द का ग्रहण किया गया उससे यही आशय निकलता है कि 'ह्रस्वो नपुंसके···' सूत्र में मुख्य प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि नपुंसकलिंग से इस प्रातिपदिक का ही सम्बन्ध हो सकता है। 'वने' पद में 'ए' अंश की प्रातिपदिकता वास्तविक या मुख्य न होकर 'अन्तादिवच्च' सूत्र से अतिदिष्ट है। इसलिए ह्रस्व नहीं होगा।[1]

दुर्घटवृत्तिकार ने 'वन' शब्द के द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त 'वने' प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया है कि इन प्रयोगों में कर्म तथा अधिकरण कारकों को कहने वाली शक्ति की प्रधानता होती है अर्थात् इनमें प्रधान रूप से कर्म तथा अधिकरण रूप अर्थ कथित होते हैं। द्वितीया विभक्ति के द्विवचनान्त 'वने' प्रयोग में कर्म अर्थ तथा सप्तम्यन्त 'वने' प्रयोग में आधार अर्थ की प्रधानता रहती है। अतः इनमें नपुंसकलिंग रूप अर्थ अप्रधान हो जाता है। इस कारण ह्रस्व की प्राप्ति नहीं होगी। यह समाधान 'प्रकृति प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' परिभाषा की दृष्टि से दिया गया है।

परन्तु हरदत्त और कैयट ने इस समाधान का खंडन इस प्रकार किया है कि

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ५०।

प्रातिपदिक का ग्रहण न होने पर (वन + अ) तथा उसे पूर्व का अन्तवत् मानते हुए 'ह्रस्वो नपुंसके…' सूत्र के 'नपुंसके' पद से गृहीत मान कर ('औट्' = 'ई', ङि = इ) नपुंसकवृत्ति तथा अनपुंसकवृत्ति इन दोनों के स्थान पर एकदेश माना जाएगा तथा 'वने' में ह्रस्वत्व की प्राप्ति होगी। अतः इन प्रयोगों में भी उपर्युक्त समाधान ही उचित है।[1]

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८)

अर्धपिप्पली

'गोस्त्रियो…' सूत्र उपसर्जन 'गो' शब्दान्त तथा स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को ह्रस्व करता है। यहाँ विचारणीय है कि इस सूत्र में 'उपसर्जन' पद से शास्त्रीय उपसर्जन अभिप्रेत है अथवा लौकिक। शास्त्रीय उपसर्जन की परिभाषा 'एक-विभक्ति…' (१।२।४४) सूत्र में मिलती है जिसका अर्थ है—जिस शब्द का प्रयोग समास में प्रथम पद के रूप में न हुआ हो (अपूर्व निपात) वह यदि समास के उत्तरपद में विभिन्न पदों से युक्त होने पर भी नियत (एक) विभक्ति वाला हो तो उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है।[2] षष्ठी तत्पुरुष समास के 'अर्धपिप्पली' प्रयोग में 'पिप्पली' शब्द की शास्त्रीय उपसर्जन संज्ञा की प्राप्ति होती है क्योंकि वह एकविभक्ति से युक्त है तथा इसका प्रयोग सर्वत्र षष्ठ्यन्त रूप में ही मिलता है। यदि 'गोस्त्रियो…' सूत्र में शास्त्रीय उपसर्जन अभिप्रेत है तो 'अर्धपिप्पली' प्रयोग विचारणीय होगा, क्योंकि 'पिप्पली' शब्द के उपसर्जनसंज्ञक होने के कारण इस सूत्र द्वारा अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व की प्राप्ति होगी तथा यह प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस समस्या के चार समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान 'एकविभक्ता-वषष्ठ्यन्तवचनम्[3] वार्तिक के अनुसार यह दिया गया है कि समास में नियत विभक्ति होने पर उपसर्जन संज्ञा की प्राप्ति षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त शब्द की नहीं होती। 'अर्धपिप्पली' पद में 'पिप्पली' शब्द के षष्ठ्यन्त होने के कारण उसकी उपसर्जन संज्ञा नहीं होगी। इसलिए ह्रस्व का भी प्रश्न नहीं होगा।

यदि इस वार्तिक को प्रामाणिक माना जाए तो 'पञ्चखट्वी' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ पर 'खट्वा' शब्द भी षष्ठी में (पञ्चानां खट्वानां

---

१. (क) पदमञ्जरी (भाग १), १।२।४७, पृ० १८७।
   (ख) प्रदीप, महाभाष्य, १।२।४७, पृ० ८७-८८।

२. काशिका, १।२।४४।

३. महाभाष्य, १।२।४४, वा० १।

समाहार:) प्रयुक्त है तथा 'खट्वा' शब्द को ह्रस्व हुए बिना 'द्विगो:' सूत्र से 'ङीप्' की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी, परन्तु शब्दकौस्तुभ तथा तत्त्वबोधिनी में कहा गया है कि इस वार्तिक द्वारा निषेध की प्राप्ति एकदेशी समास में ही होती है। अत: 'पञ्चखट्वी' प्रयोग में कोई कठिनाई नहीं होगी।[1]

दूसरा समाधान, न्यास के कथन रूप में, यह दिया गया है कि 'एक-विभक्ति...' सूत्र में 'विभाषा छन्दसि' (१।२।३६) सूत्र से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस 'विभाषा' को व्यवस्थितविभाषा का वाचक मानते हुए 'अर्धपिप्पली' प्रयोग में उपसर्जन संज्ञा की प्राप्ति नहीं होगी।[2] यह समाधान शब्दकौस्तुभ में भी मिलता है। वहाँ यह कहा गया है कि संज्ञापूर्वक व्यवस्थित-विभाषा द्वारा इस प्रयोग के सिद्ध हो जाने के कारण 'षष्ठ्यन्त...' वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है।[3]

तृतीय और चतुर्थ समाधान, अनुन्यासकार के मत रूप में, दिए गए हैं। इनमें प्रथम समाधान 'उभयगतिरिह भवति'[4] (व्याकरण शास्त्र में शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों गतियों या प्रवृत्तियों का आश्रय लिया जाता है) परिभाषा द्वारा दिया गया है। अनुन्यासकार के विचार में 'गोस्त्रियो...' सूत्र में लौकिक उपसर्जन अभिप्रेत है। शास्त्रीय उपसर्जन के अभिप्रेत न होने के प्रमाण में ईयसो: बहुव्रीहे: प्रतिषेधो वक्तव्य:' वार्तिक द्रष्टव्य है। इस वार्तिक के उदाहरणभूत 'बहुश्रेयसी' तथा 'विद्यमानश्रेयसी' प्रयोगों में शास्त्रीय उपसर्जन न होकर लौकिक उपसर्जन है। 'गोस्त्रियो...' सूत्र में लौकिक उपसर्जन अभिप्रेत होने के कारण इन प्रयोगों में ह्रस्व की प्राप्ति हो रही थी। इसलिए उसका निषेध करना आवश्यक था। इस प्रकार इस वार्तिक से ज्ञापित हो सकता है कि 'गोस्त्रियो...' सूत्र में शास्त्रीय उपसर्जन अभीष्ट न होकर लौकिक उपसर्जन अभीष्ट है। अत: 'अर्धपिप्पली' प्रयोग में 'पिप्पली' शब्द की 'एकविभक्ति...' सूत्र द्वारा शास्त्रीय उपसर्जन संज्ञा होने के कारण ह्रस्व की प्राप्ति नहीं होगी।

परन्तु पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, तत्वबोधिनी आदि के अनुसार इस सूत्र में शास्त्रीय उपसर्जन का ही ग्रहण किया गया है। इस विषय में इन विद्वानों का यह कहना है कि यदि यहाँ पर लौकिक उपसर्जन का ग्रहण माना जाए तो 'हरितक्य:'

---

१. (क) शब्दकौस्तुभ (भाग २) १।२।४४, पृ० २९।
   (ख) तत्त्वबोधिनी, (भाग ३), २।२।२, पृ० ५०।
२. न्यास (भाग १), १।२।४४, पृ १९०।
३. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), १।२।४४, पृ० २९-३०।
४. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ९।

(फलानि) तथा 'कुमारी' (कुमारीवाचरन्) आदि प्रयोगों में अन्तिम 'अच्' को ह्रस्वत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि ये प्रयोग लौकिक दृष्टि से उपसर्जन (अप्रधान) हैं।[1]

जहाँ तक 'ईयसोः बहुव्रीहोः…' वार्तिक का सम्बन्ध है, उस विषय में भी यह कहा जा सकता है कि इस वार्तिक की रचना 'गोस्त्रियो…' सूत्र में अभिप्रेत शास्त्रीय उपसर्जन की दृष्टि से ही की गई है, क्योंकि 'बहुश्रेयसी' आदि प्रयोगों में (एक विभक्ति का प्रयोग रूप) भी शास्त्रीय उपसर्जन विद्यमान है। इसलिए 'गोस्त्रियो…' सूत्र में लौकिक उपसर्जन के अभिप्रेत होने का न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई लाभ। क्योंकि 'अर्धपिप्पली' प्रयोग में 'पिप्पली' शब्द 'अर्ध' शब्द की दृष्टि से गौण तथा उपसर्जन होने के कारण अप्रधान है। अतः लौकिक उपसर्जन मानते हुए भी दोष तो बना ही रहता है। इस प्रकार अनुन्यासकार का यह समाधान ग्राह्य नहीं।

इस समाधान के संतोषजनक न होने के कारण ही संभवतः अनुन्यासकार ने दूसरा समाधान यह दिया कि 'पिप्पली' शब्द में ह्रस्व हो जाने पर 'परवल्लिङ्गम्…' (२।४।२६) सूत्र की दृष्टि से 'षिद् गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) सूत्र द्वारा 'ङीष्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। 'अर्धपिप्पली' जैसे प्रयोगों की सिद्धि के लिए महाभाष्यकार ने यह समाधान सिद्धान्त पक्ष के रूप में दिया है तथा यह कहा है कि औपदेशिक ईकार का ह्रस्व हो जाएगा तथा आतिदेशिक 'ङीष्' का श्रवण होगा।[2]

अस्मदो द्वयोश्च (१।२।५९)

न वयं वैयाकरणाः

महाभाष्य में 'जात्याख्या…' (१।२।५८) सूत्र की व्याख्या में 'अपर आह' निर्देश द्वारा उद्धृत 'अस्मद् सविशेषणस्य प्रयोगे नेत्येव' वचन की दृष्टि से काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में यह वार्तिक मिलती है—सविशेषणानां प्रतिषेधो वक्तव्यः (विशेषण सहित 'अस्मद्' के एकवचन तथा द्विवचन के प्रयोगों में 'अस्मदो द्वयोश्च' सूत्र द्वारा विकल्प से प्राप्त बहुवचन का निषेध करना चाहिए)। इस वार्तिक की दृष्टि से 'न वयं वैयाकरणाः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर 'वैयाकरणः' पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग न होकर एकवचन में 'न अहं वैयाकरणः' प्रयोग बनना चाहिए।

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।२।४८, पृ० १८८।
२. महाभाष्य, १।२।४४, पृ० ६७।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि जिस प्रकार ईश्वर एक है परन्तु उसमें बहुत्व का आरोप करके उसके लिए बहुवचन का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार 'न अहं वैयाकरण:' प्रयोग में भी 'अस्मद्' में बहुत्व का आरोप मान कर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दुर्घटवृत्तिकार का यह समाधान संतोषजनक प्रतीत नहीं होता। पदमञ्जरी में इस वार्तिक की व्याख्या में इसी प्रकार का एक अन्य प्रयोग प्रस्तुत किया गया है—'त्वं राजा वयमुपासितगुरुप्रजाभिमानोन्नता:,[1] इस श्लोकांश में 'वयम्' का प्रयोग विशेषण सहित है। हरदत्त ने इस प्रयोग के साधुत्व के लिए यह समाधान दिया है कि यहाँ पर 'अभिमानोन्नता:' इत्यादि जो अंश विशेषण के रूप में प्रतीत हो रहा है वह वस्तुत: विधेय है और विधेय अर्थ विशेषण नहीं बना करता। इसलिए यह प्रयोग इस वार्तिक का विषय नहीं बन सकता।[2] हरदत्त का यही समाधान 'न वयं वैयाकरणा:' प्रयोग में भी 'वैयाकरणा:' पद को विधेय मानते हुए दिया जा सकता है।

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे (१।२।६०)

पूर्वफल्गुनी

फल्गुनी तथा प्रोष्ठपद नक्षत्रों के द्विवचन में 'फल्गुनीप्रोष्ठ···' सूत्र द्वारा विकल्प से बहुवचन का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'पूर्वफल्गुनी' प्रयोग में एकवचन का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि फल्गुनी तथा प्रोष्ठपदा के दो-दो और इस प्रकार कुल मिलाकर चार अवयव होने के कारण (पूर्व फल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, पूर्वप्रोष्ठपदा, उत्तरप्रोष्ठपदा) 'फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्' सूत्र में बहुवचनान्त प्रयोग किया गया। अत: समुदायभूत पूर्वफल्गुनी में द्विवचन का ही प्रयोग होने के कारण एकवचन का प्रयोग असंगत है। इस सूत्र में पूर्वसूत्र 'जात्याख्या···' (१।२।५८) से 'अन्यतरतस्याम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अत: पक्ष में द्वित्व (द्विवचन) का विधान अवयवों में आरोपित समुदाय में किया गया है।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया है कि फल्गुनी भी दो हैं तथा प्रोष्ठपदा भी दो। अत: चारों की विवक्षा होने के कारण सूत्र में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। उन दोनों में से प्रत्येक में द्वित्व की विवक्षा होने पर द्विवचन का

---

१. वैराग्यशतक, श्लोक ५१।

२. पदमञ्जरी, (भाग १), १।२।६०, पृ० १९७।

३. अष्टाध्यायी।

आरोप किया गया है तथा पक्ष में बहुवचन का। परन्तु द्वित्व की विवक्षा के अभाव में तो एकवचन न्याय प्राप्त है। अतः एकवचन का प्रयोग साधु है।

परन्तु इस युक्ति के विषय में शरणदेव का कथन है कि यह युक्ति पूर्णतयः समर्थ नहीं है। इसलिए दूसरा समाधान यह दिया गया है कि आतिदेशिक कार्य के अनित्य होने के कारण यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

पुमान् स्त्रिया (१।२।६७)

भवौ

'पुमान् स्त्रिया' सूत्र का अर्थ है—पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग शब्दों के एक साथ उक्त होने पर स्त्रीलिंग शब्द की निवृत्ति होकर पुल्लिग शब्द ही शेष रह जाता है, यदि उन शब्दों में केवल स्त्रीत्व और पुंस्त्व कृत विशेषता ही हो।[1] स्त्रीत्व और पुँस्त्व कृत विशेषता का तात्पर्य यह है कि केवल लिंगमात्र का ही भेद हो, अन्य प्रकृति आदि समान हों। जैसे 'हंसश्च हसीश्च हंसौ।' इन शब्दों में लिंग मात्र का ही भेद है, शेष प्रकृति आदि तो समान हैं। इस सूत्र में 'वृद्धो यूना···(१।२।६५) सूत्र से 'तल्लक्षणश्चेदेव, विशेषः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। इस अनुवर्तित अंश में विद्यमान 'एव' का प्रयोग अवधारण अर्थ में हुआ है। उपर्युक्त सूत्रार्थ के इस अंश की दृष्टि से प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'इन्द्रश्च इन्द्राणी च इन्द्रेण्द्राण्यौ' प्रयोग में एकशेष इसलिए नहीं हुआ है कि यहाँ पर केवल स्त्रीत्व और पुँस्त्व कृत भेद ही न होकर पुंयोग कृत भेद भी विद्यमान है।[2]

इस प्रकार 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र की दृष्टि से 'भवश्च भवानी च भवौ' तथा 'रुद्रश्च रुद्राणी च रुद्रौ' दोनों प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि इनमें भी इन्द्र तथा इन्द्राणी में विद्यमान पुंयोगकृत भेद के समान भेद विद्यमान है। अतः यहाँ पर एकशेष नहीं होना चाहिए। यह समस्या काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में भी प्रस्तुत की गई है।[3]

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान, न्यासकार के मत रूप में यह दिया गया है कि 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र का योगविभाग करके भिन्न सूत्र 'पुमान्' द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'इन्द्रवरुण···' (४।१।४९) सूत्र द्वारा विहित 'आनुक्' आगम पुंयोग की अपेक्षा करता है, परन्तु उसका विधान 'स्त्रियाम्'

---

१. काशिका, १।२।६७।

२. उपरिवत्।

३. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, ५।२।१।

(४।१।३) सूत्र के अधिकार में किया गया है। अतः यह विशेषता भी स्त्रीपुंस्-निमित्तक ही है। यदि 'आनुक्' आगम का विधान पुंयोग में किया जाता तभी पंयोगकृत भेद का ग्रहण हो सकता था।

दासीदासम्

इस सूत्र के विषय में एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह है कि 'दासीदासम्' तथा 'कुटीकुटम्' प्रयोगों में 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से एकशेष की प्राप्ति होने के कारण ये प्रयोग नहीं बन सकते।

इस प्रश्न का उत्तर न्यास के कथन रूप में, यह दिया गया है कि इन प्रयोगों के गवाश्वप्रभृतिगण में पठित होने के कारण 'गवाश्वप्रभृतीनि' सूत्र द्वारा एकशेष नहीं होता, क्योंकि इस गण में ये शब्द जिस रूप में निपातित या पठित हैं उसी रूप में अभीष्ट हैं।[1]

---

१. न्यास (भाग १), २।४।११, पृ० ४४८।

प्रथम अध्याय, तृतीय पाद

भूवादयो धातवः (१।३।१)

भवति

'उपदेशे…' सूत्र के 'उपदेश' तथा 'अनुनासिक' पद विशेष रूप से विचारणीय हैं। व्याकरण शास्त्र के जिन वाक्यों द्वारा प्रकृति, प्रत्यय आदि की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया जाता है वह 'उपदेश' है।[1] सिद्धान्तकौमुदी में 'उपदेश' का अर्थ 'आद्योच्चारणम्' किया गया है जिसका अभिप्राय है—जिसमें आद्य उच्चारण किया गया हो वह शास्त्र। अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ तथा उसके परिशिष्ट के रूप में उपलब्ध खिलपाठ (धातुपाठ, गणपाठ आदि) 'उपदेश' शब्द द्वारा संगृहीत माने गये हैं।[2] धातुवृत्तिकार ने स्पष्ट रूप से धातु, सूत्र, प्रातिपदिक, प्रत्यय, आगम तथा आदेशों के प्रवचन को 'उपदेश' माना है।[3]

परन्तु यह ध्यातव्य है कि जिन 'अच्' वर्णों की 'उपदेशऽज…' सूत्र द्वारा 'इत्' संज्ञा अभीष्ट है वे कहीं भी अनुनासिक दिखाई नहीं देते। जैसे 'एधस्पर्धं' धातु-निर्देश में उपदेशावस्था के अकार की इस सूत्र द्वारा 'इत्' संज्ञा अभीष्ट है, परन्तु वह अनुनासिक नहीं है।

इसलिए जब कोई भी 'अच्' जिसकी 'इत्' संज्ञा अभीष्ट है परन्तु अनुनासिक रूप में उपदिष्ट नहीं है तथा अनुनासिक रूप में उपदिष्ट न होने पर भी यदि उसकी इस सूत्र द्वारा 'इत्' संज्ञा होती है तो फिर किसी व्यवस्था के न होने के कारण, उपदेशावस्था में दिखाई देने वाले प्रत्येक 'अच्' की 'इत्' संज्ञा होने लगेगी। धातुपाठ में 'भू' धातु उपदिष्ट है। अतः 'भूवादयो धातवः' सूत्र द्वारा उसकी धातुसंज्ञा होती है। इस प्रकार 'उपदेशेऽज्…' सूत्र द्वारा उसके ऊकार की भी 'इत्' उसकी संज्ञा और लोप होने लगेंगे जिससे 'भवति' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

---

१. काशिका, १।३।२।

२. उपरिवत्।

३. धातुवृत्ति, पृ० ६।

पाणिनीय सम्प्रदाय में इस अव्यवस्था के निवारण हेतु एक वाक्य मिलता है—'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।'[1] समस्तपद 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः' का विग्रह इस प्रकार किया गया है—'प्रतिज्ञया अनुनासिक्य येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः अथवा प्रतिज्ञामात्रेण समधिगम्यमानम् आनुनासिक्यं येषां ते'[2] 'इस विग्रह के अनुसार उपर्युक्त परिभाषा का अर्थ हुआ कि पाणिनीय सम्प्रदाय में केवल प्रतिज्ञामात्र से अभीष्ट 'अचों' (वर्णों) की अनुनासिकता स्वीकार्य है अर्थात् जहाँ-जहाँ उपदिष्ट 'अच्' वर्णों की इत् संज्ञा अभीष्ट थी वहाँ-वहाँ पाणिनि ने उन्हें अनुनासिक माना था अथवा उनका सानुनासिक उपदेश किया था। भले ही वे आज सानुनासिक न दिखाई दें अथवा उनका सूत्र आदि में साक्षात् सानुनासिक निर्देश न मिलता हो।

जिस प्रकार प्रतिज्ञामात्र से अभीष्ट अचों को सानुनासिक माना गया उसी प्रकार सम्भवतः प्रतिज्ञामात्र से ही 'स्वरित' की भी कल्पना की गई जिसे अधिकार का निर्देशक माना गया, क्योंकि अधिकार सूत्रों में आज स्वरित के चिह्न नहीं मिलते।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा द्वारा 'भू' के 'ऊकार' को 'इत्' संज्ञा का निवारण करते हुए शरणदेव ने प्रथम समाधान यह दिया है कि 'भू' के 'ऊकार' को सानुनासिक नहीं माना गया था अर्थात् सानुनासिक के रूप में वह प्रतिज्ञात नहीं था।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'भू' के 'ऊकार' की 'इत्' संज्ञा करने में कोई प्रयोजन न होने के कारण उसकी इत्संज्ञा नहीं होगी।

दूसरे समाधान में, पूर्वपक्ष के रूप में, यह प्रयोजन दिया जा सकता है कि 'भू' के 'ऊदित्' होने पर 'स्वरतिसूति' (६।२।४४) सूत्र द्वारा विकल्प से 'इट्' की प्राप्ति होगी जिससे आर्धधातुक लकारों में सेट् तथा अनिट् दो-दो प्रयोग बनने लगेंगे।

परन्तु इस प्रयोजन का खंडन इस प्रकार किया गया कि 'भू' धातु को उदात्त पढ़ा गया है जिससे वह नित्य सेट् है। अतः विकल्प से 'इट्' का निषेध नहीं हो सकेगा। यदि 'ऊदित्' हो जाने से 'इट्' प्राप्ति में विकल्प प्राप्त हो जाए तो धातु को उदात्त पढ़ना व्यर्थ हो जाएगा।

यदि यहाँ यह कहा जाए कि 'भू' धातु को उदात्त पढ़ने का प्रयोजन यह है कि 'गा' आदि धातुओं के समान 'भू' में भी अनुदात्तत्व की निवृत्ति हो जाए तो उचित नहीं है, क्योंकि 'ऊकार' की इत्संज्ञा तथा उसका लोप हो जाने पर धातु 'अच्' रहित हो जाएगी। 'अच्' रहित हो जाने पर तो अनुदात्त का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः प्रयोजन के अभाव में 'भू' के 'ऊकार' की इत्संज्ञा नहीं होगी।

१. काशिका, १।३।२।

२. पदमञ्जरी (भाग १), १।३।२, पृ० २१४।

हलन्त्यम् (१।३।३)

पुष्टि :

'हलन्त्यम्' सूत्र द्वारा उपदेश अवस्था में अन्तिम 'हल्' की इत्संज्ञा का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'पुष्', 'अट्' आदि धातुओं से 'तिङ्' आदि प्रत्ययों के परे होने पर 'पुष्णाति', 'अटति' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे क्योंकि इस सूत्र द्वारा उनके अन्तिम हल् 'ष्', 'ट्' आदि की इत्सज्ञा की प्राप्ति होगी। यद्यपि धातुपाठ में इन धातुओं को अकारान्त पढ़ा गया है तया इनके 'ष्' तथा 'ट्' को अन्तिम 'हल्' नहीं माना जा सकता, परन्तु अनुबन्ध 'अ' की इत्संज्ञा तथा लोप होकर तो 'ष्' और 'ट्' अन्तिम 'हल्' बन सकते हैं। इसी प्रकार की कठिनाई 'भवति' प्रयोग में उपस्थित हो सकती है। 'भू' धातु से 'तिङ्' प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुका···' (७।३।८४) सूत्र से गुण होकर तथा 'ओ' को 'अव्' आदेश होने के पश्चात् 'भव्' का 'व्' अन्तिम हल् बन जाता है। इस प्रकार उसकी 'हलन्त्यम्' सूत्र द्वारा इत्संज्ञा की प्राप्ति होगी।

'हलन्त्यम्' सूत्र में 'उपदेशेऽज···' सूत्र से 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति आ रही है। दुर्घटवृत्तिकार ने सम्भवतः ये समस्याएँ 'उपदेशे' पद की ओर ध्यान दिए बिना प्रस्तुत की है, क्योंकि इन धातुओं के अकारान्त आदिष्ट होने के कारण उपदेश अवस्था में न तो 'ष्' और 'ट्' अन्तिम हल् माने जा सकते हैं और न ही 'भव्' का वकार उपदेशावस्था का अन्तिम 'हल्' है।

'पुष्टि' प्रयोग के लिए यह समाधान दिया गया है कि 'पुष्' के षकार की इत्संज्ञा का कहीं भी अभिधान नहीं हुआ है अर्थात् इस धातु को व्याकरण में कहीं भी 'षित्' नहीं माना गया। इस अनभिधान का कारण प्रयोजन का अभाव है। प्रयोजन होने पर तो अभिधान भी अवश्य किया जाता।

'अटति' प्रयोग के लिए यह समाधान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यहाँ प्रयोजन के रूप में यह कहा जा सकता है कि 'अट्' के 'टित्' होने के कारण इससे निष्पन्न शब्दों में 'ङीप्' की प्राप्ति उसी प्रकार होगी जिस प्रकार 'धेट्' धातु के 'टित्' होने से 'स्तनधयी' प्रयोग में होती है। 'नासिकास्तनयोः···' (३।२।२९) सूत्र की वृत्ति में स्पष्टतः इस प्रयोजन को स्वीकार किया गया है।[1]

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि जिस प्रकार 'इदमस्थमुः' (५।३।२४) सूत्र द्वारा विहित 'थमु' प्रत्यय में 'उ' अनुबन्ध का प्रयोजन उच्चारण की सुविधा न होकर मकार की इत्संज्ञा की निवृत्ति करना है उसी प्रकार 'पुष्'

---

१. काशिका, ३।२।२९।

आदि में अकार अनुबन्ध का प्रयोजन उच्चारण की सुविधा न होकर षकार आदि की इत्संज्ञा की निवृत्ति करना है। दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार प्रयोजन के अभाव में 'भव्' के वकार की इत्संज्ञा का निवारण भी हो जाएगा।

यहाँ पर पूर्वपक्ष के रूप में वकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन यह दिया जा सकता है कि विशेषणरूप वान्त का 'वान्तो यि प्रत्यये' (६।१।७९) सूत्र में प्रयोग किया जा सके। यदि इस सूत्र में 'वान्त' पद का ग्रहण न किया जाए तो यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि इस सूत्र में 'क्षय्यजय्यौ···' (६।१।८१) सूत्र की अनुवृत्ति के कारण 'गव्यति' और 'नाव्यति' प्रयोगों में 'अय्' और 'आय्' आदेशों की भी प्राप्ति होगी क्योंकि 'एच्' के स्थान पर आदिष्ट 'अय् अव् आय् आव्' चारों आदेशों में से किसी का विशेष रूप से विधान नहीं हुआ है। 'वान्त' विशेषण का ग्रहण होने पर यह दोष नहीं आ सकेगा।

परन्तु यह प्रयोजन इसलिए मान्य नहीं क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र में 'वान्त' पद सर्वथा अनिवार्य है तथा उसके बिना काम नहीं चल सकता। पाणिनीय सूत्रन्यास के स्थान पर 'अयान्तो यि प्रत्यये' सूत्रन्यास से भी, जिसमें 'वान्त' पद का ग्रहण नहीं हुआ है, काम चल सकता है। इस सूत्र का अर्थ होगा कि 'ओ' और 'औ' को अयान्त अर्थात् अयकारान्त आदेश होंगे। इस प्रकार जब 'अय्' और 'आय्' की निवृत्ति हो जाएगी तो 'अव्' और 'आव्' आदेश ही हो सकेंगे।

यदि यह कहा जाए कि 'वान्त' की अपेक्षा 'अयान्त' निर्देश गुरु है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती सूत्र 'क्षय्यजय्यौ···' के अन्तिम वर्ण 'ए' के साथ 'अयान्तो' पद के प्रारम्भिक 'अ' वर्ण की पूर्वरूप सन्धि हो जाने से गौरव की स्थिति समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार 'अयान्तो यि प्रत्यये' इस नए सूत्र की कल्पना करके 'भव्' के 'व्' की इत्संज्ञा को प्रयोजन रहित सिद्ध किया गया तथा प्रयोजन के अभाव में 'व्' की इत्संज्ञा का निवारण भी।

परन्तु 'पुष्', 'अट्' तथा 'भव्' इन तीनों स्थानों में आपाततः दिखाई देने वाले क्रमशः 'ष्', 'ट्' तथा 'व्' उपदेशावस्था के अन्तिम हल् कदापि नहीं माने जा सकते। अतः ये धातुएँ 'हलन्त्यम् सूत्र का विषय नहीं बन सकतीं, क्योंकि इस सूत्र में 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति मानी गई है। 'एवमादीनामकार ···' समाधान को प्रस्तुत करते हुए स्वयं दुर्घटवृत्तिकार ने इस तथ्य को माना है। वस्तुतः इस सरल व सीधे समाधान के होते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने 'प्रयोजनाभाव' की बात को समाधान के रूप में प्रस्तुत करके इस प्रसंग को इतना क्यों बढ़ाया, यह समझ में नहीं आता।

न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४)

क्व

'न विभक्तौ तुस्माः' सूत्र 'हलन्त्यम्' सूत्र से प्राप्त तकार, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा का निषेध करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'किम्' शब्द का सप्तम्यन्त 'क्व' प्रयोग तथा 'यज्' धातु के 'लिङ्' लकार का 'यजेय' प्रयोग, जहाँ क्रमशः 'किमोऽत्' (५।३।१२) तथा 'इटोऽत्' (३।४।१०६) सूत्र प्रवृत्त होते हैं, चिन्त्य हो जाएंगे, क्योंकि 'किम्' शब्द से सप्तमी में विहित 'अत्' प्रत्यय की 'प्राग्दिशोः···' (५।३।१) सूत्र द्वारा विभक्ति संज्ञा मानी गई है। इसी प्रकार 'इटोऽत्' सूत्र द्वारा 'लिङ् लकार' के उत्तम पुरुष में 'इङ्' विभक्ति के स्थान पर आदिष्ट 'अत्' को स्थानिवत् मानते हुए विभक्ति संज्ञा हो जाती है। अतः इन दोनों प्रयोगों में इत्संज्ञा का निषेध हो जाने के कारण ये प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस समस्या का समाधान, वृत्तिकार के मत रूप मे, यह दिया गया है कि 'न विभक्तौ तुस्माः' सूत्र द्वारा विहित यह विधि अनित्य है। अतः इन प्रयोगों में यह विधि प्रवृत्त नहीं होगी। इस अनित्यता का ज्ञापक 'इदमस्थमुः' सूत्र है जिसमें 'थमु' प्रत्यय के अन्त में 'उकार' अनुबन्ध लगाया गया है। इस अनुबन्ध का प्रयोजन उपर्युक्त विधि की अनित्यता ज्ञापित करना है न कि मकार की इत्संज्ञा की निवृत्ति करना। यदि यह विधि नित्य होती तो 'मकार' की इत्संज्ञा का निषेध 'थम्' प्रत्यय के 'प्राग्दिशो···' सूत्र द्वारा विभक्तिसंज्ञक होने के कारण स्वतः हो जाता। इस ज्ञापक का उल्लेख महाभाष्य, न्यास, ज्ञापकसमुच्चय आदि में मिलता है।[1]

परन्तु वृत्तिकार ने 'इटोऽत्' सूत्र की वृत्ति में कहा है कि 'इटोऽत्' सूत्र से विहित 'अत्' आदेश में 'तकार' आदेश का अवयव नहीं है, अपितु इसका उच्चारण मुखसुखार्थ हुआ है।[2] जहाँ तक 'किमोऽत्' सूत्र से विहित 'अत्' का प्रश्न है उस विषय में यह उचित ही है कि 'अत्' में 'त्' की इत्संज्ञा करने के लिए तथा इस प्रकार प्रत्यय को 'तित्' मानते हुए 'क्व' में स्वरित स्वर प्राप्त करने के लिए 'न विभक्तौ तुस्माः' से प्राप्त इत्संज्ञा के निषेध को रोका जाए। यह तभी हो सकता है जब इस विधि को अनित्य माना जाए।

परन्तु 'इटोऽत्' सूत्र के सम्बन्ध में वृत्तिकार का 'अनित्यत्वादस्य विधेः' कथन विचारणीय है, क्योंकि उसने इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्टतः 'त्' को आदेश का अवयव न मानकर उसे केवल मुख सुखार्थ माना है। दूसरे इस 'अत्' को 'तित्' भी नहीं माना गया क्योंकि ऐसा मानने पर 'क्व' के समान यहाँ पर स्वरित स्वर

---

१. महाभाष्य, १।३।४, पृ० २०७।

२. काशिका, ३।४।१०६।

मानना होगा। इसलिए वृत्तिकार का 'अनित्यत्वादस्य विधेः' कथन उनके अपने ही कथन 'नायमादेशा···' का विरोधी बन जाता है। इस वदतोव्याघात दोष का उल्लेख शब्दकौस्तुभ में किया गया है।[1] शरणदेव ने 'केचित्' निर्देश द्वारा इस दोष के निवारण हेतु उपर्युक्त कथन को दो भागों में विभक्त किया है। पहला 'अनित्यत्वात्' और दूसरा 'अस्य विधेः'। पहले का सम्बन्ध 'किमोऽत्' से तथा दूसरे का 'इटोऽत्' से स्थापित करके यह कहा है कि 'इटोऽत्' सूत्र केवल 'अ' का विधान करता है, 'अत्' का नहीं। इस उद्‌भावित अर्थ में स्वोक्ति विरुद्धता का दोष समाप्त हो जाता है। भट्टोजि दीक्षित ने भी 'यद्वा' कह कर इस अर्थ को प्रस्तुत किया है।[2]

परन्तु इस प्रकार अर्थ करना इन विद्वानों की खींचातानी प्रतीत होती है। 'अनित्यत्वादस्य विधेः' एक वाक्य है। न्यास तथा पदमञ्जरी में उपर्युक्त विभाजित अर्थ का उल्लेख नहीं मिलता। जो भी हो यह निश्चित है कि 'क्व' प्रयोग की दृष्टि से यह विधि अनित्य है तथा 'यजेय' आदि प्रयोगों में 'अत्' आदेश का 'त्' भाग केवल उच्चारणार्थ है। अतः वहाँ इसकी इत्संज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठता।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०)

भवति

'यथासंख्य···' सूत्र में 'संख्या' शब्द क्रम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'यथासंख्य' पद का अर्थ है—यथाक्रम।[3] 'अनुदिश्यते इति अनुदेशः' का अर्थ है—जिसका उच्चारण बाद में हुआ हो।[4] 'समानाम्' प्रयोग में 'सम' शब्द 'सर्व' का पर्याय न होकर संख्यावाचक है। अतः इसका अर्थ है—समान संख्या वाले।[5] यद्यपि इस सूत्र में 'उद्देश' पद का ग्रहण नहीं हुआ है तथापि पश्चाद्‌भावी 'अनुदेश' शब्द के ग्रहण से, उसके सम्बन्धी होने के कारण, उद्देश की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ है—समान संख्या वाले उद्देशियों तथा अनुदेशियों का जो क्रम है, उसी क्रम से अनुदेशी उद्देशियों से सम्बन्धित होते हैं।[6] जैसे 'तुदीशलातुर···' (४।३।९४) सूत्र में उद्देशी (तुदी आदि) भी चार हैं तथा

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।४, पृ० ५७।

२. उपरिवत् पृ० ५७।

३. काशिका, १।३।१०।

४. न्यास (भाग १), १।३।१०, पृ० २१७।

५. उद्योत, महाभाष्य, १।३।१०, पृ० २१८।

६. काशिका, १।३।१०।

अनुदेशी भी ('ठक्' आदि) चार हैं। इस रूप में दोनों के समसंख्यक होने के कारण क्रम से वे एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हो जाएंगे अर्थात् प्रथम आदि उद्देशी प्रथम आदि प्रत्यय के साथ सम्बद्ध होंगे।

महाभाष्य में कहा गया है कि सूत्रों में संज्ञा पदों अथवा समस्त पदों से जहाँ निर्देश किया जाता है, वहाँ उद्देशी के स्थान पर सभी अनुदेशी प्राप्त होते हैं।[1]

यहाँ पर विचारणीय है कि समसंख्यता शब्दकृत मानी जाए अथवा अर्थकृत अर्थात् सूत्रकार ने 'तुदीशलातुर···' आदि जिन सूत्रों में उद्देशियों तथा अनुदेशियों को समान संख्या से युक्त करके पढ़ा है, केवल उन्हीं स्थलों में यथासंख्यता मानी जाएगी या शब्द की दृष्टि से समसंख्यता न होने पर भी यदि अर्थ के आधार पर समसंख्यता हो जाती है तो वहाँ भी यह सूत्र प्रवृत्त होगा।

महाभाष्य में इन दोनों पक्षों पर विचार करते हुए कहा गया है कि यदि संख्या-साम्य शब्द के आधार पर माना जाए तो 'एचोऽय···' (६।१।७८) 'लुटः प्रथमस्य···' (२।४।८५) तथा 'परस्मैपदानाम्···' (३।४।८२) इन तीन सूत्रों में यथासंख्यता के नियम की अव्याप्ति का दोष आता है, क्योंकि यहाँ पर उद्देश्य के रूप में 'एच्', 'लुट्' तथा 'परस्मैपदानाम्' एक हैं परन्तु उनके स्थान पर पठित आदेश अनेक हैं। परन्तु यदि समसंख्यता के आधार पर मानी जाए तो 'रदाभ्यां···' (८।२।४२) 'ङसिङसोश्च' (६।१।११०), 'स्यतासी···' (३।१।१३) आदि पाठ सूत्रों में दोष आता है।[2] दुर्घटवृत्ति में केवल प्रथम दो सूत्रों पर ही विचार किया गया है।

शब्दकृतसमसंख्यता के स्थलों में ही यथासंख्य नियम प्रवृत्त होगा, सिद्धान्त का समर्थन करते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने पूर्वपक्ष के रूप में कहा है कि 'एचोऽय···' सूत्र में यह सूत्र इसलिए प्रवृत्त नहीं होगा कि 'अनुदेश' पद में 'दिश्' धातु उच्चारणार्थक है। अतः 'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्' न्याय के अनुसार जिन सूत्रों में उद्देश तथा अनुदेश दोनों श्रुत हों, (शब्दशः पठित हों) वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति माननी चाहिए। जैसे 'तूदीशलातुर···' सूत्र। 'एचोऽय···' सूत्र में अनुदेश तो चार पढ़े गए हैं, परन्तु उद्देश के रूप में 'एच्' रूप एक ही का श्रवण हुआ है। अतः समान संख्या के अभाव में 'ओ' के स्थान पर 'अव्' आदेश के साथ-साथ 'अय' आदेश की भी प्राप्ति होगी। इस प्रकार 'भवति' जैसे प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान अर्थकृत समसंख्यता

---

१. महाभाष्य, १।३।१०, पृ० २१९।
२. उपरिवत्, पृ० २२०-२२२।

की दृष्टि से तथा दूसरा समाधान शब्दकृत समसंख्यता, की दृष्टि से दिया गया है। प्रथम समाधान यह है कि श्रुत का अश्रुत से सम्बन्ध अनुमान के द्वारा होने के कारण अन्तरङ्गम है और वह अनित्य है। साथ ही यहाँ 'अनुदेश' पद में 'दिश्' धातु उच्चारणार्थक न होकर प्रतिपादनार्थक है। अत: उसके प्रतिपादन वृत्ति से युक्त होने के कारण इस कठिनाई का निराकरण इसलिए हो जाएगा कि 'एच्' के द्वारा 'ए, ओ, ऐ, औ' चारों वर्णों का निर्देश कर दिया गया है अत: इसी क्रम से 'ए' आदि के स्थान पर 'अय्' आदि हो जाएँगे। शरणदेव द्वारा दिया गया यह हेतु 'श्रुतन्यायकफलस्यान्तरङ्गस्यानित्यत्वात्' अत्यन्त अस्पष्ट है।

शब्दकृत समसंख्यता के सिद्धान्त की दृष्टि से दिए गए अपने इसी समाधान में शरणदेव ने यह कहा है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१।१।५०) परिभाषा सूत्र के अनुसार आन्तरतम्यता के आधार पर 'एच्' के स्थान पर क्रमशः 'अय्, अव्, आय्, आव्' आदेश हो जाएँगे। 'ए रे ओ औ' ये चारों सन्ध्यक्षर हैं, क्योंकि इनमें क्रमशः 'अ+इ, अ+उ, अ+ए, अ+ओ' मिले हुए हैं। इस प्रकार संवृत अकार से युक्त 'ए' और 'ओ' के स्थान पर संवृत अकारयुक्त 'अय्' और 'अव्' आदेश तथा विवृत अकार से युक्त 'ऐ' 'औ' के स्थान पर विवृत अकार वाले 'आय्' 'आव्' आदेश हो जाएँगे।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'अय्' के स्थान पर 'अव्' तथा 'आय्' के स्थान पर 'आव्' आदेश की प्राप्ति हो सकती है। इस कठिनाई का निराकरण प्रयत्नभेद के आधार पर किया जा सकता है। 'इ' और 'य्' तालव्य हैं तथा 'उ' और 'व्' औष्ठ्य। 'ए' के स्थान पर उसके समान प्रयत्न वाला 'अय्' आदेश ही हो सकेगा। महाभाष्यकार ने भी शब्दकृतसमता के आधार पर यही समाधान दिया है।[1]

इस समाधान में यह कहा जा सकता है कि समुदायभूत वर्णों में वर्णों के अवयव अथवा एकदेशभूत वर्णों के प्रति स्वतंत्र वर्णों को कहे गए कार्य की प्राप्ति नहीं होती। यह मानना चाहिए कि उपर्युक्त समाधान 'वर्ण के एक देश में कार्य होता है' इस दूसरे सिद्धान्त को मानकर दिया गया है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि सन्ध्यक्षरों को छोड़कर अन्यत्र वर्णैकदेश में कार्य नहीं होता। अभिप्राय यह है कि सन्ध्यक्षरों के वर्णैकदेश में तो कार्य होता ही है, क्योंकि इनके अवयवों में प्रयत्नभेद के कारण पृथकता होती है। अपने मत की पुष्टि में दुर्घटवृत्तिकार ने भर्तृहरि का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि सन्ध्यक्षरों में विराम (प्रथम अवयवभूत वर्ण के प्रयत्न की समाप्ति)

१. महाभाष्य, १।३।१०, पृ० २२२-२२३।

और उपादान (द्वितीय अवयवभूत वर्ण के प्रयत्न का प्रारम्भ) इन दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के आधार पर दो प्रयत्न लक्ष्य हैं।

इस प्रकार अवयवभूत वर्णों के प्रयत्नभेद के आधार पर समान रूप से कण्ठ-तालु प्रयत्न वाले 'ए' और 'ऐ' से परस्पर भेद माना जाता है तथा इसी तरह समान रूप से कण्ठ्यौष्ठ्य प्रयत्न वाले 'ओ' और 'औ' में भी परस्पर भेद माना गया है। यद्यपि काल की दृष्टि से 'ओ' और 'औ' दोनों समान हैं—दोनों ही दीर्घ (दीर्घ-मात्रिक) माने जाते हैं—तथापि अवयवों के प्रयत्न की भिन्नता के आधार पर 'ओ' तथा 'औ' के भिन्न हो जाने के कारण ही 'हे गौः' प्रयोग के 'गोः' पद में 'ओ' तथा 'औ' को समान न मानते हुए सम्बुद्धि का लोप नहीं होगा।

शब्दतः समसंख्यता के सिद्धान्त की दृष्टि से, दूसरे दोष के रूप में 'परस्मैपदानाम्...' सूत्र प्रस्तुत किया गया है। यहां स्थिति यह है कि उद्देशी केवल एक है परन्तु अनुदेशी 'णल्' आदि नौ हैं इसलिए वैषम्य के कारण यथासंख्यता का नियम प्रवृत्त नहीं हो सकता।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार 'यथासंख्य···' सूत्र में 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) सूत्र का अधिकार आ रहा है अर्थात् जिस सूत्र में स्वरित मानी जाएगी वहां 'यथासंख्य···' सूत्र प्रवृत्त होगा। अतः यहां पर स्वरित की सामर्थ्य से यथासंख्यता मान ली जाएगी। यहां पर, रक्षित के नाम से कहा गया है कि स्वरित की सामर्थ्य से संख्यासाम्य कभी तो अर्थ के आधार पर लिया जाता है तो कभी शब्द के आधार पर। यहां पर अर्थकृत समता के आधार पर यथासंख्यता के नियम को मानते हुए कहा गया है कि 'परस्मैपद' संज्ञा से अनुमित 'तिप्' 'तस्' आदि के स्थान पर 'णल्, अतुस्' आदि आदेश हो जाएंगे।

परन्तु 'एचोऽय····'सूत्र की दृष्टि से दिए गए समाधान के समान यहां भी शब्दकृतसंख्यता के सिद्धान्त को ही मानते हुए महाभाष्यकार ने यह समाधान दिया है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र द्वारा व्यवस्था हो जाएगी तथा एकार्थक 'तिप्' आदि से स्थान एकार्थक 'णल्' आदि आदेश हो जाएंगे।[1]

शब्दकृत समसंख्यता के पक्ष में तीसरा सूत्र 'लुटः प्रथमस्य···' प्रस्तुत किया गया है। यहां पर 'तिप्' आदि स्थानी तो छह हैं परन्तु 'डा' आदि आदेश केवल तीन हैं। अतः यहाँ पर संख्यासाम्य नहीं है।

महाभाष्य में शब्दकृतसंख्या की दृष्टि से, विकल्प के रूप यह में समाधान दिया गया है कि 'डारौरसः 'पद में' डा च डा च डा' रौ च रौ, रश्चरश्चरः—डारौरसः

१. महाभाष्य, १।३।१०, पृ० २२२-२२३।

विग्रह के अनुसार एकशेष पद हुआ है। अतः यहां भी छह आदेश बन जाते हैं जिससे शब्दतः समसंख्यता बन जाती है।[1]

महाभाष्यकार ने अर्थकृत समसंख्यता की दृष्टि से यह समाधान दिया है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र से ही यहां पर व्यवस्था हो जाएगी। अर्थ की दृष्टि से आन्तरतम्य होने कारण 'तिप्', 'तस्' के स्थान पर एकार्थक 'डा', द्वयर्थक 'तस्, आताम्' के स्थान पर द्वयर्थक 'रौ' तथा बह्वर्थक 'झि, झ' के स्थान पर बह्वर्थक 'रस्' आदेश हो जाएगा।[2]

दुर्घटवृत्ति में प्रथम पक्ष की दृष्टि से कोई समाधान नहीं दिया गया है। द्वितीय पक्ष की दृष्टि से दिया गया समाधान महाभाष्य के समाधान का संक्षिप्त रूप ही है।

द्वितीय पक्ष पर विचार करते हुए महाभाष्यकार ने आठ सूत्रों में यथासंख्यता नियम की अव्याप्ति का दोष प्रस्तुत किया है जिनमें से यहाँ पर दो के विषय में विचार किया जा रहा है। 'रदाभ्यां...' सूत्र निष्ठा के तकार को 'न्' और 'द्' आदेश करता है। अर्थ की दृष्टि से निष्ठा दो प्रकार की है—'क्त' और 'क्तवतु'। आदेश भी दो (द्,न्) हैं। इस प्रकार उद्देशी तथा अनुदेशी दोनों के यथासंख्य होने के कारण 'क्त' के 'त' को 'न' आदेश तथा 'क्तवतु' के 'त्' को 'द्' आदेश की प्राप्ति होगी। इस प्रकार 'ङसिङसोश्च' सूत्र में उद्देशी के रूप में व्यवहृत 'एङ् (ए, ओ) दो हैं, तथा अनुदेशी भी दो (ङसि, ङस्) हैं। इसलिए यहां भी यथासंख्य नियम प्रवृत्त होगा। अतः इस सूत्र का अर्थ करना होगा—'ए' से परे यदि 'ङसि' का अकार हो तो उन दोनों के स्थान पर तथा 'औ' से परे यदि 'ङस्' का अकार हो उन दोनों के स्थान पर पूर्वरूप आदेश होता है।

प्रथम पक्ष का समर्थन करने के पश्चात् भाष्यकार ने द्वितीय पक्ष का भी समर्थन करने की दृष्टि से इस पक्ष में प्रस्तुत किए गए दोषों के निवारण के लिए यह कहा है कि 'स्वरितेनाधिकारः' सूत्र के 'स्वरितेन' पद को 'यथासंख्य...' सूत्र से भी सम्बद्ध मानना चाहिए अर्थात् 'यथासंख्य अनुदेशः समानाम् स्वरितेन' सूत्र न्यास मानते हुए इस सूत्र का यह अर्थ करना चाहिए कि जहाँ स्वरित होगा वहीं यह सूत्र प्रवृत्त होगा। अतिव्याप्ति वाले स्थलों में 'स्वरित' न होने से यथासंख्य नियम प्रवृत्त नहीं होगा।[3] महाभाष्यकार द्वारा दिए गए इसी समाधान के आधार पर दुर्घटवृत्ति आदि ग्रन्थों में 'स्वरित' का आश्रय लेकर समाधान दिए गए हैं।

---

१. महाभाष्य, २।४।८५, पृ० ६०६।
२. महाभाष्य, २।४।८५, पृ० ६०६।
३. महाभाष्य, १।३।१०, पृ० २२७।

पदमञ्जरी में यथासंख्यता की यह समस्या कुछ भिन्न रूप में रखी गई है। वहाँ कहा गया है कि 'एचोऽय···' 'लुटः प्रथमस्य', 'परस्मैपदानाम्···' तीनों सूत्रों में 'एच्, लुट्, परस्मैपदानाम्' तीनों संज्ञाओं से संज्ञियों की प्रतीति युगपत् तो होती है, परन्तु क्रमानुसार नहीं। अतः क्रमिक प्रतीति के अभाव में यथासंख्या सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। हरदत्त ने इस समस्या का समाधान यह दिया है कि 'अक्षर समाम्नाय' तथा 'तिपादि' सूत्र में वर्णों का जो क्रम है वही इन सूत्रों में भी नियामक हो जाएगा अर्थात् उसी क्रम से प्रथम आदि स्थानों के स्थान पर प्रथम आदि आदेश हो जाएंगे।[1]

इस विवाद के सम्बन्ध में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रथम पक्ष अर्थात् शब्दतः साम्यता का सिद्धान्त अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है तथा इसमें सूत्र का स्वारस्य भी दिखाई देता है, क्योंकि उसमें दोष थोड़े हैं तथा समाधान भी सरलता से हो जाता है। साथ ही इस पक्ष में 'स्वरितेन' पद जो निश्चितरूपेण उत्तरवर्ती सूत्र 'स्वरितेनाधिकारः' से सम्बद्ध है, को 'यथासंख्य···' सूत्र से सम्बद्ध नहीं करना पड़ता। यों निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि स्वयं सूत्रकार को कौन-सा पक्ष अभिमत है। सम्भव है कि मध्यममार्ग का अनुयायी होने के कारण उसे यथावसर दोनों ही पक्ष अभीष्ट रहे हों।

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२)

पलाति

'अनुदात्तङित···' सूत्र अनुदात्तेत् या 'ङित्' धातुओं से ही आत्मनेपद करता है। 'अय' धातु के अनुदात्तेत् होने के कारण उससे इस सूत्र द्वारा आत्मनेपदसंज्ञक लादेश की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से 'अय्' धातु से निष्पन्न 'पलाति' प्रयोग चिन्त्य है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान यह कि 'पलाति' प्रयोग 'पर+अय्' से सिद्ध न होकर 'पल्' धातु से 'लट्' लकार में 'आट्' आगम द्वारा सिद्ध हुआ है। लेट् लकार वेद में ही होता है, इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कभी कभी छान्दस् प्रयोग भी भाषा में प्रयुक्त हो जाते हैं। इस बात का ज्ञापक भाषा में प्रयुक्त 'अध्वर्यु' शब्द है जो 'क्याच्छन्दसि' (३।२।१७०) सूत्र द्वारा वेद की दृष्टि से 'उ' प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न माना जाता है।

दूसरा समाधान आत्मनेपद तथा गणकार्य को अनित्य मानते हुए यह दिया

---

१. पदमञ्जरी, (भाग १), १।३।१०, पृ० २२०।

गया है कि 'अय्' धातु से 'तिप्' होकर गणकार्य की अनित्यता के कारण 'शप्' के अभाव में 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) सूत्र से 'य्' का लोप होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। गणकार्य की अनित्यता का ज्ञापक भौवादिक धातु 'ध्यै' को माना गया है। इस धातु से 'लट्' लकार में 'ध्यायते प्रयोग बनता है। यदि यह धातु दिवादिगण में 'ध्या' रूप में पढ़ी जाती तो भी 'श्यन्' होकर यही प्रयोग बनता। अतः दिवादिगण में 'ध्या' पढ़ने के स्थान पर भ्वादिगण में 'ध्यै' रूप में पढ़े जाने से यह ज्ञापित होता है कि गणकार्य अनित्य है। परन्तु इस ज्ञापक का आधार बहुत स्पष्ट नहीं है, क्योंकि दिवादिगण में 'ध्या' पाठ किया जाए अथवा भ्वादिगण में 'ध्यै' पाठ दोनों स्थितियों में कोई विशेष गौरव या लाघव की बात दिखाई नहीं देती।

परिभाषेन्दुशेखर में इस बात का ज्ञापक 'तनादि कृञ्भ्यः उः' सूत्र से इस प्रकार निकाला गया कि यदि गणों से विहित कार्य नित्य माने जाएँ तो केवल 'तनादि' कहने से भी 'कृञ्' के तनादीय होने के कारण उससे 'उ' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाती। इस प्रकार अनावश्यक होने पर भी इस सूत्र में जो 'कृञ्' का ग्रहण किया गया उससे यही ज्ञापित होता है कि गणकार्य अनित्य है।[1]

उच्चुकुटिषति

'कुट्' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने पर उसके 'गाङ्कुटादि···' सूत्र से ङिद्वद् हो जाने के कारण 'अनुदात्तङित···' सूत्र द्वारा आत्मनेपद की प्राप्ति होगी। इसलिए 'उच्चुकुटिषति' प्रयोग न बनकर 'उच्चुकुटिषते' प्रयोग बनना चाहिए।

इस समस्या का समाधान, न्यास के कथन रूप में यह दिया गया है कि 'अनुदात्तङित···' सूत्र में 'उपदेशेऽज···' सूत्र की अनुवृत्ति आने के कारण जो धातुएँ उपदेशावस्था में ही अनुदात्तेत् या ङित् हैं उनसे ही आत्मनेपद होता है। 'उच्चुकुटिषति' प्रयोग में 'सन्' प्रत्यय उपदेशावस्था में 'ङित्' नहीं है। वह तो 'गाङ्कुटादि···' सूत्र से ङित् के रूप में अतिदिष्ट हुआ है। इसलिए इसके आतिदेशिक ङित्वत् होने के कारण आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं होगी। महाभाष्य, प्रदीप और पदमञ्जरी में 'गाङ्कुटादि···' सूत्र की व्याख्या में यही समाधान दिया गया है। धातुवृत्तिकार भी इसी मत को मानते हैं।[2]

पदमञ्जरी में इस समाधान के साथ साथ यह भी कहा है कि जब अवयव

---

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ९६।
२. (क) महाभाष्य, १।२।१, पृ० ६।
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ४७५।

में लिंग कार्य चरितार्थ नहीं होता तभी वह समुदाय का विशेषक होता है। यहाँ तो अवयव में ही गुणप्रतिषेधादि कार्य करना आतिदेशिक ङित्करण का प्रयोजन है। इसलिए उसे आत्मनेपद का हेतु नहीं माना जा सकता। अतएव 'उच्चुकुटिषति' में परस्मैपद ही होगा, आत्मनेपद नहीं।[1]

बोभूयते

'अनुदात्तङित...' सूत्र में यदि 'उपदेश' पद की अनुवृत्ति मानी जाए तो 'भू' आदि धातुओं के 'बोभूयते' आदि प्रयोगों में यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि 'वोभूय' इत्यादि के उपदिष्ट न होने के कारण उनसे आत्मनेपद न होकर परस्मैपद की प्राप्ति होने लगेगी।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'तपसः परस्मैपदं च[3] वार्तिक से यह ज्ञापित होता है कि 'सन्' आदि प्रत्ययान्त धातुओं का भी उपदेश होता है। यदि ऐसा न माना जाए तो 'क्यङ्' या 'ङित्' प्रत्यय परे होने पर 'तपस्' शब्द से परस्मैपद विधान करने की कोई आवश्यकता नही थी, क्योंकि उस अवस्था में परस्मैपद की प्राप्ति स्वतः हो जाती। इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है।[3]

परन्तु दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार इस ज्ञापक को मानना उचित नहीं, क्योंकि इसका प्रयोजन 'भावकर्मणोः' (१।३।१३) सूत्र से प्राप्त आत्मनेपद की निवृत्ति करना है। अतः 'सनाद्यन्तों का भी उपदेश होता है' इस बात का ज्ञापक 'पुच्छभाण्ड...' (३।१।२०) सूत्र है। परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि इस सूत्र से यह ज्ञापक किस प्रकार निकाला गया।

यही समस्या पदमञ्जरी तथा धातुवृत्ति में कुछ भिन्न रूप में इस प्रकार प्रस्तुत की गई है कि जब अवयव में लिंग कार्य चरितार्थ नहीं होता तब वह समुदाय का विशेषक होता है। इसलिए यङन्त 'भू' आदि से आत्मनेपद नहीं हो सकता, क्योंकि 'यङ्' को ङित् करने का प्रयोजन 'बेभिद्यते' इत्यादि प्रयोगों में लघूपध गुण का निषेध करना है। अतः गुणप्रतिषेध के प्रति उसके चरितार्थ हो जाने से वह समुदाय के प्रति (आत्मनेपद विधि रूप कार्य मे) प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः 'बोभूयते' आदि प्रयोगों में आत्मनेपद न होकर परस्मैपद होना

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।२।१, पृ० १४६।
२. महाभाष्य, ३।१।१५, वा० १।
३. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ६६।

चाहिए।[1]

इन ग्रन्थों में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अनुदात्तङित···' सूत्र में 'धातु' पद का ग्रहण न होने के कारण आत्मनेपद का विधान ङित्मात्र से ही किया गया है अर्थात् 'ङित्' धातु ही हो यह आवश्यक नहीं है।[2] धातुवृत्ति में एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'ङितश्च' पद के साथ 'शब्दाश्च' पद का अध्याहार करना चाहिए। इस अध्याहार से 'ङितश्च' के साथ धातु का सम्बन्ध हो जाएगा।[3]

शिञ्जत्

'शिजि' धातु के अनुदात्तेत् होने के कारण इससे आत्मनेपदी 'शानच्' होना चाहिए, 'शतृ' नहीं। इस दृष्टि से मेघदूत के 'शिञ्जद्वलयसुभगैः'[4] श्लोकांश का 'शिञ्जत्' प्रयोग चिन्त्य है। इसी प्रकार स्यदि, सेव्, ऊह्, लभ्, चित्, जृभि, शुभ्, बुध, स्वञ्ज्, सह्' आदि धातुओं के कुछ परस्मैपदी प्रयोग जैसे 'काशंस्यन्द कुशे स्यन्द', 'नीचं समृद्धमपि सेवति,' 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः[5]' 'लभन्ति पुनरुत्थानम्', 'त्राहि मां हि तथागतम्', 'तवोपशायिका यावद्राक्षस्तस्यश्चेतयन्ति न',[6] 'मुखेषु कामः जृम्भति', 'येन बालो न पाठितः' न शोभति सभामध्ये, 'परिष्वजति पाञ्चाली', 'स सहेन्न कथं तुषारम्' भी चिन्त्य हैं।

'शिञ्जत्' पद की समस्या का समाधान दुर्घटवृत्ति, पदमञ्जरी तथा धातुवृत्ति में यह दिया गया है कि 'चक्षिङ्' धातु में 'इ' अनुबन्ध का प्रयोजन यह ज्ञापित करना है कि अनुदात्तेत् आत्मनेपद विधि अनित्य है। यदि इस विधि को नित्य माना जाता तो 'ङित्' अनुबन्ध के बिना ही 'इ' के अनुदात्तेत् होने के कारण स्वतः 'चक्ष्' धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति हो जाती तथा 'अनुदात्तेश्च···' (३।२।१४९) सूत्र से 'युच्' की भी प्राप्ति हो जाती। अतः ङित्करण का कोई प्रयोजन दिखाई न देने के कारण धातु का जो ङित् किया गया उससे यही ज्ञापित होता है कि

---

१. (क) पदमञ्जरी (भाग १), १।२।१, पृ० १४८।
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ३५।
२. पदमञ्जरी (भाग १) १।२।१, पृ० १४९।
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ३५।
३. धातुवृत्ति, पृ० ३५।
४. मेघदूत (पूर्वमेघ) ७८।
५. पञ्चतंत्र, १।४४।
६. भट्टिकाव्य, ८।१२३।

अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद विधि अनित्य है।[1] इस प्रकार अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद विधि के अनित्य होने के कारण उपर्युक्त सभी प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे। 'ऊहति' प्रयोग के लिए शब्दकौस्तुभ में यही समाधान दिया गया है।[2] सुधानिधि में 'ऊहति' प्रयोग को पहले तो असाधु ठहराया गया है परन्तु बाद में इसे 'आङ्' पूर्वक 'ऊह्' धातु से निष्पन्न माना गया है।[3] धातुवृत्ति में भी यह मत सुधाकर के नाम से मिलता है।[4]

त्राहि

'त्रैङ्' धातु के ङित् होने के कारण इससे आत्मनेपद होना चाहिए। इस दृष्टि से 'त्राहि' पद में परस्मैपद का प्रयोग चिन्त्य है।

इस समस्या का प्रथम समाधान यह दिया गया कि धातुओं से भी आत्मनेपद विधान का नियम अनित्य है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की बात तो समझ में आती है परन्तु ङित्वनिमित्तिक आत्मनेपद विधान की अनित्यता को ज्ञापक की बात समझ में नहीं आती और न ही अन्य किसी ने इस ज्ञापक का उल्लेख किया है।

दूसरा समाधान 'त्राहि' प्रयोग को क्विबन्त मान कर यह दिया गया है कि 'त्रायते इति त्राः' विग्रह के अनुसार 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।७५) सूत्र द्वारा 'त्रा' धातु से 'विच्' हो जाएगा। उसके पश्चात् आचार अर्थ में 'क्विप्' द्वारा यह धातु क्विबन्त बन जाती है। इससे लोट् लकार में 'त्राहि' (त्राता इव आचरति) प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

शयामि

'शीङ्' धातु के भी ङित् होने के कारण इससे आत्मनेपद होना चाहिए। इस दृष्टि से 'शयामि' प्रयोग चिन्त्य है। इसके अतिरिक्त इस प्रयोग में 'शप्' 'लुक्' का अभाव भी विचारणीय है। यहाँ भी यही समाधान दिया गया है कि अनुदात्तङित कार्य अनित्य है। अतः यहाँ पर परस्मैपद हो जाएगा। दूसरे प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'गणकार्यमनित्यम्' परिभाषा के अनुसार अदादिगण में विहित 'शप्, लुक्' कार्य भी नहीं होगा। परिभाषावृत्ति में भी यही

---

१. (क) पदमञ्जरी (भाग १) १।३।१२, पृ० २२४।
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ३३५।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।२६, पृ० ७१।
३. सुधानिधि, १।३।२६, पृ० ७०८।
४. धातुवृत्ति, पृ० १६७।

समाधान दिया गया है।[1]

परिभाषावृत्तिकार ने गणकार्य की अनित्यता का ज्ञापक 'क्षमूष्' धातु के 'ष्' अनुबन्ध को माना है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि इस धातु के भिदादिगण में पठित होने के कारण 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४) सूत्र से 'अङ्' की प्राप्ति बिना 'ष्' अनुबन्ध के भी हो जाती। इस प्रकार 'ष्' अनुबन्ध के प्रयोजन रहित होने के कारण यह ज्ञापित होता है कि गणकार्य अनित्य है।[2]

आदध्यात्

इसी प्रकार मयूर के 'आदध्यादन्धकारे रतिमति···[3] श्लोकांश का आदध्यात्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर भी आत्मनेपद होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'धा' धातु से निष्पन्न न होकर आशिष् लिङ् में 'दध्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आदधातीति आदधः' से आचार अर्थ में 'क्विप्' होकर 'आदध्' क्विबन्त धातु से लिङ् लकार में अकार का लोप हो जाएगा तथा 'यासुट्' आगम द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

आपोमयम्

अनुदात्तेत् 'मय्' धातु के विषय में विचार करते हुए शरणदेव ने 'सर्वमापोमयञ्जगत्' प्रयोग प्रस्तुत किया है। दुर्घटवृत्ति में कहा गया है कि चन्द्रिका (संभवतः कोई टीका) में उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या 'सर्वं जगद् आपोऽमयम् इति विलोक्य' रूप में की गई है। इससे यह स्पष्ट है कि चन्द्रिकाकार 'आपोमयम्' पद के 'मयम्' प्रयोग को 'लङ्' लकार का प्रयोग मानता है। इस दृष्टि से 'आपोमयम्' पद चिन्त्य है, क्योंकि धातु के अनुदात्तेत् होने के कारण इससे आत्मनेपद होना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि अनुदात्तत् निमित्तक आत्मनेपद विधि के अनित्य होने के कारण यहाँ पर परस्मैपद हुआ है। इस प्रयोग में श्चुत्व द्वारा नकार को ञकार हुआ है। दूसरे समाधान में यह कहा गया है कि कुछ विद्वान् इस प्रयोग को सकारान्त 'अपस्' शब्द से निष्पन्न मानते हैं। वस्तुतः मूल शब्द 'अप्' है। संभवतः इसी मूल शब्द से सकारान्त शब्द निष्पन्न हुआ जिसके अपस्या' आदि प्रयोग मिलते हैं। शरणदेव ने कहा है कि 'अपस्' शब्द से तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'आपोभिमर्जिन कृत्वा' आदि वैदिक प्रयोग मिलते

---

१. परिभाषावृत्ति, पृ० ५१।
२. वही, पृ० ५१।
३. मयूरशतक, २५।

हैं । इसी प्रकार 'आपोमयम्' प्रयोग आपस् (अप्-अपस्-आपस्) शब्द में 'मयट्' करके निष्पन्न मानना चाहिए ।

इस प्रयोग के विषय में दूसरा मत ही उचित जान पड़ता है । वाचस्पत्यम् में भी 'आपस्' शब्द से 'मयट्' प्रत्यय माना गया है ।[1]

सहेत्

'सहेत्' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि यह प्रयोग अनुदात्तेत् 'सह्' से निष्पन्न हुआ है ।

ग्रसति

इसी प्रकार 'ग्रसति' प्रयोग भी चिन्त्य है क्योंकि 'ग्रसु' धातु भी अनुदात्तेत् है ।

इस समस्या का समाधान, वृत्तिकार के मत रूप में यह दिया गया है कि 'अत्वसन्तस्य......(६।४।१४) सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने 'ग्रसु' धातु से परस्मैपद का प्रयोग किया है—'पिण्डं ग्रसतीति पिण्डग्रः । इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि 'ग्रसु' धातु से परस्मैपद भी हो जाता है । परन्तु काशिका के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में 'पिण्डं ग्रसत इति पिण्डग्रः' पाठ मिलता है ।

कर्तरि कर्मव्यतिहारे (१।३।१४)

दधतुः

'कर्तरि कर्म...' सूत्र क्रिया के पारस्परिक विनिमय का द्योतन होने पर कर्त्ता में धातु से आत्मनेपद करता है । इस सूत्र के अनुसार रघुवंश के 'सम्पद्-विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्'[2] श्लोकांश में 'दधतुः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि दिलीप तथा इन्द्र परस्पर सम्पत्ति के विनिमय के द्वारा पृथिवी और स्वर्ग को धारण करते हैं । राजा यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को तथा इन्द्र वर्षा के द्वारा पृथ्वी को धारण करता है । अतः सम्पत्ति विनिमय का द्योतन होने के कारण 'धा' धातु से आत्मनेपद होना चाहिए ।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में यह दिया गया है कि 'धा' को 'हस्' के सदृश मानते हुए 'प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम्'[3] वार्तिक द्वारा आत्मनेपद का निषेध हो जाएगा । इस वार्तिक में 'आदि' शब्द का अर्थ प्रकार

---

१. 'आपस् + विकारे प्राचुर्ये वा मयट् ।'—वाचस्पत्यम् ।

२. रघुवंश, १।२६ ।

३. महाभाष्य, १।३।१५, वा० १ ।

अथवा सादृश्य है।

यहाँ पर सादृश्य किस दृष्टि से माना जाए इस विषय में व्याख्याकारों में दो मत मिलते हैं। भागवृत्ति, प्रदीप टीका, पदमञ्जरी तथा धातुवृत्ति के लेखकों ने शब्दक्रियता की दृष्टि से सादृश्य माना है[1] अर्थात् जिस प्रकार 'हस्' धातु शब्दक्रिया वाली है उसी प्रकार अन्य शब्द विषयक धातुओं से आत्मनेपद का निषेध मानना चाहिए। इन विद्वानों को 'दधतुः' प्रयोग की सिद्धि के लिए या तो कोई अन्य समाधान देना होगा या फिर इनकी दृष्टि में यह प्रयोग असाधु बन जाएगा। परन्तु मैत्रेयरक्षित तथा शरणदेव को 'हसादि' शब्द का यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि 'दधतुः' प्रयोग में धातु के शब्द क्रियावाची न होने के कारण 'धा' धातु से आत्मनेपद का निषेध नहीं हो सकेगा। अतः उनके मत में 'आदि' शब्द से वे धातुएँ अभीष्ट हैं जिनमें 'हस्' के समान कर्मव्यतिहार में उपर्युक्त वार्तिक के नियम से आत्मनेपद का अभाव इष्ट हो। इस प्रकार 'दधतुः' प्रयोग में आत्मनेपद का अभाव इष्ट होने के कारण 'आदि' शब्द से 'धा' का ग्रहण होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिए यह कहा जा सकता है कि पद्य में प्रयुक्त 'विनिमय' शब्द से ही कर्मव्यतीहार के द्योतित हो जाने के कारण उसी अर्थ को द्योतित करने के लिए आत्मनेपद की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यह मत मान्य नहीं, क्योंकि 'इतरेतरान्योन्योपपदाच्च' (१।३।१६) सूत्र से यह ज्ञापित होता है कि 'विनिमय' आदि शब्दों से व्यतीहार अर्थ को द्योतित करने के लिए आत्मनेपद की आवश्यकता है। सूत्रकार ने 'अन्योन्य' पदों से व्यतिहार अर्थ के द्योतित हो जाने पर भी 'कर्तरि कर्म' सूत्र से प्राप्त आत्मनेपद का निषेध किया है।

दुर्घटवृत्ति से पता लगता है अनुन्यासकार के अनुसार 'दधतुः' प्रयोग असाधु है। संभवतः उसने भी 'हसादि' पद में शब्दक्रियता की दृष्टि से सादृश्य माना हो।

धातुवृत्ति तथा सुधानिधि में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग में सम्पत्ति का विनिमय हुआ है, धात्वर्थ का नहीं। अतः यहाँ पर क्रियाविनिमय अथवा धात्वर्थ विनिमय रूप अर्थ का अभाव होने के कारण 'तङ' नहीं होगा।[2] इसी प्रकार शब्दकौस्तुभ में कहा गया है कि करण (साधन) के विनिमय होने पर भी क्रियाविनिमय की विवक्षा न होने के कारण आत्मनेपद की

---

१. प्रदीप, महाभाष्य, १।३।१५, पृ० २४७।

२. (क) धातुवृत्ति, पृ० ३९४। (ख) सुधानिधि १।३।१६, पृ० ६९८।

प्राप्ति नहीं होगी ।[1]

सम्प्रहरिष्यन्तौ

हरतेरप्रतिषेधः'[2] वार्तिक की दृष्टि से 'सम्प्रहरिष्यन्तो' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर कर्मव्यतिहार की विवक्षा होने के कारण आत्मनेपदी 'शानच्' प्रत्यय होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान, कैयट के मत रूप में, यह दिया गया कि यहाँ पर कर्मव्यतिहार की विवक्षा नहीं है अपितु 'युध्यमानो' अर्थ की विवक्षा है ।[3] नागेश ने कैयट का समर्थन करते हुए कहा है कि 'संप्रहार' शब्द युद्ध अर्थ में भी रुढ़ है ।[4] यही समाधान शब्दकौस्तुभ तथा पदमञ्जरी में 'न गतिहिंसा···' सूत्र की व्याख्या करते हुए दिया गया है । धातुवृत्तिकार भी यह समाधान मानते हैं ।[5]

नेर्विशः (१।३।१७)

निविशती

'नेर्विशः' सूत्र 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद करता है । 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' परिभाषा के अनुसार इस सूत्र में 'नि' पद उपसर्ग का बोधक है । इसीलिए 'अम्बूनि विशन्ति' जैसे प्रयोगों में इस सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होती ।[6] इस सूत्र की दृष्टि से रघुवंश के 'अंके निविशती भयात्'[7] श्लोकांश का 'निविशती' पद चिन्त्य है क्योंकि 'नि' 'उपसर्ग विश्' धातु से परस्मैपदी 'शतृ' न होकर आत्मनेपदी 'शानच्' होना चाहिए था ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि इस प्रयोग में 'नि' पद उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है । यही समाधान शब्दकल्पद्रुम में विकल्प के रूप में तथा धातुवृत्ति में भी दिया गया है ।[8]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि पदसंस्कार द्वारा पहले 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्द सिद्ध कर लिया जाएगा । उसके पश्चात् ही उसका 'नि' उपसर्ग से योग

१. शब्दकौस्तुभ (भाग १) १।३।१६, पृ० ६५ ।
२. महाभाष्य, १।३।१५ ।
३. प्रदीप, महाभाष्य, १।३।१५, पृ० २४७ ।
४. उद्योत, महाभाष्य, १।३।१५, पृ० २४७ ।
५. धातुवृत्ति, पृ० २३३ ।
६. काशिका, १।३।१७ ।
७. रघुवंश, १२।३८ ।
८. (क) उपसर्गप्रतिरूपको वा १—शब्दकल्पद्रुम । (ख) धातुवृत्ति, पृ० ४८९ ।

होगा। शब्दकल्पद्रुम में यह समाधान दुर्घटवृत्ति के नाम से मिलता है।[1] परन्तु भट्टोजिदीक्षित को यह मत मान्य नहीं। वहाँ पर 'प्रामाणिकाः' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि यहाँ पर 'अङ्गानि विशतीम्' पाठ होना चाहिए।[2]

आङो दोऽनास्यविहरणे (१।३।२०)

दत्से

'आङो दोऽनास्य···' सूत्र की दृष्टि से 'किं वा दत्से विहग पतनम्' वाक्य के 'दत्से' प्रयोग में आत्मनेपद इसलिए विचारणीय है कि यह सूत्र 'आङ' उपसर्ग के साथ 'दा' धातु से आत्मनेपद का विधान करता है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'स्वरितञितः···' (१।३।७२) सूत्र के द्वारा 'दत्से' प्रयोग में 'दा' धातु से आत्मनेपद हो जाएगा, क्योंकि यहाँ पर क्रिया का फल कर्ता को मिल रहा है। आङो दोऽनास्य···' सूत्र उसी स्थिति में प्रवृत्त होता है, जब क्रिया का फल कर्ता को न मिलता हो।

यमयुङ्क्त

इसी प्रकार भारवि के 'प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्'[3] श्लोकांश का 'अयुङ्क्त' पद विचारणीय है। 'प्रोपाभ्यां···' सूत्र तथा उसकी दृष्टि से रचित 'स्वराद्यन्तोपसृष्टाद् इति वक्तव्यम्'[4] वार्तिक दोनों को मिला कर यह नियम बनता है कि यदि यज्ञपात्र के प्रयोग से भिन्न विषय में यह धातु प्रयुक्त हुई हो तो स्वरादि अथवा स्वरान्त उपसर्ग से युक्त 'युज्' धातु आत्मनेपदी हो जाती है। 'अयुङ्क्त' प्रयोग में 'युज्' धातु उपसर्ग रहित है तथा यहाँ पर स्वरादि अथवा स्वरान्त की तो बात ही दूर है। इसलिए यहाँ 'युज्' धातु का आत्मनेपदी प्रयोग असाधु प्रतीत होता है।

इस समस्या का भी समाधान यह दिया गया है कि 'प्रोपाभ्यां···' सूत्र उसी स्थिति में आत्मनेपद करता है जब क्रिया का फल कर्ता को न मिलता हो।[5] इसीलिए यहाँ पर भी 'स्वरितञितः···' सूत्र द्वारा उपसर्ग रहित 'युध्' धातु से आत्मनेपद हो जाएगा, क्योंकि यहाँ पर 'युज्' क्रिया का फल कर्ता को ही मिल रहा है।

---

१. 'केवलात् शतृप्रत्ययं विधाय पश्चादुपसर्गयोगादिति दुर्घटवृत्तिः—शब्दकल्पद्रुम।

२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।१७, पृ० ६५।

३. किरातार्जुनीयम्, १।१।

४. महाभाष्य, १।३।१४।

५. काशिका, १।३।६४।

क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च (१।३।२१)

क्रीडते

'क्रीडोऽनु···' सूत्र 'अनु' आदि उपसर्गों के उपपद होने पर 'क्रीड्' धातु से आत्मनेपद करता है । इस सूत्र की दृष्टि से शुद्धसुबन्त में 'यष्टिमागस्वनवनसहितः क्रीडते नागराजः' श्लोकांश का 'क्रीडते' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर यह धातु उपसर्ग रहित है ।

दुर्घटवृत्ति, शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत प्रयोग को असाधु ठहराया गया है ।[1] दुर्घटवृत्तिकार ने बाद में यहाँ पर 'क्रीडित' पाठान्तर भी प्रस्तुत किया है ।

अन्त में, तीसरे विकल्प के रूप में, इस प्रयोग के साधुत्व के लिए भी यह कहा गया है कि 'क्रीडोऽनु···' सूत्र के चकार को अनुवत समुच्चयार्थक मानकर उपसर्ग रहित 'क्रीड्' धातु का भी अन्तर्भाव मान लेना चाहिए जिससे यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । परन्तु यह समाधान भी खींचातानी का ही प्रतीत होता है । वास्तविकता यह है कि पाणिनीय सम्प्रदाय की दृष्टि से यह प्रयोग असाधु ही है जैसा कि भट्टोजि दीक्षित आदि मानते हैं ।

शप उपालम्भन इति वक्तव्यम्

'शप उपालम्भन इति वक्तव्यम्' वार्तिक में 'उपालम्भन' शब्द का अर्थ विचारणीय है । महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी, क्षीरतरङ्गिणी, शाकटायन व्याकरण तथा शब्देन्दुशेखर में 'उपलम्भन' पाठ मिलता है ।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार 'उपलम्भन' का अर्थ है—वाणी से शरीर का स्पर्श करना अर्थात् शरीर के किसी विशेष अङ्ग का स्पर्श करते हुए वाणी का प्रयोग करना या दूसरे शब्दों में सौगन्ध खाना ।[3] परन्तु कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ प्रकाशन अर्थात् भावों को अभिव्यक्त करना किया है ।[4] प्रथम अर्थ काशिकाकार, न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार को मान्य है तथा दूसरा अर्थ भागवृत्तिकार, कैयट, शाकटायन आदि को ।

शपामि

इन दोनों अर्थों में से 'उपलम्भन' पद का जो भी अर्थ माना जाए, उसी अर्थ

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।११, पृ० ६७ ।
२. महाभाष्य, —१।३।२१ ।
३. पदमंजरी (भाग १), १।३।२१, पृ० २३१ ।
४. प्रदीप, महाभाष्य, १।३।२२१, पृ० २५३ ।

की दृष्टि से 'सख्य: शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि' श्लोकांश का 'शपामि' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर शपथ रूप अर्थ अथवा अपने अभिप्राय का प्रकाशन रूप अर्थ स्फुटित हो रहा है। इसलिए 'शप उपालम्भने इति वक्तव्यम्' (उपालम्भन अर्थ में प्रयुक्त' 'शप्' धातु से आत्मनेपद होता है) वार्तिक द्वारा 'शप्' से आत्मनेपद होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि क्रीडोऽनु····' सूत्र में चकार द्वारा 'नपुंसकमनपुंसकेन···' (१।२।६९) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति लाई जाए तथा उसे इस सूत्र एवम् उपर्युक्त वार्तिक में व्यवस्थितविभाषा मानी जाए। इस प्रकार इस व्यवस्थितविभाषा द्वारा 'शपामि' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु काशिका, सिद्धान्तकौमुदी आदि किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में इस प्रकार से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति की बात नहीं कहीं गई तथा इतनी दूर से अनुवृत्ति की बात जंचती भी नहीं। संभवत: इसीलिए शरणदेव ने 'उपलम्भन' पद के प्रथम अर्थ की दृष्टि से एक दूसरा समाधान भी दिया है।

इस दूसरे समाधान में यह कहा गया है कि 'सख्य: शपामि' पदों में शपथ रूप अर्थ तो है परन्तु वाणी से शरीर के स्पर्श का सम्बन्ध न होने के कारण आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं होगी। शब्दकल्पद्रुम में यह समाधान 'पाणिनीया:' निर्देश द्वारा मिलता है।[1]

भागवृत्तिकार द्वारा सम्भवत: 'प्रकाशन' अर्थ को उद्धृत करते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने कहा है कि यदि 'उपलम्भन' का अर्थ प्रकाशन माना जाए तो 'शपामि' प्रयोग में आत्मनेपद होना चाहिए, क्योंकि इस वाक्य में नायिका अपनी सखियों के प्रति स्मृति के अभाव का प्रकाशन कर रही है। इसलिए यहाँ पर प्रकाशन रूप अर्थ स्पष्ट है। दुर्घटवृत्तिकार की दृष्टि से इस प्रकार पहले वाला समाधान ही जिसमें 'उपालम्भन' का अर्थ शपथ माना गया है, सिद्धान्तभूत समाधान है।

आशिषि नाथ:

नाथसे

'आशिषि नाथ: ('नाथ्' धातु से केवल आशिष् अर्थ में ही आत्मनेपद होता है) वार्तिक की दृष्टि से भारवि के 'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्'[2] श्लोकांश का 'नाथसे' पद विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर इस धातु का प्रयोग आशीर्वाद अर्थ

---

१. 'सख्य: शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि। इति वाचा शरीरस्पर्शनामादादिति पाणिनीया: शब्दकल्पद्रुम।

२. किरातार्जुनीयम्, १३।५९।

में न होकर याञ्चा अर्थ में हुआ है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि यह वार्तिक उपर्युक्त दृष्टि से नहीं रची गई अपितु इसकी रचना अनुदात्तेत् लक्षण के अनित्य होने के कारण आशीर्वाद अर्थ में नित्य विधान के लिए की गई है । इसलिए इस वार्तिक का अभिप्राय है कि आशीर्वाद अर्थ में नित्य तथा उससे अन्यत्र विकल्प से आत्मनेपद होता है । इस प्रकार यह प्रयोग साधु है ।

परन्तु यह समाधान कुछ उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि अनित्यत्व विधि का प्रयोजन यही होता है कि अनिष्ट प्रयोगों में उसकी प्रवृत्ति न हो सके । इसीलिए 'सर्पिषो नाथते' जैसे प्रयोगों में उसकी प्रवृत्ति की आशंका नहीं होनी चाहिए ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर 'नाथसे' के स्थान पर 'नाधसे' पाठ होना चाहिए । 'नाधृ' धातु 'नाथृ' की पर्यायवाची है । शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्त कौमुदी तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है । शब्दकौस्तुभ में कहा गया है कि तवर्ग के चतुर्थ 'धकार' के स्थान पर लिपि प्रमाद के कारण तवर्ग का द्वितीय 'थकार' पढ़ा गया है ।[1]

इसी प्रकार का दोष 'नाथ ! त्वामनुनाथे विजहिहि संरम्भम्' श्लोकांश में भी है । यहाँ भी यही समाधान दिया गया है कि 'अनुनाथे' के स्थान पर 'अनुनाधे' पाठ होना चाहिए । इस प्रयोग के लिए दूसरा समाधान, अर्थ की दृष्टि से, यह दिया गया है कि 'सङ्गरसंरम्भ त्यज' इस प्रकार आशंसा अर्थ में आत्मनेपद हो जाएगा ।

हरतेर्गतिताच्छील्य इति वक्तव्यम्

जलधिमनुहरते सरः

'हरतेर्गतिताच्छाछील्ये'[2] वार्तिक के 'गति' शब्द के पाठ के प्रति विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । काशिका, न्यास, पदमञ्जरी तथा दुर्घटवृत्ति में 'गति' पाठ मिलता है तथा महाभाष्य, शब्दकौस्तुभ, धातुवृत्ति और सिद्धान्तकौमुदी में 'गत' पाठ । 'गत' पाठ को मानने वाले सभी व्याख्याकारों ने 'गत' पद का अर्थ 'प्रकार' किया है[3] तथा हरदत्त ने भी 'गति' शब्द का यही अर्थ किया है ।[4] इस प्रकार अर्थ

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।२१, पृ० ६८ ।
२. महाभाष्य, १।३।२१, वा० ५ ।
३. प्रदीप, महाभाष्य, १।३।२१, पृ० २५२ ।
४. पदमञ्जरी (भाग १), १।३।२१, पृ० २३१ ।

में समानता होने के कारण पाठभेद से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह वार्तिक तत्स्वभावता की प्रकारता का अनुगमन होने पर 'हृ' धातु से आत्मनेपद करती है। इस दृष्टि से 'जलधिमनुहरते सरः' वाक्य का आत्मनेपदी प्रयोग 'अनुहरते' चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर स्वभाव की प्रकारता के अनुगमन का बोध न होकर 'सदृश' अर्थ का बोध हो रहा है।

इस समस्या का प्रथम समाधान भर्तृहरि द्वारा सम्मत 'गत' पद के अर्थ की दृष्टि से दिया गया है। भर्तृहरि ने गत, विध तथा प्रकार इन तीनों को तुल्यार्थक माना है। 'तुल्य' शब्द 'सदृश' अर्थ का भी वाचक है। इस प्रकार 'गत' का सदृश अर्थ होने पर इस प्रयोग में आत्मनेपद सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान वृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'हृ' धातु स्वरितेत् है तथा यहाँ पर क्रिया का फल कर्ता को ही मिल रहा है। अतः 'स्वरितञितः...' सूत्र द्वारा आत्मनेपद हो जाएगा।

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि (१।३।२४)

उत्तिष्ठते वासुकिनापि दष्टः

यदि 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु ऊर्ध्वगमन अर्थ में प्रयुक्त न हुई हो तो इस धातु से 'उदोऽनूर्ध्व...' सूत्र आत्मनेपद का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'उत्तिष्ठते वासुकिनापि दष्टः' वाक्य में 'उत्तिष्ठते' पद चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर ऊर्ध्वगमन अर्थ का बोध हो रहा है। अतः आत्मनेपद नहीं होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहाँ पर ऊर्ध्वगमन अर्थ का बोध नहीं हो रहा है अपितु 'बोधन' अर्थ गम्यमान हो रहा है। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति हो सकेगी।

आङो यमहनः (१।३।२८)

आजघ्ने

'आङो यमहनः' सूत्र 'आङ्' पूर्वक अकर्मक 'यम्' तथा 'हन्' धातुओं से आत्मनेपद करता है। इस सूत्र तथा इसी सूत्र पर पठित 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' (यदि इन क्रियाओं का कर्म स्वाङ्ग हो तो भी इन धातुओं से आत्मनेपद होता है) वार्तिक की दृष्टि से भारवि के 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः'[1] (शिव के वक्ष पर प्रहार किया) श्लोकांश में 'आजघ्ने' प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि यहाँ पर क्रिया अकर्मक न होकर सकर्मक है तथा मारने की क्रिया का कर्म स्वाङ्ग न होकर दूसरे का अङ्ग (शिव का वक्षस्थल) है।

---

१. किरातार्जुनीयम्, १७।६३।

शब्दकौस्तुभ में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए तथा धातुवृत्ति में 'केचित्' निर्देश द्वारा इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'आजघ्ने' पद का 'आज' ('अज्' धातु से 'लिट्' लकार का प्रयोग है, जिसका अर्थ है गया) तथा 'घ्ने' (हन् धातु से भाव अर्थ में 'क्विप्' करके चतुर्थी के एकवचन का प्रयोग है जिसका अर्थ है मारने के लिए) इस प्रकार पदच्छेद करते हुए प्रस्तुत पद का अर्थ किया गया —मारने के लिए गया। यह अर्थ करने पर यहाँ आत्मनेपद तथा परस्मैपद का झगड़ा ही समाप्त हो जाता है। परन्तु इन्हीं ग्रंथों में इस समाधान में यह दोष बताया गया है कि 'अज्' धातु को 'लिट्' में 'वी' आदेश हो जाने के कारण उससे 'विवाय' प्रयोग बनना चाहिए।[1] यों भी बहुत अधिक खींचातानी के कारण यह समाधान बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस समस्या के चार समाधान दिए हैं। प्रथम तीन समाधान वार्तिक की दृष्टि से दिए गए हैं तथा चतुर्थ सूत्र की दृष्टि से। प्रथम समाधान यह दिया गया कि यहाँ पर 'वक्षसा' शब्द का अध्याहार किया जाए। इससे मारने की क्रिया का कर्म दूसरे का अङ्ग न होकर अपना अङ्ग हो जाएगा और "स्वाङ्गकर्म....'वार्तिक से आत्मनेपद हो सकेगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि प्रस्तुत वाक्य का 'शिव के वक्ष पर प्रहार किया,' अर्थ न करके 'शिव की भुजाओं से अपने वक्षस्थल पर प्रहार किया' अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार वार्तिक से आत्मनेपद हो जाएगा।

तीसरा समाधान यह दिया गया कि 'विषमविलोचनस्य' पद में षष्ठी विभक्ति सामीप्य अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा—शिव के समीप अपने वक्ष पर मारा। शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है। धातुवृत्ति में भी यही समाधान 'अन्ये' निर्देश द्वारा मिलता है। सिद्धान्तकौमुदी में इस समस्या का समाधान 'प्राप्य' पद का अध्याहार करके इस प्रकार दिया गया है कि प्राप्ति क्रिया के प्रति शिव का कर्मत्व होने के कारण 'हन्' धातु के अकर्मक हो जाने से आत्मनेपद हो जाएगा। यद्यपि हनन क्रिया के प्रति कर्म शिव ही है परन्तु उसकी विवक्षा नहीं है। इस समाधान में यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि 'प्राप्य' पद का अध्याहार करने पर 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' वार्तिक से पञ्चमी का प्रयोग होना चाहिए। इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि ल्यबन्त 'प्राप्य' पद का अध्याहार करने से पञ्चमी के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।[2]

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ३१२।

२. सिद्धान्त कौमुदी, (भाग ३) १।३।२८, पृ० ४८२-४८३।

यही समाधान मल्लिनाथ की टीका में भी 'केचित्' निर्देश द्वारा मिलता है। यों उसने इस प्रकार के समाधानों को बुद्धिसंगत नहीं माना है, क्योंकि उसके अनुसार योद्धा द्वारा अपने ही वक्षस्थल पर प्रहार करना अनुचित आचरण है।[1]

सूत्र की दृष्टि से चतुर्थ समाधान यह दिया गया कि इस श्लोक का 'प्रतिमुख' शब्द विभक्ति अर्थ में अव्ययीभाव समास का प्रयोग है। इसका अर्थ होगा—शिव के वक्ष पर जाकर प्रहार किया। प्रकृत रूप से तो यहाँ पर कर्म वक्ष ही है परन्तु उसके 'गमन' क्रिया से मुख्यत: अन्वित होने के कारण 'हनन' क्रिया अकर्मक बन जाती है। इस प्रकार 'आङो यमहन:' सूत्र से ही आत्मनेपद हो जाएगा।

भागवृत्तिकार के अनुसार यह प्रयोग असाधु है।[2] दुर्घटवृत्ति में उद्धृत भागवृत्तिकार का मत कुछ स्पष्ट नहीं है।

समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्य: (१।३।२९)

तच्चैक्यं समगच्छत

'समो गम्यृच्छि···' सूत्र सम् उपसर्गपूर्वक अकर्मक 'गम्' आदि धातुओं से आत्मनेपद करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'तच्यैक्यं समगच्छत' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर 'गम्' धातु अकर्मक न होकर सकर्मक है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्[3] वार्तिक द्वारा 'एक' शब्द से स्वार्थ में 'ष्यञ्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हुआ है। इस वाक्य का अर्थ है—एकं समगच्छत समपद्यते। इस प्रकार यहाँ पर 'गम्' धातु अकर्मक बन जाती है। अत: इससे आत्मदेपद का प्रयोग साधु है। शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि तथा तत्त्वबोधिनी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[4]

दूसरा समाधान, अनुन्यासकार के मत रूप में, यह दिया गया है कि भगवान् व्यास आदि ने व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखते हुए स्मृति आदि ग्रन्थों की रचना की थी। वे लोग वाणी के विषय में स्वतंत्र थे अर्थात् व्याकरण के नियम उन्हें बांध नहीं सकते थे। अत: आर्ष प्रयोग होने के कारण यहाँ पर 'तिङ्' का व्यत्यय हुआ है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में भी यही समाधान मिलता है।[5]

---

१. मल्लिनाथ टीका, किरातार्जुनीयम्, १७।६३।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।२८, पृ० ७०।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ७।३।३१।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।२९, पृ० ७०।
५. वही।

सम्पपृच्छे

इसी प्रकार की कठिनाई अश्वघोष के 'न सम्पपृच्छे गमनाय सत्वरा' श्लोकांश के 'सम्पपृच्छे' पद में तथा मुरारि के 'रक्षांसीति पुरापि संशृणुमहे'[1] श्लोकांश के संशृणुमहे प्रयोग में उपस्थित होती है। यहाँ पर 'प्रच्छ्' और 'श्रु' दोनों धातुओं के अकर्मक न होने के कारण इनसे आत्मनेपद नहीं होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन दोनों प्रयोगों में कर्म व्यतिहार में 'तङ्' हुआ है। संभवतः इसीलिए अनर्घराघव की टीका में इस स्थल का अर्थ 'अन्योन्यं शृणुमः (एक दूसरे को सुनते हैं) किया गया है।[2] शब्द-कल्पद्रुम में भी यही समाधान मिलता है।

'सम्पपृच्छे' प्रयोग के साधुत्व के लिए पाठभेद के आश्रय से एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर 'सखीजनम्' न होकर पञ्चम्यन्त 'सखीजनात्' होना चाहिए। पञ्चमी विभक्ति 'प्राप्य' अर्थ में 'ल्यब्लोपे पञ्चमी···' वार्तिक द्वारा होगी। इस प्राप्ति अर्थ के 'सखीजन' से अन्वित होने के कारण 'प्रच्छ्' क्रिया अकर्मक हो जाएगी।

सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में मुरारि के प्रयोग को पहले तो असाधु कहा गया परन्तु बाद में यह समाधान दिया गया कि इस वाक्य में 'कथयद्भ्यः' पद का अध्याहार करना चाहिए। इस पद के अध्याहृत मानने पर केवल कथन-क्रिया ही राक्षसों से अन्वित होगी। इसलिए 'श्रु' धातु अकर्मक हो जाएगी तथा उससे आत्मनेपद सिद्ध हो सकेगा।[3]

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः (१।३।३६)

विनिन्युः

'सम्मानन···' सूत्र सम्मानन आदि अर्थों में प्रयुक्त 'नी' धातु से आत्मनेपद करता है। यहाँ आचार्यकरण का अर्थ है—आचार्यक्रिया अथवा बच्चे को विधि-पूर्वक अपने समीप लाना।[4] इस अर्थ की दृष्टि से रघुवंश के 'विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्'[5] श्लोकांश का 'विनिन्यु' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर 'नी' का

---

१. अनर्घराघव, ६।२५।

२. रुचिपतिकृत अनर्घराघव की टीका, ३।२५।

३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ७।१।७, पृ० ४८५।

४. काशिका, १।३।३६।

५. रघुवंश, ३।२९।

प्रयोग आचार्यकरण में हुआ है । अतः धातु से आत्मनेपद होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहाँ पर आचार्यकरण अर्थ की विवक्षा न होने के कारण आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं हो सकती । शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया गया है ।[1] मल्लिनाथ ने इस पद का अर्थ 'शिक्षितवन्तः' किया है ।[2]

शरणदेव तथा भट्टोजिदीक्षित ने अपने समाधान की पुष्टि में यह हेतु दिया है कि 'तदाद्याचिख्यासायाम्'··· सूत्र में 'सन्' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि शब्द-व्युत्पत्ति में अर्थ की विवक्षा ही प्रधान कारण होती है न कि उसकी सत्ता । यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'सन्' रहित 'तदाद्याख्याने' प्रयोग किया जाता तो भी सूत्र अपना कार्य कर सकता था, परन्तु सन्नन्त प्रयोग होने से यह ज्ञापित होता है कि जब वक्ता की उस अर्थ को कहने की इच्छा (विवक्षा) होगी, तभी यह सूत्र अपना कार्य करेगा । इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है ।[3]

कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि (१।३।३७)

नयन्ति पौरुषम्

'कर्तृस्थे···' सूत्र 'नी' धातु से आत्मनेपद करता है, यदि इस धातु का कर्म कर्ता में स्थित होते हुए भी शरीर के अवयव से भिन्न हो । यहाँ सूत्रस्थ 'शरीर' पद से शरीर का अवयव रूप अर्थ लक्षित माना जाता है ।[4] इस सूत्र के 'अशरीरे' पद की दृष्टि से भारवि के 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्'[5] श्लोकांश का 'नयन्ति' पद इसलिए विचारणीय है कि यहाँ पर पौरुष रूप कर्म कर्तृस्थ होते हुए भी शरीर के अवयव से भिन्न है । अतः आत्मनेपद होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'वेः शब्दकर्मणः' (२।३।३४) सूत्र से 'वेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु का प्रयोग होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त होगा । 'नयन्ति' प्रयोग में 'नी' धातु के उपसर्ग-रहित होने के कारण आत्मनेपद का प्रश्न ही नहीं उठता ।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।३६, पृ० ७३ ।
२. मल्लिनाथ टीका, रघुवंश, ३।२९ ।
३. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६८ ।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), १।३।३७, पृ० ४८८ ।
५. किरातार्जुनीयम्, २।३५ ।

पदमञ्जरी में इस समस्या का समाधान 'केचिदाहुः' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'अपगम' (दूर होना या दूर करना) अर्थ में प्रयुक्त होने पर ही 'नी' धातु से आत्मनेपद होता है, अन्य अर्थों में नहीं। यहाँ पर तो 'नी' धातु 'करोति' अथवा 'प्राप्ति' अर्थ में प्रयुक्त हुई है।[2] शब्दकौस्तुभ में यह समाधान इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'केचित्' निर्देश द्वारा मिलता है।

शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि यहाँ पर कर्तृगामित्व अर्थ की विवक्षा न होने के कारण आत्मनेपद नहीं होगा।[2] शब्देन्दुशेखर में 'अन्ये तु' निर्देश द्वारा इस प्रयोग को प्रमादजन्य कहा गया है।[3]

आङ् उद्गमने (१।३।४०)

आक्रामति

'ज्योरुद्गमन इति वक्तव्यम्'[4] (यदि ज्योतिष् अर्थात् ग्रह नक्षत्र आदि का ही उद्गमन हो तभी 'क्रम' धातु से आत्मनेपद होता है) वार्तिक के प्रत्युदाहरण के रूप में 'आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्' प्रयोग किया गया है। धूम के ज्योति-वाचक न होने के कारण यहाँ पर आत्मनेपद नहीं हुआ है। दुर्घटवृत्तिकार कृत व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि उद्गमन चाहे प्रधान रूप में हो अथवा गौण रूप में, दोनों स्थितियों में धातु से आत्मनेपद होता है। 'आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्' प्रयोग के विषय में दुर्घटवृत्ति तथा पदमञ्जरी में कहा गया है कि यहाँ पर 'क्रम्' धातु के अर्थ उद्गमन के साथ व्याप्ति अर्थ भी है जबकि 'आक्रामते आदित्यः' प्रयोग में केवल उद्गमन अर्थ ही गम्यमान हो रहा है, उद्गमनपूर्वक व्याप्ति अर्थ नहीं।[5] परन्तु महि (संभवतः कोई कवि) ने उद्गमन पूर्वक व्याप्ति अर्थ में भी धातु से आत्मनेपद का प्रयोग किया है—'दिवमाक्रममाणेव केतुतारा भयप्रदा।' दुर्घटवृत्ति में यह श्लोकांश 'महि' के नाम से उद्धृत किया गया है, परन्तु यह भट्टिकाव्य में उपलब्ध हो जाता है।[6]

परन्तु यदि उद्गमनपूर्वक व्याप्ति अर्थ में भी 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है, तो 'नमः समाक्रामति···' श्लोकांश का 'समाक्रामति' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।३।३७, पृ० २३७।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।२३, पृ० ७४।
३. शब्देन्दुशेखर (भाग ३), १।३।३७, पृ० १६२७।
४. काशिका, १।३।४०।
५. पदमञ्जरी (भाग १), १।३।४०, पृ० २३७।
६. भट्टिकाव्य, ८।२३।

यहाँ पर भी यही अर्थ गम्यमान हो रहा है। अत: आत्मनेपद होना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने पहले तो भागवृत्तिकार के अनुसार इस प्रयोग को असाधु ठहराया है, परन्तु बाद में, सर्वरक्षित के नाम से, साधु भी माना है। सर्वरक्षित के अनुसार यहाँ पर 'क्रम' धातु का अर्थ केवल व्याप्त करना है। उद्गमन अर्थ के गम्यमान होने पर भी वह विवक्षित नहीं है। शब्दव्युत्पत्ति में विवक्षा प्रधान कारण होती है न कि उसकी सत्ता।

पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, शब्देन्दुशेखर में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'नभ: समाक्रामति चन्द्रमा क्रमात्' प्रयोग को प्रस्तुत करके कहा गया है कि यहाँ पर धातु केवल व्याप्ति अर्थ में ही प्रयुक्त हुई है, उद्गमन अर्थ में नहीं।[1] धातुवृत्ति में भी यही कहा गया है।[2]

प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् (१।३।४२)

प्रचक्रमु:

'प्रोपाभ्यां…' सूत्र समर्थ अर्थ मे प्रयुक्त 'प्र' तथा 'उप' उपसर्गों के पूर्व मे होने पर 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद करता है। 'समर्थ' पद का अर्थ है—प्रारम्भ करना। इस अर्थ की दृष्टि से दोनों उपसर्ग समानार्थक हैं।[3] उपर्युक्त सूत्र के अनुसार दुर्गासप्तशती के 'ते तां हन्तुं प्रचक्रमु:'[4] श्लोकांश का 'प्रचक्रमु:' पद विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर 'क्रम्' धातु 'प्र' उपसर्ग सहित है तथा 'प्र' का अर्थ आरम्भ करना है, अतः आत्मनेपद होना चाहिए।

शरणदेव ने यहाँ यह कहा है कि उपसर्ग के साथ धातु का सम्बन्ध होने से पहले ही उसका साधन से योग होता है। उसके बाद धातु का सम्बन्ध उपसर्ग से होता है।[5] अत: यहाँ पर पहले 'चक्रमु:' प्रयोग बना लिया जाएगा। उसके पश्चात् ही उसका 'प्र' से योग होगा। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त उपसर्गों की द्योतकता के सिद्धान्त पर आश्रित है। इस विषय में उनका कहना है कि धातु उपसर्गों के अर्थ को अपने में अन्तर्भावित कर साधन से संयुक्त होती है तथा इस प्रकार अभीष्ट अर्थ के निष्पन्न हो जाने पर उसके साथ उपसर्ग युक्त होते हैं, क्योंकि उन अभीष्ट अर्थों की वाचक तो स्वयं धातु ही है। उपसर्ग तो उन अर्थों का द्योतन

---

१. पदमञ्जरी (भाग १) १।३।४०, पृ० २३७।

२. धातुवृत्ति, पृ० १३६।

३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।४२, पृ० ७५।

४. दुर्गासप्तशती, २।४६।

५. परमलघुमञ्जूषा, पृ० ११९।

मात्र करते हैं। इस प्रकार 'प्रचक्रमुः प्रयोग में परस्मैपद का प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

अनुपसर्गाद्वा (१।३।४३)

संक्रमते

'अनुपसर्गाद्वा' सूत्र उपसर्ग रहित 'क्रम्' धातु से विकल्प द्वारा आत्मनेपद करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'वारिपूर्णां महीं कृत्वा पश्चात् संक्रमते' तथा 'अर्धरात्रे कलाहीने यदा संक्रमते रविः' वाक्यों के 'संक्रमते' प्रयोग पें आत्मनेपद का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर धातु उपसर्ग सहित है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इन प्रयोगों में 'सम्' उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है। अतः उपसर्गत्व के अभाव में यहाँ पर आत्मनेपद हो जाएगा। अपने समाधान की पुष्टि में शरणदेव ने कहा है कि इस उपसर्गप्रतिरूपकता की प्राप्ति 'क्रीडोऽनु···' (१।३।२१) सूत्र में 'परि' उपसर्ग के साहचर्य से होती है।

काशिकाकार ने 'क्रीडोऽनु···' सूत्र की वृत्ति में जो यह कहा है कि 'सम्' उपसर्ग के साहचर्य से 'अनु' आदि उपसर्ग ही इस सूत्र में अभिप्रेत हैं[1] उससे तो यही प्रतीत होता है कि 'सम्' उपसर्ग ही है, उसका प्रतिरूपक नहीं। यदि इसको उपसर्ग का प्रतिरूपक माना जाए तो वृत्तिकार का उपर्युक्त कथन असंगत हो जाएगा।

इस प्रश्न का उत्तर दुर्घटवृत्तिकार ने यह दिया है कि उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'सम्' शब्द अपनी उपसर्गता को छोड़कर कभी भी कर्मप्रवचनीय नहीं बनता। परन्तु 'तृतीयार्थे···' सूत्र के अनुसार 'अनु' पद उपसर्गत्व को छोड़कर कर्मप्रवचनीय भी बनता है। अतः 'सम्' के साहचर्य से यहाँ पर 'अनु' उपसर्ग के रूप में ही अभिप्रेत है, कर्मप्रवचनीय के रूप में नहीं। न्यास में भी काशिका के इस कथन का यही अभिप्राय स्वीकार किया गया है।[2]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अनुपसर्गाद्वा' सूत्र में 'अकर्मकाच्च' (१।३।३५) से 'च' की अनुवृत्ति जा रही है। अतः 'प्र' आदि से भिन्न उपसर्ग होने पर भी इस सूत्र द्वारा आत्मनेपद हो जाएगा।

शब्दकल्पद्रुम में शरणदेव के नाम से कहा गया है कि 'वृत्तिसर्ग······' (१।३।३८) सूत्र द्वारा उपसर्ग उपपद होने पर भी आत्मनेपद हो जाता है।[3] परन्तु

---

१. काशिका, १।३।२१।

२. न्यास (भाग १), १।३।२१, पृ० २२५।

३. शब्दकल्पद्रुम।

यह कथन दुर्घटवृत्ति के उपलब्ध संस्करण में नहीं मिलता ।

अकर्मकाच्च (१।३।४५)

अभिजानासि

'अकर्मकाच्च' सूत्र अकर्मक 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद करता है । इस सूत्र के अनुसार भट्टि तथा काशिकाकार के 'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि'[1] तथा 'अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्याव:'[2] वाक्यों के 'अभिजानासि' पद में परस्मैपद का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर 'ज्ञा' धातु के अकर्मक होने के कारण आत्मनेपद होना चाहिए ।

इस समस्या के चार समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि व्यवस्थितविभाषा द्वारा इस प्रयोग में परस्मैपद सिद्ध हो जाएगा । परन्तु यहाँ पर व्यवस्थित-विभाषा की बात कुछ समझ में नहीं आती, क्योंकि 'अकर्मकाच्च' सूत्र विकल्प से आत्मनेपद का विधान नहीं करता ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर ज्ञान के उपसर्जनवृत्ति-युक्त होने के कारण 'ज्ञा' धातु अज्ञानार्थक है । अत: परस्मैपद हो जाएगा । 'ज्ञा' धातु जब ज्ञानार्थक होगी, तभी आत्मनेपद हो सकेगा ।

तीसरा समाधान, भागवृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि महाभाष्य-कार द्वारा प्रयुक्त परस्मैपदी 'अभिजानामि'[3] प्रयोग द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

चौथा समाधान, रक्षित के नाम से यह दिया गया है कि वाक्यार्थ में कर्म के विवक्षित होने के कारण यहाँ पर 'ज्ञा' धातु सकर्मक है । अत: परस्मैपद हो जाएगा ।

चतुर्थ समाधान में यह दोष उपस्थित हो सकता है कि यदि वाक्यार्थ में कर्म की विवक्षा होने से आत्मनेपद का निषेध हो जाता है तो 'जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽपि दृष्टा मया' वाक्य में भी कर्म के विवक्षित होने के कारण आत्मनेपदी 'जाने' प्रयोग साधु नहीं माना जा सकता ।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहाँ पर 'अनुपसर्गाद् ज्ञ:' (१।३।७५) सूत्र से कर्त्रभिप्राय में 'तङ्' हो जाएगा ।

---

१. भट्टिकाव्य, ६।१३८ ।

२. काशिका में यह कथन कुछ पाठभेद के साथ मिलता है—'अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्याम: ।'

३. महाभाष्य में यह प्रयोग 'अभिजानामि देवदत्त' रूप में मिलता है ।—महाभाष्य, ३।२।११२, पृ० २६९ ।

उपाद्यमः स्वकरणे (१।३।५६)

उपायंस्त

'उपाद्यमः ···' सूत्र 'उप' उपसर्गपूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद का विधान करता है, यदि धातु का अर्थ 'स्वकरण' हो। महाभाष्यकार ने 'स्वकरण' पद का सामान्य रूप से शाब्दिक अर्थ 'अस्व (जो अपना नहीं है) को स्वीकार करना किया है।[1] काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी के अनुसार इसका अर्थ 'पाणिग्रहण' है।[2] 'स्वकरण' शब्द के काशिका आदि सम्मत अर्थ की दृष्टि से 'उपायंस्त महास्त्राणि'[3] 'उपायंसत नासवम्'[4] 'शस्त्राण्युपायंसत'[5] तथा 'नोपायध्वं भयं सीताम्'[6] श्लोकांशों में 'उपायंस्त' 'उपायंसत' तथा 'उपायध्वम्' प्रयोगों में आत्मनेपद का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर 'यम्' धातु का प्रयोग 'पाणिग्रहण' रूप विशिष्ट अर्थ में न होकर 'स्वीकार' मात्र अर्थ में हुआ है।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान, रक्षित तथा भागवृत्ति के मत रूप में यह कि इस सूत्र में 'कर्तृस्थे···' (१।३।३७) सूत्र से 'कर्तृस्थे' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यहाँ पर 'स्वकरण' का अर्थ आत्यन्तिक रूप से स्वीकार करना है अर्थात् दूसरे शब्दों में कर्त्ता द्वारा सर्वथा अपना लिए जाने को 'स्वकरण' माना गया। उपर्युक्त प्रयोगों में 'स्वकरण' का आत्यन्तिक स्वीकार रूप अर्थ विद्यमान है, भले ही वहाँ काशिका आदि सम्मत 'पाणिग्रहण रूप अर्थ' विद्यमान न हो। इसलिए इन प्रयोगों में आत्मनेपद सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान, जयमंगला के कथन रूप में, यह दिया कि इन 'उपाङ्' पूर्वक प्रयोगों में 'यम्' धातु से आत्मनेपद हुआ है। यहाँ 'स्वकरण' औपचारिक है। तीसरा समाधान यह दिया गया है कि 'समुदाङ्भ्यो···' (१।३।७५) सूत्र से यहाँ पर 'तङ्' हो जाएगा। यह समाधान शरणदेव ने 'अन्यः' निर्देश द्वारा दिया है, परन्तु यह जयमंगला में मिलता है।[7]

---

१. महाभाष्य, १।३।५६।
२. काशिका, १।३।५६।
३. भट्टिकाव्य, १५।२१।
४. वही, ८।३२।
५. वही, १।१६।
६. वही, ७।१०१।
७. जयमंगला, भट्टिकाव्य, १५।२१।

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च (१।३।६१)

मम्रे

'मृङ्' धातु 'ङित्' होने के कारण आत्मनेपदी है। अतः 'म्रियतेर्लुङ्···' सूत्र द्वारा नियम किया गया है कि इस धातु से आत्मनेपद लुङ्, लिङ् तथा शित् लकारों में ही होता है, अन्य लकारों में नहीं।[1] इस नियम के अनुसार भट्टि के 'मम्रे पतङ्गवद्वीरैः[2] श्लोकांश का 'मम्रे' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यह 'लिट्' लकार का प्रयोग है, अतः आत्मनेपद नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'कर्तृस्थ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'म्रियतेर्लुङ...' सूत्र केवल कर्तृवाच्य में ही नियामक होगा। भट्टि का उपर्युक्त प्रयोग कर्तृवाच्य का न होकर भाववाच्य का है। अतः भाव 'तङ्' हो जायगा। भाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है।[3] जयमंगला टीका के अनुसार भी इस प्रयोग में भाव में ही 'लिट्' लकार माना गया है।[4]

भुजोऽनवने (१।३।६६)

भोक्ष्यते

'भुजोऽनवने' सूत्र रौधादिक 'भुज्' धातु से 'अनवन' अर्थ में आत्मनेपद करता है। यह धातु पालन तथा अभ्यवहार अर्थों में पढ़ी गई है। 'अनवन' का अर्थ है—पालन न करना। इस प्रकार पालन अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'भुज्' धातु आत्मनेपदी होगी। 'अपालन' अर्थ की दृष्टि से 'बुभुजे पृथ्वीपालः पृथिवीमेव केवलाम्'[5] 'दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते महीम्'[6] तथा 'बुभुजाते चिरं महीम्' श्लोकांशों के 'बुभुजे', 'भोक्ष्यते' तथा 'बुभुजाते' प्रयोगों में यह दोष उपस्थित होता है कि यहाँ पर 'भुज्' धातु के पालन अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण उससे आत्मनेपद नहीं होना चाहिए।

इस दोष के निवारण हेतु दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, रक्षित के मत रूप में, यह कि इस सूत्र की रचना 'भुजो भक्षे' रूप में न करके 'भुजोऽनवने' रूप

---

१. काशिका, १।३।६१।
२. भट्टिकाव्य, १४।४२।
३. भाषावृत्ति, १।३।६७।
४. जयमंगला, भट्टिकाव्य, १४।४२।
५. रघुवंश, ३।४।
६. वही, १५।१।

में की गई है जिससे यह ज्ञापित होता है कि पालन अर्थ से भिन्न उपभोग आदि आदि अर्थ होने पर धातु से आत्मनेपद होता है। इस प्रसंग में तत्त्वबोधिनी का मत भी द्रष्टव्य है जिसमें यह कहा गया है कि 'भुजऽदने' के स्थान पर पर्युदास प्रतिषेध से युक्त 'भुजोऽनवने' जो निर्देश किया गया उसके दो प्रयोजन हैं। एक यह कि यहाँ विप्रयोग को विशेष का वाचक मानते हुए रौधादिक 'भुज्' का ग्रहण किया जाए तथा दूसरा यह कि 'अदन' अर्थ से भिन्न उपभोग आदि अर्थों में भी इस सूत्र से आत्मनेपद हो जाएगा[1] शब्दकल्पद्रुम में 'भुज्' धातु के त्राण, पालन तथा उपभोग ये तीन अर्थ माने गए हैं। इनमें से उपभोग अर्थ होने पर धातु से आत्मनेपद होगा। शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्त कौमुदी तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यहाँ पर 'भुज्' धातु को उपभोग अर्थ में प्रयुक्त माना गया है। अतः इन प्रयोगों में आत्मनेपद का प्रयोग साधु है।[2]

दूसरा समाधान, पुरुषोत्तमदेव के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहाँ पर उपभोग अर्थ गौण है तथा आत्मसात्करण अर्थ मुख्य है जो पालन अर्थ से भिन्न होने के कारण एक प्रकार से 'अनवन' ही है। इसलिए यहाँ पर आत्मनेपद का प्रयोग उचित है। तत्त्वबोधिनी में भी उपभोग अर्थ को आत्मसात्करण का उपलक्षण माना गया है[3] तथा शब्दकौस्तुभ में इन प्रयोगों को आत्मसात्करण अर्थ में प्रयुक्त माना गया है। इसी समाधान द्वारा' वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते', वाक्य का आत्मनेपदी 'भुङ्क्ते' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्ति में चान्द्र व्याकरण के नाम से 'भुजो भक्षे' सूत्र उद्धृत करते हुए कहा गया है कि इस सूत्र की दृष्टि से ये प्रयोग असाधु हैं। परन्तु चान्द्र-व्याकरण में यह सूत्र इस रूप में न मिलकर 'भुजोऽपालने' (१।४।११९) रूप में मिलता है।

अनुपसर्गाज्ज्ञः (१।३।७६)

अनुजज्ञे

यदि क्रिया का फल कर्ता को मिले तो 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' सूत्र उपसर्ग-रहित 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद करता है। इस सूत्र के अनुसार भट्टि के 'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य'[4] श्लोकांश का 'अनुजज्ञे' प्रयोग चिन्त्य है,

---

१. तत्वबोधिनी (भाग २), १।३।६६, पृ० ४६५।

२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।३।६६, पृ० ८०।

३. तत्वबोधिनी भाग ३), १।३।६६, पृ० ४६५।

४. भट्टिकाव्य, १।२३।

क्योंकि यहाँ पर उपसर्ग सहित धातु का प्रयोग हुआ है। अतः आत्मनेपद नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान, जयमंगला के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस वाक्य में प्रयुक्त 'नृप' शब्द को तृतीयान्त 'नृपेण' में परिवर्तित करके 'अनुज्ञातं नृपेण' अर्थ किया जाए।[1] इस प्रकार विभक्ति विपरिणाम द्वारा कर्मवाच्य का प्रयोग मानते हुए 'भावकर्मणोः' (१।३।१३) सूत्र से कर्म में आत्मनेपद हो जाएगा। शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी तथा सुधानिधि में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[2]

किन्तु यह समाधान वास्तव में खींचातानी का ही समाधान लगता है। कवियों के निरंकुश होने के कारण विभक्ति व्यत्यय द्वारा इन प्रयोगों को सिद्ध करना कुछ उचित नहीं जान पड़ता।

शब्दकल्पद्रुम में इस प्रयोग को 'अनुजज्ञे' पद में 'अनु' को उपसर्ग न मानकर उसका प्रतिरूपक मानते हुए सिद्ध किया गया है।[3]

शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८)

प्रशास्महे

जिन धातुओं से विशेषरूपेण आत्मनेपद का विधान किया गया है उनसे इतर धातुओं से 'शेषात् कर्तरि...' सूत्र परस्मैपद का विधान करता है। इस नियम के अनुसार परस्मैपदी 'शास्' धातु का भवभूति द्वारा प्रयुक्त 'इदं गुरुभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे'[4] प्रयोग व्याकरण-सम्मत नहीं हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग परस्मैपदी 'शास्' धातु से निष्पन्न न होकर 'आङः शासु इच्छायाम्' से निष्पन्न हुआ है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'आङः शासु' धातु सदैव 'आङ्' पूर्वक होती है परन्तु यहाँ पर तो यह 'आङ्' से युक्त न होकर 'प्र' से युक्त है। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आङ् पूर्वक 'शास्' धातु का प्रयोग प्रायिक है अर्थात् कभी-कभी अन्य उपसर्गों के साथ भी इस धातु का प्रयोग देखा जाता है। यही समाधान धातुवृत्ति में आत्रेय के नाम से तथा उत्तररामचरित की चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका में दिया

---

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य, १।२३।

२. सिद्धान्त कौमुदी (भाग ३), १।३।७६, पृ० ५०४।

३. ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य इत्यनुशब्दस्योपसर्गप्रतिरूपकत्वेनानुपसर्गत्वात्, शब्दकल्पद्रुम।

४. उत्तररामचरित, १।१।

गया है ।[1]

पच्यते

इसी प्रकार 'स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते' वाक्य का 'पच्यते' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर धातु के कर्ता में प्रयुक्त होने के कारण उससे परस्मैपद होना चाहिए, आत्ममेपद नहीं ।

इस दोष के निवारण हेतु प्रस्तुत प्रयोग को कर्ता का न मानकर कर्मकर्ता का माना गया है। जब सौकर्य का अतिशय द्योतित करने की विवक्षा होती है तब कर्म आदि कारक भी कर्ता बन जाते हैं। कर्मकर्ता के प्रयोगों में कर्मकर्ता के रूप में विवक्षित होता है तथा इस कारण सकर्मक क्रिया अकर्मक बन जाती है।[2] कर्मकर्ता के प्रयोगों की मुख्य विशेषता है—धातु का आत्मनेपदी हो जाना। अतः उपर्युक्त प्रयोग में आत्मनेपद का प्रयोग साधु है ।

गच्छते

'दासत्वं गच्छते नार्या वृद्धस्तु पुरुषोत्तमः' वाक्य का 'गच्छते' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'न गतिहिंसा···' (१।३।१५) सूत्र से कर्मव्यतिहार में गत्यर्थक धातुओं से आत्मनेपद का निषेध हो जाने के कारण इस सूत्र द्वारा परस्मैपद होना चाहिए। दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग को चिन्त्य बताया है ।

सस्रे

इसी प्रकार का दोष रघुवंश के 'नालानं करिणां सस्रे' प्रयोग में उपस्थित होता है ।

इस दोष के निवारण के लिए दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, पाठान्तर का आश्रय लेकर यह दिया गया है कि यहाँ पर 'नालानाम्' पाठ न होकर 'नालानैः' पाठ होना चाहिए। यह पाठ मानने पर कर्म की विवक्षा होने से भाव में आत्मनेपद हो जाएगा। शब्दकल्पद्रुम में यह समाधान विकल्प के रूप में दिया गया है ।

दूसरा समाधान, किसी टीका के नाम से, यह दिया गया है कि यह प्रयोग कर्मकर्ता का है। शब्दकल्पद्रुम में ठीक यही समाधान रमानाथ के नाम से दिया गया है। परन्तु स्वयं कोशकार के मत में यह समाधान चिन्त्य है, क्योंकि कर्म-

---

१. (क) चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका, उत्तररामचरित, १।१ ।
(ख) धातुवृत्ति, पृ० ३३३ ।

२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), पृ० ५२६-५३० ।

कर्ता के प्रयोग केवल कर्मस्थभावक धातुओं से ही साधु माने जाते हैं, कर्त्तृस्थभावक धातु से नहीं। यहाँ 'सृ' धातु कर्मस्थभावक न होकर कर्त्तृस्थभावक है। इसलिए उससे कर्मकर्ता का प्रयोग नहीं बन सकता। अतः कोशकार का विचार है कि 'गणकार्यमनित्यम्' परिभाषा द्वारा यहाँ पर आत्मनेपद मानकर इस प्रयोग को साधु माना जा सकेगा।[1]

मुच्यते

'मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति' वाक्य में कर्म में 'तङ्' होने के कारण 'पापेभ्यः' के स्थान पर 'पापैः' होना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहाँ यह कहा है कि यहाँ पर कर्मवद्भाव में कर्ता में 'यक्' होकर 'तङ्' हुआ है। दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर 'मुच्' धातु अन्तर्भावित' 'णिच्' अर्थ वाली है। अतः 'भुज्यते' का अर्थ 'त्याज्यते' है।

शुद्धचते

'रजसा शुद्धचते नारी' तथा 'कदाचित् 'कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी' 'वाक्यों में 'शुद्धचते' 'तथा कुप्यते' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि यहाँ पर कर्ता में प्रत्यय होने के कारण आत्मनेपद न होकर परस्मैपद होना चाहिए।

'शुद्धचते प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि 'शुद्ध' शब्द से 'तत्करोति' अर्थ में ' णिच्' हाकर कर्मवाच्य में 'भावकर्मणोः' सूत्र से 'तङ्' हुआ है। 'कुप्यते' प्रयोग के लिए भी ऐसा ही समाधान दिया गया है। 'कुप्' धातु से 'क्विप्' होकर कर्ता में 'क्यङ्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। शब्दकल्पद्रुम में भी यही समाधान दिया गया है।[2]

चुचुम्बे

कुमारसंभव के 'प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे'[3] श्लोकांश के 'चुचुम्बे' पद में आत्मनेपद का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ पर धातु कर्ता में प्रयुक्त हुई है।

दुर्घटवृत्तिकार ने, अनुन्यास के मत रूप में, यह समाधान दिया है कि यहाँ पर कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद हुआ है। शब्दकल्पद्रुम में भी यही समाधान दिया

---

१. 'नालानं करिणां सस्रे इति रघो कर्मकर्तृत्वादिति रमानाथः। तच्चिन्त्यं कर्तृस्थभावधातूनां तन्निषेधात्। वस्तुतस्तु गणकृतानित्यत्वादात्मनेपदम्।'—शब्दकल्पद्रुम।

२. 'कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी।' इति तु कुप्यतीति तु कुप् ततः स इवाचरति इति ङ्ये साध्यम्—शब्दकल्पद्रुम।

३. कुमारसंभव, ३।३८।

गया है।[1]

अन्वेषमाणम्

दैवादिक 'इष् गतौ तथा तौदादिक 'इष् इच्छायाम्' दोनों धातुएँ परस्मैपदी हैं। अतः 'अन्वेषमाणम् प्रेषे' तथा 'अध्येषामहे' प्रयोगों में आत्मनेपद का प्रयोग चिन्त्य है।

दुर्घटवृत्तिकार के विचार में ये प्रयोग परस्मैपदी धातुओं से सिद्ध न होकर भौवादिक 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' आत्मनेपदी धातुओं से निष्पन्न हुए हैं। काशिका तथा पदमञ्जरी में 'अध्येषामहे' प्रयोग के स्थान पर 'अधीच्छामः' पाठ मिलता है। हरदत्त ने कहा है कि 'अध्येषामहे' पाठ अपपाठ है, क्योंकि यह शब्द 'ईष इच्छायाम्' से नहीं बन सकता।[2]

नदन्ते

इसी प्रकार की कठिनाई दुर्गासप्तशती के 'नन्दते'[3], 'ददृशे'[4] तथा 'शृणुष्व'[5] प्रयोगों में उपस्थित होती है।

दुर्घटवृत्तिकार ने पहले तो यहाँ यह कहा है कि ये प्रयोग आर्ष होने के कारण साधु हैं। बाद में यह समाधान भी दिया है कि ये प्रयोग कर्मकर्ता में हुए हैं।

शब्दकल्पद्रुम में 'नन्दते' प्रयोग की सिद्धि गणकार्य की अनित्यता के आधार पर की गई है।[6] शब्दकल्पद्रुम के लेखक के अनुसार 'ददृशे' प्रयोग में कर्मव्यतिहार की विवक्षा होने के कारण 'तङ्' हुआ है।[7]

प्राप्स्यते

'स्वराज्यं प्राप्स्यते भवान्'[8] श्लोकांश के 'प्राप्स्यते' पद में भी धातु के कर्ता में प्रयुक्त होने के कारण परस्मैपद होना चाहिए।

इस प्रयोग को भी आर्ष होने के कारण साधु माना गया है। शब्दकल्पद्रुम में

---

१. 'प्रियामुखं किम्पुरुषचुचुम्बे' इति। व्यतिहारे आत्मनेपदम्।—शब्दकल्पद्रुम।
२. पदमञ्जरी (भाग १), ३।३।१६१, पृ ७१०।
३. दुर्गासप्तशती, १२।१५।
४. वही, १।६१।
५. वही, ४।४२।
६. 'नन्दते च कुलं पुंसाम्'। इति गणकृतानित्यत्वात्।—शब्दकल्पद्रुम।
७. ततः स ददृशे च तौ इति व्यतिहारे आत्मनेपदम्।—शब्दकल्पद्रुम।
८. दुर्गासप्तशती, १३।२०।

इस प्रयोग को गणकार्य की अनित्यता के आधार पर साधु सिद्ध किया गया है।[1]

वलमानः

'ज्वलमानः' प्रयोग में भी धातु के परस्मैपदी होने के कारण 'शानच्' न होकर 'शतृ' होना चाहिए। इसी प्रकार का दोष दुर्घटवृत्तिकार ने 'वलमानो नीलः' प्रयोग में माना है परन्तु 'वल्' धातु के आत्मनेपदी होने के कारण यहां यह प्रश्न अनुचित प्रतीत होता है। गणपतिशास्त्री ने यहां 'लोलमानः' पाठ की संभावना की है। अपनी संभावना की पुष्टि में उन्होंने वामन के ग्रन्थ से 'लोलमानादयश्चानशि' स्थल उद्धृत किया है।[2]

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां पर 'शानच्' प्रत्यय न मानकर ताच्छील्य अर्थ में 'शानच्' प्रत्यय माना है। वामन ने भी 'लोलमानः' प्रयोग के लिए यही समाधान दिया है।[3]

प्रसज्यते

'षञ्ज्' धातु के परस्मैपदी होने के कारण 'प्रसज्यते भूः' प्रयोग आत्मनेपदी न होकर परस्मैपदी होना चाहिए।

इस प्रयोग के विषय में, धातु प्रदीप के नाम से, यह कहा गया है कि महाभाष्यकार द्वारा 'प्रसज्यते' प्रयोग प्रयुक्त किए जाने के कारण यह प्रयोग साधु है। धातुपाठ में 'षञ्ज गतौ' पाठ न मिलकर 'षञ्ज संगे' पाठ मिलता है। इसके अतिरिक्त धातु प्रदीप में इस धातु के विचार प्रसंग में यह मत उपलब्ध नहीं होता।

वस्तुतः इस प्रकार के प्रयोग निरंकुश माने जाने चाहिए। व्याकरण के नियमों की ओर ध्यान दिए बिना ही प्रयोक्ताओं ने इन प्रयोगों में परस्मैपदी धातुओं को आत्मनेपदी मान लिया है। इस प्रकार का ऊहापोह अथवा खींचातानी करके व्याकरणसंगत शब्दों को सिद्ध करना वैयाकरणों का स्वभाव ही बन चुका है। जहां तक पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से इन प्रयोगों के साधुत्व का प्रश्न है, इस प्रकार के प्रयोगों को असाधु ही मानना होगा। इनको साधु मानने का एक ही आधार हो सकता है और वह है लौकिक प्रयोग का आधार।

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः (१।३।८६)

प्रबोध्यन्ते

'बुधयुध···' सूत्र णिजन्त' 'बुध्' आदि धातुओं से परस्मैपद का विधान

---

१. स्वराज्यं प्राप्स्यते भवान्। इति गणकृतानित्यत्वाद्।—शब्दकल्पद्रुम।
२. दुर्घटवृत्ति, पृ० २२, पादटिप्पण, ४, ५।
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।८।।

करता है । इस सूत्र की दृष्टि से 'पातालहंसाः पटुभिर्निनादैः प्रबोधयन्ते नृप नागकन्याः' श्लोकांश का 'प्रबोधयन्ते' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर धातु के ण्यन्त होने के कारण आत्मनेपद न होकर परस्मैपद होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'णेरणौ...' (१।३।६७) सूत्र द्वारा यहां पर आत्मनेपद हो जाएगा । दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है—नागकन्याएं हंसों को प्रेरित करती हैं तथा हंस उनको प्रबुद्ध करते हैं। यहां अण्यन्त अवस्था का कर्म (हंस) ण्यन्त अवस्था का कर्ता बन गया है ।

इसी प्रकार माघ तथा भारवि द्वारा प्रयुक्त 'करेणुरारोहयते निषादिनम्'[1] तथा 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः'[2] श्लोकांशों के 'आरोहयते' तथा 'दर्शयते' पदों में 'णेरणौ...' सूत्र से आत्मनेपद हुआ है ।

निगरणचलनार्थेभ्यश्च (१।३।८७)

कम्पयते

'निगरण...' सूत्र निगरणार्थक तथा चलनार्थक (कम्पन अर्थ वाली) ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद का विधान करता है । इस नियम के अनुसार 'शिरः कम्पयते युवा' वाक्य के 'कम्पयते' पद में 'कपि' धातु से आत्मनेपद का प्रयोग चिन्त्य है ।

दुर्घटवृत्तिकार ने पहले तो, भागवृत्ति के मत के रूप में, इस प्रयोग को चिन्त्य कहा है परन्तु बाद में पाठभेद द्वारा साधु सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस समाधान के अनुसार 'कम्प्ययते' पाठ होना चाहिए जिसमें 'कम्पी+अयते' दो पदों की कल्पना की गई है तथा 'अयते' को 'अय गतौ' धातु से निष्पन्न माना गया है । 'अय्' धातु आत्मनेपदी है ।

'शिरः कम्पयते युवा' प्रयोग किस ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है तथा उस प्रसंग में 'शिरः कम्पी अयते' पाठ कहां तक ठीक होगा आदि बातों को जाने बिना उचित निर्णय कैसे दिया जा सकता है । यों अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी 'कम्प्ययते' पाठ दुर्घटवृत्तिकार की कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है।

---

१. शिशुपालवध, १२।५ ।
२. किरातार्जुनीयम्, १।१० ।

प्रथम अध्याय, चतुर्थ पाद

यूस्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)

अतिलक्ष्म्यै ब्राह्मणाय

'यूस्त्र्या...' सूत्र द्वारा ईकारान्त तथा ऊकारान्त स्त्रीवाचक शब्दों की 'नदी' संज्ञा का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि में 'अतिलक्ष्म्यै ब्राह्मणाय' वाक्य में 'अतिलक्ष्म्यै' शब्द सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर वार्तिक द्वारा 'लक्ष्मी' शब्द का 'अति' उपसर्ग के साथ 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे'[1] वार्तिक द्वारा समास हुआ है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'अतिक्रान्तो लक्ष्मीम् अतिलक्ष्मी ब्राह्मणः' अर्थात् वह ब्राह्मण जिसने लक्ष्मी को अतिक्रांत कर लिया है। इस विग्रह के अनुसार 'अतिलक्ष्मी' पद में 'लक्ष्मी' अंश समुदायार्थ (ब्राह्मण) की दृष्टि से स्त्रीवाचका नहीं है। अतः यहां 'लक्ष्मी' शब्द की नदी संज्ञा के अभाव में 'नदी' संज्ञक कार्य नहीं हो सकेंगे।

महाभाष्य में कात्यायन ने 'प्रथमलिङ्ग्रहणम्'[2] वार्तिक द्वारा प्रस्ताव रखा है कि इस सूत्र में इतनी बात और कह दी जानी चाहिए कि प्रथम लिंग में जो ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द हैं उनका भी इस सूत्र में ग्रहण होना चाहिए। इससे 'अतिलक्ष्मी' जैसे प्रयोगों में 'लक्ष्मी' शब्द की पूर्वावस्था अर्थात् स्वतंत्र स्थिति, जब वह स्पष्टतः स्त्रीवाचक है के आधार पर 'नदी' संज्ञा हो जाएगी।

परन्तु पतञ्जलि के मत में इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है। इन प्रयोगों में अवयवभूत लक्ष्मी शब्द की स्त्रीवाचकता के आधार पर नदी संज्ञा हो जाएगी।[3] शब्दकौस्तुभ और भाषावृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है। दुर्घटवृत्तिकार ने यह समाधान, रक्षित के नाम से, प्रस्तुत किया है।

सुमतये प्रियविप्राय

परन्तु यह पतञ्जलि का समाधान मान लिया जाए तो 'ङिति ह्रस्वश्च'

---

१. महाभाष्य, २।२।१८।

२. वही, १।४।३। वा २।

१. महाभाष्य, १।४।३

(१।४।६) सूत्र की व्याख्या में कठिनाई उपस्थित होती है। पतञ्जलि के उपर्युक्त समाधान की दृष्टि से 'सुमतये प्रियविप्राय' वाक्य में 'सुमतये' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'सुमति' शब्द के अवयवभूत 'मति' शब्द के स्त्री वाचक होने के कारण 'ङिति ह्रस्वश्च' सूत्र द्वारा विकल्प से नदी संज्ञा की प्राप्ति होगी। अतः नित्य 'सुमतये' प्रयोग न बनकर वैकल्पिक 'सुमतयै' प्रयोग भी बनने लगेगा।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के नाम से, यह दिया गया है कि 'ङिति ह्रस्वश्च' सूत्र से सर्वदा स्त्रीवाचक शब्दों की ही वैकल्पिक नदी संज्ञा होती है। अवयवभूत शब्दों की स्त्रीवाचकता के आधार पर यह सूत्र वैकल्पिक नदी संज्ञा का विधान नहीं करता।[1] कैयट ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह सूत्र 'अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम्' वचन का अपवाद है।[2]

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री (१।४।४)

हे सुभ्रु

जिन स्त्रीवाचक दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों से 'इयङ्' तथा 'उवङ्' का विधान किया गया है उनकी नदी संज्ञा का 'नेयङुवङ्'···सूत्र द्वारा निषेध किया गया है इस नियम के अनुसार भट्टि तथा कालिदास के 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रु !'[3] तथा विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृहे[4] श्लोकांशों के 'सुभ्रु' पद की साधुता चिन्त्य है, क्योंकि 'सुभ्रु' शब्द की नदी संज्ञा न होने के कारण 'अम्बार्थ···' (७।३।१०७) सूत्र द्वारा ह्रस्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान, भट्टिटीका के मत रूप में, यह कि 'अप्राणिजाते···'[5] वार्तिक द्वारा 'ऊङ्' प्रत्यय करके 'सु' उपसर्ग के साथ समास होने पर भ्रू 'शब्द के उपसर्जन हो जाने के कारण उसके ऊकार को 'गोस्त्रियौ···' सूत्र द्वारा ह्रस्व हो जाएगा। उसके पश्चात् 'ऊङ्तः' (४।१।६६) सूत्र द्वारा 'सुभ्रु' शब्द से स्त्रीलिंग में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। इस 'ऊङ्' के समुदाय का भक्त होने के कारण नदी संज्ञा होकर ह्रस्व हो जाएगा। यही समाधान मल्लिनाथ ने 'अन्येतु' निर्देश द्वारा दिया है।[6]

---

१. भाषावृत्ति, १।४।६।
२. प्रदीप, महाभाष्य, १।४।३, पृ० ३४८।
३. भट्टिकाव्य, ६।११।
४. कुमारसंभव, ५।४३।
५. महाभाष्य, ४।१।६६, वा० १।
६. मल्लिनाथ टीका, कुमारसंभव, ५।४३।

परन्तु शब्दकौस्तुभ में इस समाधान का खंडन इस प्रकार किया गया है कि समुदाय भक्तता की बात प्रमाण रहित है। इसके अतिरिक्त यहां 'सुभ्रु' शब्द के 'उ' के स्थान पर 'ऊङ्' आदेश हुआ है। अतः यह 'ऊ' आदेश अन्तवद्भाव के अनुसार 'भ्रू' का अन्तवत् माना जाएगा। इस रूप में यहाँ भी 'ऊ' स्थानी है ही और यदि समुदाय भक्तता का तर्क मान भी लिया जाए तो भी 'अंगाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च' परिभाषा के अनुसार उत्तरपद का भी ग्रहण होने से उपर्युक्त प्रक्रिया में 'ऊ' में 'उवङ्' की स्थानता होगी ही।[1]

दूसरा समाधान, श्रीकण्ठ के मत रूप में यह दिया गया कि इस सूत्र में 'वाभि' (१।४।५) सूत्र से 'वा' पद का अपकर्षण करके व्यवस्थितविभाषा द्वारा यहाँ पर नदी संज्ञा हो जाएगी। परन्तु इस समाधान का भी खंडन शब्दकौस्तुभ तथा तत्त्वबोधिनी में इस प्रकार किया गया है कि यदि इस सूत्र में व्यवस्थित-विभाषा मानी जाती है तो सूत्र का 'नञ्' पद तथा पूरा सूत्र 'वाणि' दोनों ही अनावश्यक हो जाएंगे क्योंकि व्यवस्थितविभाषा से दोनों ही कार्य हो सकेंगे।[2]

चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका में कहा गया है कि वस्तुतः शोक विवश राम में ज्ञान का अभाव होने के कारण च्युत संस्कार युक्त दोष भी गुण है। अतः यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हुए भी विचारणीय नहीं है।[3]

पदमञ्जरी में 'अन्येतु' तथा शब्दकौस्तुभ में 'केचित्तु' निर्देश द्वारा इसी सूत्र के प्रसंग में कहा गया है कि 'सकृद्बद्धमनित्यम्' परिभाषा के अनुसार यहां पर निषेध अनित्य है। अतः नदी संज्ञा हो जाएगी।[4] परन्तु भट्टोजि दीक्षित के अनुसार यह मत उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो ऐसे सभी प्रमादजन्य प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[5]

व्याख्याकारों के उपर्युक्त विवाद तथा विविध मतों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सुभ्रु' जैसे प्रयोग पाणिनीय व्याकरण की कसौटी पर खरे नहीं माने जा सकते। कवियों कीं निरंकुशता के आधार पर भले ही इन प्रयोगों को साधु माना जाए।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।४ पृ० १०४।
२. (क) शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।४, पृ० १०३।
   (ख) तत्त्वबोधिनी (भाग १), ४।१।५, पृ० २७६।
३. चन्द्रकला विद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, ६।११।
४. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।४, पृ० २६७।
५. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।४, पृ० १०४।

वर्षाम्वे

यदि 'वामि' सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति ला कर 'नेयङुवङ्....' सूत्र में व्यवस्थितविभाषा मान ली जाए तो 'वर्षाभू' शब्द की नित्य नदी संज्ञा नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'न भूसुधियोः' (६।४।८५) सूत्र से 'यण्' का निषेध होने पर 'उवङ्' प्राप्ति की दशा में 'नेयङुवङ्....' सूत्र से वैकल्पिक नदी संज्ञा होगी।

यहाँ यह कहा गया है कि 'नेयङुवङ्....' सूत्र में 'स्थान' पद के ग्रहण से 'वर्षाभू' शब्द के अपवाद सूत्र 'वर्षाभ्वश्च' (६।४।८४) का विषय होने के कारण नित्य नदी संज्ञा होकर 'आट्' आदि कार्य हो सकेंगे। तत्वबोधिनीकार के अनुसार 'स्थान' पद के ग्रहण का प्रयोजन यही है कि जहाँ पर 'इयङ्' अथवा 'उवङ्' होते हैं वहीं नदी संज्ञा का निषेध हो सके। परन्तु जहाँ पर उनका अपवाद सूत्र द्वारा बाध हो जाए, वहाँ निषेध न हो सके।[1]

शेषो घ्यसखि (१।४।७)

सखिना

'शेषो घ्यसखि' सूत्र 'सखि' शब्द को छोड़ कर नदी संज्ञक शब्दों में भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों की 'घि' संज्ञा करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'सखिना वानरेन्द्रेण' वाक्यांश के 'सखिना' पद में यह विचारणीय है कि 'सखि' शब्द की 'घि' संज्ञा न होने के कारण यहाँ पर घिसंज्ञक कार्य ('टा' को ना' आदेश) कैसे हो गया?

दुर्घटवृत्तिकार ने, अनुन्यास के कथन रूप में, यह कहा है कि 'अलवणा यवागूः' जैसे प्रयोगों के समान यहाँ 'असखि' पद में भी 'नञ्' का प्रयोग अल्पार्थ में हुआ है अर्थात् कहीं-कहीं सखि शब्द भी 'घि' संज्ञक हो सकता है। इस प्रकार यह प्रयोग साधु माना जा सकेगा।

पदमञ्जरी में इस प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि ऋषिगण छन्द के अनुसार प्रयोग करते थे।[2]

अतिसखेः

इसी प्रकार की कठिनाई 'अतिसखि' शब्द के विविध प्रयोगों में आती है। 'सखि' शब्द की 'घि' संज्ञा का निषेध होने के कारण यहाँ 'घि' संज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती। दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रसंग में उपलक्षण के रूप में 'अतिसखेः' प्रयोग प्रस्तुत किया है। इस प्रयोग में 'घि' संज्ञा के अभाव में 'ख्यत्यात्परस्य'

---

१. तत्त्वबोधिनी (भाग २), १।४।४, पृ० २७२-२७३।
२. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।८, पृ० २६६।

(६।१।११२) सूत्र से 'उत्व' की प्राप्ति होती है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'शेषोघ्यसखि' सूत्र में प्रथमान्त निर्देश 'असखि' का तात्पर्य यह है कि इस सूत्र द्वारा केवल 'सखि' शब्द की ही 'घि' संज्ञा का निषेध अभीष्ट है। इसलिए इकारान्त शब्द 'अतिसखि' की 'घि' संज्ञा का निषेध नहीं हो सकेगा। स्पष्ट बात यह है कि यहाँ पर 'सखि' शब्द न होकर 'अतिसखि' शब्द है, इसलिए इसकी 'घि' संज्ञा होगी ही। इस प्रसंग को और अधिक स्पष्ट करते हुए शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्तकौमुदी में कहा गया है कि समुदाय में सखित्व के अभाव के कारण वहाँ पर निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती।[1] न्यासकार के अनुसार 'घि' संज्ञा दो प्रकार की होती है—अवयवाश्रित तथा समुदायाश्रित। यहाँ पर अवयवाश्रित 'घि' संज्ञा का ही निषेध किया गया है, समुदायाश्रित 'घि' संज्ञा का नहीं।[2]

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'अतिसखि' शब्द के सख्यन्त होने के कारण तदन्तविधि द्वारा इसकी 'घि' संज्ञा का निषेध हो जाता है।

दुर्घटवृत्ति, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ तथा प्रदीप टीका में इसी सूत्र की व्याख्या में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन न तदन्तविधिरस्ति' परिभाषा द्वारा 'सखि' शब्द का ही निषेध होगा, तदन्त का नहीं।[3]

बहुसख्या

यदि 'अतिसखि' शब्द की 'घि' संज्ञा हो जाती है तो 'बहुसख्या' तथा 'बहुसख्युः' शब्दों के विषय में प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ पर 'अतिसखि' की भांति 'घि' संज्ञा क्यों नहीं हुई, क्योंकि यहाँ पर भी केवल 'सखि' शब्द न होकर समुदायभूत 'बहुसखि' शब्द है।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि 'शेषोघ्यसखि' सूत्र में प्रथमान्त 'असखि' पद षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इस सूत्र से वर्णमात्र की ही 'घि' संज्ञा होती है। अतः प्रतिषेध भी वर्णमात्र का ही होता है। 'द्वन्द्वे घि' (२।२।३२) सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि घ्यन्त शब्दों का पूर्वनिपात होता है। इस प्रकार 'सखि' शब्द के अवयव इकार की 'घि' संज्ञा का प्रतिषेध हो जाने से ये दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।७, पृ० १०५।
   सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ७।३।११८, पृ० २१९।
२. न्यास (भाग १), १।४।७, पृ० २६६।
३. प्रदीप, महाभाष्य, ६।१।११२, पृ० ४५६।

दुर्घटवृत्तिकार के रक्षित का मत उद्धृत करने से यह स्पष्ट नहीं होता कि उसका अपना मत क्या है। वैसे तो यहाँ पर 'बहुसखि' भी 'अतिसखि' के समान समुदाय से युक्त है। धातुवृत्तिकार के विचार मे 'असखि' पद में पर्युदास होने के कारण केवल 'सखि' शब्द का ही निषेध होता है। अत: 'बहुसखि' आदि की 'घि' संज्ञा होकर 'बहुसखिना' आदि प्रयोग ही बनते हैं।[1]

पतिः समास एव (१।४।८)

पतिना

'पति: समास एव' सूत्र द्वारा 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा का विधान केवल समास में ही किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'पतिना नीयमानाया:', 'गते मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ'[2] तथा 'पतौ जीवति या नारी' श्लोकांशों में 'घि' संज्ञक कार्यों से युक्त 'पतिना' तथा 'पतौ' प्रयोग चिन्त्य हैं।

इन प्रयोगों के साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि 'शेषोघ्यसखिपती' सूत्र न्यास से भी काम चल सकता था अर्थात् यदि स्वतंत्र रूप से पति शब्द की कभी भी 'घि' संज्ञा अभीष्ट नहीं थी तो पृथक् सूत्र 'पति: समास एव' बनाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'शेषोघ्यसखिपतौ' सूत्र से ही स्वतंत्र 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा का सार्वत्रिक निषेध हो जाता। जहाँ तक समास में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा का प्रश्न है, वह तो 'गृहपतिना (४।४।९०) सूत्र निर्देश से भी ज्ञापित हो जाता है। इस प्रकार पृथक् सूत्र 'पति: समास एव' की रचना से ज्ञापित होता है कि 'पति' शब्द की स्वतंत्र रूप में भी 'घि' संज्ञा हो जाती है। परन्तु इस स्थिति में सूत्रस्थ 'एव' शब्द का अर्थ विचारणीय होगा।

शब्दकौस्तुभ में हरदत्त के नाम से तथा पदमञ्जरी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किए जाने से प्रयोग ये साधु ही हैं।[3] शब्दकौस्तुभ तथा तत्त्वबोधिनी में इसी सूत्र के विचार-विमर्श में इस कठिनाई के निराकरण के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'पति' शब्द की सिद्धि 'तत्करोति तदाचष्टे' अर्थ में 'णिच्' होकर 'टि' लोप द्वारा उणादिसूत्र 'अच इ:' (सि०कौ० ५७८) द्वारा 'इ' प्रत्यय के संयोजन से हुई है।[4] परन्तु यह समाधान वैयाकरणों की खींचातानी का समाधान है, क्योंकि उपर्युक्त स्थलों में 'पति' शब्द प्रतिपदोक्त है, लाक्षणिक नहीं।

१. धातुवृत्ति, पृ० ३६७।
२. पराशर स्मृति, श्लोक १५८।
३. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।८, पृ० २६९।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।८, पृ० १०६।

जीवपत्याम्

'जीवपत्याम्' प्रयोग के लिए रक्षित के नाम से, यह कहा गया है कि 'पतिः समास एव' सूत्र में 'शेषोघ्यसखि' सूत्र से 'शेषः' पद की अनुवृत्ति आने के कारण 'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) सूत्र द्वारा नदी संज्ञा होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

संयोगे गुरु (१।४।११)

'संयोगे गुरु' सूत्र सयोग परे होने पर ह्रस्व अक्षर की गुरु संज्ञा करता है। इस नियम की दृष्टि से भट्टि के 'विभवमदेन निह्नुतह्रियातिमात्रसम्पन्नकम्'[1] श्लोकांश में 'ह्रि' शब्द के परे होने पर नवम् शब्द 'त' के गुरुसंज्ञक हो जाने से छन्दोभंग का दोष उपस्थित होता है। इस श्लोक का वृत्त नन्दन है जिसका लक्षण है—'शिवतुरंगस्तु नन्दनमिदं नजौ मजौ रद्वयम्।

दुर्घटवृत्तिकार ने पाठभेद के आश्रय द्वारा यह कहा है कि यहाँ पर 'निह्नुतह्रि' के स्थान पर 'निह्नुततया' पाठ होना चाहिए।

भोक्ता

'भुज्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय करने पर 'भुज्+तृ' स्थिति में 'भुज्' के अवयव 'ज्' तथा प्रत्यय के अवयव 'त्' रूप संयोग के परे होने पर 'भु' के उकार की गुरु संज्ञा हो जाने से लघूपध के अभाव में 'पुगन्तलघू' सूत्र द्वारा गुण नहीं हो सकता। इसी प्रकार की समस्या 'भेत्ता' 'छेत्ता' आदि प्रयोगों के विषय में महाभाष्य, काशिका आदि में प्रस्तुत की गई है।

महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी में 'पुगन्तलघू...' सूत्र की व्याख्या करते हुए तथा दुर्घटवृत्ति में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'त्रसिगृधि...' (३।२।१४०) सूत्र द्वारा 'धृष्णुः' 'जिष्णुः' जैसे प्रयोगों में लघूपध गुण के निषेध की दृष्टि से प्रत्यय को जो 'कित्' किया गया, उससे यह ज्ञापित होता है कि गुरुवर्ण के परे रहने पर भी लघूपधता नष्ट नहीं होती और गुण हो जाता है।[2]

अभिह्रद

इसी प्रकार माघ के 'प्राप्तनाभिह्रदमज्जनमाशु प्रस्थितं निवसनग्रहणाय'[3]

---

१. भट्टिकाव्य, १०।३७।

२. महाभाष्य, ७।३।८६, पृ० २३१।

३. शिशुपालवध, १०।६०।

श्लोकांश में 'ह्लद' शब्द के परे होने पर पूर्व वर्ण 'द्' के गुरु संज्ञक हो जाने से छन्दोभंग का दोष उपस्थित होता है।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहाँ भी पाठभेद का आश्रय लेकर यह समाधान दिया है कि 'नाभिह्लद' के स्थान पर 'नाभिनद' पाठ होना चाहिए। यह पाठ मानने पर गुरु संज्ञा नहीं हो सकेगी। शिशुपालवध के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में भी यही पाठ मिलता है।

'कश्चित्' निर्देश द्वारा एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि छन्दशास्त्र के 'प्रह्ले वा' सूत्र से विकल्प द्वारा गुरुत्व की प्राप्ति होने के कारण यहाँ पर छन्दोभंग का दोष उपस्थित नहीं होगा। परन्तु पिंगल की प्रामाणिक कृति छन्द शास्त्र में यह सूत्र उपलब्ध नहीं हो सका। इसका मूल स्थल अन्वेषणीय है।

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३)

नुवति

जिस धातु अथवा प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है, वह है आदि में जिसके, उस शब्दस्वरूप की प्रत्यय के परे होने पर, 'यस्मात्प्रत्यय…' सूत्र द्वारा 'अङ्ग' संज्ञा का विधान किया गया है। इस सूत्रार्थ की दृष्टि से 'नुवति' प्रयोग की सिद्धि विचारणीय है। 'नु' धातु से तिप्' तथा 'श' विकरण होने पर 'नु + अ + ति' स्थिति में 'उवङ्' आदेश से पूर्व 'नु + अ' की 'तिप्' परे होने पर सूत्र द्वारा 'अङ्ग' संज्ञा होने के कारण लघूपध गुण की प्राप्ति होगी तथा 'नुवति' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'उवङ्' 'श' विकरण के प्रति आश्रित होने के कारण अन्तरङ्ग है। अतः वह पहले ही हो जाएगा तथा उसके पश्चात् गुणप्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७)

राजा

सर्वनामस्थानों (विभक्तियों) को छोड़ कर 'सु' आदि प्रत्ययों के परे होने पर 'स्वादिष्व…' सूत्र द्वारा पूर्वपद की पद संज्ञा का विधान किया गया है। 'सुडन-पुंसकस्य' (१।४।४३) सूत्र के अनुसार 'सुट्' (सु, औ, जस्, अम्, औट्) की सर्वनामस्थान संज्ञा है। इस सूत्र की दृष्टि से प्रथमा के एकवचन का प्रयोग 'राजा' उपपन्न नहीं हो पाता, क्योंकि 'राजन्' पद से 'सु' परे होने पर, बाद में उसका लोप हो जाने पर भी 'प्रत्ययलोपे…' सूत्र से पूर्व की पद संज्ञा का निषेध हो जाने

---

१. महाभाष्य १।४।१७, पृ० ३६३।

२. न्यास (भाग १), १।४।१७, पृ० २७२।

के कारण 'न लोपः····' (८।२।७) सूत्र से 'न्' का लोप नहीं हो सकेगा। यह सूत्र पदसंज्ञक शब्दों के 'न्' लोप का विधान करता है। यह समस्या 'सूत्रस्थ असर्वनामस्थाने' पद में प्रसज्यप्रतिषेध मानकर रखी गई है। पर्युदास प्रतिषेध में विधि की प्रधानता होने के कारण सूत्रस्थ 'असर्वनामस्थाने' पद सर्वनामस्थान से भिन्न प्रत्ययों के परे होने पर पद संज्ञा का विधान करता है न कि सर्वनाम स्थान परे होने पर निषेध।[1] अतः उस स्थिति में तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।१।१४) सूत्र से ही 'राजन्' शब्द की पदसंज्ञा हो जाएगी।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'न ङिसम्बुद्धयोः' (८।२।८) सूत्र के 'सम्बुद्धि' पद से यह ज्ञापित होता है कि 'सु' परे होने पर पूर्ववर्ती नाम शब्द की पद संज्ञा होती है तथा इस सूत्र से उसकी पद संज्ञा का निषेध नहीं हो पाता। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'सु' परे होने पर प्रातिपदिक शब्द की पद संज्ञा का निषेध 'असर्वनामस्थाने' अंश से हो जाता तो सम्बुद्धि में 'न्' लोप का निषेध भी स्वतः हो जाता। यह समाधान 'स्वादिष्व····' सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यास, पदमञ्जरी तथा भाषावृत्ति में भी दिया गया है।[2]

इस दोष का निवारण इसी सूत्र के प्रसंग में महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी तथा सुधानिधि में एक अन्य ढंग से इस प्रकार किया गया है कि 'अनन्तरस्थ विधि वा भवति प्रतिषेधो वा' (विधि या प्रतिषेध-अव्यवहित सूत्र का होता है) परिभाषा के अनुसार 'स्वादिष्व····' सूत्र अपने से अव्यवहित सूत्र 'सिति च' (१।४।१६) से ही प्राप्त पद संज्ञा का निषेध करता है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) सूत्र के व्यवहित होने के कारण उससे प्राप्त पदसंज्ञा का निषेध यह सूत्र नहीं कर सकेगा।[3]

इस समस्या का एक अन्य समाधान इन ग्रन्थों में 'स्वादिषु' तथा 'असर्वनामस्थाने' योग विभाग करके यह दिया गया है कि 'असर्वनामस्थाने' में श्रुत 'नञ्' का सम्बन्ध 'यचि भम्' (१।१।१८) सूत्र के 'यचि' पद से माना जाए। 'अयचि' में प्रयुक्त यकारादि तो सर्वनाम स्थान हैं ही नहीं। अतः उसका ग्रहण उत्तरार्थ किया गया है। इस प्रकार पृथक् सूत्र 'स्वादिषु' से पदसंज्ञा होकर, दूसरे सूत्र 'सर्वनामस्थाने यचि' से अजादि सर्वनामस्थान होने पर पदसंज्ञा का निषेध हो जाएगा। परन्तु हलादि विभक्तियों के परे होने पर पदसंज्ञा का निषेध न किए जाने से 'सु' विभक्ति के परे होने पर 'राजन्' शब्द की पदसंज्ञा हो जाएगी।[4]

---

१. महाभाष्य, १।४।१७, पृ० ३६३।
२. (न्यास (भाग १), १।४।१७, पृ २७२।
३. महाभाष्य, १।४।१७, पृ० ३६३-३६४।
४. वही, पृ० ३६४।

बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१)

दारा

'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र बहुत्व के वाच्य होने पर बहुवचन का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'दारा:' पद में एकत्व की विवक्षा में बहुवचन का प्रयोग विचारणीय है।

दुर्घटवृत्ति के अनुसार यहाँ एकत्व में बहुत्व का आरोप होने के कारण बहुवचन का प्रयोग हुआ है। यही स्थिति 'वृद्भ्यस्स्यसनोः' (१।३।९२) तथा 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९३) सूत्रों में है। यहाँ 'वृध्' तथा 'द्युत्' धातुओं के एक होने पर भी बहुत्व के अध्यारोपित होने के कारण पाणिनि ने बहुवचन का प्रयोग किया है। शब्दकल्पद्रुम में अध्यारोप का अर्थ इस प्रकार किया गया है—वस्तुन्यवस्तुत्वारोप्य।

दूसरा समाधान 'अन्य:' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि यहाँ 'दाराश्च दाराश्च दाराश्च दारा:' इस प्रकार एकशेष समास हुआ है। बालमनोरमा तथा शब्दकौस्तुभ में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि अवयवों के बहुत्व की अवयवी में आरोप के कारण वृद्धों अथवा कोशों के व्यवहार द्वारा बहुवचन में यह प्रयोग उचित है।[1]

'दारा' संस्कृत के उन शब्दों में से है जिसका प्रयोग प्राय: बहुवचन में ही होता हैं। वैयाकरण चाहे जो कहें, परन्तु वास्तविकता तो यही प्रतीत होती है कि लोकव्यवहार ही इस बहुवचन का कारण है। जिस प्रकार लिङ्ग प्रयोग लोकाश्रित हैं उसी प्रकार 'दारा:' जैसे बहुवचनान्त प्रयोग भी लोकाश्रित ही माने जाने चाहिए।

उपासते

'वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते' श्लोकांश के 'उपासते' पद में बहुवचन का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि इस श्लोक में 'य:' पद से एकत्व की विवक्षा के कारण एकवचनान्त 'उपास्ते' प्रयोग बनना चाहिए था।

यहाँ यह कहा गया है कि यह प्रयोग अदादीय 'अस्' धातु से सिद्ध न होकर भौवादिक 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' से निष्पन्न हुआ है। यहाँ पर इस पद का अर्थ 'गच्छति' अथवा 'गृह्णाति' होगा।

यदि इस प्रयोग को अदादीय 'अस्' से ही निष्पन्न माना जाए तो इस दृष्टि से यह समाधान दिया गया है कि विकरण कार्य के गणकार्य होने के कारण 'गण-

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।२१, पृ० ११२।

कार्यमनित्यम्' परिभाषा के अनुसार 'शप्' के 'लुक्' अभाव में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

ते

'येन यथा भवितव्यं न ते भवति चान्यथा' वाक्य का 'ते' प्रयोग इसलिए चिन्त्य है कि यहाँ पर एकवचनान्त 'येन' के समान 'ते' में भी एकवचन होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहाँ पर 'ते' पद 'तत्' का प्रयोग नहीं है अपितु 'तेवृ' धातु से 'क्विप्' होकर सम्बोधन में निष्पन्न हुआ है।

दूसरा समाधान पाठभेद के द्वारा यह दिया गया है कि यहाँ पर 'ते' के स्थान पर 'तत्' पाठ होना चाहिए। इन समाधानों में प्रथम समाधान खींचातानी का समाधान है।

ते

अष्टधातु (संभवत: कोई ग्रन्थ) के 'अन्धश्च पङ्गुश्च द्वौ ते वने प्रविष्टौ' वाक्य के 'ते' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि अन्धे और पंगु के दो होने के कारण बहुवचन का प्रयोग न होकर द्विवचनान्त 'तौ' का प्रयोग होना चाहिए।

इस दोष के निवारण हेतु दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इस वाक्य में 'ते वनम्' इस प्रकार भिन्न-भिन्न पद न होकर 'तेवृ देवृ देवने' धातु से निष्पन्न ल्युडन्त 'तेवनम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'तेवनम्' का अर्थ है—क्रीडाम्। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—अन्धे और पङ्गु ने क्रीडार्थ प्रवेश किया।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'तेवृ' धातु से 'सम्पदादिभ्य: क्विप्'[1] वार्तिक द्वारा 'क्विप्' करके 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) सूत्र से 'व्' का लोप होकर 'ते:' शब्द बन जाएगा। तत्पश्चात् 'ते' का वनम्' के साथ चतुर्थी तत्पुरुष समास होकर 'तेवनम्' पद सिद्ध हो जाएगा जिसका अर्थ है—क्रीडा के लिए वन।

भट्टि के 'विचूकुशुर्भूमिपतेर्महिष्य:'[2] श्लोकांश में बहुवचनान्त 'महिष्य:' पद की साधुता इसलिए विचारणीय है क्योंकि राज्ञी के रूप में जिसका अभिषेक किया जाता है[3] उसे महिषी कहते हैं तथा वह एक ही होती है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर 'जात्याख्याया…' (१।२।५८) सूत्र द्वारा बहुवचन हुआ है। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि महिषी

१. महाभाष्य, ३।३।१०८, वा० ९।

२. भट्टिकाव्य, ३।२२।

३. 'कृताभिषेकायां राज्ञ: स्त्रियाम्।—वाचस्पत्यम्।

को जाति कैसे माना गया। 'भूमिपति' शब्द का एकवचन में प्रयोग होने के कारण यहाँ अनेक महिषियों की कल्पना नहीं की जा सकती।

संभवत: इसीलिए शरणदेव ने दूसरा समाधान यह प्रस्तुत किया है कि यहाँ पर अन्त:करण की अन्य रानियों में भी महिषीत्व का उपचार करके उन्हें महिषी माना गया है।

भट्टिकाव्य के सम्पादक ने यहां पर लोकानुगतिक न्याय के द्वारा बहुवचन में कैकयी आदि की प्रवृत्ति की बात कही है।[1]

वहन्ति

'वहन्ति स्त्री धान्यमुलूखलेन' वाक्य में 'स्त्री' शब्द के एकवचनान्त होने के कारण बहुवचनान्त 'वहन्ति' प्रयोग चिन्त्य है।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहाँ यह कहा है कि यह प्रयोग 'वह्' धातु का न होकर 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु का है तथा 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो:' वचन के द्वारा यहाँ पर 'अव' के अकार का लोप हुआ है।

दूतेषु

'कथं दूतेषु कल्याणं यदि बुद्धो न तिष्ठति' वाक्य में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'बुद्ध:' के एकवचनान्त होने के कारण 'दूतेषु' में बहुवचन नहीं होना चाहिए।

शरणदेव के मतानुसार यहाँ पर 'दूतेषु' पद बहुवचनान्त नहीं अपितु 'दूत इषुरिव दूतेषु:' विग्रह द्वारा 'उपमितं···' (२।१।५६) सूत्र के समास हुआ है। उसके पश्चात् 'दूतेषो: कल्याणम्' विग्रह के अनुसार षष्ठी समास होकर 'दूतेषु-कल्याणम्' समस्तपद बना है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहाँ पर 'दूते सुकल्याणम्' पाठ होना चाहिए। परन्तु इस समाधान में एक विशेष बाधा यह है कि 'दूते' तथा 'सुकल्याणम्' के भिन्न-भिन्न पद होने के कारण सुकल्याणम्' में षत्व नहीं हो सकता। यहाँ 'दूतेषु' को बहुवचनान्त मानते हुए दो भिन्न वाक्यों की कल्पना करके 'यदि बुद्धो न तिष्ठति' में जाति की दृष्टि से 'बुद्ध' में एकवचन मानकर कथंचित् संगति लगाई जा सकती है।

ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४)

शब्दे सोऽपि वियुज्यते

'ध्रुवमपाये···' सूत्र द्वारा अपादान संज्ञा का विधान किया गया है। इसी

१. भट्टिकाव्य, ३।२२, पादटिप्पण १।

सूत्र पर 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' वार्तिक पढ़ी गई हैं। इस सूत्र तथा वार्तिक की दृष्टि से 'शब्दे सोऽपि वियुज्यते' तथा 'प्रामाद्यद् गुणिनां हिते[1]' वाक्यों में 'शब्द' तथा 'गुण' शब्दों की अपादान संज्ञा का अभाव चिन्त्य है।

प्रथम प्रयोग के लिए भागवृत्ति के नाम से यह कहा गया है कि प्रयोगों की स्थिति विचित्र होती है। दूसरे प्रयोग के लिए यह समाधान दिया है कि 'एवं चानियोगे' वार्तिक के समान उपर्युक्त वार्तिक भी अनित्य है। अतः यह प्रयोग साधु है। इसके अतिरिक्त स्वयं शरणदेव ने 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२।३।१३) सूत्र के विचार प्रसंग में इसी श्लोकांश के 'गुणिनाम्' शब्द से 'हित' के योग में षष्ठी की साधुता उपपन्न की है।

शरणदेव ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि पाणिनि ने बौद्ध अपादानत्व का प्रत्याख्यान कर दिया है। अतः वह कभी-कभी होता है।

वारणार्थानामीप्सितः (१।४।२७)

सस्येषु

वारणार्थक धातुओं का प्रयोग होने पर जो ईप्सित अर्थ होता है, 'वारणार्था' सूत्र उस कारक की अपादान संज्ञा करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'परापवादसस्येषु चरन्ती गौर्निवार्यताम्' श्लोकांश के सप्तम्यन्त सस्येषु पद में यह दोष उपस्थित होता है कि गो के निवारण की दृष्टि से 'सस्य' के ईप्सित होने के कारण उसकी अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'परापवादसस्य' में 'ध्रौव्य' के अविवक्षित होने के कारण अपादान संज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि 'परापवादसस्य' ईप्सित भी तो नहीं है।

कूपादन्धं वारयति

इसी प्रकार का दोष 'कूपादन्धं वारयति' तथा 'अग्नेर्माणवकं वारयति' वाक्यों के पञ्चम्यन्त 'कूपात्' तथा 'अग्नेः' प्रयोगों में आता है, क्योंकि यहाँ पर रोकने वाले के लिए ईप्सित कूप तथा अग्नि न होकर अन्धा व्यक्ति तथा बच्चा हैं। अन्धे की ईप्सितता को स्पष्ट करते हुए कैयट ने कहा है कि अन्धे व्यक्ति के प्रति अनुकम्पा तथा सद्भाव होने के कारण वह ईप्सित माना जाता है।[2] ऐसी ही स्थिति 'अग्नेर्माणवकं वारयति' वाक्य में बच्चे की है।

---

१. भट्टिकाव्य, १७।३९।

२. प्रदीप, महाभाष्य १।४।२७, पृ० ३९४।

दुर्घटवृत्ति में रक्षित के नाम से तथा महाभाष्य एवं पदमञ्जरी में इसी सूत्र के प्रसंग में यह समाधान दिया गया है कि अन्धा व्यक्ति न देखता हुआ भी जाने की इच्छा करता है परन्तु अज्ञानवश उसकी कूप की ओर जाने की ईप्सा के कारण उसके लिए कूप 'ईप्सित' हो जाता है। अतः कूप की अपादान संज्ञा हो जाएगी।[1]

इसी प्रकार शरणदेव ने अग्नि की अपादान संज्ञा के विषय में कहा है कि ज्योति अथवा अग्नि की लपट रूप पदार्थ की स्पृहा होने के कारण बच्चे के लिए अग्नि ईप्सित है। बालमनोरमा में भी यही समाधान दिया गया है।[2]

जनिकर्तुः प्रकृतिः (१।४।३०)

वंशे

'जन्' धातु के अर्थ अथवा जन्म का जो कर्ता, उसकी प्रकृति या कारणभूत जो कारक है, उसकी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' द्वारा अपादान संज्ञा की गई है। इस सूत्र के अनुसार कालिदास के 'जातं वंशे भुवनविदिते'[3] श्लोकांश के सप्तम्यन्त पद 'वंशे' में 'वंश' की अधिकरण संज्ञा न होकर अपादान संज्ञा होनी चाहिए, क्योंकि यहाँ पर 'जन्' धातु के कर्ता मेघ की प्रकृति वंश है।

इस विषय में यह कहा गया है कि यहाँ पर उत्पत्ति का कारण या प्रकृति सीधे वंश न होकर 'वंश्य' (वंश में होने वाला व्यक्ति विशेष) है। अतः 'वंश' की अपादान संज्ञा नहीं होगी।

स्पृहेरीप्सितः (१।४।३६)

स्पृहणीया विभूतिः

'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र द्वारा 'स्पृह ईप्सायाम्' धातु के ईप्सित अर्थ रूप कारक की सम्प्रदान संज्ञा की गई है। इस नियम के अनुसार 'स्पृहणीया विभूतिः' तथा 'पुष्पाणि स्पृहयाति' वाक्यों के 'विभूतिः' तथा 'पुष्पाणि' पद चिन्त्य हैं, क्योंकि इनकी सम्प्रदान संज्ञा होकर इनसे चतुर्थी होनी चाहिए।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'ईप्सिततम्' की विवक्षा होने पर अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम में 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र के बाद उपदिष्ट होने के कारण 'कर्तुरीप्सितमं कर्म' सूत्र द्वारा कर्म संज्ञा ही होगी।[4] पदमञ्जरी तथा शब्दकौस्तुभ में 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र की व्याख्या में यह

---

१. महाभाष्य, १।४।२७, पृ० ३८४।

२. बालमनोरमा (भाग १), १।४।२७, पृ० ५६७-५६८।

३. मेघदूत, पूर्वमेघ ६।

४. न्यास (भाग १), १।४।३६, पृ० २८८।

कहा गया है कि ईप्सित मात्र की विवक्षा होने पर 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र कार्य करेगा, परन्तु ईप्सितता में प्रकर्ष की विवक्षा होने से पर होने के कारण कर्म संज्ञा होगी।[1]

इस विषय में हरदत्त का विचार कुछ और ही है। उसने कहा है कि ईप्सित तथा ईप्सिततम की जब शेष रूप से विवक्षा होगी तो षष्ठी विभक्ति होकर 'पुष्पाणां स्पृहयति' प्रयोग बनेगा।[2] इसी बात को स्पष्ट करते हुए बालमनोरमा में कहा गया है कि जब ईप्सित की विवक्षा न होकर केवल विषयमात्र की विवक्षा होगी तो षष्ठी का प्रयोग ही साधु होगा।[3] शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि वाक्यपदीय की हेलाराज टीका के अनुसार 'स्पृह्' के योग में सम्प्रदानसंज्ञा, कर्मसंज्ञा तथा षष्ठी दोनों की बाधिका है।[4] इस प्रकार मतभेद से तीनों प्रयोग साधु हो सकते हैं।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (१।४।३७)

अस्मान् द्वेष्टि

क्रोध आदि अर्थ वाली धातुओं का प्रयोग होने पर जिसके प्रति कोप आदि किया जाए, उस कारक की 'क्रुधद्रुहेर्ष्या…' सूत्र द्वारा सम्प्रदान संज्ञा का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'अस्मान् द्वेष्टि' वाक्य का 'अस्मान्' पद विचारणीय है, क्योंकि यहां पर द्रोह अर्थ की प्रतीति होने के कारण 'अस्मद्' की संप्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी होनी चाहिए।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'द्विष्' धातु अप्रतीति अर्थ में पढ़ी गई है। अतः अप्रीति अर्थ विवक्षित होने पर सम्प्रदान संज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठता।[5] यही समाधान पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ आदि में इसी सूत्र की व्याख्या में दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि वहां 'द्विष्' का अर्थ अनभिनन्दन किया गया है।[6]

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।३६, पृ० २९५।
२. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।३६, पृ० २९५।
३. बालमनोरमा (भाग १), १।४।३६, पृ० ५५६।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।३६, पृ० १२४।
५. न्यास (भाग १) १।४।३७, पृ० २८८।
६. पदमंजरी (भाग १), १।४।३७, पृ० २९५।

द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यः

परन्तु यदि 'द्विष्' धातु अप्रीति अर्थ में ही प्रयुक्त होती है तो भट्टि के द्वेष्टि प्रायोगुणेभ्यः[1] श्लोकांश का गुणेभ्यः' प्रयोग असाधु ठहरता है, क्योंकि यहां पर अप्रीति अर्थ होने के कारण 'गुण' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं हो सकती।

इस प्रसंग में जयमंगला तथा चन्द्रकला-विद्योतिनी टीकाओं का कहना है कि यहां पर क्रुधद्रुहेर्ष्य···'सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा हुई है।[2] दुर्घटवृत्तिकार ने यहां पर सम्प्रदान संज्ञा का कारण असूया अर्थ की अविवक्षा माना है। परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि सूत्र में स्पष्टतः असूयार्थक धातु के प्रयोग में सम्प्रदान संज्ञा का विधान किया गया है। अतः यहाँ पर 'असूयार्थस्य विवक्षितत्वात्' पाठ होना चाहिए। यह पाठ मानने पर वाक्य में 'द्विष्' धातु के प्रयोग में असूया अर्थ की विवक्षा होने के कारण सम्प्रदान संज्ञा हो जाएगी तथा जयमंगला आदि का कथन भी सुसंगत हो जाएगा।

तां प्रति क्रुद्धो नृपः

'तां प्रति क्रुद्धो नृपः' वाक्य में यह दोष उपस्थित होता है कि 'क्रुध्' अर्थ-वाली धातु का प्रयोग होने के कारण 'ताम्' के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'यं प्रति कोपः' सूत्र में निर्दिष्ट 'प्रति' के योग में चतुर्थी विभक्त्यन्त 'यस्मै' के स्थान पर द्वितीयान्त 'यम्' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'तां प्रति क्रुद्धो नृपः' जैसे प्रयोगों में 'प्रति' की 'लक्षणेत्थंभूत···' (१।४।९०) सूत्र द्वारा कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण 'कर्मप्रवचनीय···' (२।३।८) सूत्र से पूर्वविप्रतिषेध के अनुसार सम्प्रदान संज्ञा का बाध होकर द्वितीया विभक्ति हो जाएगी तथा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

इसी प्रसंग में शरणदेव ने रक्षित का मत उद्धृत किया है। उसने 'साधु-निपुणाभ्याम्···'(२।३।४३) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'वृक्षं वृक्षं प्रति कुसुमानि सन्ति' तथा 'अर्थं अर्थं प्रति शब्दनिवेशः' वाक्यों में पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा सप्तमी को बाध कर 'लक्षणेत्थंभूत···' सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाएगी।

उपान्वध्याङ्वसः (१।४।४८)

'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः'[3] वार्तिक की दृष्टि से 'उपोष्य रजनीमेकाम्'

---

१. भट्टिकाव्य, १८।९।

२. जयमंगला, भट्टिकाव्य १८।९।

३. महाभाष्य, १।४।४८।

तथा 'एकादशीमुपवसन्ति' वाक्यों में 'रजनीम्' तथा 'एकादशीम्' प्रयोग इसलिए चिन्त्य हैं कि उपर्युक्त वार्तिक द्वारा निषेध हो जाने के कारण यहाँ पर कर्मसंज्ञा कैसे हो गई ?

इस समस्या का समाधान दुर्घटवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में यह दिया गया है कि 'कालाध्वनो···' (२।३।५) सूत्र के अनुसार यहाँ पर द्वितीया विभक्ति हो जाएगी।[1] संभवत: दुर्घटवृत्तिकार का तात्पर्य यह है कि कर्मसंज्ञा द्वारा अधिकरण संज्ञा का एक बार बोध हो जाने पर पुन: सप्तमी उपस्थित नहीं होती।

परन्तु यदि यह समाधान न्याय्य माना जाए तो 'उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तिर्बलीयसी'[2] परिभाषा के अनुसार 'कालाध्वनो···' से विहित उपपद विभक्ति द्वितीया की अपेक्षा आधार रूप अधिकरण में विहित कारक विभक्ति सप्तमी अधिक बलवान् है। अत: 'एकादशीं न भुञ्जीत' प्रयोग में द्वितीया के स्थान पर सप्तमी की प्राप्ति होने से 'एकादश्यां न भुञ्जीत' प्रयोग बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहाँ पर आधारत्व रूप विशेष अर्थ की विवक्षा न होकर सामान्य अर्थ की विवक्षा है। अत: 'कालाध्वनो···' सूत्र से द्वितीया ही उचित है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा यहाँ पर कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाएगी।

शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इससे विपरीत स्थिति मिलती है। वहाँ 'एकादशीम्' के स्थान पर 'एकादश्याम्' प्रयोग को साधु माना गया है।[3]

स्पष्ट है कि एक ओर शरणदेव आदि कुछ विद्वान् द्वितीयान्त 'एकादशीम्' प्रयोग को आधारत्व रूप विशेष अर्थ की अविवक्षा में साधु मानते हैं तो दूसरी ओर भट्टोजिदीक्षित आदि 'उपपदविभक्तेः···' परिभाषा के अनुसार सप्तम्यन्त 'एकादश्याम्' प्रयोग को साधु मानते हैं। वस्तुत: ऐसी स्थिति में दोनों ही प्रयोगों को प्रयोक्ता की विवक्षा के आधार पर साधु मानना होगा।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९)

ओदनं पचति

कर्ता की अपनी क्रिया द्वारा जो ईप्सिततम कारक है 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।४८।

२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १०३।

३. शब्दकौस्तुभ (भाग २) १।४।४८, पृ० १२८।

द्वारा उसकी कर्म संज्ञा की गई है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'ओदनं पचति' तथा 'वस्त्रं वयति' प्रयोगों में 'ओदन' तथा 'वस्त्र' की कर्म संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि ओदन तथा वस्त्र के साथ पकाने तथा बुनने की क्रिया का सम्बन्ध नहीं बन सकता। इसका कारण यह है कि ओदन का अर्थ है– पके हुए चावल तथा वस्त्र का अर्थ है—ताने बाने से बुना हुआ वस्त्र। जब ये निष्पन्न स्थिति के वाचक हैं तो इसकी दृष्टि से क्रमशः पकाने तथा बुनने की क्रिया की आवश्यकता ही क्या है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि यदि ओदन को पकाया जाए या वस्त्र को बुना जाए तो ओदन तथा वस्त्र से भिन्न अन्य कोई वस्तु बनेगी। उस दशा में तो ये ईप्सिततम भी नहीं रहेंगे।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'तादर्थ्यात्ताचाच्छब्द्यम्' नियम के अनुसार ओदन के लिए जो चावल हैं, उनके लिए 'ओदन' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा वस्त्र के लिए जो तन्तु है उनके लिए 'वस्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् ओदन तथा वस्त्र की निष्पत्ति के लिए चावल तथा तन्तु क्रमशः पकाने तथा बुनने की क्रिया से संबद्ध होते हैं। महा-भाष्यकार ने भी यही समाधान दिया है।[1]

हरदत्त ने इस विषय में यह कहा है कि ओदन तथा वस्त्र भाविनी संज्ञाएं हैं। अभिप्राय यह है कि यहां पकाने तथा बुनने की क्रियाओं द्वारा वह चीज बनाई जाती है जिसे क्रिया के पूर्ण हो जाने पर 'ओदन' तथा 'वस्त्र' कहा जाएगा।[2]

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२

गमयति ग्रामं विप्रम्

'गतिबुद्धि' सूत्र का अर्थ है गत्यर्थक, भुजर्थक शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का जो अत्यन्त अवस्था का कर्ता है वह ण्यन्त अवस्था में कर्म हो जाता है। इस सूत्र की दृष्टि से यह विचारणीय है कि 'गमयति ग्रामं विप्रम्' वाक्य में 'ग्राम' शब्द की कर्मसंज्ञा कैसे हो गई? यहाँ अण्यन्त अवस्था 'विप्रो ग्रामं गच्छति' में 'विप्र' कर्ता है। वह ण्यन्तावस्था में कर्म हो गया। उसके कर्मसंज्ञक हो जाने के कारण कर्ता 'विप्र' की पहले जो क्रिया थी अब वह 'विप्र' कर्म की क्रिया हो गई। इस प्रकार 'ग्राम' कर्ता के लिए इप्सिततम न होकर कर्म का, ईप्सिततम हो गया। इसलिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र के अनुसार 'ग्राम' की कर्मसंज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि इस सूत्र में कर्ता के ईप्सिततम कारक को ही कर्म माना

१. महाभाष्य, १।४।४९, पृष्ठ ४०८।
२. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।४१, पृ० ३०२

गया है।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि इसमें 'कर्ता' पद का जो ग्रहण किया गया है, वह स्वतंत्रता का उपलक्षण है। उसके कर्म हो जाने पर भी अपने व्यापार में उसकी स्वतंत्रता समाप्त नहीं होती। अतः इस सूत्र के अनुसार ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक हो जाने पर भी सर्वथा स्वतंत्र होने के कारण उसकी कर्तृता बनी ही रहती है।

भाषावृत्ति में इसी बात को दूसरे शब्दों में स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि प्रयोजक व्यापार के द्वारा कर्ता के कर्म बन जाने पर भी कर्ता की अपने व्यापार में स्वतंत्रता होने के कारण दोनों संज्ञाओं (कर्ता, कर्म) की प्राप्ति की दशा में यह सूत्र नियमार्थ है।[1]

देवदेवम्

कुमारसंभव के 'अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक'[2] श्लोकांश के कर्मसंज्ञक 'देवदेवम्' प्रयोग में 'ग्रह' 'धातु के गत्यर्थक न होने के कारण 'देवदेव' शब्द की कर्मसंज्ञा विचारणीय है।

यहाँ दुर्घटवृत्तिकार का यह कहना है कि 'अयाचितारम्' पद में 'अयाचिता' तथा 'अरम्' इन दो पदों की कल्पना करके 'अरम्' और 'अलम्' को 'रलयोरभेदः' नियम के अनुसार समानार्थक मान लेना चाहिए तथा 'अयाचिता' को 'अद्रिः' का विशेषण। उसके पश्चात् 'देवदेवम्' में विभक्तिविपरिणाम द्वारा द्वितीया को तृतीया में परिणत करके श्लोक का अन्वय कर लेना चाहिए।

दूसरा समाधान 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'अकथितं च' (१।४।५१) सूत्र में प्रयुक्त चकार के अनुक्तसमुच्चयार्थक होने के कारण 'ग्रह' धातु को द्विकर्मक मानकर 'सुताम्' तथा 'देवदेवम्' दोनों की कर्म संज्ञा हो जाएगी। परन्तु अनुन्यासकार के मत में द्वितीयान्त प्रयोग 'देवदेवम्' अपशब्द ही है। उसके अनुसार 'अकथितं च' सूत्र के चकार का प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा 'ग्रंथ' तथा 'दा' जैसी धातुओं को द्विकर्मक मानते हुए 'देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे'[3] तथा 'देवदत्तेन यज्ञदत्तः शतं दापितः' वाक्यों में 'शतम्' तथा 'अम्बुनिधिम्' शब्दों की कर्म संज्ञा को साधु माना जा सके। 'अम्बुनिधिम्' प्रयोग के विषय में अनुन्यासकार के समान मल्लिनाथ का भी यही कहना है कि 'मथ्' धातु के द्विकर्मक होने

१. भाषावृत्ति, १।४।५२।
२. कुमार संभव, १।५२।
३. किरातार्जुनीयम्, ५।३०।

के कारण गौणकर्म 'अम्बुनिधि' में द्वितीया हुई है ।[1]

आयूंषि

भट्टि के 'आयूंषि त्वक्षु निर्मिथ प्रामञ्जनिरमोचयत्'[2] श्लोकांश में ण्यन्त अवस्था के 'आयूंषि' पद की कर्मसंज्ञा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि 'मुच्' धातु गत्यर्थक नहीं है ।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'मुच्' धातु के गुणभूत गत्यर्थक होने के कारण यहां पर कर्मसंज्ञा हो जाएगी । गुणभूत गत्यर्थक धातुओं के कर्ता की भी इस सूत्र द्वारा कर्म संज्ञा होती है । इस मत का ज्ञापक 'नीवह्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः'[3] वार्तिक है । यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि गौण रूप से गत्यर्थक धातुओं से कर्मसंज्ञा की प्राप्ति न होती तो 'नी' और 'वह' धातुओं के, जो मुख्य रूप से प्राप्त्यर्थक हैं तथा जिनमें गति-अर्थ गौण है, प्रतिषेध करने की आवश्यकता न होती ।

मुक्ताजालम्

इसी प्रकार 'मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितं देवगत्या'[4] तथा 'हितं लम्भयति विनिवर्तनाद्धीरः' प्रयोगों में 'त्यज्' तथा 'लभ्' धातुओं के क्रमशः 'त्याग' और 'प्राप्ति' रूप मुख्य अर्थ में 'गति' अर्थ के गौण अथवा उपसर्जन होने के कारण 'मुक्ताजाल' तथा 'हित' शब्दों की कर्मसंज्ञा हुई है ।

सितिम्ना

परन्तु यदि यह बात मानी जाए तो 'गतिबुद्धि···'सूत्र के 'गति' पद द्वारा वे धातुएं भी संगृहीत होती हैं जिनमें गति अर्थ गौणरूप से विद्यमान रहता है तो माघ द्वारा प्रयुक्त 'सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्'[5] श्लोकांश के 'सितिम्न' पद की करण संज्ञा न होकर कर्मसंज्ञा होनी चाहिए क्योंकि 'लभ्' धातु भी गौण रूप से गत्यर्थक मानी गई है ।

---

१. मल्लिनाथ टीका, किरातार्जुनीयम्, ५।३० ।
२. भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'पृतनाषाड्' के स्थान पर 'पुरहूत' पाठ मिलता है । भट्टिकाव्य ६।६७ ।
३. महाभाष्य में यह वार्तिक 'अदिखादिनीवहिनां प्रतिषेधः' इस रूप में मिलती है ।—महाभाष्य, १।४।५२, वा० ५ ।
४. मेघदूत, उत्तरमेघ, ६५ ।
५. शिशुपालवध, १।२५ ।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहाँ पर 'लम्भयन्' का अर्थ 'योजयन्' है। परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो यह नहीं मानते कि गुणभूत गति भी कर्मसंज्ञा की निमित्त है। इन्हीं विद्वानों में से वामन भी एक हैं। इसीलिए उनका विचार है कि प्रस्तुत प्रयोग में 'सितिम्न' पद की कर्मसंज्ञा नहीं होगी।[1]

सत्कारैः

इसी प्रकार का दोष कुमारसंभव के—

'विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गदर्शकः।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः[2]

श्लोक के 'सत्कारैः' तथा 'शुद्धकर्मभिः' पदों में आता है, क्योंकि 'क्रम्' धातु गुणभूत गत्यर्थक होने के कारण 'सत्कार' तथा 'शुद्धकर्म' दोनों की कर्मसंज्ञा होनी चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां द्वितीयान्त पाठ 'विधिप्रयुक्तसत्कारान् शुद्धान्तं शुद्धकर्मणः' को ही संगत माना है। विकल्प के रूप में उसका यह भी कहना है कि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रम्'[3] परिभाषा के अनुसार यह मानना चाहिए कि गुणभूत गति अर्थ होने पर कहीं-कहीं कर्मसंज्ञा होती है। अतः यहां पर कर्मसंज्ञा नहीं होगी।

ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१

आविश्चक्षुषोऽभवत्

'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र द्वारा ऊर्यादि, च्व्यन्त तथा डाजन्त शब्दों का क्रिया के साथ योग होने पर 'गति' संज्ञा का विधान किया गया है तथा जिनकी 'गति' संज्ञा होती है वे 'ते प्राग्धातोः' (१।८।८०) सूत्र के अनुसार क्रिया से अव्यवहित रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस दृष्टि से माघ के 'वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवत्' श्लोकांश में 'आविस्' पद के ऊर्यादि होने के कारण गतिसंज्ञक होने से उसका 'अभवत्' क्रिया के ठीक पूर्व में प्रयोग होना चाहिए जबकि यहां पर 'आविस्' तथा 'अभवत्' के बीच में 'चक्षुसः' पद का व्यवधान है।

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।६।
२. कुमारसंभव, ६।५२।
३. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १२५।
४. शिशुपालवध, १०।१६।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'आविश्चक्षुसोऽभवत्' के स्थान पर 'अन्तश्चक्षुषोऽभवत्' पाठ होना चाहिए। यह पाठ होने पर गतिसंज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'गणकार्यमनित्यम्' परिभाषा के द्वारा यह प्रयोग साधु माना जा सकता है।

हरदत्त के विचार में कवियों की निरंकुशता के आधार पर यह प्रयोग साधु माना जा सकेगा।[1]

इसी प्रकार की समस्या भट्टि तथा कालिदास के 'पुरो रामस्य जुहवांचकार ज्वलने वपुः'[2] तथा 'तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो'[3] श्लोकांशों में उपस्थित होती है। भट्टि के प्रयोग में 'पुरः' तथा 'जुहवाञ्चकार' पदों के बीच में 'रामस्य' पद का व्यवधान है जबकि कालिदास के प्रयोग में 'पुरः' का प्रयोग क्रिया पद 'स्थित्वा' के बाद में हुआ है। 'पुरः' शब्द 'पुरोऽव्ययम्' (१।४।६७) सूत्र के अनुसार गतिसंज्ञक है। अतः 'ते प्राग्धातोः' नियम के अनुसार इसका प्रयोग 'जुहवाञ्चकार' तथा 'स्थित्वा' से अव्यवहित रूप से पूर्व में होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि गतिसंज्ञा विधायक सूत्रों में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) सूत्र से 'क्रियायोगे' पद की अनुवृत्ति आने के कारण 'पुरः' की गतिसंज्ञा क्रिया के साथ योग होने पर ही होगी। परन्तु वाक्यों में 'पुर' का क्रिया के साथ योग नहीं हुआ है। अपने कथन की पुष्टि में दुर्घटवृत्तिकार ने पुरुषोत्तमदेव का मत ही उद्धृत किया है जिसमें उसने 'क्रियायोगे' पद की अनुवृत्ति मानते हुए उसके साथ नियमार्थक 'एव' पद भी जोड़ दिया है अर्थात् पुरुषोत्तमदेव के मत में तो क्रिया के साथ युक्त होने पर ही 'पुर' आदि की क्रिया संज्ञा होगी, अन्यथा नहीं। महाभाष्य में भी इस सूत्र में 'क्रियायोगे' पद की अनुवृत्ति मानी गई है।[4]

कुछ अन्य विद्वानों का मत प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यहां 'पुर' शब्द अव्यय न होकर 'पुर्' (नगर) शब्द से षष्ठी के एकवचन का प्रयोग है जो अलका नगरी का वाचक है। अव्यय न होने के कारण उसकी गति संज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठता।

दुर्घटवृत्तिकार ने एक अन्य समाधान 'ते प्राग्धातोः' सूत्र में संज्ञानियम पक्ष

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), १।४।६१, पृ० ३२१।

२. भट्टिकाव्य, ४।५।

३. मेघदूत, पूर्वमेघ, ३।

४. महाभाष्य, १।४।६१, पृ० ४४९।

मान कर दिया है। इसके अनुसार जिनकी गति संज्ञा होगी उन्हीं का धातु के पूर्व में प्रयोग होगा।

शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी तथा सुधानिधि में इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि 'ते प्राग्धातोः' सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—प्रयोग नियमार्थ तथा संज्ञा नियमार्थ। संज्ञानियमार्थ पक्ष में यह दोष उपस्थित नहीं होगा, क्योंकि इस पक्ष में सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाएगा—ऊर्यादि शब्दों का धातु के पूर्व में प्रयोग होने पर ही शब्दों की गति संज्ञा होगी।[1]

परन्तु काशिका में प्रथम पक्ष अर्थात् प्रयोग नियमार्थ की दृष्टि से इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया गया—गतिसंज्ञक तथा उपसर्गसंज्ञक शब्दों का प्रयोग-धातु के पूर्व में होना चाहिए।[2] न्यास में भी दोनों पक्षों को प्रस्तुत करके प्रयोग नियमार्थ पक्ष को उचित ठहराया गया है। इस पक्ष को मानने पर उपर्युक्त प्रयोग को असाधु मानना होगा। वस्तुतः ऐसे प्रयोग कवियों की निरंकुशता के ही सूचक हैं। इस प्रकार अनेक प्रयोगों को देखते हुए इन्हें साधु एवं शिष्ट ही मानना चाहिए।

विभाषा कृञि १।४।७२

तिरस्कृत्य

'विभाषा कृञि' सूत्र 'कृ' धातु के परे होने पर 'तिरस्' शब्द की विकल्प से गति संज्ञा करता है। इस सूत्र में 'तिरोऽन्तर्धौ (१।४।७१) सूत्र से 'अन्तर्धौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'विभाषा कृञि' सूत्र की दृष्टि से 'भृत्यं तिरस्कृत्य गतः' वाक्य का 'तिरस्कृत्य' पद चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर अन्तर्धि (व्यवधान) अर्थ की प्रतीति न होकर तिरस्कार अर्थ की प्रतीति हो रही है। अतः 'तिरस्' की गति संज्ञा नहीं होनी चाहिए। गति संज्ञा के अभाव में 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८।३।४२) सूत्र से 'तिरस्' के विसर्ग के स्थान पर सत्व आदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि इस सूत्र में गतिसंज्ञक 'तिरस्' का ग्रहण हुआ है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'विभाषा कृञि' सूत्र में व्यवस्थित-विभाषा मान कर अन्तर्धि अर्थ के अभाव में 'तिरस्' की गतिसंज्ञा हो जाएगी तथा सत्व होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

धातुवृत्ति में 'केचित्तु' निर्देश द्वारा तथा शब्दकौस्तुभ और तत्त्वबोधिनी में इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि 'तिरस्कार', 'तिरस्कृत्य'

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २) १।४।६१, पृ० १४५।
२. काशिका, १।४।६१।

आदि प्रयोगों में जहां पराभव अर्थ स्पष्ट है, सत्व कार्य के दिखाई देने से मानना चाहिए कि 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' सूत्र से 'गति' की अनुवृत्ति नहीं आती।'[1]

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ।१४।१०५

परमत्वं पठसि

'युष्मद्युपपदे···' सूत्र का अर्थ है—तिङन्त क्रिया का अर्थ जिस युष्मद्पदवाच्य में रहे उस 'युष्मद्' शब्द के व्यवहित अथवा अव्यवहित रूप से उपपद रहते हुए 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग हुआ हो अथवा न हुआ हो, दोनों स्थितियों में धातु से मध्यम पुरुष होता है। इस नियम के अनुसार 'परमत्वं पचसि' प्रयोग में मध्यम पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि इस वाक्य में केवल 'त्वम्' पद का प्रयोग न होकर 'परमत्वम्' पद का प्रयोग हुआ है। यहां तदन्तविधि के द्वारा 'परमत्वम्' पद का ग्रहण नहीं हो सकता तथा ऐसी स्थिति में 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' के अनुसार तदन्तविधि का निषेध हो जाने से मध्यम पुरुष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

महाभाष्य तथा दुर्घटवृत्ति में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर तदन्तविधि के द्वारा मध्यम पुरुष हो जाएगा।[2]' गणपति शास्त्री ने तदन्तविधि के ग्रहण का ज्ञापक 'संपूर्वाच्च' (५।२।८७) सूत्र को माना है।[3] काशिका आदि में भी इसी सूत्र को इस परिभाषा का ज्ञापक माना गया है। यदि 'पूर्वादीनिः' सूत्र में ही 'पूर्व' पद से पूर्वान्त प्रातिपदिक भी गृहीत हो तो 'संपूर्वाच्च' सूत्र सर्वथा निष्प्रयोजन हो जाता है। परन्तु इस सूत्र से यह भी स्पष्ट है कि किसी प्रत्यय का विधान करते हुए जो प्रातिपदिक उद्देश्य रूप से गृहीत (उपदिष्ट) होता है, उसी के प्रति यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, क्योंकि ज्ञापक-सूत्र प्रत्ययविधि विषयक है।

इसलिए यदि यह कहा जाए कि 'युष्मद्युपपदे···'सूत्र में 'ग्रहणवता···' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी तथा 'परमत्वम्' का ग्रहण तदन्त विधि के आधार पर हो जाएगा तो फिर दुर्घटवृत्तिकार ने अगला प्रश्न यह रखा है कि 'अतित्वं पचति' प्रयोग में तदन्तविधि द्वारा 'अतित्वम्' पद का ग्रहण अभीष्ट क्यों नहीं माना जाता?

अतित्वं पचति

'अतित्वं पचति' प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि 'स्वं रूपं···'

१. धातुवृत्ति, पृ० ५१७-५१८।
२. महाभाष्य, १।४।१०५, पृ० ४७७।
३. दुर्घटवृत्ति, पृ० ३०, पादटिप्पण १।

(१।१।६८) सूत्र में 'रूप' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि रूप (शब्दस्वरूप) के विशिष्ट अर्थ का ग्रहण भी अभीष्ट है। 'अतित्वम्' में 'युष्मद्' अर्थात् मध्यम पुरुष से भिन्न प्रथम पुरुष रूप अर्थ होने के कारण यहां पर प्रथम पुरुष ही होगा।

त्वद् भवति

इसी प्रकार का एक अन्य दोष 'अत्वं त्वं भवति त्वद्भवति' प्रयोग में उपस्थित होता है। यहां पर 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग होने के कारण मध्यम पुरुष होना चाहिए।

महाभाष्य तथा दुर्घटवृत्ति में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'युष्मद्' अर्थ के गौण होने के कारण मध्यम पुरुष ही होगा। महाभाष्य में कहा गया है कि 'गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' परिभाषा के अनुसार यहां पर मध्यम पुरुष नहीं हो सकता।[1] शरणदेव ने अपने कथन की पुष्टि में न्यासकार को उद्धृत किया है। न्यास में 'आन्महतः···' (६।३।४६) सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा' प्रयोग में महत् शब्द को आत्व इसलिए नहीं होगा कि यहां पर 'महत्' अर्थ मुख्य न होकर गौण है।[2]

'अतित्वं पचसि' प्रयोग के विषय में विचार करते समय ऊपर कहा गया है कि शब्दस्वरूप के समान उनका अर्थ भी सूत्रों में अभीष्ट है। परन्तु अर्थ ग्रहण की यह बात सर्वथा स्वतंत्र रूप से नहीं माननी चाहिए, क्योंकि 'भवान् याति' प्रयोग में 'युष्मद्' अर्थ के विद्यमान होने पर मध्यम पुरुष की प्राप्ति इसलिए नहीं हो सकेगी क्योंकि यहां पर 'युष्मद्' रूप का अभाव है। वस्तुतः 'स्वं रूपं···' सूत्र में अर्थवान् का ग्रहण अभीष्ट होने के कारण मध्यम पुरुष नहीं होगा।

त्वत्तरो यासि

'त्वत्तरो यासि' प्रयोग में 'तरप्' प्रत्यय के स्वार्थिक होने के कारण 'युष्मद्' के उपपद होने से मध्यम पुरुष हो जाएगा।

त्वत्कल्पो देवदत्तो याति

परन्तु 'त्वत्कल्पो देवदत्तो याति' प्रयोग में 'कल्प' प्रत्यय के स्वार्थिक होने पर भी संभवतः 'युष्मद्' अर्थ के गौण होने के कारण मध्यमपुरुष की क्रिया प्रवृत्त नहीं होगी, ऐसा रक्षित का विचार है।

---

१. महाभाष्य, १।४।१०५, पृ० ४७८।
२. न्यास (भाग २), ६।३।४६, पृ० ४५०।

अस्मद्युत्तमः १।४।१०७

अहमिव करोति

तिङन्त का एकाधिकरण 'अस्मद्' शब्द उपपद हो तथा उसका प्रयोग हुआ हो अथवा न हुआ हो, दोनों स्थितियों में 'अस्मद्युत्तमः' सूत्र उत्तम पुरुष का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'अहमिव करोति' वाक्य में 'करोति' पद के स्थान पर उत्तम पुरुष के वाचक 'अहम्' पद के उपपद होने के कारण 'करोमि' होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'अस्मद्' के गौणार्थक होने के कारण 'अत्वं त्वं सम्पद्यते त्वद् भवति' के समान उत्तम पुरुष नहीं हुआ है।

□□

द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद

समर्थः पदविधिः २।१।१

असूर्यंपश्या राजदाराः

'समर्थः पदविधिः' सूत्र द्वारा पदसम्बन्धी (समास आदि) विधि का समर्थ पदों में विधान किया गया है। 'समर्थः' का अर्थ है शक्त। विग्रह वाक्य के अर्थ को कहने में जो पद समर्थ हो, वह शक्त है।[1] इस 'समर्थ' पद की दृष्टि से 'असूर्यंपश्या राजदाराः' तथा 'अश्रद्धभोजी' जैसे प्रसज्यप्रतिषेध के प्रयोगों में समास रूप पदविधि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इनके विग्रह वाक्यों 'सूर्यं[1] न पश्यन्ति' तथा 'श्राद्धं न भुनक्ति' में 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया से है। प्रसज्य प्रतिषेध के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि जहां विधि की अप्रधानता तथा क्रिया के साथ 'नञ्' निपात का प्रयोग हो वहां प्रसज्यप्रतिषेध होता है।[2] इन प्रयोगों में 'नञ्' के साथ 'सूर्यं' तथा 'श्राद्ध' पदों का सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि पहले प्रयोग 'असूर्यंपश्या' में 'नञ्' का सम्बन्ध 'दृश्' क्रिया से होने के कारण यहां पर दर्शन का प्रतिषेध किया जा रहा है, न कि सूर्य का। इसी प्रकार 'अश्राद्धभोजी' प्रयोग में 'नञ्' का सम्बन्ध 'भुज्' क्रिया से है, न कि 'श्राद्ध' पद से।

दुर्घटवृत्ति में, महाभाष्य के नाम से, इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन प्रयोगों के गमक अर्थात् अर्थबोधक होने के कारण इनमें समास की स्थिति को साधु मान लिया जाएगा।[3] इस समाधान का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शब्द की साधुता का अन्तिम आधार अथवा प्रमाण इसका भाषाविदों के द्वारा किया गया प्रयोग है। न्यास में भी इस समस्या का यही समाधान दिया गया है।[4]

धातुवृत्ति में कहा गया है कि स्वयं पाणिनि ने 'असूर्यललाटयोः दृशितपोः' (३।२।३६) सूत्र में 'असूर्य' पद द्वारा 'असूर्यंपश्या' जैसे असमर्थ समास के प्रयोगों

---

१. काशिका, २।१।१।

२. परमलघुमंजूषा, पृ० १२५।

३. महाभाष्य, २।१।१

४. न्यास (भाग १), ३।२।३६, पृ० ६०४-६०५।

को साधु स्वीकार किया है।[1] यदि शिष्टों द्वारा प्रयुक्त कोई शब्द अर्थ को कहने में समर्थ हो तो व्याकरण की दृष्टि से असमर्थ होने पर भी ऐसे प्रयोगों में समास आदि विधियों को साधु मानना होगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'अन्य:' निर्देश द्वारा 'अकर्तरि च कारके' (३।३।१९) सूत्र को प्रसज्यप्रतिषेध के प्रयोगों में समास विधान का ज्ञापक माना है। इस ज्ञापक का उल्लेख काशिका तथा न्यास में भी मिलता है।[2] बात यह है कि उपर्युक्त सूत्र के 'अकर्तरि' पद में पर्युदास प्रतिषेध न होकर प्रसज्यप्रतिषेध है, क्योंकि यदि यहां पर पर्युदास प्रतिषेध माना गया तो 'कारक' पद का ग्रहण व्यर्थ होगा। इसका कारण यह है कि पर्युदास मानने पर 'अकर्तरि' कहने से ही 'नञ् इव युक्तं अन्यसदृशा···'[3] परिभाषा के अनुसार 'कृतृ भिन्ने कारके' अर्थ होने के कारण, 'कर्ता' कारक को छोड़कर उसके समान अन्य कर्म आदि कारकों की प्रतीति हो जाएगी।

महाभाष्यकार ने इन असमर्थ प्रयोगों की साधुता के विषय में 'सुडनपुंसकस्य' (१।१।४३) सूत्र को ज्ञापक माना है।[4] ज्ञापकसमुच्चय में भी इसी सूत्र को इस बात का ज्ञापक माना गया है। सूत्रकार ने 'स्त्रीपुंसयो:' के स्थान पर 'सुडनपुंसकस्य' पद का जो प्रयोग किया है। उससे यह ज्ञापित होता है कि 'नञ्' समास प्रसज्यप्रतिषेध में भी होता है।[5] दुर्घटवृत्तिकार ने इस ज्ञापक का उल्लेख भागवृत्तिकार के कथनरूप में किया है।

इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए, रक्षित के मत रूप में, एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्' (८।४।९६) सूत्र में 'युक्त' पद के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'समर्थ: पदविधि:' परिभाषा अनित्य है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'अंग' निपात से योग होने पर ही 'अंगकूज' इत्यादि प्रयोगों में समर्थता होने के कारण पदविधि की स्थिति बन पाती है। 'अंग' प्रयोग के अभाव में तो समर्थता न होने से प्लुत रूप पदविधि स्वयं ही नहीं होगी। फिर 'अङ्गयुक्तम्' अंश सूत्र में क्यों रखा गया, इस रूप में 'युक्त' शब्द का ग्रहण निष्प्रयोजन होकर समर्थ परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। इसलिए इसके अनित्य होने के कारण ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। इस ज्ञापक का

१. धातुवृत्ति, पृ० २९७।
२. काशिका, ३।३।१९।
३. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ७५।
४. महाभाष्य, २।१।१, पृ० ५०४।
५. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ५८।

उल्लेख न्यास में भी मिलता है ।[1]

इसके अतिरिक्त 'वयंगच्छामस्त्वमागभिष्यसि' जैसे असमर्थ पदों में विसर्जनीय को सत्व आदि पदविधियां भी समर्थ परिभाषा की अनित्यता के आधार पर साधु मानी जाती हैं ।

सह सुपा २।१।४

भूतपूर्वः

'सह सुपा' सूत्र विधायक सूत्र न होकर अधिकार सूत्र है। अतः 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः[2] परिभाषा का 'भूतपूर्वः प्रयोग तथा इसी प्रकार के अन्य 'दृष्टपूर्वः,' 'श्रूतपूर्वः' 'पूर्वविप्रतिषेधः' 'अध्वगन्तव्यः' आदि प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर समास विधायक सूत्र कोई नहीं है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'सह सुपा' सूत्र का योगविभाग करके तथा पूर्ववर्ती सूत्र 'सुबामंत्रिते' (२।२।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति लाकर 'सुप सह' सूत्र बनेगा जिसका अर्थ होगा—समर्थ के साथ सुबन्त का समास होता है। 'भूतपूर्वः' आदि प्रयोग इस दूसरे सूत्र के उदाहरण होंगे।

महाभाष्य तथा काशिका में योगविभाग को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि 'सहसुपा' सूत्र में 'सह' पद का ग्रहण वस्तुतः योगविभाग के लिए ही किया गया है।[3]

'भूतपूर्वः' प्रयोग में एक अन्य कठिनाई यह है कि 'पूर्वं भूतम्' इस विग्रह वाक्य में 'प्रथमा निर्दिष्टं···' (१।२।४३) सूत्र के अनुसार 'पूर्व' पद का पूर्वनिपात होना चाहिए।

इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) सूत्र में निपातित 'भूतपूर्वे' निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु २।१।६

प्रत्यक्षः

'अव्ययं विभक्ति···' 'सूत्र' 'विभक्ति' आदि अर्थों में विद्यमान अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास का विधान करता है। इस सूत्र में निर्दिष्ट 'यथार्थ' पद योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति तथा सादृश्य अर्थों में

१. न्यास (भाग २) ८।२।६६, पृ० १०२३।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ७७।
३. महाभाष्य, २।१।४, पृ० ५६७।

प्रयुक्त हुआ है।[1] इसके 'वीप्सा' अर्थ की दृष्टि से 'प्रत्यक्ष:' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'अक्षम् अक्षम् प्रति' विग्रह वाक्य में 'प्रति' अव्यय के वीप्सा अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण, अव्ययीभाव समास होकर 'प्रत्यक्षम्' बनना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां तत्पुरुष समास मानते हुए यह समाधान दिया है कि 'प्रतिगतोऽक्षमिति' विग्रह करके 'प्रादयो गताद्यर्थे द्वितीया'[2] वार्तिक से यहां समास हो जाएगा।

यहां यह कहा जा सकता है कि तत्पुरुष होने पर 'परवल्लिङ्गम्…' (२।४।२६) सूत्र से परवल्लिगता होनी चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्य:' वार्तिक द्वारा गति समास में परवल्लिगता का निषेध हो जाएगा।

वस्तुत: 'प्रत्यक्ष:' तथा 'प्रत्यक्षम् दोनों प्रयोग कोशों में उपलब्ध होते हैं। प्रथम में तत्पुरुष तथा द्वितीय में अव्ययीभाव समास मानना चाहिए।

अर्थमर्थं प्रति

'अर्थमर्थं प्रति' विग्रह वाक्य में 'प्रति' के वीप्सा अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण नित्य अव्ययीभाव समास होकर 'प्रत्यर्थम' बनना चाहिए, क्योंकि इस समास को नित्य समास माना गया है। इसीलिए समास के पदों के विग्रह को 'अस्वपदविग्रह' नाम दिया जाता है।

दुर्घटवृत्ति में न्यास के नाम से तथा पदमञ्जरी और शब्दकौस्तुभ में इसी सूत्र की व्याख्या में यह समाधान दिया गया है कि 'लक्षणेत्थंभूत…' (१।४।९०) सूत्र द्वारा वीप्सा अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किए जाने के कारण 'कर्मप्रवचनीये द्वितीया' सूत्र में द्वितीया विभक्ति का श्रवण होगा। अत: पक्ष में 'अर्थमर्थं प्रति' का भी प्रयोग होता है।[3]

प्रत्येकम्

'प्रत्येकम्' समस्त पद के विग्रह वाक्य 'एकैकं प्रति' में यह समस्या उपस्थित होती है कि 'प्रत्येर्थम्' के विग्रह वाक्य 'अर्थमर्थं' प्रति के समान यहां भी 'एकम् एकम् प्रति' विग्रह वाक्य का प्रयोग क्यों नहीं होता।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'एकं बहुव्रीहिवत्' (८।१।९) सूत्र से द्वरुक्त 'एक' शब्द को बहुव्रीहिवत् अतिदेश होने के कारण 'सुपो धातु…' (२।४।७१) सूत्र से दोनों के (एकम्) 'सुप्' का लोप हो जाएगा तथा बाद में समुदाय भूत 'एकैक' प्रातिपादक से विभक्ति लाकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

१. काशिका, २।१।६।
२. महाभाष्य, २।२।१८।
३. न्यास (भाग १), २।१।६, पृ० ३४२।

उपरि शिरसो घटं धारयति

'उपरि शिरसो घटं धारयति' वाक्य में यह समस्या उपस्थित हो सकती है कि 'उपरि' शब्द के विभक्त्यर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहां भी अव्ययीभाव समास होना चाहिए था।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि अतिद्धान्त 'समीप' आदि के साहचर्य के कारण तद्धितान्त 'उपरि' आदि अव्ययों के साथ, भले ही वे विभक्त्यर्थ के वाचक हों, समास नहीं होगा।

समयाग्रामम्

इसी प्रकार का दोष 'अभितः परितः समयानिकषा'[1] वार्तिक के उदाहरणभूत 'समया ग्रामम्' में उपस्थित होता है। 'समया' अव्यय के समीपार्थक होने के कारण यहां भी अव्ययीभाव समास होना चाहिए था।

दुर्घटवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में रक्षित के नाम से इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन अव्ययों के साथ उपर्युक्त वार्तिक द्वारा द्वितीया का विशेष विधान करने से यहां समास नहीं होगा। यदि इस प्रकार के प्रयोगों में समास कर दिया गया तो फिर द्वितीया का विधान करना अनावश्यक हो जाएगा। इसका कारण यह है कि समास की स्थिति में तो द्वितीया का प्रयोग होगा ही नहीं। इसके अतिरिक्त अव्ययीभाव समास है भी तो नित्य समास।[2]

सुधानिधि और बालमनोरमा में 'अव्ययं विभक्ति···' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह समाधान दिया गया है कि सूत्र में 'विभक्ति' 'समीप' आदि पदों से अर्थ मात्र का ग्रहण किया गया है। 'समया ग्रामम्' आदि में अधिकरण विशिष्ट सामीप्य अर्थ का बोध कराता है। अतः यहाँ पर अधिकरण शक्ति के प्रधान होने के कारण समीपार्थ मात्रता का अभाव है।[3]

शोभनं समया ग्रामम्

यहां यह कहा जा सकता है कि द्वितीया विधान का प्रयोजन 'शोभनं समया ग्रामम्' आदि वाक्यों में, जिनमें विशेषण का योग है तथा इस कारण 'सविशेषणानां वृत्ति वृत्तस्य' वा विशेषणयोगो न[4] नियम के अनुसार अव्ययीभाव समास

---

१. महाभाष्य, २।३।२।

२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ३।४।१८, पृ० ६।

३. सुधानिधि २।१।६, पृ० ६२२।

४. महाभाष्य, २।१।१।

हो ही नहीं सकता, द्वितीया विभक्ति का विधान करना है। इस दृष्टि से द्वितीया के सप्रयोजन हो जाने के कारण उसके द्वारा 'समया ग्रामम्' आदि में समास का निषेध नहीं हो सकेगा।

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि व्यक्तिपक्ष की दृष्टि से उपर्युक्त वार्तिक में अव्ययीभाव समास के निषेध की सामर्थ्य मानी जा सकती है। गणपति शास्त्री ने 'व्यक्तौ सामर्थ्यं वाच्यम्' पंक्ति की व्याख्या दो प्रकार से की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार व्यक्तिपक्ष में यह आवश्यक नहीं है कि सूत्र एक साथ सभी उदाहरण भूत व्यक्तियों में अपना कार्य करता हुआ चरितार्थ हो। यह स्थिति केवल आकृतिपक्ष में स्वीकार्य है। इसलिए व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक उदाहरण रूप व्यक्ति में सूत्र अलग-अलग रूप से प्रवृत्त होगा। इसलिए 'शोभनं समया ग्रामम्' उदाहरण की दृष्टि से भले ही उपर्युक्त वार्तिक द्वारा द्वितीया विधान सप्रयोजन होकर अव्ययीभाव के निवारण रूप सामर्थ्य से रहित हो जाए, पर 'समया ग्रामम्' उदाहरण की दृष्टि से तो द्वितीया विधान का कोई भी प्रयोजन नहीं है, यदि वहां अव्ययीभाव समास हो जाए। इसलिए इस व्यक्तिभूत उदाहरण की दृष्टि से निष्प्रयोजन होकर, द्वितीया विधान में अव्ययीभाव समास के निषेध की सामर्थ्य अक्षुण्ण बनी रहेगी।

इस पंक्ति की दूसरी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि 'व्यक्ति' का अर्थ है—शुद्ध अथवा विशेषणरहित प्रयोग। यहां केवल विशेषणरहित 'समया ग्रामम्' आदि प्रयोगों की दृष्टि से विचार करते हुए कहा जा सकता है कि इन प्रयोगों में यदि अव्ययीभाव समास हो जाए तो समास के पश्चात् उनका विशेषण से योग नहीं होगा। जब विशेषण का सम्बन्ध होगा ही नहीं तो सविशेषण प्रयोगों की दृष्टि से द्वितीया विधान चरितार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार अव्ययीभाव समास के विषय में ही इस वार्तिक की चरितार्थता माननी होगी तथा द्वितीया विधान निष्प्रयोजन होता हुआ अव्ययीभाव समास के निवारण में समर्थ रहेगा।[1]

पुरोरामस्य

भट्टि के 'पुरो रामस्य जुहवाञ्चकार'[2] श्लोकांश में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'पुरः' अव्यय के विभक्त्यर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहां समास होना चाहिए।

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृ० ३२, पादटिप्पण २।
२. भट्टिकाव्य, ४।५।

दुर्घटवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि 'अव्ययं विभक्ति···' सूत्र में समीप आदि पदों की अपेक्षा 'व्यृद्धि' पद के अल्पाच्तर होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए था। इस व्यभिचार से यह ज्ञापित होता है कि अव्ययीभाव समास विधान अनित्य[1] है। यहां विचारणीय है कि इन विद्वानों ने यह ज्ञापक किसी प्रकार निकाला।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि अतद्धितान्त समीप आदि अव्ययों के साहचर्य से विभक्त्यर्थ में प्रयुक्त अतद्धितान्त अव्ययों का ग्रहण ही इस सूत्र में अभीष्ट है। इसी प्रकार का समाधान सुधानिधि में भी दिया गया है।[2]

यथासादृश्ये २।१।७

यथोक्तरीत्या

'यथासादृश्ये' सूत्र असादृश्य अर्थ में विद्यमान 'यथा' अव्यय का सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास का विधान करता है। इस सूत्र द्वारा सादृश्य अर्थ के वाचक 'यथा' अव्यय का निषेध हो जाने के कारण न्यासकार द्वारा कतरकतम···ौ' (२।१।६३) सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त 'यथोक्तरीत्या' तथा 'कायस्थ का 'यथाशक्त्या' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'यथा' शब्द का सादृश्य अर्थ गम्यमान हो रहा है। अतः समास नहीं होना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यहां 'यथा' पद का अर्थ सादृश्य तो है, परन्तु उसका अगले पदों 'उक्तरीत्या' तथा 'शक्त्या' के साथ समास नहीं हुआ है। उसकी दृष्टि से 'यथोक्तरीत्या' पद का अर्थ है—' येनप्रकारेणोक्तरीतिस्तेनैव प्रकारेणोक्तमिति' तथा 'यथाशक्त्याv' का अर्थ है—'यथात्वं शक्तस्तथा शक्त्यानुरूप्येण।'

महाभाष्यकार ने भी 'यथाशक्ति' प्रयोग में इसी प्रकार की समस्या रखी है तथा कहा है कि 'यथा' शब्द में 'प्रकारवचने थाल्' (५।३।२३) सूत्र से प्रकार अर्थ में 'थाल्' प्रत्यय हुआ है। प्रकार तथा सादृश्य दोनों शब्द पर्याय-वाची हैं। इस प्रकार सादृश्य अर्थवाला होने के कारण 'यथाशक्ति' पद में समास की स्थिति विचारणीय है।[3]

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २) २।१।६, पृ० १६४।

२. सुधानिधि, २।१।६, पृ० ६२७।

३. महाभाष्य, २।१।७, पृ० ५७१।

महाभाष्यकार ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्पष्ट कहा है कि 'यथा' शब्द दो प्रकार का है—व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न 'यथा' शब्द 'थाल्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध हुआ है। अतः वह सादृश्य अर्थ वाला है, परन्तु अव्युत्पन्न 'यथा' शब्द 'वीप्सा' का वाचक है, सादृश्य का नहीं। यहां पतञ्जलि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'यथासादृश्ये' सूत्र में अव्युत्पन्न 'वीप्सा' वाची पद का ग्रहण अभिप्रेत है, क्योंकि सूत्रकार ने 'असादृश्ये' कह कर 'व्युत्पन्न' 'यथा' शब्द के ग्रहण का निषेध कर दिया है। अतः 'यथाशक्ति' जैसे पदों में अव्युत्पन्न वीप्सावाची 'यथा' का प्रयोग ही माना जाना चाहिए।[1]

वस्तुतः महाभाष्यकार का कथन ही सुसंगत है। दुर्घटवृत्तिकार का यह कहना कि इन पदों में 'यथा' शब्द सादृश्यवाची तो है परन्तु उसका उत्तरपद के साथ समास नहीं हुआ है उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि फिर तो 'यथा' पद के समस्त प्रयोग मिलने ही कठिन हो जाएंगे।

अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२

अपशब्दः

'अपपरिबहि···' सूत्र 'अप' आदि सुबन्तों का पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास का विधान करता है। इस सूत्र में 'अप' तथा 'परि' अव्ययों के परस्पर साहचर्य से 'अपपरी वर्जने' (१।४।८८) सूत्र में प्रयुक्त वर्जनार्थक कर्म प्रवचनीय संज्ञक 'अप' तथा 'परि' का ग्रहण किया जाता है। इन 'अप' तथा 'परि' अव्ययों के योग में पंचम्यापाङ्...' (२।३।१०) सूत्र के द्वारा पंचमी विभक्ति का विधान किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अपपरिबहि....' सूत्र के द्वारा केवल वर्जनार्थक तथा कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'अप' तथा 'परि' के साथ पञ्चम्यन्त शब्दों का समास अभीष्ट है। ऐसी स्थिति में 'अपशब्दः', 'अपन्यायः', 'अपव्यवहारः' तथा 'अपगतः' प्रयोगों में समास की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'अप' शब्द वर्जन अर्थ का बोधक नहीं है।

दुर्घटवृत्ति तथा न्यास में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'प्रादि-प्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक के 'प्रतिषेधः' वचन से यह ज्ञापित होता है कि जब 'अप' तथा 'परि' वर्जनार्थक न हों तथा उनकी कर्म-

---

१. महाभाष्य, २।१।७, पृ० ५७१।

प्रवचनीय संज्ञा भी न हो तब परविहित एवं अन्तरङ्ग (अल्पापेक्ष) होने के कारण 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से प्रादितत्पुरुष समास हो जाएगा ।[1]

बहिर्गाभात्

'बहिर्गाभात्' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'बहिस्' के योग में किसी भी सूत्र से पञ्चमी का विधान न किए जाने के कारण यहां पर पंचमी का प्रयोग साधु कैसे माना जाए ?

दुर्घटवृत्ति में वृत्ति के नाम से तथा महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी, शब्द,-कौस्तुभ आदि ग्रथों इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'अपपरिबहि···' सूत्र में पञ्चम्या:' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'बहिस्' के योग में पंचमी भी होती है । यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'पञ्चम्यापाङ्' सूत्र से वर्जनार्थक कर्मप्रवचनीय 'अप' तथा 'परि' के योग में 'पंचमी' की प्राप्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'अन्यारात्···' (२।३।२८) सूत्र से 'अञ्चु' शब्द के योग में भी पञ्चमी विहित है । केवल 'बहिस्' के योग में पञ्चमी विधायक कोई सूत्र नहीं बनाया गया । यदि सूत्रस्थ 'पञ्चम्या:' शब्द से यह ज्ञापक न निकाला जाए तो 'बहिस्' के सम्बन्ध में 'पञ्चम्या:' 'का प्रयोग असंगत एवं व्यर्थ हो जाएगा । इस प्रकार 'पञ्चम्या:' निर्देश द्वारा यह ज्ञापित होता है कि 'बहिस्' के योग में पञ्चमी का प्रयोग साधु है तथा इसके लिए आचार्य का यह सूत्र ही पर्याप्त है ।[2]

करस्य करभो बहिः

परन्तु यदि इस ज्ञापक को माना जाए तो अमरकोश के 'करस्य करभो बहिः'[3] श्लोकांश में 'कर' शब्द से 'बहिस्' के योग में षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य होगा ।

इस प्रश्न का उत्तर, ज्ञापकसमुच्चय के कथन रूप में, यह दिया गया है कि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रम्' परिभाषा के अनुसार इस ज्ञापक के अनित्य होने से यहां पर पञ्चमी का प्रयोग नहीं हुआ है ।[4] अमरकोश की टीका में भी ठीक यही समाधान मिलता है ।[5]

---

१. न्यास (भाग १) २।१।१२, पृ० ३४५ ।
२. (क) महाभाष्य २।१।१२, पृ० ५७५ ।
   (ख) न्यास (भाग १), २।१।१२, पृ० ३४४ ।
३. अमरकोश, २।६।८१ ।
४ ज्ञापकसमुच्च, पृ० ६५ ।
५ अमरकोश टीका, २ ४।८१ ।

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७

आतिष्ठद्गु

'तिष्ठद्गु···' सूत्र द्वारा 'तिष्ठद्गु' आदि शब्द रूपों की अव्ययीभाव संज्ञा का विधान किया गया है। ये शब्द तिष्ठद्ग्वादिगण में समुदायरूप से निपातित हैं। इस सूत्र में प्रयुक्त चकार अवधारणार्थक है। अत: इन शब्दों से अतिरिक्त अन्य पदों में समास अभीष्ट नहीं, जैसे 'परमतिष्ठद्गु' प्रयोगों में समास नहीं हुआ है। इस नियम की दृष्टि से भट्टि के 'आतिष्ठद्गु जपन् सन्ध्याम'[1] श्लोकांश में 'आतिष्ठद्गु' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'तिष्ठद्गु' के साथ 'आङ्' का भी समास हुआ है। अत: समास नहीं होना चाहिए।

दुर्घटवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में, जयमगला के कथन रूप में, यह समाधान दिया गया है कि सूत्र में प्रयुक्त चकार के एवार्थक (अवधारणार्थक) होने के कारण जो नियम बनेगा, उसके द्वारा अव्ययीभाव से भिन्न समास का निषेध होगा, न कि अव्ययीभाव का। अत: 'आङ्मर्यादा···' सूत्र से यहां पर 'आङ्' के योग में अव्ययीभाव समास होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[2] सुधानिधि में भी यही कहा गया है कि 'च' ग्रहण से विजातीय समास का ही निषेध अभीष्ट है, न कि प्राकरणिक अव्ययीभाव का।[3]

अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् २।१।२१

सराजम्

'अन्यपदार्थे···' सूत्र में 'नदीभिश्च' (२।१।२०) सूत्र से 'नदीभि:' पद की अनुवृत्ति आने के कारण यह सूत्र अन्य पदार्थ में वर्तमान सुबन्त का नदीसंज्ञक शब्द के साथ संज्ञा के विषय में अव्ययीभाव समास का विधान करता है। इस दृष्टि से 'अगात् सराजं बलमध्वनीनम्'[4] श्लोकांश का 'सराजम्' पद विचारणीय है, क्योंकि यहां 'राजन्' शब्द नदीसंज्ञक नहीं है। इस प्रयोग में बहुव्रीहि समास भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में 'अनश्च' (५।४।१०८) सूत्र में अव्ययीभाव की अनुवृत्ति आने के कारण इस सूत्र से समासान्त 'टच्'

---

१. भट्टिकाव्य, ४।१४।
२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ४।१४।
३. सुधानिधि २।१।१७, पृ० ६३२।
४. भट्टिकाव्य, २।४६।

नहीं हो सकता। इसी प्रकार की समस्या अमरकोश के 'साष्टे शते सुवर्णानाम्'[1] वाक्य के 'साष्टे' पद में उपस्थित होती है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'राज्ञा सह' विग्रह वाक्य में 'अव्ययं विभक्ति···' सूत्र से 'योगपद्य' अर्थ में 'सह' के साथ 'राजन्' पद का अव्ययीभाव समास होना चाहिए। यहां पर 'अव्ययीभाव चाकाले' (६।३।८१) सूत्र से 'सह' को 'स' आदेश हो जाएगा तथा 'अनश्च' सूत्र से समासान्त 'टच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

जयमंगला के अनुसार यहांप र 'साकल्य' अथवा 'योगपद्य' अर्थ में अव्ययी-भाव समास हुआ है।[2]

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४

भारनिवोढुम्

'द्वितीया श्रितातीत···' सूत्र द्वारा द्वितीयान्त शब्दों का 'श्रित' आदि शब्दों के साथ तत्पुरुष समास का विधान किए जाने के कारण धर्मकीर्ति द्वारा प्रयुक्त 'परार्धभारनिवोढुम्' वाक्य का 'भारनिवोढुम्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि यहां पर किस सूत्र से समास हुआ ?' 'द्वितीया श्रितातीत···' सूत्र से तो यहां पर समास नहीं हो सकता, क्योंकि यह सूत्र 'श्रित' आदि क्तान्त शब्दों से ही सुबन्त के समास का विधान करता है। साथ ही इस प्रयोग में षष्ठी तत्पुरुष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'तुमुन्' प्रत्ययान्त शब्दों की 'कृन्मे-जन्त' (१।३९) सूत्र से अव्यय संज्ञा हो जाने के कारण 'न लोकाव्यय···' (२।१।६९) सूत्र द्वारा षष्ठी का निषेध हो जाएगा।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'द्वितीया श्रितातीत···' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'द्वितीया' से यहां पर समास हो जाएगा।

दूसरे समाधान के रूप में यह कहा गया है कि यहां पर 'सुप्सुपा' सूत्र द्वारा समास हो जाएगा।

तीसरे समाधान में समासरहित परार्धभारमुद्वोढुम्' पाठान्तर दिया गया है।

---

१. अमरकोश ३।३।१३।

२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, २।४९।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३०

शीकर पल्लवित:

'तृतीय तत्कृता…' सूत्र द्वारा तृतीयान्त सुबन्त तत्कृत (तृतीयान्तार्थ कृत) गुणवाचक तथा 'अर्थ' शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है। यहां जिस 'गुण' का सूत्र में उल्लेख हुआ है, उसकी परिभाषा के विषय में महाभाष्य की निम्न कारिका द्रष्टव्य है—

सत्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुण: ।।[1]

इस कारिका का अभिप्राय यह है कि गुण वह है जो द्रव्य में प्रविष्ट होता है, उससे अलग हो जाता है तथा पृथक जातियों में भी दिखाई देता है। वह उत्पाद्य है (जैसे, पकाने से घट आदि में उत्पन्न रक्तिम रंग)। साथ ही वह अनुत्पाद्य भी है (जैसे, आकाश आदि के महत्व आदि गुण)। परन्तु इतना होते हुए भी वह असत्व प्रकृति अर्थात् द्रव्य से भिन्न स्वभाव वाला है। गुण के इस लक्षण के अनुसार 'मुखर', 'पल्लवित' तथा 'दन्तुर' शब्दों के गुणवाचक न होने के कारण इस सूत्र द्वारा इन शब्दों से तृतीया तत्पुरुष समास नहीं हो सकता। इस कारण 'ध्वनिमुखर:', 'शीकरपल्लवित:' तथा 'ज्योतिर्दन्तुर:' प्रयोगों में समास की स्थिति विचारणीय है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, कैयट के मत रूप में यह कि 'तृतीया तत्कृता…' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'तृतीया' से यहां पर समास हो जाएगा। परन्तु कैयट कृत प्रदीप टीका में इस प्रकार के योग-विभाग का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र के 'बहुलम्' पद से यहां पर समास हो जाएगा। 'बहुलम्' पद की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'क्वचिद्प्रवृत्ति: क्वचिदप्रवृत्ति:, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेविधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।[2]

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णै: २।१।३१

गुरुतुल्य:

'पूर्वसदृश…' सूत्र 'पूर्व' आदि शब्दों के साथ तृतीयान्त पदों के तत्पुरुष

१. महाभाष्य, ४।१।४४।
२. A Dictionary of Sanskrit grammar, p. 263.

समास का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'गुरुतुल्य:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर किस सूत्र से समास हुआ है ? क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में तो 'सदृश' शब्द से, अर्थ का ग्रहण न होकर स्वरूप का ग्रहण किया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर तृतीया समास नहीं हुआ है, अपितु 'तृतीयार्थेरतुल…' (२।३।७२) सूत्र द्वारा वैकल्पिक षष्ठी विभक्ति होकर (गुरो: तुल्य:) 'षष्ठी' (२।२।८) सूत्र से समास हुआ है।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३६

वासगृहम्

'चतुर्थी तदार्थ…' सूत्र 'तदर्थ' (तस्मै इदं तदर्थम्), बलि आदि शब्दों के साथ चतुर्थ्यन्त का तत्पुरुष समास करता है। इस सूत्र में पठित 'तदर्थ' पद से उन दो पदों में समास अभीष्ट है जिनमें परस्पर प्रकृति विकृति भाव होता है।[1] प्रकृति का अर्थ है उपादान कारण तथा प्रकृति के बाद की अवस्था का नाम विकृति अथवा विकार है।[2] प्रकृति-विकृति भाव में ही समास अभीष्ट होने के कारण 'रन्धनाय स्थाली' जैसे प्रयोगों में, जहां प्रकृति-विकृति भाव नहीं है, समास नहीं होता। इस दृष्टि से 'वासगृहम्' तथा 'अश्वघास:' प्रयोगों में प्रकृति-विकृति भाव न होने के कारण समास की स्थिति विचारणीय है।

दुर्घटवृत्ति में कैयट के नाम से तथा महाभाष्य में इस समस्या का यह समाधान मिलता है कि यहां पर चतुर्थी तत्पुरुष न होकर षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है।[3] शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।

'अश्वघास:' प्रयोग के विषय में कैयट ने कहा है कि 'तादर्थ्य' सम्बन्ध विशेष है तथा विशेष में सामान्य संभव है। अत: सामान्यपरक की विवक्षा में षष्ठी की प्रवृत्ति होती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि 'अश्वानां घास:' विग्रह वाक्य में योग्यतामात्र की विवक्षा है, तादर्थ्यता की नहीं। अत: यहां पर उसकी दृष्टि से षष्ठी समास ही माना जाएगा।[4]

---

१. काशिका, २।१।३६।
२. ए डिक्शनरी ऑफ संस्कृत ग्रामर।
३. महाभाष्य, २।१।३६, पृ० ६००।
४. प्रदीप, महाभाष्य २।१।३६, पृ० ६०० ६०१।

भाषावृत्ति में 'चतुर्थी तदार्थ···' सूत्र का योगविभाग करके 'चतुर्थी' इस पृथक् सूत्र द्वारा यहां पर समास माना गया है ।[1]

पञ्चमी भयेन २।१।३७

सितेतरस्य

'पंचमी भयेन' सूत्र पञ्चभ्यन्त सुबन्त का भय शब्द के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास का विधान करता है । इस सूत्र को देखते हुए कुमारसंभव के 'निवीम तिक्रम्य सितेतरस्य'[2] श्लोकांश का 'सितेतरस्य' (सितात इतरस्य) प्रयोग में 'इतर' शब्द के भयवाची न होने के कारण समास की स्थिति विचारणीय है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि यहां पर 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र के 'बहुल' वचन से समास हो जाएगा । इस सूत्र के 'बहुल' पद के उदाहरणों में से एक यह भी उदाहरण है, ऐसा न्यासकार का विचार है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि यहां पर तत्पुरुष समास न मानकर 'सित इतरो यस्मात्' विग्रह द्वारा बहुव्रीहि समास माना जाए ।

भाषावृत्ति में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि 'पञ्चमी भयेन' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'पञ्चमी' से यहां पर समास हो जाएगा ।

परश्शताद्याः

इसी प्रकार की कठिनाई अमरकोश तथा माघ के 'परश्शताद्याः'[3] तथा 'परश्शताः'[4] प्रयोगों में उपस्थित होती है । यहां पर 'पर' शब्द के भयवाची न होने के कारण 'पञ्चमी भयेन' सूत्र से समास नहीं होना चाहिए ।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'शतात् परः' विग्रह करके 'पञ्चमी भयेन' सूत्र के योगविभाग द्वारा पृथक् सूत्र 'पञ्चमी' से यहां पर समास हो जाएगा । यही समाधान शिशुपालवध तथा अमरकोश की टीकाओं में दिया गया है ।[5]

दूसरा समाधान यह दिया कि इन प्रयोगों में 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) सूत्र से समास मानना चाहिए । इस गण में 'मयूरव्यंसक आदि

---

१. भाषावृत्ति, २।१।३६ ।
२. कुमारसंभव, १।३८ ।
३. अमर कोश, ३।१।६४।०१ ।
४. शिशुपालवध, १२।५० ।
५. (क) मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध १२।५ ।
(ख) अमरकोश सुधाटीका, ३।१।६४ ।

कुछ शब्दों का निपातन करके उन्हें तत्पुरुष माना गया है। यह गण आकृतिगण है।[1]

तीसरा समाधान 'अन्य:' निर्देश द्वारा यह किया गया है कि ये शब्द पारस्क-राादि गण में पठित मान कर 'पारस्करप्रभृतीनि...' (६।१।१५७) सूत्र द्वारा सिद्ध हो जाएंगे। यह गण भी आकृतिगण है।[2]

दुर्घटवृत्तिकार तथा मल्लिनाथ ने परनिपात सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि 'परश्शता:' प्रयोग को राजदन्तादिगण में पठित मान कर 'राजदन्तादिषु परम्' (२।१।३१) सूत्र से यहां पर निपात सिद्ध हो जाएगा।[3] यह गण भी आकृतिगण माना गया है।

इन प्रयोगों में 'सुट्' की स्थिति के विषय में शरणदेव तथा मल्लिनाथ का यह कहना है कि इन शब्दों को पारस्करादिगण में समाविष्ट मान कर 'पारस्क-रप्रभृतीनि...' सूत्र से 'सुट्' की प्राप्ति हो जाएगी। इस गण को आकृतिगण मानते हुए काशिका में कहा गया है कि अविहितलक्षण 'सुट्' का विधान इस गण द्वारा समझा जाना चाहिए।[4]

उपर्युक्त प्रयोगों में यह भी विचारणीय है कि शत शब्द के नपुंसकलिंग होने के कारण इन प्रयोगों में परवल्लिङ्गम्···' (२।४।२६) सूत्र के अनुसार 'शत' पद के लिंग के अनुरूप समस्तपद 'परश्शताया:' आदि का प्रयोग भी नपुंसक-लिंग में ही होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि लिंगप्रयोग का आधार लौकिक प्रयोग है। महाभाष्य में स्पष्ट कर दिया गया है कि शब्दों के लिंग का अनुशा-सन व्याकरण के नियमों द्वारा किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। शिष्ट लोगों द्वारा किए गए प्रयोगों के आधार पर ही शब्दों की लिंग विषयक स्थिति का निर्णय संभव है।[5] इन प्रयोगों में 'शत' शब्द पुल्लिग तथा नपुंसकलिंग दोनों में प्रयुक्त दिखाई देता है। इसलिए, लौकिक प्रयोगों का विरोध करके, केवल व्याकरणानुसार इनमें परवल्लिगता नहीं मानी जा सकती। जहां तक पुंवद्भाव की सिद्धि का प्रश्न है, वह 'स्त्रिया: पुंवत्...' (६।३।३४) सूत्र का

---

१. काशिका, २।१।७२।
२. काशिका, ६।१।१५७।
३. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, १२।५०
४. काशिका, ६।१।१५७।
५. महाभाष्य, ४।१।३, पृ० ४५१।

योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' द्वारा सिद्ध हो जाएगा।

महाभाष्यकार ने भी 'नाज्झलौ' (१।१।१०) सूत्र के भाष्य में 'परश्शतानि' प्रयोग किया है। कैयट ने इस प्रयोग की सिद्धि 'शतात् पराणि' विग्रह करके 'कर्तृकरणेकृताबहुलम्' सूत्र के 'बहुल' द्वारा की है। उसने भी यहां पर 'सुट्' की प्राप्ति पारस्करप्रभृतीनि...' सूत्र से मानी है।[1]

नागेश ने अपनी उद्योत टीका में 'बहुल' से समास न मान कर 'मयूरव्यंसकादयश्च' अथवा 'सुप्सुपा' सूत्र से यहां पर समास माना है।[2]

इसी प्रकार परिमाणां शतादूर्ध्वमुदाहृतम्' तथा 'ब्रह्मादयो ब्रह्महितायतप्त्वा परः सहस्राः शरदस्तपांसि, श्लोकांशों के 'शतादूर्ध्वम्', 'परःशतम्' तथा 'परःसहस्राः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएंगे।

कृत्येऋणे २।१।४६

संवत्सरकरणीयम्

यदि ऋण गम्यमान हो रहा हो तो 'कृत्येऋणे' सूत्र 'कृत्य' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त शब्दों के तत्पुरुष समास का विधान करता है। इस सूत्र के भाष्य तथा वृत्ति में कहा गया है कि केवल 'यत्' प्रत्ययान्त शब्दों से ही समास अभीष्ट है।[3] अतः इस नियम के अनुसार 'संवत्सरकरणीयम्' प्रयोग में समास की स्थिति विचारणीय है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर सप्तमी समास माना जाए। दूसरा समाधान यह कि यहां पर 'बहुल' वचन द्वारा समास हुआ है।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन २।१।४६

वर्णैकम्

'पूर्वकालैक···' सूत्र पूर्वकाल आदि सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास का विधान करता है। समानाधिकरण का अर्थ है—

---

१. प्रदीप, महाभाष्य १।१।१०, पृ० २०८।
२. उद्योत, महाभाष्य १।१।१०।
३. काशिका, २।१।४३।

भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तिक शब्द की एक ही अर्थ में प्रवृत्ति होना।[1] इस सूत्र की रचना समासविधायक सूत्र में उपदिष्ट शब्दों के पूर्वनिपात की दृष्टि से की गई है। अतः इस सूत्र की दृष्टि से 'वर्णैकम्' प्रयोग में 'एक' शब्द का परनिपात विचारणीय है।

इस समस्या का समाधान यह है कि इस प्रयोग में 'एक' पद संख्येय न होकर संख्यावाचक है। 'एक' शब्द संख्यावाचक भी होता है, इस बात का ज्ञापक 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१।४।२२) सूत्र में पठित 'द्वि' और 'एक' शब्द हैं। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि यहां पर 'द्वि' तथा 'एक' शब्द संख्यावाचक न होकर संख्येय होते तो उनकी दृष्टि से द्विवचन का प्रयोग न होकर बहुवचन का प्रयोग होता अर्थात् 'द्व्येकयोः' के स्थान पर 'द्व्येकेषाम्' का प्रयोग किया जाता।[2] यहां पर यह कहा जा सकता है कि 'आदशतः संख्या संख्येय' कथन के अनुसार 'एक' शब्द को संख्यावाचक नहीं माना जा सकता। इस प्रश्न उत्तर शरणदेव तथा भट्टोजिदीक्षित ने यह दिया है कि यह कथन प्रायिक है अर्थात् कहीं कहीं ऐसी स्थिति मिलती है, सर्वत्र नहीं। इस प्रकार धर्म (संख्या) और धर्मी (संख्येय) में भेदोपचार से 'एक' पद को संख्येय का वाचक मानते हुए 'वर्णैकम्' पद में षष्ठी समास उचित है न कि प्रस्तुत सूत्र द्वारा समानाधिकरण तत्पुरुष समास। इस प्रकार षष्ठी समास मानने पर षष्ठ्यन्त पद के प्रथमा निर्दिष्ट होने से 'वर्ण' शब्द का पूर्वनिपात हो जाएगा।[3]

दुर्घटवृत्ति में एक ऐसा मत भी उद्धृत है जिसके अनुसार यहां समानाधिकरण मानते हुए 'वर्णैकम्' प्रयोग को अपशब्द माना गया है। संभवतः यह मत मैत्रेय रक्षित का है क्योंकि दुर्घटवृत्ति में इस प्रयोग के प्रसंग में कहा गया है कि रक्षित ने 'पुराणैकम्' को तो साधु ही माना है। दुर्घट्वृत्तिकार के 'एव' पद द्वारा यह संभावना हो सकती है कि रक्षित 'वर्णैकम्' को तो असाधु मानता है, परन्तु 'पुराणैकम्' को साधु।

पुराणैकम्

'वर्णैकम्' प्रयोग के समान 'पुराणैकम्' में भी 'पुराण' शब्द का पूर्वनिपात विचारणीय है। परन्तु 'वर्णैकम्' की स्थिति से 'पुराणैकम्' की स्थिति भिन्न है। इस प्रयोग के 'पुराण' तथा 'एक' दोनों ही शब्द सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट हैं। अतः

---

१. काशिका २।१।४६।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।२२, पृ० ११२।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), १।४।२२, पृ० ११२।

इस प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'पुराण' शब्द का पूर्वनिपात किया जाए अथवा 'एक' शब्द का ।

इस प्रयोग को, रक्षित के मत के रूप में साधु, माना गया है । रक्षित का विचार है कि इस प्रयोग में शब्दपरविप्रतिषेध द्वारा 'पुराण' शब्द का पूर्वनिपात हुआ है । शब्दपरविप्रतिषेध का अर्थ है—सूत्र में पूर्वनिपातित शब्द की अपेक्षा परनिपातित शब्द की अधिक शक्ति होना ।[1] इसके उदाहरण की दृष्टि से 'गमहनविदविशाम्···' सूत्र प्रस्तुत किया गया है । इस सूत्र में 'हन्' धातु पहले उपदिष्ट हुई है तथा 'विश्' बाद में । शब्दपरविप्रतिषेध के अनुसार यहां पर 'विश्' को अधिक शक्तिमान माना जाता है तथा 'हन्' को अपेक्षाकृत कम । इसलिए 'हन्' की दृष्टि से अदादिगणीय 'विद्' का सूत्र में निर्देश न मानते हुए 'विश्' की दृष्टि से तौदादिक 'विद्' का सूत्र में निदेश हुआ है, ऐसा निर्णय दिया गया है । इस प्रकार इस परिभाषा के अनुसार यहां 'पूर्वकालैक···' सूत्र में पुराण शब्द 'एक' की अपेक्षा परोपदिष्ट है । अत: उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'पुराण' शब्द को एक की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् मानते हुए 'पुराण' का पूर्वनिपात साधु सिद्ध हो जाएगा ।

एकवीरः

माघ के 'शरवर्षमनेकमेकवीर:'[2] श्लोकांश के 'एकवीर:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'पूर्वापर···' (२।१।५८) सूत्र के 'पूर्वकालैक सूत्र···' की अपेक्षा पर होने के कारण उससे समास होकर 'वीर' शब्द का पूर्वनिपात क्यों नहीं हुआ ?

इस प्रसंग में यह कहा गया है कि यहां पर पूर्वविप्रतिषेध द्वारा 'पूर्वकालैक...' सूत्र से समास होकर 'एक' पद का पूर्वनिपात हुआ है ।

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१

पञ्चगुः

'तद्धितार्थो···' सूत्र द्वारा तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद के परे होने पर अथवा समाहार अर्थ के अभिधेय होने पर 'दिक्' वाची तथा संख्यावाची शब्दों

---

१. 'The comparatively superior strengh possessed by a word, which the text of a particular Sutre, is later than another word, which is put earliar in the Sutra'. A Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 356.

२. शिशुपाल-वध, २०।१८ ।

का समानाधिकरण सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास का विधान किया गया है। इस सूत्रार्थ की दृष्टि से 'पञ्चगुः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'पञ्चगावोऽस्य सन्ति' विग्रह के अनुसार 'तदस्या···' (५।२।८४) सूत्र से विहित तद्धित प्रत्यय 'मतुप्' का विषय होने के कारण यहां पर 'तद्धितार्थो···' सूत्र से समास की प्राप्ति होगी। परन्तु यदि इस सूत्र से समास किया जाए तो 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।८।८८) सूत्र से तद्धित प्रत्यय 'मतुप्' का 'लुक्' नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'तदस्या···' 'सूत्र तेन दीव्यतिखनति···' (४।४।२) सूत्र के अधिकार से बाहर है। इसके अतिरिक्त प्रत्यय का लोप न होने से 'गोरलद्वितलुकि' (५।४।९२) सूत्र द्वारा समासान्त 'टच्' की प्राप्ति होगी।[1] इस शब्द में 'शेषो-बहुव्रीहि' सूत्र से समास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका विषय 'चित्रगुः' आदि स्थलों को माना गया है जहां 'दिक्' संख्या'वाचक शब्द नहीं है अथवा इन 'तद्धितार्थो···' आदि सूत्र से समास विधान नहीं किया जा सकता।[2] महाभाष्य में यह प्रश्न सर्वत्र मत्वर्थे प्रतिषेधो वक्तव्यः वार्तिक द्वारा रखा गया है।[3]

महाभाष्य, पदमञ्जरी, दुर्घटवृत्ति तथा सुधानिधि में इसी सूत्र के विचार-प्रसंग में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि मतुपर्थं में तत्पुरुष समास का प्रतिषेध करना चाहिए। तत्पुरुष का निषेध हो जाने पर बहुव्रीहि समास हो जाएगा।[4]

संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२

एकापूपी

'संख्यापूर्वो द्वगुः' सूत्र 'तद्धितार्थो···' इस पूर्वसूत्र से निष्पन्न समासयुक्त प्रयोगों में जो संख्यापूर्वक समस्त पद हैं उनकी द्विगु संज्ञा करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'एकापूपी' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि पूए के एक होने से समाहार न बन सकने के कारण इस सूत्र से समास की प्राप्ति कैसे ही गई ? 'एकश्चासावपूपश्च' विग्रह करते हुए प्रस्तुत प्रयोग को 'पूर्वकालेक···' सूत्र का विषय नहीं माना जा मकता, क्योंकि इस स्थिति में 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्र से द्विगु संज्ञा न होने के कारण 'द्विगोः' (४।१।२१) सूत्र में 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं

१. पदमञ्जरी (भाग १), २।१।५१, पृ० ३७४।
२. उपरिवत्।
३. महाभाष्य, २।१।५१।
४. महाभाष्य, २।१।५१, पृ० ६१६।

हो सकती।[1] कात्यायन ने अकारान्त उत्तरपद से युक्त द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिंग में माना है।[2] अत: डीप् की प्राप्ति की दृष्टि से 'एकापूपी' प्रयोग 'तद्धितार्थो···' सूत्र का ही विषय मानना होगा, परन्तु वहां समाहार की स्थिति विचारणीय है।

महाभाष्य, दुर्घटवृत्ति, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, प्रदीप टीका आदि ग्रन्थों में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इस समस्या का समाधान यह दिया है कि यहाँ पर एक में अनेक का आरोप करने से समाहार की स्थिति बन जाती है। केवल एक ही पूए का दान करता हुआ कोई व्यक्ति एक पूए को अनेक समझ लेता है तथा दान में श्रद्धा के आधिक्य के कारण अनेक पूओं का दान करते समय दिखाए जाने वाले बड़प्पन को वह कंजूस दाता एक पूए के दान के समय प्रकट करता है। इस प्रकार कंजूस द्वारा दिये गए दान रूप एक पूए में अनेक का आरोप करने से आरोपित समाहार मानकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3]

दुर्घटवृत्तिकार ने इससे विलोम स्थिति की कल्पना करके एक अन्य समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया है कि सत्पात्र को दान देने से जो महान् फल प्राप्त होता है, उसके कारण एक ही में अनेक का आरोप करके समाहार की स्थिति बन सकती है।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७

मेरुपर्वत:

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' सूत्र विशेषणवाचक सुबन्त का विशेष्यवाचक सुबन्त के साथ बहुल से समास का विधान करता है। शरणदेव ने इस सूत्र का अर्थ और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस सूत्र में 'विशेषण' और 'विशेष्य' दोनों पदों के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि इस सूत्र के उदाहरणभूत शब्दों में परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव होना आवश्यक है अर्थात् जो विशेषण है वह दूसरे पद का विशेष्य भी बन सके तथा विशेष्य पद दूसरे का विशेषण। इस प्रसंग में उनका यह कहना है कि यदि इस प्रकार का अर्थ अभीष्ट न होता तो सूत्र में 'विशेषण' पद के ग्रहण से ही 'विशेष्य' का भी ग्रहण स्वत: हो जाता। अत: 'विशेष्य' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता न होती। परन्तु

१. पदमञ्जरी (भाग १), २।१।५२, पृ० ३७५।
२. महाभाष्य, २।४।३०, वा० ४।
३. महाभाष्य, २।१।५२, पृ० ३७५।

'विशषण विशेष्येण बहुम्' सूत्र के इस अर्थ का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। कैयट ने कहा है कि सूत्र में दोनों पदों 'विशेषण' तथा 'विशेष्येण' में से किसी एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण स्वत: हो जाता, क्योंकि ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं; फिर भी सूत्र के स्पष्टीकरण की दृष्टि से सूत्र में दोनों पदों को स्थान दिया गया है।[1] जो भी हो शरणदेव ने इस तरह अपने ढंग से अर्थ करके यह समस्या खड़ी कर दी है कि 'शमीतरु:', 'तर्कविद्या', 'मेरुपर्वत:', 'शिशपावृक्ष', 'व्याकरणशास्त्रम्', 'कार्तवीर्यार्जुन:' आदि प्रयोगों में इस सूत्र से समास नहीं हो सकता, क्योंकि इन शब्दों में ऐसी स्थिति नहीं है कि दोनों ही दोनों के विशेषण हों तथा दोनों दोनों के विशेष्य भी हों।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन प्रयोगों में सूत्रस्थ 'बहुल' वचन द्वारा समास हो जाएगा। शरणदेव के अनुसार समासयुक्त 'कार्तवीर्यार्जुन:' प्रयोग अपशब्द है। साथ ही उसने स्वयं-उद्धृत 'कार्तवीयाजुनो···' लभ्यते। श्लोक में 'कार्तवीर्यार्जुन:' के स्थान पर समास रहित 'कार्तवीर्योऽर्जुन:' पाठ की कल्पना की है। उसने अपने मत की पुष्टि में वृत्ति का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'बहुल' वचन से इस प्रयोग में समास की व्यावृत्ति नहीं होगी।[2]

'शिंशपावृक्ष:' प्रयोग महाभाष्य, प्रदीप टीका, न्यास, पदमञ्जरी तथा शब्दकौस्तुभ में भी विचाराधीन रखा गया है। महाभाष्य में यह समस्या इस प्रकार प्रस्तुत की गई है कि 'वृक्ष' और 'शिंशपा' दोनों ही शब्द जातिवाचक तथा द्रव्यवाचक हैं। अत: दोनों ही प्रधान हैं। इस कारण ये दोनों एक दूसरे के विशेषण नहीं बन सकते।[3] कैयट ने इस विषय में यह कहा है कि जब पहले ही 'शिंशपा' का विशेष रूप से कथन किया जाता है तो 'शिंशपा' शब्द से 'वृक्ष' विशेष का भी कथन स्वत: हो जाता है। अत: वृक्ष अर्थ का व्यभिचार न होने के कारण 'शिंशपा' के साथ 'वृक्ष' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब सामान्य रूप से 'वृक्ष' शब्द का कथन किया जाता है तो उस समय विशेष रूप से 'शिंशपा' का उपादान किए जाने के कारण यह 'वृक्ष' का विशेषण बन जाता है। इस प्रकार 'शिंशपावृक्ष:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[4]

---

१. प्रदीप, महाभाष्य, २।१।५७, पृ० ६३२।
२. काशिका, २।१।५७।
३. महाभाष्य, २।१।५७, पृ० ६३१।
४. प्रदीप, महाभाष्य, २।१।५७, पृ० ६३१-६३२।

इसी प्रसंग में कैयट ने किसी अन्य विद्वान् का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि शिंशपा के फल के निवारण के लिए जब 'शिंशपा' पद का उच्चारण किया जाता है तब 'वृक्ष' 'शिंशपा' को विशेषित करने के कारण, शिंशपा का विशेषण बनता है । इसलिए 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' सूत्र द्वारा इन दोनों पदों में समास होकर 'वृक्ष शिंशपा' प्रयोग ही बनना चाहिए । परन्तु कैयट ने इस मत को उचित नहीं माना, क्योंकि वृक्षत्व के व्यापक तथा महान् होने के कारण पहले से ही उसका ज्ञान हो जाता है । अत: वह विशेष्य ही है, विशेषण नहीं ।[1]

इदम्स्त्री

इसी प्रकार की कठिनाई 'इदम्स्त्री' तथा 'इदम्पुमान' वाक्यों में 'इदम्' पद के विशेषण न होने के कारण उपस्थित होती है । दुर्घटवृत्तिकार का इन प्रयोगों के विषय में यह कहना है कि 'इदम्' पद से परोक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है । इसलिए 'इदम्' पद के विशेषण होने के कारण यहां विशेष्य समास उचित ही है । अपने कथन की पुष्टि में उसने यह भी कहा कि 'स्त्री' और 'पुमान्' शब्दों के अभिधान से 'शाटी', 'घट' आदि अर्थों की निवृत्ति हो जाने से दोनों में उभयगत विशेषणविशेष्यत्व की स्थिति हो जाएगी । इसीलिए भाषावृत्ति में इन शब्दों को 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[2]

विषकुम्भम्

'विषकुम्भपयोमुखम्' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'पयोमुखम्' शब्द के विशेषण होने के कारण समास में उसका पूर्वनिपात होना चाहिए ।

इस दोष के निवारण हेतु दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि यहां 'विषकुम्भ' पद को 'विषकुम्भ सदृश' का तथा 'पयोमुखम्' को 'पयोमुख सदृश' का वाचक मानते हुए दोनों का कर्मधारय समास माना जाए । इस स्थिति में दोनों पदों के सदृश वाचक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव की स्थिति में वक्ता की इच्छा ही प्रधान हो सकती है अर्थात् वह जिसे चाहे विशेषण मान सकता है । अत: 'विषकुम्भ' को विशेषण मानते हुए उसका पूर्वनिपात साधु माना जा सकता है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि यहां समास ही न माना जाए अर्थात्

---

१. प्रदीप, महाभाष्य, २।१।५७, पृ० ६३१-६३२ ।

२. भाषावृत्ति, २।१।।५७ ।

दोनों पदों को अलग-अलग पद के रूप में लुप्तोपमा का प्रयोग माना जाए। यह मानने पर 'विषकुम्भम्' का अर्थ होगा—'विषकुम्भमिव' तथा 'पयोमुखमिव'। इस समाधान में 'विषकुम्भपयोमुखम्' के स्थान पर 'विषकुम्भंपयोमुखम्' पाठ मानना होगा।

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः।

धूर्त्तवकः

'पोटायुवति···' सूत्र 'पोटा' आदि शब्दों के तत्पुरुष समास का विधान करता है। इस सूत्र की रचना 'इभपोटा' जैसे समस्तपद प्रयोगों में 'पोटा' आदि शब्दों के परनिपात की दृष्टि से की गई है, क्योंकि सूत्र में 'जाति' शब्द प्रथमानिर्दिष्ट है। इसलिए जातिवाचक 'इभ' आदि शब्दों के उपसर्जन संज्ञक होने के कारण वे शब्द समास से पूर्व पद के रूप में ही निपातित होते हैं।[1] इस दृष्टि से 'धूर्त्तबकः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि यहां पर 'धूर्त्त' का पूर्वनिपात होकर परनिपात होना चहिए था, क्योंकि 'बक' शब्द जातिवाचक है।

इस प्रयोग के साधुत्व के लिए पहले तो यह समाधान दिया गया कि इस प्रयोग में 'बक' शब्द जातिवाचक न होकर व्यक्तिवाचक है। अतः यहां पर 'पोटायुवति···' सूत्र से समास न मान कर 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (२।१।५३) सूत्र से समास मानना चाहिए।

न्यासकार ने 'पोटायुवति···' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि सूत्र में 'धूर्त' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि उसके साथ समास अकुत्सा अर्थ में हो। जाति स्वयं अकुत्सित है। अतः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' सूत्र से जातिवाचक शब्दों के साथ समास नहीं हो सकता। शब्दप्रवृत्ति निमित्तक कुत्सा में 'कुत्सितानि कुत्सनैः' सूत्र से समास होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इस सूत्र से 'धूर्तबकः' प्रयोग में समास नहीं होगा तथा 'पोटायुवति···' से समास होने पर बकधूर्त्तः' प्रयोग ही साधु माना जा सकेगा। संभवतः इसी कारण शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इस प्रयोग को असाधु ठहराया गया है।[2] शरणदेव द्वारा उद्धृत न्यास का मत कुछ स्पष्ट नहीं है।[3]

---

१. न्यास (भाग १), २।१।६५, पृ० ३७२।
२. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।१।६५, पृ० १८८।
३. न्यास (भाग १), २।१।६५, पृ० ३७२।

कृत्यतुल्याख्या अजात्या २।१।६८

सत्कृत्य

'कृत्यतुल्या···' सूत्र 'कृत्य' प्रत्ययान्त तथा 'तुल्य' के पर्यायवाची सुबन्तों का जातिवाचक शब्दों से भिन्न के साथ तत्पुरुष समास का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भट्टि के 'तस्य सत्कृत्यशालिनः' श्लोकांश का 'सत्यकृत्य प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि यहां पर 'सन्महत्—' (२।१।६१) सूत्र से समास न होकर उसकी अपेक्षा पर होने के कारण 'कृत्यतुल्या···' सूत्र से ही समास होगा। परन्तु यदि इस सूत्र द्वारा यहां पर समास माना जाए तो सूत्र में 'कृत्य' शब्द के प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण 'कृत्य' शब्द उपसर्जन संज्ञक हो जाएगा। अतः समास में उसका पूर्वनिपात होना चाहिए। इस प्रकार 'सत्कृत्य' प्रयोग न बन कर 'कृत्यसत्' प्रयोग बनेगा।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर पूर्व-विप्रतिषेध द्वारा 'सन्महत्—' सूत्र से ही समास माना जाए।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'सतां कृत्यम्' विग्रह करके यहां पर षष्ठी तत्पुरुष समास माना जाए। शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि तथा तत्वबोधिनी में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[1]

परमपूज्यः

इसी प्रकार की कठिनाई 'परमपूज्यः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है। यहां पर भी 'पूज्यः' पद का पूर्वनिपात होना चाहिए था। दुर्घटवृत्ति, शब्दकौस्तुभ तथा तत्वबोधिनी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत प्रयोग में भी षष्ठी समास ही माना गया है।[2]

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।१।६८, पृ० १६०।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।१।६८, पृ० १६०।

द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद

अर्धं नपुंसकम् २।२।१

शरीरार्धम्

'अर्धं नपुंसकम्' सूत्र समभागवाची नपुंसकलिंग 'अर्धं' शब्द का एकाधिकरण अर्थ में एकदेशी सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से कुमारसंभव के 'प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य'[1] श्लोकांश का शरीरार्धम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहा पर 'प्रथमानिर्दिष्टं—' सूत्र के अनुसार 'अर्धम्' शब्द के उपसर्जन संज्ञक होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यह प्रयोग षष्ठी समास का है। यहां शरणदेव ने अपने मत की पुष्टि में महाभाष्य को उद्धृत किया है। महाभाष्य में 'समुदायवृत्तीनामवयववृत्तो' (समुदायवाचक शब्दों का अवयव अर्थ में भी प्रयोग होता है) न्याय से समानाधिकरण समास द्वारा 'अर्धपिप्पली' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने के कारण एकदेशी समास का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। अतः जिन शब्दों में परोपदिष्ट 'षष्टी' (२।२।८) सूत्र से विहित समास भी अभीष्ट है वहां वह साधु माना जाता है। जैसे 'अपूपार्धम्' तथा 'ग्रामाधर्म' प्रयोग।[2] जिस प्रकार इन प्रयोगों में षष्ठी समास' मान कर 'अर्धम्' पद का परनिपात साधु माना गया उसी प्रकार 'शरीरार्धम्' में भी साधु माना जाना चाहिए। शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि तथा तत्वबोधिनी में भी सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[3]

परन्तु दूसरी ओर वृत्तिकार ने 'अर्धं नपुंसकम्' सूत्र को षष्ठी समास का अपवाद माना है।[4] इस मत की दृष्टि से एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'द्वितीयतृतीय—' (२।२।३) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति लाई जाए तथा उसे व्यवस्थितविभाषा मान कर 'शरीरार्धम्' जैसे प्रयोगों में एकदेशी

---

१. कुमारसंभव, १।५०।
२. महाभाष्य, २।४।२६, पृ० ८६२।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।२, पृ० १६।४
४. काशिका, २।२।२।

समास के स्थान पर षष्ठी समास माना जाए। परन्तु यहां विचारणीय यह है कि पूर्वोपदिष्ट सूत्र में परोपदिष्ट सूत्र से अनुवृत्ति कैसे आएगी ?

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया २।२।४

प्राप्तजीविका

'प्राप्तापन्ने···' सूत्र 'प्राप्त' तथा 'आपन्न' शब्दों का द्वितीयन्त शब्दों के साथ तत्पुरुष समास करता है। इस सूत्र के उदाहरणभूत 'प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविका' मे सामानाधिकरण न होने के कारण 'प्राप्ता' पद में स्त्रियाः, पुंवत् (६।३।३४) सूत्र से पुंवद्भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शब्दकौस्तुभ में यह समस्या इस प्रकार रखी गई है कि 'जीविका' शब्द में तो 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' (१।२।४४) सूत्र से उपसर्जनत्व होकर 'गोस्त्रियों ···' से ह्रस्व की प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु विचारणीय यह है कि 'प्राप्ता' शब्द में किस सूत्र से ह्रस्व होगा।[1]

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान, न्यास के मत रूप में, यह कि 'स्त्रियाः पंवत्' सूत्र का योगविभाग करके समानाधिकरण के अभाव में भी पुंवद्भाव होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

महाभाष्य में इस प्रयोग की सिद्धि के लिए कहा गया है कि 'प्राप्तापन्ने···' सूत्र में 'चकार' ग्रहण का प्रयोजन 'प्राप्ता' तथा 'आपन्ना' शब्दों में अत्वविधान करना है।[2] कैयट ने यहां यह कहा है कि समुच्चयार्थक चकार द्वारा 'प्राप्तापन्ने' अंश में अकार के प्रश्लेष का अनुमान किया गया है तथा सूत्र का रूप है—प्राप्तापन्ने अ च।[3] पूर्वरूप सन्धि के अनुसार यहां पर 'अ' का लोप होकर 'प्राप्तापन्ने च' शेष रह गया। यदि यह कहा जाए कि 'ईदूदेव···' (१।१।११) सूत्र के अनुसार एकारान्त द्विवचनान्त 'प्राप्तापन्ने' पद की प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्या—' (६।१।१२५) सूत्र से प्रकृतिभाव की प्राप्ति के कारण 'प्राप्तापन्ने' में 'अ' के साथ पूर्वरूप सन्धि नहीं हो सकती तो इस प्रश्न का उत्तर कैयट ने यह दिया है कि सौत्रनिर्देश होने के कारण यहां प्रगृह्याश्रित प्रकृतिभाव नहीं हो सकता।[4] इस प्रकार 'अ' का प्रश्लेष मान कर इस सूत्र का अर्थ होगा—'प्राप्त' और 'आपन्न' पदों का द्वितीयान्त के साथ समास होता है

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २) २।२।४, पृ० १६६।
२. महाभाष्य, २।२।४, पृ० ६६०।
३. प्रदीप, महाभाष्य, २।२।४, पृ० ६६०।
४. प्रदीप, महाभाष्य, २।२।४, पृ० ६६०।

तथा 'प्र प्ता' और 'आपन्ना' पदों में अत्व होता है।[1] यही समाधान शरणदेव ने, भागवृत्ति के नाम से, दूसरे समाधान के रूप में दिया है। पदमञ्जरी तथा सुधानिधि में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।

सिद्धान्त कौमुदी तथा शब्दकौस्तुभ में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आकार का प्रश्लेष 'प्राप्तापन्ने' पद में न मानकर 'द्वितीयया' पद में माना गया है। वस्तुतः यही अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वहां प्रश्लेष मानने से प्रकृति-भाव का प्रसग ही नहीं उठेगा।[2]

नञ् २।२।६

अनेके

'नञ्' सूत्र 'नञ्' का समर्थ सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास का विधान करता है। 'नञ्' समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान माना जाता है तथा 'नञ्' का अर्थ आरोप अथवा भ्रम है जैसे 'अब्राह्मणः' प्रयोग। यहां 'ब्राह्मण' पद का अर्थ प्रधान है तथा पूरे पद का अर्थ है—वह व्यक्ति जो वस्तुतः ब्राह्मण नहीं है परन्तु उसके जैसा है अथवा जिसमें ब्राह्मणत्व का भ्रम हुआ है।[3] इसी प्रकार 'अनेक' शब्द में भी उत्तरपद 'एक' के अर्थ को प्रधान मानना होगा तथा 'नञ्' का अर्थ आरोप अथवा भ्रम। इस दृष्टि से भारवि तथा न्यासकार के पतन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः'[4] तथा 'अनेकेषां नानास्थान' वाक्यों का 'अनेके' तथा 'अनेकेषाम्' पद विचारणीय हैं, क्योंकि एकत्व अर्थ की प्रधानता होने के कारण 'एकस्मिन् एकवचनम्' नियम के अनुसार एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिए। इस समस्या को प्रस्तुत करते हुए शरणदेव तथा भट्टोजिदीक्षित दोनों ने अनेक शब्द में एकवचन के प्रयोग का ज्ञापक 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) सूत्र को माना है जिसमें पाणिनि ने 'अनेक' शब्द का प्रयोग एकवचन में किया है। माघ ने भी 'प्रस्थितोऽनेको रेणुघण्टाः'[5] श्लोकांश में 'अनेक' शब्द का एकवचनान्त प्रयोग ही किया है। अपने मत की पुष्टि में दुर्घटवृत्तिकार ने भागवृत्ति का वह कथन उद्धृत किया है जिसमें जैनेन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'अनेकेषाम्' प्रयोग को असाधु माना गया है।

---

१. महाभाष्य, २।२।४, पृ० ६६०।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।४, पृ० १६६।
३. परमलघुमञ्जूषा, पृ० १२८।
४. किरातार्जुनीयम्, १४।६१।
५. महाभाष्य, १।१।३६।

महाभाष्यकार के अनुसार भी 'अनेक' शब्द में उत्तरपद की प्रधानता के कारण एकत्व की प्राप्ति होती है।[1] कैयट ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अनेक' में पर्युदास 'नञ्' है तथा इसका अर्थ है आरोप।[2] नागेश भट्ट ने मंजूषा में 'अनेक' शब्द में एकवचन की सिद्धि करते हुए 'अनेक' जैसे बहुवचनान्त प्रयोगों को स्पष्टतः असाधु कहा है।[3] पदमञ्जरी में भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि 'इहानेको जनः आगतः' वाक्य में 'द्वि' आदि में आरोपित एकत्व प्रतीत हो रहा है क्योंकि मुख्य एकत्व का प्रतिषेध कर दिया जाता है। अतः इस प्रकार 'अनेक' शब्द से बहुवचन न होकर एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिए।[4]

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम, रक्षित के मत रूप में, यह कि अध्यारोपित बहुत्व के द्वारा यहां पर बहुवचन हो जाएगा। जिस प्रकार 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९३) तथा 'वृद्भ्य स्यसनोः' (१।३।९२) सूत्रों में 'द्युत्' तथा 'वृध्' धातुओं के एक होने पर भी अन्य धातुओं में अध्यारोप करके सूत्रकार ने बहुवचन का प्रयोग किया है, उसी प्रकार 'अनेक' शब्द के इन प्रयोगों में भी बहुत्व के आधार पर बहुवचन होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

परन्तु यह समाधान कुछ जंचता नहीं, क्योंकि जैसाकि ऊपर कहा गया है 'नञ्' का अर्थ आरोप होने के कारण यहां एकत्व भी अध्यारोपित है। अब इस अध्यारोपित एकत्व में बहुत्व का अध्यारोप करने का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि 'अनेक' शब्द में एकत्व अर्थ अध्यारोपित है तथा वास्तविक अर्थ द्वित्व अथवा बहुत्व है, क्योंकि अनेक में ही एक का अध्यारोप संभव है। इस प्रकार वास्तविक अर्थ बहुत्व होने के कारण 'अनेक' शब्द में बहुवचन का प्रयोग असंगत नहीं माना जा सकता।[5]

दूसरा समाधान यह दिया गया कि कभी-कभी कुछ शब्दों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वे अपने धर्म को छोड़कर अन्य धर्म को ग्रहण कर लेते हैं। जैसे, 'मित्र' शब्द नपुंसकलिंग है, परन्तु 'नञ्' के साथ समास होने पर (अमित्रः) वह

---

१. महाभाष्य, २।२।६, पृ० ६७५-६७६।
२. प्रदीप, महाभाष्य, २।२।६, पृ०६७६।
३. उद्योत, महाभाष्य, २।२।६, पृ० ६७६।
४. पदमञ्जरी, (भाग १), २।२।६, पृ० ३९३।
५. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।२।६, पृ० १९८।

अपना धर्म (नपुंसकलिंगत्व) छोड़कर अन्य धर्म पुल्लिगत्व को अपना लेता है। यहां शब्द का धर्म लिंग अथवा वचन ही है। इसी प्रकार 'अनेके' तथा 'अनेकेषाम्' प्रयोगों में 'एक' शब्द अपने धर्म (एकत्व) को छोड़कर अन्य धर्म (बहुत्व) को अपना लेता है। परन्तु यदि यह समाधान माना जाए तो 'अनेक' शब्द सर्वदा बहुवचन में ही प्रयुक्त होना चाहिए तथा इस रूप में उपर्युक्त एकवचनान्त सभी प्रयोगों को असाधु मानना होगा। यहां यह कहा जा सकता है कि इन एकवचनान्त प्रयोगों में 'एक' शब्द की प्रवृत्ति 'जहत्' धर्म वाली नहीं है, केवल बहुवचनान्त प्रयोगों के लिए ही यह स्थिति मानी गई है।

इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने कहा है कि 'नञ्' के सादृश्य आदि चार अर्थ हैं, परन्तु महाभाष्यकार के अनुसार 'तत्सादृश्य' आदि छह हैं।

षष्ठी २।२।८

वन्ध्यासुतः

'षष्ठी' सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास का विधान किये जाने के कारण 'एष वन्ध्यासुतो याति' श्लोकांश का 'वन्ध्यासुतः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'वन्ध्यायाः सुतः' विग्रह वाक्य में वन्ध्या का पुत्र के साथ सम्बन्ध न होने के कारण षष्ठी की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में बुद्धिकल्पित संबंध है। जिस प्रकार 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' (पर्वतखंड का शरीर) प्रयोग में शिलापुत्र तथा शरीर एक ही हैं—शरीर से भिन्न शिलापुत्र और कुछ है ही नहीं, इसलिए इन दोनों में भेद सम्बन्ध के न होने पर विवक्षा की दृष्टि से उसकी कल्पना की गई है उसी प्रकार 'वन्ध्यासुतः' प्रयोग में वन्ध्या का पुत्र के साथ सम्बन्ध न होने पर भी उसकी पुत्र के साथ कल्पना कर ली गई है। शब्दों की व्युत्पत्ति विवक्षाधीन है। इसके ज्ञापक पर पहले विचार किया जा चुका है।

न निर्धारणे २।२।१०

पुरुषोत्तमः

'न निर्धारणे' सूत्र निर्धारण अर्थ में प्रयुक्त षष्ठी समास का निषेध करता है। 'निर्धारण' का अर्थ है—जाति, गुण तथा क्रिया के द्वारा समुदाय से एकदेश को पृथक् करना।[1] दुर्घटवृत्तिकार ने 'निर्धारण' का अर्थ व्यवहार किया है तथा

---

१. काशिका, २।२।१०।

व्यवहार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि समुदाय की एकदेशता अर्थात् समुदाय का एकदेश बनना व्यवहार है। गणपतिशास्त्री ने इसका अर्थ 'विविध संशयों का हरण' किया है।[1] जो भी हो 'व्यवहार' शब्द का यह अर्थ विचारणीय है। जहाँ तक सूत्रस्थ 'निर्धारण' शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है, प्रायः सभी ने समुदाय से एकदेश के पृथक्करण को ही निर्धारण माना है।

इस सूत्र के अनुसार 'पुरुषोत्तमः' पद में यह विचारणीय है कि 'पुरुषाणां उत्तमः' विग्रह वाक्य में 'यतश्च निर्धारणे' (२।३।४०) सूत्र से षष्ठी विभक्ति होने के कारण 'पुरुष' तथा 'उत्तम' पदों में समास कैसे हो गया ? शरणदेव ने, अनुन्यासकार के कथन रूप में, कहा है कि भगवान् पुरुषोत्तम का 'उत्तम' शब्द द्वारा एकदेश के रूप में आख्यान किया गया है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।४०) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र सप्तमी से 'पुरुषेषु उत्तमः' विग्रह के अनुसार सप्तमी तत्पुरुष समास हो जाएगा।

इसी सूत्र की व्याख्या में शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी तथा वाचस्पत्यम् में कैयट के नाम से यह समाधान दिया गया है कि इस प्रयोग में 'यतश्च निर्धारणे' सूत्र से षष्ठी न होकर 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी हुई है।[2] कैयट ने कहा है कि जिससे निर्धारण किया जाता है, जिसका निर्धारण होता है तथा जो निर्धारण का हेतु है इन तीनों का सन्निधान होने पर ही कोई प्रयोग इस सूत्र द्वारा प्रतिषेध का विषय बनता है। 'पुरुषोत्तमः' प्रयोग में तो इन तीनों के सन्निधान के अभाव के कारण निर्धारण में षष्ठी न होकर सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी हुई है।[3]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शब्दकौस्तुभ में विकल्प से तथा तत्वबोधिनी में 'अन्य निर्देश' द्वारा एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'पुरुषेषु उत्तमः' विग्रह के अनुसार निर्धारण अर्थ में सप्तमी करके 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) सूत्र से यहां पर समास हो जाएगा।[4] परन्तु तत्वाबोधिनीकार ने इस समधान का खंडन इस प्रकार किया है कि 'संज्ञायाम्' सूत्र द्वारा विहित समास के नित्य होने

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृ० ३८, पादटिप्पण ४।
२. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।१।१०, पृ० १६६।
३. प्रदीप, महाभाष्य, ५।३।५७, पृ० २१४।
४. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।२।१०, पृ० १६६।

के कारण स्वपद विग्रह नहीं किया जा सकता। अतः नव्य वैयाकरणों के अनुसार कैयट का मत ही उचित है।[1]

गोस्वामी

'षष्ठी' सूत्र पर पठित 'प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यते'[2] वार्तिक के अनुसार 'गोस्वामी' प्रयोग में समास की स्थिति विचारणीय है। 'गोः स्वामी' विग्रह वाक्य में 'स्वामीश्वर···' (२।३।३९) सूत्र से षष्ठी विभक्ति हुई है। अतः प्रतिपदविधान होने के कारण यहां पर समास नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार 'गृहस्वामी' प्रयोग के विषय में न्यास, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, तत्वबोधनी आदि सभीं ग्रन्थों में विचार किया गया है।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया है कि 'स्वामीश्वर'···सूत्र सप्तमी का विधान करता है, न कि षष्ठी का। वस्तुतः इस सूत्र द्वारा षष्ठी का बोध करके सप्तमी का विधान किया गया है तथा इस प्रकार सप्तमी द्वारा षष्ठी का बाध होने पर चकार द्वारा उसका पुनर्विधान किया गया है। इस प्रकार इस सूत्र में षष्ठी प्रतिपदविहित नहीं है। अतः यहां पर शेष लक्षण से ही षष्ठी हुई है। इस प्रकार 'गोस्वामी' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। न्यास, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, तत्वबोधिनी आदि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[3]

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २।२।११

तमस्तानवम्

'पूरणगुण···', सूत्र द्वारा 'पूरण' आदि शब्दों के साथ षष्ठी समास का निषेध किये जाने के कारण 'तमस्तानवम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'तानव' शब्द गुणवाचक है। अतः 'तमसः तानवम्' विग्रह वाक्य में समास नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अधिकरणेत्तावत्वे' (२।४।१५) सूत्र निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस सूत्र में

---

१. तत्वबोधिनी, (भाग २), २।२।१०, पृ० ३०।

२. महाभाष्य में यह वार्तिक 'प्रतिपदविधाना च' रूप में मिलता है। महाभाष्य, २।२।१०।

३. न्यास, (भाग १), २।२।१०, पृ० ३८३।

'एतावत्त्वे' शब्द के गुणवाचक होने पर भी 'अधिकरण' पद के साथ समास हुआ है।

तदुपरि

इस सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त पद का अव्यय के साथ समास का निषेध किए जाने के कारण 'तदुपरि' (तस्य उपरि) तथा भट्टि के 'यत्कृतेऽस्मिन् निगृहणीम्'[1] श्लोकांश का 'यत्कृते' (यस्ते) प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि 'उपरि' तथा 'कृते' शब्द अव्यय हैं। अतः इन प्रयोगों में समास नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार की समस्या 'किंकृते' प्रयोग में उपस्थित होती है।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि सूत्र में 'कृत्' प्रत्यय 'सत्' तथा 'तव्य' के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि यहां केवल कृदन्त अव्ययों के साथ ही समास का निषेध अभीष्ट है, अन्यत्र नहीं। अतः ये प्रयोग साधु माने जा सकेंगे। यह समाधान सिद्धान्तकौमुदी तथा शब्द-कौस्तुभ में रक्षित के नाम से और तत्वबोधिनी में इसी सूत्र की व्याख्या में मिलता है।[2] स्वयं महाभाष्यकार ने 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) सूत्र के भाष्य में 'सर्वपश्चात्' समस्त पद का प्रयोग किया है। कैयट ने इस विषय में यह कहा है कि महाभाष्यकार के वचन प्रामाण्य से अव्यय के साथ भी षष्ठी का समास होता है।[3] परन्तु नागेश ने कैयट का खंडन करते हुए कहा है कि यदि केयट का मत माना जाए तो 'पूरणगुण'··· सूत्र द्वारा अव्यय के साथ समास का निषेध करना ही व्यर्थ हो जाएगा। अतः जैसाकि ऊपर कहा गया है 'अव्यय' शब्द से अन्य शब्दों के साहचर्य के कारण इस सूत्र द्वारा 'कृत' अव्ययों का ही ग्रहण किया जाएगा। इस नियम से महाभाष्यकार का आशय यही है कि अन्य अव्ययों के साथ सामर्थ्य होने पर समास अभीष्ट है।[4]

परन्तु कैयट और हरदत्त ने इस सूत्र के 'अव्यय के साथ समास नहीं होता' इस नियम रूप अंश का 'वृक्षस्योपरि' उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसलिए उसके मतानुसार किसी भी प्रकार के अव्यय के परे होने पर समास नहीं होता। इस प्रकार उसके मत में ये प्रयोग असाधु हैं।

---

१. भट्टिकाव्य, १६।२४।
२. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग २), २।२।११, पृ० ४२।
३. महाभाष्य, २।२।२४, पृ० ७०६।
४. उद्योत, महाभाष्य, २।२।२४, पृ० ७०६।

शब्दकौस्तुभ में इन प्रयोगों के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'कृ' धातु से संपदादिभ्यः क्विप्' वार्तिक द्वारा 'क्विप्' करके चतुर्थ्यन्त प्रयोग 'कृते' माना जाए।[1]

परन्तु यदि सूत्र में 'कृत' अव्ययी का ही ग्रहण अभीष्ट माना जाए तो यह कहा जा सकता है कि 'अनुर्यत्समया' (२।१।१५) सूत्र में प्रयुक्त समस्त पद 'यत्समया' की साधुता के विषय में न्यासकार द्वारा की गई शका की कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि 'समया' अव्यय 'कृत' न होकर उणादिसूत्र 'आ समिण्'··· द्वारा निष्पन्न हुआ है। अतः 'पूरणगुण···' सूत्र द्वारा समास का निषेध हो ही नहीं सकता। न्यासकार के अनुसार उस प्रयोग में समास नहीं होना चाहिए। परन्तु समास की बात तो दूर रही, यहां 'समया' के योग में षष्ठी भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'अभितःपरितः···' वार्तिक के अनुसार 'समया' के योग में द्वितीया का विधान किया गया है। 'अनुर्यत्समया' सूत्र में स्थिति यह है कि 'समया' पद द्वारा 'अनु' का अर्थ कथित हुआ है। इस प्रकार 'समया' पद के द्रव्यवाची होने के कारण 'वादयोऽसत्त्वे' (१।४।५७) सूत्र के अनुसार 'समया' पद अव्यय नहीं रहा। अतः यहां पर षष्ठी भी हो जाएगी तथा समास का निषेध भी नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि इस सूत्र द्वारा कृदन्त अव्ययों के साथ ही समास का निर्णय अभीष्ट है तो न्यासकार ने इतना विचार-विमर्श किया ही क्यों? न्यास के इस स्थल का यही अभिप्राय निकलता है कि उसकी दृष्टि से यहां पाणिनि को 'अव्यय' पद से केवल कृदन्त अव्यय ही अभीष्ट नहीं हैं।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि न्यासकार ने ये सभी बातें पूर्वपक्ष के रूप में कही हैं। विकल्प के रूप में यह कहा जा सकता है कि साहचर्य का आश्रय न लेकर किसी अन्य ढंग से सूत्र का अर्थ करना चाहिए।

सत्कर्त्तव्यम्

'सत्कर्त्तव्यम्' प्रयोग में भी समास की स्थिति इसलिए विचारणीय है कि सूत्र द्वारा 'तव्य' के साथ षष्ठ्यन्त के समास का निषेध किया गया है।

यहां समाधान के रूप में षष्ठी तत्पुरुष न मानकर तृतीया तत्पुरुष समास माना गया है। उस स्थिति में 'कर्तृकरणे···' से समास हो जाएगा।

---

१. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।२।११, पृ० २०३।

'पूरणगुण····' सूत्र के 'सुहितार्थ' पद का अर्थ 'तृप्त्यर्थ' होने के कारण यह सूत्र तृप्त्यर्थक शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त शब्दों के समास का निषेध करता है। जैसे 'फलानां सुहितः' प्रयोग में समास नहीं हुआ है। यहां विचारणीय यह है कि 'फलानाम्' पद में षष्ठी कैसे हो गई? शरणदेव ने सूत्र द्वारा किए गए षष्ठी समास के निषेध को शेषत्व की विवक्षा के आधार पर षष्ठी के विधान का ज्ञापक माना है क्योंकि करण कारक की विवक्षा में तो तृतीया मानकर 'फल-तृप्तः' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने से उन प्रयोगों में षष्ठी समास का निषेध करने वाला सूत्रांश व्यर्थ हो जाएगा। इस ज्ञापक के आधार पर दुर्घटवृत्तिकार ने—

'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः॥[1]

श्लोक के 'काष्ठानाम्' 'नापगानाम्' आदि प्रसंगों में षष्ठी को साधु माना है।

फलैर्नानारसैः तृप्ताः

परन्तु यदि इस ज्ञापक के आधार पर सुहितार्थ के योग में षष्ठी मानी जाए तो भट्टि के 'फलैर्नानारसैः[2] तृप्ताः' प्रयोग में तृतीया का प्रयोग विचारणीय होगा। इसी प्रकार 'फलैर्येष्वाशितं भवम्'[3] प्रयोग भी चिन्त्य बन जाएगा। इन प्रयोगों के लिए, ज्ञापकसमुच्चय के मत रूप में, यह समाधान दिया गया है कि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रम्' परिभाषा के अनुसार यहां पर तृतीया हो जाएगी।[4]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि कारकों का प्रयोग वक्ता की विवक्षा के अनुसार होता है। अतः करण की विवक्षा में तृतीया तथा शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होगी। गणपतिशास्त्री ने इस स्थल को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि 'फलसुहितः' तथा 'फलतर्पणम्' प्रयोगों में तृतीया समास माना जाए तो 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपदप्रकृति स्वर तथा 'गतिकारके' (६।२।१३९) सूत्र से कुदुत्तरपद प्रकृति स्वर होगा। दूसरी ओर यदि षष्ठी समास माना जाए

---

१. पंचतत्र, १।१४८।
२. भट्टिकाव्य, ७।६४।
३. उपरिवत् ४।११।
४. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६६।

तो दोनों प्रयोगों में 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्तत्व की स्थिति होगी। अतः 'गुहितार्थ' सूत्रांश षष्ठी समास के प्रतिषेध के द्वारा समासान्तोदात्तत्व के निवर्तन के लिए है। इस प्रकार चरितार्थ होता हुआ यह सूत्र षष्ठी-विधान का ज्ञापक नहीं है।[1]

परन्तु यदि दुर्घटवृत्तिकार का यही आशय है तो फिर उसके पहले कथन—तद्योगे षष्ठी समास निषेधाद् ज्ञापकात्—से विरोध होगा। इसलिए 'ज्ञापक-सिद्धं न सर्वत्रम्' ही यहां वास्तविक समाधान है।

क्तेन च पूजायाम् २।२।१२

राममहितः

'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र पूजार्थ में विहित 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त के समास का निषेध करता है। इस सूत्र में 'गतिबुद्धि···'(३।२।११८) सूत्र से विहित वर्तमानार्थक 'क्त' प्रत्यय का ग्रहण अभीष्ट है।[2] वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त शब्द के साथ 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) सूत्र से षष्ठी होती है। इस प्रकार 'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र के अनुसार 'राजपूजितः', 'ईश्वरज्ञातः' तथा भट्टि का 'राममहितः[3] प्रयोग चिन्त्य हैं क्योंकि इन प्रयोगों में 'मतिबुद्धि···' सूत्र से 'क्त' प्रत्यय तथा उसके योग में षष्ठी हुई है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, अनुन्यास के मतरूप में, यह कि इन प्रयोगों में 'क्त' का प्रयोग वर्तमान में न होकर भूत में हुआ है। 'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र वर्तमान में विहित 'क्त' प्रत्यय का निषेध करता है, न कि भूतार्थ का। अतः इन प्रयोगों में 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र द्वारा समास माना जा सकेगा। वर्तमानार्थ 'क्त' द्वारा भूतार्थ 'क्त' का बोध नहीं होता तथा मत्यादि अर्थ में विहित 'क्त' के योग में तृतीया भी होती है इस बात के ज्ञापक शष्टकौस्तुभ पर आगे 'गति बुद्धि···' सूत्र की व्याख्या में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए ज्ञापक समुच्चय में भी यही समाधान मिलता है।[4]

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृ० ३९, पादटिप्पण ५।

२. काशिका, २।२।१२

३. भट्टिकाव्य, १०।२

४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।१२, पृ० २०५।

दूसरा समाधान यह दिया गया हैकि 'षष्ठी शेषे' सूत्र से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होकर 'षष्ठी' सूत्र द्वारा यहां समास हो जाएगा। 'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र द्वारा कारक षष्ठी का निषेध किया गया है, शेष षष्ठी का नहीं।

यहां विचारणीय यह है कि शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी मान कर समास हो ही जाएगा तो फिर 'क्तेन च पूजायाम्' से कारक षष्ठी में समासनिषेध करने का प्रयोजन ही क्या रहा। दुर्घटवृत्तिकार ने इसका उत्तर यह दिया है कि 'क्तेन च पूजायाम्' का प्रकरण स्वर की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। कारक षष्ठी मानकर समास करने पर भिन्न स्वर होगा तथा शेष षष्ठी मानने पर उससे भिन्न स्वर होगा।

कर्माणि च २।२।१४

गृहवित्तभर्त्रा

'कर्माणि च' सूत्र द्वारा कर्म कारक में प्रयुक्त षष्ठी समास का निषेध किए जाने के कारण 'गृहवित्तभर्त्रा' प्रयोग में समास नहीं हो सकता, क्योंकि यहां 'गृहवित्तस्य भर्त्रा' विग्रह के अनुसार कर्मसंज्ञक शब्द 'गृहवित्त' में 'कर्तृ-कर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्र द्वारा षष्ठी हुई है।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी न मानकर, शेषत्व के आधार पर 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी मानी है जिसमें 'कर्माणि च' सूत्र से समास-निषेध की बात ही नहीं उठती।

शब्दानुशासनम्

इसी प्रकार की कठिनाई 'शब्दानुशासनम्' (शब्दानाम् अनुशासनम्) तथा 'लिङ्गानुशासनम् (लिङ्गानाम् अनुशासनम्) प्रयोगों में भी उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर भी इनके विग्रह वाक्यों में 'शब्द' तथा 'लिंग' कर्मसंज्ञक शब्दों से षष्ठी हुई है।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां यह कहा है कि 'कर्माणि च' सूत्र का विषय 'उभय-प्राप्तो कर्मणि' (२।३।६६) सूत्र है अर्थात् जिन प्रयोगों में इस सूत्र से षष्ठी होगी उन्हीं प्रयोगों में 'कर्मणि' च सूत्र निषेध कर सकेगा। काशिका आदि में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने तो इस सूत्र की

---

१. काशिका, २।२।१४।

वृत्ति में ही इस तथ्य को समाविष्ट कर दिया है।[1]

दुर्घटवृत्तिकार ने अपने मत की पुष्टि में दो तर्क दिए हैं। प्रथम यह कि 'कर्मणि च' सूत्र में चकार अवधारणार्थक है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होगा—कर्म में ही जिस षष्ठी का विधान किया गया हो उसका समास नहीं होता। 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र से विहित षष्ठी ही ऐसी है जो कर्मकारक में विहित है, कर्ता में नहीं। दूसरी आर 'कर्तृकर्मणो···' सूत्र कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी का विधान करता है, इसलिए वह षष्ठी 'कर्मणि च' सूत्र में अभिप्रेत नहीं है। तत्वबोधिनीकार ने भी 'कर्मणि च' सूत्र के चकार द्वारा 'उभय-प्राप्तौ···' सूत्र से विहित षष्ठी को इस सूत्र में अभीष्ट माना है।[2]

दूसरा तर्क यह दिया गया है कि यदि यह माना जाए कि 'कर्मणि च' सूत्र जिस किसी भी षष्ठी के साथ समास का निषेध करता है तो 'कर्तरि च' (२।२।१६) सूत्र सर्वथा अनावश्यक हो जाएगा, क्योंकि उसके उदाहरणभूत 'अपां स्रष्टा' आदि प्रयोगों में 'कर्तृकर्मणो···सूत्र के अनुसार कर्म में प्रयुक्त षष्ठी के साथ इसी 'कर्मणि च' सूत्र द्वारा समास का निषेध हो सकेगा। तत्वबोधिनीकार ने इसी प्रसंग में 'कर्तरि च' सूत्र के स्थान पर 'तृजकाभ्यां···'(२।२।१५) सूत्र की अनर्थकता का उल्लेख किया है जो स्पष्टत: असंगत है तथा संभवत: किसी भ्रान्तिवश उल्लिखित हो गया है।[3]

'कर्मणि च' सूत्र को सामान्य कर्मषष्ठी के साथ समास का निषेधक मानते हुए भी 'कर्तरि च' सूत्र की सार्थकता सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है कि 'प्रेष्यस्य कारयिता' प्रयोग में जहां 'हृकोरन्यतरस्याम्' (१।४।५३) सूत्र के अनुसार अण्यन्तावस्था का कर्त्ता न होने के कारण 'प्रेष्य' पद की कर्म संज्ञा नहीं हुई तथा इसलिए 'प्रेष्यस्य' पद में कर्मषष्ठी न होकर कर्ता में षष्ठी मानी गई, वहां कर्तृषष्ठ्यन्त 'प्रेष्यस्य' पद का 'कारयिता' पद के साथ समास निषेध करने के लिए 'कर्तरि च' सूत्र आवश्यक है।

इस कथन का खंडन करते हुए कहा गया है कि 'प्रेष्यस्य कारयिता' प्रयोग में समास का निषेध 'तृजकाभ्यां···' सूत्र से हो जाएगा, क्योंकि यहां पर 'कार-यिता' शब्द 'तृच्' प्रत्ययान्त है। इस प्रकार केवल इसी प्रयोग के आधार पर 'कर्तरि च' सूत्र को सार्थक नहीं माना जा सकता।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग २), २।२।१४, पृ० ४५।
२. तत्वबोधिनी (भाग २), २।२।१४, पृ० ४५।
३. उपरिवत्।

यदि यह कहा जाए कि वृत्तिकार ने यह माना है कि 'तृजकाभ्यां···' सूत्र में 'तृच्' पद का ग्रहण अगले सूत्र 'कर्तरि च' की दृष्टि से किया गया है तो वृत्तिकार का यह कथन 'कर्तरि च' सूत्र की अनुपस्थिति में असंगत हो जाएगा। इसका उत्तर यह है कि वृत्तिकार ने तो 'कर्तरि च' सूत्र की विद्यमानता मानकर ही उपर्युक्त बात कही है। अत: इसके आधार पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

'प्रेष्यस्य कारयिता' प्रयोग की दृष्टि से 'कर्तरि च' सूत्र को सार्थक मान कर इस अवान्तर आक्षेप का दुर्घटवृत्तिकार ने एक अन्य समाधान देते हुए कहा है कि 'प्रेष्यस्य कारयिता' प्रयोग में 'प्रेष्य' पद में षष्ठी का प्रयोग ही असंगत है, क्योंकि 'कर्तृकर्मणोः···' सूत्र का प्रत्यासत्ति सम्बन्ध के आधार पर यह अर्थ किया जाएगा कि जिस धातु (क्रिया) के साथ 'कृत्' प्रत्यय विहित है, उसी क्रिया के कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी होगी। यहां ण्यन्त क्रिया 'कारय्' से 'कृत्' प्रत्यय विहित है जबकि 'प्रेष्य' अण्यन्त क्रिया (कृ) का कर्ता है। इस प्रकार षष्ठी के असाधु होने के कारण उसके आधार पर 'कर्तरि च' सार्थक नहीं माना जा सकता।

इस रूप में 'कर्तरि च' सूत्र के अनावश्यक होने तथा चकार पद के अवधारणार्थक होने के कारण यही मानना चाहिए कि 'कर्मणि च' सूत्र उभयप्राप्तौ···' से विहित षष्ठी के साथ ही समास का निषेध करता है, 'कर्तृकर्मणोः···' सूत्र से विहित षष्ठी के साथ नहीं। अत: 'शब्दानुशासनम्' जैसे प्रयोगों में इससे समास निषेध नहीं होगा, क्योंकि इन प्रयोगों में षष्ठी 'कर्तृकर्मणो···' से हुई है।

'शब्दानुशासनम्' जैसे प्रयोगों में भी 'उभयप्राप्तौ··· से षष्ठी हुई है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र में 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' (२।३।२६) सूत्र से 'प्रयोग' शब्द की अनुवृत्ति आ रही है तथा उसका सम्बन्ध सूत्र के अन्तर्भूत कर्ता और कर्म दोनों में से केवल कर्ता से है, कर्म से नहीं; क्योंकि कर्ता की व्यावृत्ति अर्थात् कर्ता के साथ षष्ठी का निवारण करना ही इस सूत्र का मुख्य उद्देश्य है।[1] अत: वाक्य में 'कर्ता' पद का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि कर्ता का प्रयोग होने पर ही उसका व्यावर्त्तन होकर कर्म में षष्ठी हो सकेगी। दूसरी ओर, कर्म के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका प्रयोग हो ही, इसलिए दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार कर्मसंज्ञक शब्द का चाहे प्रयोग हुआ हो

१. तत्वबोधिनी (भाग १), २।३।६६, पृ० ५६०।

अथवा न हुआ हो, दोनों स्थितियों में 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र यह नियम बनाएगा कि कर्म में ही षष्ठी होगी। इसलिए इस सूत्र से केवल कर्म में ही षष्ठी होने के कारण कर्ता में तृतीया होगी।

तत्वबोधिनीकार ने 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र में 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' सूत्र से 'प्रयोग' पद की अनुवृत्ति न लाकर 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे' (२।३।६५) सूत्र से 'प्रयोग' पद की अनुवृत्ति मानी है। साथ ही उसने 'प्रयोग' पद का सम्बन्ध केवल कर्म से न मानकर कर्ता और कर्म दोनों से मानते हुए कहा है कि यदि कर्ता और कर्म दोनों प्रयुक्त होंगे तभी यह सूत्र कर्म में षष्ठी का विधान करेगा।[1] 'प्रयोग' पद का सम्बन्ध चाहे केवल कर्ता से माना जाए अथवा कर्ता और कर्म दोनों से, दोनों ही स्थितियों में, 'शब्दानुशासनम्' प्रयोग में षष्ठी नहीं हो सकती, क्योंकि यहां पर न तो कर्ता का प्रयोग हुआ है और न कर्ता कर्म दोनों का।

यहां पूर्वपक्ष के रूप में यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि यदि 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र को इस नियम का प्रतिपादक माना जाए 'कर्म में ही षष्ठी होती है' तो न्यासकार का यह वचन 'तस्येति कर्तरि षष्ठी'[2] जो उसने 'तस्य ग्रहणं भवत्येकेन'[3] वृत्तिवाक्य की व्याख्या करते हुए प्रयुक्त किया है को असंगत मानना होगा।

यहां 'तस्य ग्रहणं भवत्येकेन' वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'अइउण्' प्रत्याहार सूत्र के 'ण्' अनुबन्ध का प्रदेश वाक्यों में संज्ञी के बोध के लिए केवल एक अकार के साथ ही ग्रहण होता है अर्थात् 'ण्' अनुबन्ध केवल 'अ' का ग्रहण कराता है—या दूसरे शब्दों में एक 'प्रत्याहार' 'अण्' ही बनता है। शरणदेव का कहना है कि यहां न्यासकार ने 'तस्य' का प्रयोग कर्तृसंज्ञक 'ण्' अनुबन्ध की दृष्टि से किया है। 'ग्रहण' क्रिया द्वारा जब कर्ता में कर्म के गम्यमान होने पर भी 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र से षष्ठी हो ही नहीं सकती तब उसके लिए 'तस्य' का प्रयोग कैसे उचित हो सकता है?

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि न्यास के उपलब्ध संस्करण में 'तस्येति कर्मणि षष्ठी' पाठ मिलता है। यदि यह पाठ मान लिया जाए तो शरणदेव द्वारा किया गया उपर्युक्त आक्षेप निराधार हो जाता है। पर यहीं आगे 'अन्ये त्वाहु-

१. तत्वबोधिनी (भाग २), २।२।१४, पृ० ४५।
२. न्यास (भाग १), पृ० ७।
३. काशिका, उइउण् सूत्र।

तस्येति कर्तरि षष्ठी आदिवर्णसहितो णकारो अन्येषां मध्यवर्तिनां वर्णानां ग्राहको भवत्यादिवर्णस्य चेति' पाठ मिलता है ।[1] शरणदेव ने उपर्युक्त प्रश्न इसी पाठ की दृष्टि से उठाया है ।

जो भी हो शरणदेव ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि यहां कर्ता में शेषत्व की विवक्षा के आधार पर षष्ठी हो जाएगी । कर्ता में शेषत्व की विवक्षा ही यहां संस्कार (संस्कृत) अथवा परिष्करण है ।

न्यासकार का मत दुर्घटवृतिकार तथा तत्वबोधिनीकार दोनों से भिन्न है । उनके मत में 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र में 'प्रयोग' पद की अनुवृत्ति नहीं आती । अतः कर्म के अप्रयुक्त अथवा गम्यमान रहने पर भी 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र से षष्ठी हो जाएगी । उदाहरण के रूप में न्यासकार ने स्वयं पाणिनि के सूत्र 'अन्तर्धोयेना···' (१।४।२८) को उद्धृत किया है जिसमें अप्रयुज्यमान कर्म 'आत्मनः' में षष्ठी हुई है ।[2] रक्षित ने भी संभवतः अपनी दुर्घटवृत्ति में अन्तर्धो-येना···' सूत्र को इस बात का ज्ञापक माना था जिसकी सूचना शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति से मिलती है ।

परन्तु इसके विपरीत न्यासकार ने 'कर्मणि च' सूत्र की व्याख्या में 'शब्दानुशासनम्' प्रयोग की सिद्धि करते हुए यह माना है कि 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र के विषय वे प्रयोग हैं जिनमें कर्ता और कर्म दोनों प्रयुक्त हुए हों ।[3]

न्यासकार के इसी मत का अनुसरण करते हुए अनुन्यासकार ने 'उभय-प्राप्तौ···' सूत्र के विषय में कहा है कि जहां पर सामर्थ्य से प्राप्त कर्ता और कर्म दोनों का ग्रहण (प्रयोग) होता है अर्थात् दोनों का जिस वाक्य में स्पष्टतः उच्चारण किया गया हो, वही इस सूत्र का विषय है । यदि ऐसा न माना जाए तो 'उभयप्राप्तौ···' तथा 'कर्तृकर्मणोः···' सूत्रों का विषयविभाग नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'कर्तृकर्मणोः' सूत्र के कर्म षष्ठी के उदाहरणों 'अणं स्रष्टा', 'पुरां भेत्ता' आदि में कर्ता के अनुच्चरित होने पर भी कर्ता की उपस्थिति का बोध होगा ही । अतः दोनों सूत्रों का विषयविभाग तभी संभव है जब यह माना जाए कि जहाँ कर्ता और कर्म दोनों का प्रयोग हुआ हो वहां तो 'उभयप्राप्तौ' सूत्र कार्य करेगा परन्तु जहां केवल कर्ता अथवा कर्म का प्रयोग हुआ तो वहां 'कर्तृकर्मणोः' सूत्र से षष्ठी होगी ।

---

१. न्यास (भाग १), पृ० ७

२. न्यास (भाग १), २।३।६६, पृ० ४३२-४३३ ।

३. न्यास (भाग १), पृ० ३ ।

यदि यह कहा जाए कि अनुन्यासकार का कथन उचित नहीं है, क्योंकि अनभिहिताधिकार का प्रकरण होने के कारण अनभिहित कर्म तथा कर्ता में 'कर्तृकर्मणोः' से षष्ठी की प्राप्ति होगी तो 'पुरां भेत्ता' इत्यादि प्रयोगों में केवल कर्म ही अभिहित है, इसलिए उसमें षष्ठी होगी पर 'तृच्' प्रत्यय के द्वारा कर्ता के अभिहित होने के कारण उससे षष्ठी विभक्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए 'उभयप्राप्तौ···' से 'केवल कर्म में ही षष्ठी होगी, कर्ता में नहीं' यह नियम प्रवृत्त नहीं होगा। इस प्रकार 'कर्तृकर्मणोः···' तथा 'उभयप्राप्तौ···' दोनों सूत्रों के विषय में विभाग में कोई असामञ्जस्य उपस्थित नहीं होता और यदि यह कहा जाए कि यहां 'अनभिहिते' सूत्र का अधिकार नहीं आ रहा है तथा इस कारण अभिहित कर्ता में भी षष्ठी की प्राप्ति होगी तो उस स्थिति में यह उत्तर दिया जा सकता है कि 'उभयप्राप्तौ' सूत्र पर ये दो वार्तिक पठित हैं—'अकाकारयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' तथा 'शेषेविभाषा।'[1] पहली का अर्थ है—'अक' तथा 'अकार' (अ) प्रत्ययों का योग होने पर कर्म में ही षष्ठी हो कर्ता में नहीं, यह नियम प्रवृत्त नहीं होगा अर्थात् कर्ता में भी षष्ठी होगी। दूसरी वार्तिक का अर्थ है—'अक' तथा 'अकार' प्रत्ययों से भिन्न 'क्तिन्' आदि स्त्रीप्रत्ययों अथवा कुछ वैयाकरणों के अनुसार 'अक' तथा 'अ' प्रत्ययों से भिन्न सभी 'कृत्' मात्र प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में षष्ठी होगी, यह नियम विकल्प से प्रवृत्त होगा। जो भी हो दोनों वार्तिकों के द्वारा ही 'उभयप्राप्तौ···' से प्राप्त नियम का निवारण हो जाने के कारण 'कर्तृकर्मणो···' सूत्र का प्रयोजन समाप्त हो जाता है।

यहां दुर्घटवृत्तिकार ने अनुन्यासकार के 'कर्तृकर्मणोः कृति इत्यस्यविधेर् 'उभयप्राप्तौ' इत्यस्य च विषयविभागो न स्यात् कथन का एक अन्य ढंग से समर्थन करते हुए इन दो पंक्तियों का अर्थ यह किया है कि उपर्युक्त पंक्ति के 'अस्य विधेः' 'अस्य च' इन दो अंशों में व्याधिकरण में षष्ठी हुई है। इसलिए इन दोनों का अर्थ है कि 'कर्तृकर्मणोः' सूत्र में कर्म में षष्ठी का विधान करने वाला 'कर्मणि च' जो विधि अंश है तथा 'उभयप्राप्तौ···' सूत्र में कर्म में षष्ठी का विधान करने वाला 'कर्मणि च' विधि अंश है इन दोनों का विषय-

---

१. महाभाष्य में ये वार्तिक 'अपर आह' निर्देश द्वारा 'अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यं शेषे विभाषां' तथा 'उभयप्राप्तौ कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधेऽकादि प्रयोगेऽप्रतिषेधे' इस रूप में मिलती हैं।—महाभाष्य, २।३।६६।

विभाग नहीं हो सकेगा, क्योंकि दोनों ही स्थलों में 'कर्मणि च' सूत्र से षष्ठी समास का निषेध संभव होगा। इसलिए अनुन्यासकार का यह कथन ठीक ही है कि विषयविभाग की दृष्टि से यही मानना उचित है कि 'उभयप्राप्तौ...' में कर्ता तथा कर्म दोनों का प्रयोग आवश्यक माना जाए।

वस्तुत: पाणिनि के सूत्र 'उभयप्राप्तौ...' में 'उभयप्राप्ति' पद का स्वारस्य भी इसी मत के मानने में है, क्योंकि 'उभयप्राप्ति' पद में बहुव्रीहि समास माना जाता है तथा यह समास तभी चरितार्थ होगा जब कर्ता तथा कर्म दोनों का प्रयोग हुआ हो।

जो भी हो इन तीनों वैयाकरणों में से किसी एक का भी मत मानने पर 'शब्दानुशासनम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

ध्यातव्य है कि पदमञ्जरी, न्यास, शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि आदि सभी ग्रंथों में कहा कहा गया है कि 'शब्दानुशासनम्' प्रयोग में कर्ता रूप आचार्य का कर्तृत्व होने पर भी उसका प्रयोग न होने के कारण 'उभयप्राप्तौ...' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। साथ ही यह प्रयोग 'इदं शब्दानामनुशासनं न त्वर्थानाम्' विग्रह के अनुसार अर्थनिवृतपरक अभिप्राय का वाचक है। यहां किसी कर्ता विशेष का निवृत्ति रूप अर्थ अभीष्ट नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि, बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी में इस समस्या का एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यदि किसी प्रकार इस प्रयोग में 'उभयप्राप्तौ...' से षष्ठी मान भी ली जाए तो उस अवस्था में भी 'केचिदविशेषेणैव विभाषा-मिच्छन्ति' (कुछ विद्वान् 'उभयप्राप्तौ...' सूत्र को विकल्प से विधान करने वाला मानते हैं) वार्तिक द्वारा 'उभयप्राप्तौ...' सूत्र के अप्रवृत्तिपक्ष में समास निषेध नहीं हो सकेगा। जब 'उभयप्राप्तौ...' सूत्र प्रवृत्त ही नहीं होगा तो कर्मणि च' सूत्र द्वारा निषेध का प्रश्न ही नहीं उठेगा।[2]

कर्तरि च २।२।१६

भयशोकहर्ता

'कर्तरि च' सूत्र द्वार कर्ता में प्रयुक्त 'तृच' तथा 'अक' प्रत्ययों के साथ षष्ठ्यन्त शब्द के समास का निषेध किए जाने के कारण 'भीष्म: कुरुणां

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), पृ० ५६।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग १), पृ० ३।

भयशोकहर्ता' वाक्य का 'भयशोकहर्त्ता' प्रयोग विचारणीय है क्योंकि यहां कर्तृकर्मणो:' सूत्र से षष्ठी (भयशोकयो:हर्ता) हुई है। अत: 'कर्तरि च' सूत्र द्वारा निषेध होना चाहिए।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इस प्रयोग में 'हर्ता' शब्द 'तृच' प्रत्यय से निष्पन्न न होकर 'तृन्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अत: तृन्नन्त के साथ समास का निषेध न होने के कारण यहाँ समास हो जाएगा। यही समाधान न्यास में भी मिलता है।[1]

यहां यह कहा जा सकता है कि 'न लोकाव्यय···' (२।३।६९) सूत्र द्वारा तृन्नन्त शब्दों के साथ षष्ठी का निषेध किया गया है। इस प्रकार जब 'तृन्' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठी होगी ही नहीं तो फिर षष्ठी तत्पुरुष का प्रश्न ही नहीं उठता। इस कठिनाई के निराकरण के लिए दुर्घटवृत्तिकार ने न्यास के मत रूप में, यह कहा है कि 'तृजकाभ्यां···' (२।१।१५) सूत्र में 'तृन्' की निवृत्ति के लिए जो 'तृच्' का उपादान किया गया उससे यही ज्ञापित होता है कि 'तृन्' के योग में कभी-कभी षष्ठी भी होती है। यदि 'तृन्' प्रत्यय के साथ सर्वथा षष्ठी का निषेध अभिप्रेत होता तो इस सूत्र में अनुबन्ध सहित 'तृच्' का प्रयोग व्यर्थ होगा।[2]

सिद्धान्तकौमुदी तथा शब्दकौस्तुभ में इसी प्रकार की समस्या 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलह:' प्रयोग पर उठाई गई है और वहाँ भी यही समाधान दिया गया है।

दुर्घटवृत्तिकार ने उपर्युक्त समस्या का दूसरा समाधान यह दिया है कि 'द्वितीया त्रितातीत···' (२।१।१४) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र द्वितीया से यहां पर समास हो जाएगा।

तीसरा समाधान यह दिया गया कि इस प्रयोग में 'कर्तृकर्मणो:···' सूत्र से षष्ठी न मान कर 'षष्ठीशेषे' से मानी जाए। इस प्रकार शेष षष्ठी के आधार पर 'षष्ठी' सूत्र से समास हो जाएगा। कैयट ने भी इसी प्रकार के 'गुणिविशेषक:' प्रयोग के विकल्प से षष्ठी तत्पुरुष समास माना है।[3] सिद्धान्त-कौमुदी तथा शब्दकौस्तुभ में यही समाधान 'निर्मातुस्त्रिभुवनविधातु:' प्रयोग के

१. न्यास (भाग १), २।२।१६, पृ० ३८६।
२. न्यास (भाग १), पृ० ३८६।
३. प्रदीप, महाभाष्य, १।४।२१, पृ० ३७०।

लिए, कैयट के नाम से, दिया गया है ।[1]

कुगतिप्रादयः २।२।१८

अलं कुमार्यै

'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या'[2] वार्तिक की दृष्टि से 'अलं कुमार्यै' विग्रह वाक्य में यह विचारणीय है कि 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से नित्य समास का विधान किए जाने के कारण यहां पर भी नित्य समास होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया कि 'नमः स्वास्ति···' (२।३।१६) सूत्र द्वारा चतुर्थी विधान के सामर्थ्य से नित्य समास की प्राप्ति होने पर विकल्प से वाक्य का श्रवण होगा, क्योंकि यदि 'अलम्' के योग में नित्य समास हो जाए तो इस सूत्र द्वारा चतुर्थी का विधान करना सर्वथा व्यर्थ हो जाएगा । यही समाधान शब्दकौस्तुभ में रक्षित के नाम से तथा सुधानिधि में भी मिलता है ।[3]

इस समाधान के विषय में यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'नमः स्वस्ति···' द्वारा चतुर्थी का विधान करने का प्रयोजन यह है कि 'अल कुमार्यै शोभनायै' जैसे प्रयोगों में समास का निषेध हो सके । अतः इस सूत्र के आधार पर 'अलं कुमार्यै' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता ।

इस आक्षेप का निवारण व्यक्ति पक्ष द्वारा इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति (उदाहरण) में सूत्र एक साथ प्रवृत्त न होकर अलग-अलग रूप से प्रवृत्त होगा । इसलिए 'अलं कुमार्यै शोभनायै' रूप व्यक्ति में प्रवृत्त होने वाला 'नमः स्वस्ति···' सूत्र समास का निषेध करके निष्प्रयोजन हो जाएगा परन्तु 'अलं कुमार्यै' इस उदाहरण रूप व्यक्ति में प्रवृत्त होने वाले 'नमः स्वस्ति···' सूत्र की सामर्थ्य अक्षुण्ण बनी रहेगी । इस सूत्र द्वारा चतुर्थी विधान सामर्थ्य से नित्य समास का विधान होने पर भी पक्ष में वाक्य का श्रवण होगा ही । महाभाष्यकार ने 'एकविभक्ति···' सूत्र के भाष्य में 'अलं कुमार्यै तथा 'अलंकुमारिः' इस प्रकार के समासरहित तथा समाससहित दोनों प्रकार के प्रयोगों का प्रदर्शन किया है ।

---

१. सिद्धान्त कौमुदी (भाग २), २।२।१५, पृ० ४६ ।
२. महाभाष्य, २।२।१८ ।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।१८, पृ० २०७ ।

परन्तु भट्टोजि दीक्षित को यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता। उनके अनुसार प्रस्तुत प्रयोग में इस वार्तिक द्वारा समास नहीं हुआ है, क्योंकि 'अलम्' प्रादिगण में उपदिष्ट नहीं है। 'द्विगुप्राप्तापन्नलंपूर्व···'[1] वार्तिक में 'अलम्' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि गति ग्रहण से पृथक् पर्याप्ति अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्'[2] वार्तिक द्वारा अभिधान के अनुरोध से चतुर्थ्यन्त के साथ समास होता है।[3]

अधीत्य

'प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधको वक्तव्यः' वार्तिक की दृष्टि से 'अधीत्य' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि अधिपरी अनर्थकौ' सूत्र द्वारा अनर्थक 'अधि' के कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो जाने के कारण उसका 'इ' धातु के साथ समास नही होना चाहिए। न्यासकार ने भी कहा है कि समुदाय (अधि + √इ) के अर्थ का 'इङ्' धातु में उपचार करके 'अधि + √इ' की ही धातु संज्ञा मानी गई है। अतः समास का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु न्यास के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'कुगतिप्रादयः' सूत्र की व्याख्या में यह कथन नहीं मिल सका।

दुर्घटवृत्ति, सुधानिधि, शब्दकौस्तुभ आदि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत समस्या का समाधान यह दिया गया है कि स्वयं पाणिनि ने 'पोटायुवति···' (२।१।६५) सूत्र के 'अध्यापक' पद में इस अनर्थक एवं इस प्रकार कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'अधि' का 'इ' धातु के साथ प्रयोग किया है। इससे यह ज्ञापित होता है कि कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के साथ समास का निषेध अनित्य है। इसीलिए 'अतिस्तुतम्' तथा 'सुस्तुम्' प्रयोगों में 'अतिरतिक्रमणे च' (१।४।८५) तथा 'सुः पूजायाम्' (१।४।९४) सूत्रों से 'अति' तथा 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने पर भी 'सु' धातु के साथ समास होकर 'उपसर्गात्सुनोति···' (८।३।६५) सूत्र से उपसर्ग के अभाव में षत्व नहीं हुआ है।[4]

---

१. महाभाष्य, १।२।४४, वा० ३।
२. उपरिवत् २।३।१६।
३. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।२।१८, पृ० २०८।
४. उपरिवत्।

कुरुतेन

इसी प्रकार 'कुगतिप्रादयः' सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य आदि में यह निर्देश मिलता है कि 'कु' उपसर्ग के पाप अर्थ में ही प्रयुक्त होने पर समास होगा, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से दण्डी का 'कुरुतेनेयम्'[1] प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'कु' पापार्थक नहीं है।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'पापार्थे' इत्यादि उपाधि वचन प्रायिक हैं। ये उपाधियां प्रायः दिखाई देती हैं, इतना ही मानना चाहिए। इस बात का ज्ञापक 'ईषदर्थे च' (६।३।१०५) सूत्र है। इस सूत्र द्वारा 'ईषत्' अर्थ में वर्तमान 'कु' को 'का' आदेश विधान किया गया है। उसके पश्चात् इसका 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से समास होता है।[2] काशिका, शब्दकौस्तुभ, प्रदीप आदि में इसकी प्रायिकता मानी गई है।[3]

इस विषय में कैयट के दो विचार हैं। प्रथम यह कि 'कुः पापार्थे' वचन के उपलक्षण रूप में कथित होने के कारण 'ईषत्' अर्थ में समास होता ही है जसे 'कालवणम्' प्रयोग में ईषदर्थ होने पर भी 'कु' को 'लवण' के साथ समास होकर 'कु' को 'का' आदेश हुआ है। 'अन्ये त्वाहुः' निर्देश द्वारा दूसरे मत के रूप में यह कहा गया है कि 'कुः पापार्थे' वचन पृथिवी वाचक 'कु' शब्द के साथ समास की निवृत्ति के लिए है।[4]

उपपदमतिङ् २।२।१६

साधु खलु पयसःपानम्

'उपपदमतिङ्' सूत्र तिङन्त भिन्न उपपद का समर्थ शब्द के साथ नित्य तत्पुरुष समास का विधान करता है। अतः 'साधु खलुः पयसः पानम्'[5] वाक्य में 'पयसः पानम्' पदों में नित्य समास होना चाहिए, क्योंकि काशिका में कहा गया है कि 'ल्युट् च' (३।३।११५) सूत्र से 'ल्युट्' की प्राप्ति हो जाने पर भी 'कर्मणि च येन···' (३।३।११६) सूत्र से पुनः 'ल्युट्' विधान करने का प्रयोजन

---

१. काव्यादर्श, ३।१४।
२. न्यास (भाग २), ६।३।१०५, पृ० ४७८।
३. काशिका, २।२।१८।
४. प्रदीप, महाभाष्य २।२।१८, पृ० ६८८।
५. काशिका २।२।१४।

'उपपदमतिङ्' सूत्र से नित्य समास की प्राप्ति कराना है ।[1]

इस प्रश्न का उत्तर रक्षित के मत रूप में यह दिया गया है कि इस वाक्य में सुख की विवक्षा न होने के कारण 'कर्मणि च' (३।३।११६) सूत्र से 'ल्युट्' न होकर 'ल्युट् च' (३।३।११५) सूत्र से स्वतंत्र अर्थात् उपपद रहित 'पानम्' शब्द में प्रत्यय हुआ है । अतः यहां समास नहीं होगा ।

पदमञ्जरी में कहा गया है कि शरीर सुख की अविवक्षा में रोग आदि से अभिभूत होने के कारण असमर्थ होते हुए भी जब कोई व्यक्ति अच्छी तरह से पीता है तो इस स्थिति में इस वाक्य का प्रयोग किया गया । अतः यहां समास नहीं होगा ।[2]

अम्भसां निधिः

इसी प्रकार की कठिनाई माघ तथा कालिदास के 'शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः[3] तथा 'निस्त्रिंशकल्पस्य निधिर्जलानाम्' श्लोकांशों के क्रमशः 'अम्भसांनिधिः' तथा 'निधिजलानाम्' प्रयोगों में उपस्थित होती है, क्योंकि 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) सूत्र के 'उपसर्गे' घोः किः' (३।३।९२) सूत्र की अपेक्षा पर होने के कारण 'कि' प्रत्यय कि स्थिति में नित्य समास होना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर दुर्घटवृत्ति में नहीं मिलता । कोष्ठगत दिया गया समाधान स्पष्ट नहीं है ।

अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४

अस्तिक्षीरा

'अनेकम्···' सूत्र अन्य पदार्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का बहुव्रीहि समास करता है । इस सूत्र द्वारा सुबन्त पदों में ही समास की बात कही गई है । इसलिए 'अस्तिक्षीरा' जैसे प्रयोग विचारणीय हैं, जिनमें तिङन्त 'अस्ति' जैसे पदों के साथ समास अभीष्ट है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि इन प्रयोगों में 'अस्ति' जैसे पद तिङन्त न होकर विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय हैं अर्थात् इनमें जो 'ति' अंश है, वह 'तिङ्' विभक्ति न होकर उसका प्रतिरूपक है ।

---

१. उपरिवत् ३।३।११६ ।
२. पदमञ्जरी (भाग १), २।२।१४, पृ० ३९८ ।
३. शिशुपालवध, १।२० ।

महाभाष्य में भी इस समस्या के प्रसंग में उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्ति प्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक इन तीन प्रकार के अव्ययों का मानते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' शब्द अव्यय है न कि 'अस्' धातु के 'लट्' का प्रयोग।[1] पदमञ्जरी, न्यास, सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ आदि ग्रंथों में भी यही समाधान दिया गया है।[2]

दुर्घटवृत्तिकार ने दूसरा समाधान 'अस्ति' पद को तिङन्त मानते हुए यह दिया है कि 'अस्तिक्षीरादिवचनं कर्तव्यम्' वार्तिक द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु द्रष्टव्य है कि स्वयं कात्यायन ने ही 'न वा अव्ययत्वात्' वार्तिक द्वारा उपर्युक्त वचन का प्रत्याख्यान कर दिया है।[3] इसलिए शरणदेव का प्रथम समाधान ही महाभाष्य सम्मत होने के कारण स्वीकार्य है।

उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०

अपेतमैथिलीम्

'उपसर्जनं पूर्वम्' सूत्र द्वारा समास में उपसर्जनसंज्ञक शब्दों के पूर्व निपात का विधान किए जाने के कारण भट्टि का 'अपेतमैथिलीम्'[4] प्रयोग विचारणीय है। यहां 'मैथिली' तथा 'अपेत' शब्दों में 'अपेतापोढ़...' (२।१।३८) सूत्र द्वारा पञ्चमी समास हुआ है। इस सूत्र में पञ्चम्यन्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्देश किए जाने के कारण उनकी 'प्रथमानिर्दिष्टं...' सूत्र के अनुसार उपसर्जन संज्ञा है। अत: यहां भी 'सुखापेत:' प्रयोग के समान 'मैथिली' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस दोष के निवारण हेतु यहां पञ्चमी समास न मानकर बहुव्रीहि समास माना है। परन्तु यदि बहुव्रीहि समास माना जाए तो यहां पर 'नघृतश्च' (५।४।१५३) सूत्र द्वारा समासान्त 'कम्' होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'समासान्तविधिरनित्य:[5]' परिभाषा द्वारा यहां 'कप्'

---

१. महाभाष्य, २।२।२४, पृ० ७१४।
२. (क) पदमञ्जरी (भाग १), २।२।२४, पृ० ४०८।
 (ख) शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।२४, पृ० २१३।
३. महाभाष्य २।२।२४, पृ० ७१४।
४. भट्टिकाव्य, १०।३४
५. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या, ८५।

प्रत्यय का अभाव सिद्ध हो जाएगा। इस परिभाषा का ज्ञापक 'पाद्दन्मूर्धसु…' (६।२।१९७) सूत्र में समासान्त रहित' 'मूर्धसु' शब्द को माना गया है। इस सूत्र में 'पाद्' तथा 'दद्' दोनों शब्द समासान्त कार्य (क्रमशः 'पाद' के अकार का लोप तथा दन्त को दत् आदेश) सहित आदिष्ट हैं। परन्तु 'मूर्धसु' पद समासान्त प्रत्यय रहित है। अतः समासान्त रहित निर्देश ज्ञापित करता है कि समासान्त विधि अनित्य है। इस ज्ञापक का उल्लेख महाभाष्य, काशिका, न्यास तथा परिभाषावृत्ति में भी मिलता है।[1]

वार्तिसूत्रिकम्

इसी प्रकार की कठिनाई 'ऋतूक्थादि…' (४।२।६०) सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'वार्तिसूत्रिकम्' प्रयोग में उपस्थित होती है। 'सूत्राणां वृत्तिः' विग्रह के अनुसार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा उससे 'तदधीते…' के अधिकार में पठित 'ऋतूक्थादि…' 'सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय करके 'वार्तिसूत्रिकम्' प्रयोग अभीष्ट है। यहां विचारणीय यह है कि षष्ठी तत्पुरुष समास के विधायक सूत्र 'षष्ठी' में षष्ठ्यन्त पदों का प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्देश होने के कारण षष्ठ्यन्त पद उपसर्जन संज्ञक माने जाते हैं। अतः यहां पर 'सूत्र' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में षष्ठी तत्पुरुष न हो कर 'वृत्तिश्च सूत्रं च' विग्रह के अनुसार द्वन्द्व समास है। हरदत्त के अनुसार यहां 'वार्तिसूत्रिकम्' पाठ न होकर 'वार्तिकसूत्रिकम्' पाठ होना चाहिए। इस बात को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है कि पहले 'वृत्तौ साधु' अर्थ में 'वार्तिक' शब्द बन जाएगा। उसके बाद 'वार्तिकं च तत्सूत्रं च' विग्रह के अनुसार कर्मधारय समास में 'वार्तिकसूत्रम्' शब्द बनेगा जिससे 'ठक्' प्रत्यय होकर 'वार्तिकसूत्रिकम्', प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[2]

सपत्नीमाता

इसी प्रकार का दोष 'मातुः सपत्नी सपत्नीमाता' प्रयोग में उपस्थित होता है क्योंकि यहां पर भी षष्ठ्यन्त 'माता' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए था।

इस दोष के निवारण के लिए दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'मातृ' शब्द को राजदन्तादिगण में मानकर 'राजदन्तादिषुपरम् (२।२।३१)

१. परिभाषा वृत्ति, पृ० ४१।
२. पदमञ्जरी (भाग १), ४।२।६०, पृ० १४१।

सूत्र द्वारा उसका पर पूर्वनिपात हो जाएगा।

दूसरा समाधान स्पष्ट नहीं हैं। यहां पर 'स्त्रियां:पुंवत्...' (६।३।३४) सूत्र द्वारा पुंवत् भाव इसलिए नहीं हुआ है कि यहां पर समान आकृतित्व में भाषितपुंस्कत्व का अभाव है। इस प्रयोग में 'सपत्नीमातेति च भवति सपत्नीव शत्रुरिव माता' विग्रह के अनुसार उपचार के कारण कर्मधारय तत्पुरुष भी माना जा सकता है।

द्वन्द्वे घि २।२।३२

'द्वन्द्वे घि' सूत्र द्वन्द्व समास में घ्यन्त शब्द का पूर्वनिपात करता है। इस नियम की दृष्टि से 'प्रपरापसमन्ववनिर्दुर्व्यतिसूदभिनिपर्यपय:' वाक्य में 'सु' तथा 'नि' उपसर्गों की 'शेषो घ्यसखि' (१।४।७) सूत्र द्वारा 'घि' संज्ञा होने के कारण उनमें से किसी एक का पूर्वनिपात होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह नियम अनित्य है तथा इसकी अनित्यता के ज्ञापक 'लक्षणहेत्वो:क्रियाया:' (३।२।१२६) सूत्र तथा 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरूपसर्गयो:' वार्तिक हैं। नियमानुसार सूत्र में 'हेतु' शब्द का तथा वार्तिक में 'अपि' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए था। अत: इस तथा वार्तिक से ज्ञापित होता है कि 'द्वन्द्वे घि' सूत्र का कार्य अनित्य है। वस्तुत: पूर्वनिपात का प्रकरण ही प्रायिक प्रतीत होता है। तत्वबोधिनी, शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में कहा गया है कि 'लक्षणहेत्वो:' निर्देश से ज्ञापित होता है कि यह प्रकरण अनित्य है।[1] काशिका के अनुसार भी यह निर्देश व्यभिचार का चिह्न है।[2]

अल्पाच्तरम् २।२।३४

भूषणभूष्यभाव:

जिन शब्दों में अपेक्षाकृत कम स्वर हों, उनका 'अल्पाच्तरम्' सूत्र द्वन्द्व समास में पूर्वनिपात करता है। इस सूत्र की दृष्टि से कुमारसंभव का 'भूषण-भूष्यभाव:'[3] प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि इस प्रयोग में 'भूष्य' शब्द के 'भूषण' शब्द की अपेक्षा अल्पाच्तर होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए था।

---

१. तत्वबोधिनी, (भाग २), २।२।२३, पृ० १६१।

२. काशिका, ३।२।१२६।

३. कुमारसंभव, १.४३।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'पूरणार्धाट्ठन्' (५।१।४८) तथा 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' (१।३।१८) सूत्रों में, प्रयुक्त 'पूरण' तथा 'परि' शब्दों से यह ज्ञापित होता है कि 'अल्पाच्तरम्' सूत्र अनित्य है। यदि यह नियम नित्य होता तो 'अर्ध' तथा 'वि' शब्दों का पूर्वनिपात होना चाहिए था।

शिष्योपाध्यायम्

'अभ्यर्हितं च'[1] (पूज्य का द्वन्द्व समास में पूर्वनिपात होता है) वार्तिक के अनुसार रक्षित द्वारा 'अध्ययनतो...' (२।४।५) सूत्र की व्याख्या में उद्धृत 'शिष्योपाध्यायम्' तथा 'छात्रोपाध्यायम्' प्रयोगों में 'शिष्य' तथा 'छात्र' शब्दों का पूर्वनिपात्व चिन्त्य है, क्योंकि उपाध्याय के पूज्य होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर रक्षित के नाम से दिया गया है। रक्षित ने 'ङ्याप्...' (४।१।१) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' सूत्र में 'लक्षण' शब्द के पूर्वनिपात से ज्ञापित होता है कि यह प्रकरण सामान्य रूप से अनित्य है।

पार्वतीपरमेश्वरौ

इसी प्रकार का दोष 'पार्वतीपरमेश्वरौ' प्रयोग में उपस्थित होता है। इस दोष का निवारण भी उपर्युक्त समाधान द्वारा हो जाता है।

इस समस्या का एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि पूज्यत्व प्रयोक्ता की अपेक्षा पर आधारित है। यह बात 'भ्रातुश्च ज्यायसः'[2] वार्तिक की रचना से स्पष्ट हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो इस वार्तिक की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस वार्तिक का उदाहरण है—'युधिष्ठिरार्जुनौ' जिसमें युधिष्ठिर अर्जुन की अपेक्षा सामान्यतया पूज्य है।

तत्वबोधिनी में इस वार्तिक की व्याख्या में कहा गया है कि इन्द्र का पुत्र होने अथवा विष्णु का अंश होने से या वीर होने के कारण अर्जुन भी पूज्य है, इसलिए 'युधिष्ठिर' के पूर्वनिपात के लिए इस वार्तिक की आवश्यकता थी।[3] परन्तु तत्वबोधिनीकार के इस कथन से यह आशय नहीं निकाला जा सकता कि

---

१. महाभाष्य, २।२।३४, वा० ४।

२. उपरिवत्, वा० ७।

३. तत्वबोधिनी (भाग २), २।२।३४, पृ० १६१-१६२।

अभ्यर्हिता का निर्णय प्रयोक्ता की दृष्टि से नहीं होगा। जो भी हो कवि के देवी का उपासक होने के कारण उसके लिए देवी पूज्य है। अतः उसने 'पार्वती-परमेश्वरौ' प्रयोग में 'पार्वती' शब्द का पूर्वनिपात किया है। परन्तु इसी आधार पर 'पितामातरौ' प्रयोग को साधु नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी की दृष्टि में माता पूज्य है, इसलिए 'मातापितरौ' प्रयोग ही बनेगा। स्मृति में कहा गया है कि गर्भधारण करने के कारण तथा पोषण करने से माता की अपेक्षा पिता महान् है। अतः वह सभी में पूज्य है।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'पार्वतीपरमेश्वरौ' प्रयोग के लिए 'अन्ये तु' निर्देश द्वारा एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यहाँ 'पार्वती' तथा 'परमेश्वर' पदों का समास न होकर 'पार्वतीप' तथा 'रमेश्वर' पदों का समास हुआ है। पहले शब्द का अर्थ 'पार्वती पातीति पार्वतीपः' विग्रह के अनुसार शिव है तथा दूसरे शब्द का 'रमायाः ईश्वरः' विग्रह के अनुसार विष्णु अर्थ है। त्रिकाण्डशेष आदि कोशों में रमा को लक्ष्मी का वाचक माना गया है।[1] इस प्रकार इस पद का अर्थ होगा—शिव तथा विष्णु को नमस्कार करता है। इस प्रकार 'अभ्यर्हितं च' वार्तिक की प्रवृत्ति का यहां प्रश्न ही नहीं उठेगा, क्योंकि दोनों पूज्य हैं। परन्तु कालिदास द्वारा प्रयुक्त इस प्रयोग में यह व्युत्पत्ति असंगत एवं अग्राह्य है।[2] यह भी निश्चित है कि बेचारे कवि की दृष्टि 'पार्वतीपरमेश्वरौ' शब्द का प्रयोग करते समय इन व्युत्पत्तियों की ओर नहीं गई होगी। इसका कारण यह है कि कवि ने जगत के आद्य माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की तात्विक अभिन्नता एवं अवास्तविक, अतएव आभासमान अथवा प्रतीयमान भिन्नता को प्रकट करने के लिए इस श्लोक में वाणी तथा अर्थ को उपमान के रूप में पस्तुत किया है। अतः यहां उपमान की संगति के लिए यही उचित है कि 'पार्वती' और 'परमेश्वर' शब्दों का ही समास माना जाए।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५

शान्त्युदकुम्भहस्ता

'सप्तमीविशेषणे…' सूत्र बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त तथा विशेषणवाचक पदों के पूर्वप्रयोग का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भट्टि के

१. त्रिकाण्डशेष, १।१।४१।
२. रघुवंश, १।१।

'शान्त्युदकुम्भहस्ता यायावरा: पुष्पफलेन चान्ये'[1] तथा राजार्जिहतं मधुपर्कपाणि:'[2] श्लोकांशों में बहुव्रीहि समास के 'शान्त्युदकुम्भहस्ता' (शान्त्युदकुम्भो हस्ते येषाम्) तथा 'मधुपर्कपाणि:' (मधुपर्का: पाणोयस्य) प्रयोगों में 'हस्त' तथा 'पाणि' शब्दों के सप्तम्यन्त होने के कारण पूर्वनिपात होना चाहिए था। अत: उनका परनिपातत्व चिन्त्य है। इसी प्रकार का दोष 'व्रजपाणि' (वज्रं पाणी यस्य), 'कमण्डलुपाणि:' (कमण्डलु:पाणौ यस्य) तथा 'चक्रपाणि' (चक्रं पाणौ यस्य) प्रयोगों में भी उपस्थित होता है।

इन प्रयोगों के लिए यह समाधान दिया गया है कि इन शब्दों को आहिताग्न्यादि गण में पठित मान कर 'वाहिताऽग्न्यादिषु' (२।२।३७) सूत्र द्वारा परनिपात सिद्ध हो जाएगा। यह गण आकृतिगण है।[3] शरणदेव के अनुसार इस गण के अतन्त्र (पठित गण के रूप में अविवक्षित) होने के कारण अथवा सूत्रस्थ 'वा' पद के व्यवस्थित विभाषा का द्योतक होने से इन शब्दों का नित्य परनिपात साधु माना जा सकेगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने अपने मत की पुष्टि में कहा है कि 'प्रहरणार्थेभ्यो निष्ठा-सप्तम्यो परे भवत:'[4] तथा 'जातिकालसुखादिभ्य: परवचनम्'[5] वार्तिक भी गण एवं सूत्र की उपर्युक्त स्थिति के ही सूचक हैं, क्योंकि ये दोनों ही वार्तिक 'सप्तमीविशेषणे···' सूत्र के पूरक अथवा अपवाद हैं।

जयमंगला तथा चन्द्रकला-विद्योतिनी टीकाओं में भी यही समाधान दिया गया है, परन्तु वहां गण के अतन्त्र होने अथवा व्यवस्थितविभाषा के आश्रयण की बात नहीं कही गई है।[6] इसके अतिरिक्त इन टीकाओं में एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'प्रहरणार्थेभ्यश्च' वार्तिक द्वारा शब्दों का पर-निपात हो जाएगा।[7] यह वार्तिक प्रहरणार्थक शब्दों से निष्ठान्त तथा सप्तम्यन्त

---

१. भट्टिकाव्य, २।२०।
२. उपरिवत्, १।१७।
३. काशिका, २।२।३७।
४. महाभाष्य में यह वार्तिक 'प्रहरणार्म्थेयश्च' इस रूप में मिलती है।—महाभाष्य, २।२।३६।
५. महाभाष्य, २।२।३६, वा० १।
६. जयमंगला, भट्टिकाव्य, २।२०।
७· जलमंगला, भट्टिकाव्य २।२०।

शब्दों के परनिपात का विधान करती है। 'शान्त्युदकुम्भहस्ता' प्रयोग में अहित के निवारण के साधर्म्य से प्रहरण अर्थ का उपचार किया गया है।

यदक्षपादः

इसी प्रकार का दोष 'यदक्षपादः' (अक्षं पादौ यस्य) प्रयोग में उपस्थित होता है। यहां पर 'सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम्'[1] वार्तिक द्वारा परनिपात हो सकेगा। तत्वबोधिनीकार ने इसी प्रकार क 'पद्मनाभः' (पद्मं नाभौ यस्य) तथा 'ऊर्णनाभः' (ऊर्णं नाभौ यस्य) प्रयोगों में उपर्युक्त वार्तिक द्वारा 'नाभि' शब्द का परनिपात साधु माना है। उसके अनुसार इस वार्तिक में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रकारवाची है तथा इस रूप में गड्वादिगण आकृतिगण है।[2]

निष्ठा २।२।३६

अल्पश्रुतः

'निष्ठा' सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त पद के पूर्वनिपातत्व का विधान किए जाने के कारण 'अल्पश्रुतः' तथा 'बहुश्रुतः' प्रयोग विचारणीय हैं, क्योंकि 'श्रुतः' शब्द के निष्ठान्त होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए था।

यहां यह कहा गया है कि 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्'[3] वार्तिक द्वारा यहां पर 'अल्प' तथा 'बहु' शब्दों का पूर्वनिपात हो जाएगा, क्योंकि इस वार्तिक द्वारा सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दों के पूर्वनिपात का विधान किया गया है। 'प्रथमचरम्...' (१।१।३३) सूत्रानुसार 'अल्प' शब्द सर्वनाम वाचक है तथा 'बहुगण...' (१।१।२३) सूत्र के अनुसार 'बहु' शब्द संख्यावाचक है।

एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'वाहिताग्न्यादिषु' सूत्र द्वारा यहां पर इन शब्दों का परनिपात सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि यह सूत्र आहिताग्न्यादिगण में पठित निष्ठान्त शब्दों का विकल्प से पूर्वनिपात करता है। इसलिए इस गण में इन शब्दों का समावेश मानकर उपर्युक्त प्रयोगों का साधुत्व प्रतिपादित हो सकता है।

---

१. महाभाष्य, २।२।३५, वा० २।
२ तत्वबोधिनी (भाग २), २।२।३५, पृ० १५६।
३. महाभाष्य, २।२।३५, वा० १।

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद

कर्मणि द्वितीया २।३।२

हा पित: क्वासि हे सुभ्रु

'समयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्' ('समया' आदि अव्ययों के योग में द्वितीया होती है) वार्तिक, जिसका कुछ अंश शरणदेव ने 'हायोगेष्वपि दृश्यते' रूप में प्रस्तुत किया है, के अनुसार[1] भट्टिकाव्य तथा मालतीमाधव के 'हा पित: क्वासि हे सुभ्रु[2]' तथा 'हा तात हा अम्ब'[3] वाक्यों में 'हा' अव्यय के योग में प्रथमा का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन वाक्यों में 'हा' शब्द शोक का वाचक है। 'हा' अव्यय का प्रयोग विषाद, शोक, पीड़ा तथा कुत्सा चार अर्थों में स्वीकार किया गया है।[4] उपर्युक्त वाक्यों में 'हा' शब्द के द्वारा विपन्नावस्था में पिता आदि को सम्बोधित किया गया है। सम्बोधन में 'संबोधने च' (२।३।४७) सूत्र के अनुसार प्रथमा की प्राप्ति की अवस्था में 'हायोगेष्वपि' वार्तिक द्वारा द्वितीया का विधान किया गया है। परन्तु इस वार्तिक के 'अपि' शब्द के व्यभिचारार्थक होने के कारण सम्बोधन में प्रथमा होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। न्यास में भी कहा गया है कि इस वार्तिक में 'अपि' शब्द का प्रयोग विकल्प के लिए किया गया है। अत: वार्तिक द्वारा द्वितीया कभी होती है तथा कभी नहीं।[5] इस प्रकार द्वितीया के अभाव में प्रथमा हो जाएगी।

पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि, बालमनोरमा में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए तथा परिभाषा वृत्ति में 'उपपदविभक्ते: कारकविभक्तिर्बलीयसी'[6] परिभाषा द्वारा यह समाधान दिया गया है कि 'हा' आदि निपातों के साथ विहित विभक्ति उपपद विभक्ति है तथा 'संबोधने च' सूत्र द्वारा विहित प्रथमा

---

१. महाभाष्य, २।३।२, वा० १।
२. भट्टिकाव्य, ६।११।
३. मालतीमाधव अंक ६।
४. द्र० वाचस्पत्यम्।
५. न्यास (भाग १), २।३।२, पृ० ४०१।
६. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १०३।

विभक्ति कारक विभक्ति है। अतः द्वितीया विभक्ति बह्वपेक्ष होने के कारण बहिरंग है तथा दूसरी ओर प्रथमा अल्पापेक्ष होने से अन्तरंग है। इसलिए कारकविभक्ति द्वारा उपपद विभक्ति का बोध हो जाएगा।[1] इस समाधान को शरणदेव ने भागवृत्ति के नाम से प्रस्तुत किया है। भागवृत्तिकार ने इस विषय में यह कहा है कि शोच्य तथा शोचक का सम्बन्ध होने पर अर्थात् केवल शोक अर्थ की प्रतीति होने पर 'हा योगेष्वपि' वार्तिक के अनुसार षष्ठी के अपवाद रूप में द्वितीया होती है। परन्तु यदि शोक अर्थ के साथ सम्बोधन अर्थ भी हो तो कारक विभक्ति की बलवत्ता के कारण प्रथमा ही होती है। 'हा पित:' आदि में संबोधन अर्थ के होने से प्रथमा तथा 'हा कष्टम्' जैसे प्रयोगों में केवल शोक की प्रतीति होने के कारण द्वितीया हुई है।

'हा पित: क्वासि हे सुभ्रु' तथा 'हा तात···' प्रयोगों के विषय में यह भी विचारणीय है कि इनमें 'आबाधे च' (८।१।१०) सूत्र से 'हा' शब्द को द्वित्व क्यों नहीं हुआ। इस प्रश्न का उत्तर रक्षित ने यह दिया है कि 'हा' शब्द के द्वारा ही पीड़ा अर्थ के उक्त हो जाने के कारण यहां पर द्वित्व नहीं हुआ है।

परन्तु रक्षित का यह मत उचित नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाए तो 'हा हा गिरो निष्फला:' वाक्य में 'हा' शब्द के द्वारा पीड़ा अर्थ के उक्त होने के कारण द्वित्व नहीं होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'हा पित:···' आदि प्रयोगों में 'हा' शब्द शोकपूर्वक सम्बोधन का वाचक है। अत: केवल शोक अथवा पीड़ा अर्थ के अभिप्रेत न होने के कारण वहां द्वित्व नहीं हुआ है। इसके विपरीत 'हा हा गिरो निष्फला:' वाक्य में 'हा' केवल शोक का वाचक है, संबोधन का नहीं। अत: द्वित्व हुआ है।

कां दिशं गन्तव्यम्

'कर्मणि द्वितीया' सूत्र में 'अनभिहिते' (२।३।१) सूत्र से 'अनभिहिते' का अधिकार आ रहा है।[2] अनभिहित का अर्थ है—अनुक्त या अकथित। 'अनभिहित' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए महाभाष्य में कहा गया है कि

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।२, पृ० ४२०।

१. काशिका, २।३।१।

तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास द्वारा अनुक्त होने पर ही अनभिहितता की स्थिति मानी जाएगी।[1] इस प्रकार 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र का अर्थ होगा—(तिङ् आदि के द्वारा) अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है। इस अर्थ की दृष्टि से 'कां दिशं गन्तव्यम्' तथा 'सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्' प्रयोगों में कर्म में द्वितीया का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'गम्' तथा 'विश्' धातुएं सकर्मक हैं जिनसे कारक को कहने के लिए कर्म में 'तव्य' प्रत्यय आया है। 'तव्य' प्रत्यय के कृत् होने के कारण इन प्रयोगों में 'तव्य' रूप 'कृत्' से कर्म के अभिहित हो जाने के कारण कर्म रूप दिशा तथा सभा में द्वितीया का प्रयोग उचित नहीं है।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'कश्चित्' निर्देश द्वारा पहले यह समाधान दिया है कि पदसंस्कार पक्ष में 'केवल गन्तव्यम्' तथा 'प्रवेष्टव्यम्' की सिद्धि करते हुए, कर्म (दिशा या सभा) की विवक्षा न होने पर पहले ही भाव में 'तव्य' की प्राप्ति हुई है। उसके पश्चात् कर्म से सम्बन्ध होने पर उससे द्वितीया का प्रयोग किया गया है।

परन्तु दुर्घट्वृत्तिकार को यह मत मान्य नहीं, क्योंकि यदि यह समाधान माना जाए तो यहां बाद में उपदिष्ट 'कर्तृकर्मणोः···(२।३।६५) सूत्र द्वारा द्वितीया का बाध होकर कर्म में षष्ठी होगी। अतः इन वाक्यों में उद्दिश्य' पद का अध्याहार करना चाहिए। यह अध्याहृत 'उद्दिश्य' पद ही इन 'गम्' तथा 'विश्' धातुओं का (कां दिशं उद्दिश्य गन्तव्यम् इस रूप में) कर्म समझा जाना चाहिए। इस प्रकार सभा तथा दिशा रूप कर्म के 'तव्य' द्वारा अभिहित न होने पर उनसे द्वितीया का प्रयोग साधु माना जा सकेगा। परन्तु 'उद्दिश्य' पद की कर्मता अस्पष्ट है।

इस समस्या का दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'गत्यर्थ कर्मणि···' (२।३।१२) सूत्र में द्वितीया ग्रहण से षष्ठी का बाध होकर कर्म में द्वितीया हो जाएगी। तत्वबोधिनी में इस बात को स्वीकार किया गया है कि 'गत्यर्थ-कर्मणि···' सूत्र में आपाततः अनावश्यक 'द्वितीया' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अपवाद के विषय में भी द्वितीया ही होती है।[2] इसीलिए वृत्तिकार ने इस सूत्र की वृत्ति में कहा है कि 'ग्रामं मन्ता' जैसे प्रयोगों में 'कर्तृकर्मणोः···'

१. महाभाष्य, २।३।१, पृ० ७६२।
२. तत्वबोधिनी (भाग १), २।३।१२, पृ० ५६५।

सूत्र से होने वाली षष्ठी नहीं होती ।[1]

तीसरा समाधान यह दिया गया कि 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र में कृदन्त 'अर्हम्' पद के योग में द्वितीयान्त 'तत्' पद के प्रयोग से यह ज्ञापित होता है कि 'कर्तृकर्मणोः...' सूत्र अनित्य है। यदि यह नियम नित्य होता है तो 'अर्हम्' शब्द के योग में षष्ठ्यन्त 'तस्य' का प्रयोग किया जाता। अतः इस ज्ञापक द्वारा 'कर्तृकर्मणोः...' सूत्र का बाध होकर कर्म में द्वितीया हो जाएगी। इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापक समुच्चय में भी मिलता है ।[2]

भ्रान्तं देशम्

इसी प्रकार का दोष वैराग्यशतक के 'भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषयम्'[3] श्लोकांश में उपस्थित होता है, क्योंकि 'नपुंसके भावे क्तस्योपसंख्यानम्'[4] वार्तिक द्वारा 'भ्रान्त' पद में षष्ठी होनी चाहिए थी।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि महाभाष्य में इस वार्तिक का प्रत्याख्यान हो जाने के कारण शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी की प्राप्ति होगी ।[5] परन्तु 'षष्ठी शेषे' सूत्र के सामान्यविधायक होने के कारण विशेषविधायक 'कर्मणि द्वितीया' से उसका बाध होकर द्वितीया ही होगी।

वस्तुतः इस वार्तिक का अभिप्राय यह है कि 'छात्रस्य हसितम्' जैसे प्रयोगों में 'छात्र' के कर्ता होने के कारण उससे तृतीया की प्राप्ति होगी। वह न होकर 'छात्र' शब्द से षष्ठी हो, इसलिए वार्तिक बनाई गई। पर इसका प्रत्याख्यान करने वाली दूसरी वार्तिक 'शेषविज्ञानात्सिद्धम्' का अभिप्राय यह है कि षष्ठी की प्राप्ति तो शेषत्व की विवक्षा के आधार पर हो जाएगी और यदि कर्तृत्व की विवक्षा होगी तब तो वहां तृतीया ही होगी। अतः इस वार्तिक के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। काशिका आदि में इस बात का समर्थन किया गया है ।[6]

---

१. काशिका, २।३।१२, पृ० ५६५ ।
२. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ७६ ।
३. वैराग्यशतक, श्लोक २ ।
४. महाभाष्य, २।२।६७, वा० १ ।
५. महाभारत, २।३।६७, पृ० ८३७ ।
६. काशिका, २।३।६७ ।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस समस्या का दूसरा समाधान यह दिया है कि 'कालाध्वनो···' सूत्र द्वारा 'अध्व' (मार्ग) की विवक्षा में द्वितीया होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

उपर्युपरि बुद्धीनाम्

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते'[1] वार्तिक के 'आम्रेडितान्तेषु' पद के अनुसार जातकमाला के 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' वाक्य में आम्रेडितान्त पद 'उपर्युपरि' के योग में 'बुद्धि' शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया होनी चाहिए।

दुर्घटवृत्ति, शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि तथा तत्त्वबोधिनी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत समस्या का यह समाधान दिया गया है कि इस वाक्य में 'उपर्युपरि' शब्द आम्रेडितान्त के रूप में विवक्षित नहीं है। इन व्याख्याकारों की दृष्टि में 'उपरिबुद्धीनाम् उपरि ईश्वरबुद्धयः चरन्ति' इस तरह का अन्वय विवक्षित है तथा 'उपरिबुद्धीनाम्' का अर्थ है—उत्तरल (चंचल) बुद्धि वाले अथवा उत्तान (उलटी) बुद्धिवाले। इस प्रकार 'उपर्युपरि' पद के आम्रेडितान्त न होने के कारण 'बुद्धि' शब्द से द्वितीया की प्राप्ति नहीं होगी।[2] परन्तु इस प्रयोग का उपर्युक्त अन्वय तथा 'उपरि' शब्द का उत्तरल अथवा उत्तान अर्थ कोशों में नहीं पाया जाता। इसलिए यह सब व्याख्याकारों की खींचातानी ही प्रतीत होती है।

यावच्छीतम्

'यावच्छीतम्' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'यावत्' के योग में द्वितीया न होकर 'षष्ठी शेष' से षष्ठी होनी चाहिए।

दुर्घटवृत्ति, शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'उभसर्वतसोः···' श्लोकवार्तिक के 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' अंश में 'दृश्' धातु का ग्रहण तत्सदृश प्रयोगों के संग्रह के लिए किया गया है।[3] इसी प्रकार इस अंश के आधार पर 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्'[4]

---

१. महाभाष्य, २।३।२।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।२, पृ० २२३।
३. उपरिवत्।
४. पञ्चतंत्र, ४।१६।

श्लोकांश में 'प्रति' के योग में द्वितीया विभक्ति की साधुता प्रतिपादित हो जाएगी ।

पुरुषाराधनमृते

शिवमहिम्न स्तोत्र के 'पुरुषाराधनमृते'[1] श्लोकांश के 'कृते' पद के योग में 'अन्याराद्…' (२।३।२६) सूत्र से पञ्चमी होनी चाहिए थी । यहां भी यही कहा गया है कि 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' अंश द्वारा द्वितीया सिद्ध हो जायेगी ।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रसंग में 'कश्चित्' निर्देश द्वारा किसी विद्वान् का मत प्रस्तुत किया है कि 'कृते' के योग में द्वितीया होती है । परन्तु शरणदेव को यह मत मान्य नहीं, क्योंकि इस मत में 'अन्याराद्…' सूत्र द्वारा प्रतिपादित 'कृते' के योग में पञ्चमी के बाधनार्थ कोई हेतु नहीं दिया गया है । अतः इस मत में आवश्यक है कि 'द्वितीया श्रितातीत…'सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'द्वितीया' को 'कृते' के योग में द्वितीया विधायक मानना चाहिए । इसी दृष्टि से चान्द्र व्याकरण में 'ऋते' के योग में 'कृते द्वितीया च' (३।२।८४) सूत्र द्वारा साक्षात् द्वितीया का विधान किया गया है ।

पदमञ्जरी में इस प्रयोग को निरकुश प्रयोग कहा गया है ।[2] तत्वबोधिनी में 'अन्ये तु' निर्देश द्वारा' ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' वार्तिकांश में 'दृश्' ग्रहण से यह प्रयोग सिद्ध किया गया है ।[3]

वस्तुतः कुछ निपात जैसे कृते, यावत्, अमितः, परितः आदि के योग में द्वितीया का का प्रयोग होता था । वार्तिककार ने इन प्रयोगों की दृष्टि से कुछ का वार्तिक में परिगणन कर दिया तथा शेष शब्दों के लिए 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' कह दिया । इस कथन द्वारा द्वितीया विभक्ति वाले इस प्रकार के सभी अभीष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे ।

वाक्यस्मरणयोरङित्

'एतमातं ङित् वियाद्वाक्यस्मरणयोरङित्'[4] वार्तिक के 'अङित्' पद का सम्बन्ध 'विद्यात्' से है । अतः 'विद्यात्' क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण अथवा

---

१. शिवमहिम्न स्तोत्र, श्लोक २० ।
२. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।२६, पृ० ४३५ ।
३. तत्वबोधिनी (भाग १), २।३।२६, पृ० ५७२ ।
४. महाभाष्य, १।१।१४ ।

'विद्यात्' का कर्म होने से प्रथमान्त 'अङ्ित्' प्रयोग न होकर द्वितीयान्त 'अङि-तम्' होना चाहिए था।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहां 'अङित्' पद का सम्बन्ध 'विघात्' क्रिया से न होकर 'भवति' जैसी क्रिया से है जिसका अध्याहार करना अर्थ की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक है। साथ ही 'भवति' क्रिया का 'अङित्' पद कर्ता है, न कि कर्म। इसलिए इसका प्रथमान्त प्रयोग उचित है।

कालिदास तथा माघ के 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्'[1] तथा 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि स'[2] श्लोकांशों में यह दोष उपस्थित होता है कि 'विषवृक्ष' तथा 'नारद' पदों के अनभिहित होने के कारण उनसे प्रथमा न होकर द्वितीया होनी चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि प्रथम प्रयोग में 'संप्रति भवं साम्मतं न साम्प्रतमसाम्प्रतम्' व्युत्पत्ति के अनुसार 'असाम्प्रतम्' पद तद्धि-तान्त अव्यय है तथा इसी प्रकार दूसरे प्रयोग में 'इति' पद कृदन्त अव्यय है। इस प्रकार कृदन्त तथा तद्धितान्त पदों से 'नारद' तथा 'विषवृक्ष' शब्दों के अभि-हित होने के कारण उनसे द्वितीया नहीं होगी। रक्षित ने सम्भवतः 'अनभिहिते' सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया था कि अव्यय के द्वारा भी अभिहित होने पर द्वितीया नहीं होती। महाभाष्य में 'कृत्तद्धित···' वचन में केवल कृत्, तद्धित तथा समास के द्वारा अभिहित होने की जो बात कही गई है, उस विषय में रक्षित का विचार है कि प्रायः इन तीन के द्वारा ही अभिहित की स्थिति पाई जाती है, इसलिए इन्हीं का उल्लेख किया गया। अतः इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अव्यय के द्वारा अभिहित होने पर अभिहित की स्थिति मानी ही नहीं जाती।

भट्टोजिदीक्षित तथा मल्लिनाथ ने इन प्रयोगों के लिए यही समाधान दिया है।[3] मल्लिनाम ने इस प्रसंग में वामन रचित 'निपातेनाप्याभिहिते कर्मणि न विभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' सूत्र उद्धृत किया है।[4]

---

१. कुमारसंभव, २।५५।

२. शिशुपालवध, १।३।

३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), २।३।२, पृ० ५१७।

४. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, १।३।

अधिस्त्रि

यदि निपातों के द्वारा भी अभिधान होता है तो न्यासकार ने 'अव्ययं, विभक्ति···' (२।१।६) सूत्र की व्याख्या में 'अधिस्त्रि' प्रयोग का परिगणन क्यों स्वीकार किया ? परिगणन के अभाव में 'स्त्रियाम् अधि' प्रयोग में सप्तमी नहीं हो सकती थी।

इस प्रश्न के विषय में यह कहा गया है कि 'अभ्युपगम्यवाद (जैसा किसी ने कह दिया, उसी के कथन के अनुसार मान लेना) के अनुसार यह प्रयोग सिद्ध मान लिया जाएगा। न्यासकार ने परिगणन को स्वीकार करते हुए इस प्रयोग को साधु मान लिया है।

परिगणन को उपलक्षण मान लेने पर 'अधि' शब्द से उक्त होने पर भी यहां पर आधार में सप्तमी हुई है। शौण्डादिगण में पठति 'अन्तः' शब्द अधिकरण प्रधान माना गया है। इसका अर्थ है कि एक 'अन्तः' शब्द तो अधिकरण मात्र अर्थ वाला है तथा दूसरा अधिकरण प्रधान अर्थात् मध्य अर्थ वाला।

अपर्णामिति

परन्तु यदि यह मान लिया जाए कि निपात द्वारा अभिहित होने पर भी कर्म में द्वितीया नहीं होती तो कुमारसंभव के 'वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः'[1] श्लोकांश का 'अपर्णाम्' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा, क्योंकि 'अपर्णा' शब्द 'इति' निपात द्वारा अभिहित है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'इति' शब्द का प्रयोग 'अपर्णाम्' शब्द के पश्चात् न मानकर 'पुराविदः' के पश्चात् (पुराविद इति) समझना चाहिए।

मल्लिनाथ ने इस प्रयोग को असाधु माना है। उनकी दृष्टि में 'इति' शब्द से अभिहित होने के कारण यहां द्वितीया का प्रयोग अनुचित है।[2]

कुमारसंभव के 'तेराक्रमयाभास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः[3] श्लोकांश में 'क्रम्' धातु के गत्यर्थक होने के कारण 'गतिबुद्धि···' सूत्र द्वारा (ते शुद्धान्तं आचक्रमुः) अण्यन्त अवस्था के कर्ता 'ते' के कर्मसंज्ञक बन जाने से द्वितीया होकर 'तान्' प्रयोग बनना चाहिए।

---

१. कुमारसंभव, ५।२८।
२. मल्लिनाथ टीका, कुमारसंभव, ५।२८।
३. कुमारसंभव, ६।५२।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'क्रम्' धातु गत्यर्थक न होकर 'अवष्टम्भन' (स्थिरता) अर्थ वाली है। अतः 'ते' पद का कर्मसंज्ञक होने का प्रश्न ही नहीं बैठता। मल्लिनाथ ने भी यही कहा है।[1]

मन्ये धातुर्विभाषितः

'आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः' कारिकांश में मनन क्रिया के द्वारा व्याप्यमान (सम्बद्ध) होने के कारण उसके कर्म 'विभाषित' पद से द्वितीया होनी चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस वाक्यांश में 'विभाषित' शब्द कर्मसंज्ञक नहीं है अपितु यहां वाक्य का अर्थ कर्म है। द्वितीया विभक्ति का विधानङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक शब्दों से किया गया है न कि वाक्यार्थ से। अतः यहां पर द्वितीया की प्राप्ति नहीं होगी।

वक्ष्यति कर्मणि द्वितीया

काशिका का 'वक्ष्यति कर्मणि द्वितीया' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि सूत्रकार के वचन 'कर्मणि द्वितीया' के अनुकार्य होने के कारण 'कर्मणि द्वितीया इति वक्ष्यति' इस प्रकार यहां पर 'इति' अव्यय का प्रयोग होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि अनुकार्य और अनुकरण में अभेद की विवक्षा मानने पर अनुकरण की अर्थवत्ता नहीं रहेगी। अतः यह प्रयोग साधु है।

पक्त्वौदनो भुज्यते

'पक्त्वौदनो भुज्यते' प्रयोग के विषय में यह विचारणीय है कि 'पच्' क्रिया के द्वारा कर्म (ओदन) के अनभिहित होने के कारण 'ओदन' शब्द से द्वितीया होनी चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस वाक्य में 'पच्' क्रिया की अपेक्षा 'भुज्' क्रिया प्रधान है। अतः उसकी दृष्टि से ही कर्म के अभिहित अथवा अनभिहित होने का निर्णय करना होगा। यहां प्रधान क्रिया 'भुज्' के द्वारा कर्म के अभिहित होने से द्वितीया का प्रसंग ही नहीं होगा।

सुधिनिधि में भी यही कहा गया है कि प्रधान क्रिया से निरूपित शक्ति के द्वारा ही अभिधान अथवा अनभिधान का निर्णय किया जाता है तथा उसके अनु-

---

१. मल्लिनाथ टीका, कुमारसंभव, ६।५२।

अनुसार ही उसकी कार्य में प्रवृत्ति होती है ।[1]

ग्रामो गन्तुमिष्यते

इसी प्रकार 'ग्रामो गन्तुमिष्यते' तथा 'पच्यते ओदनो भोक्तुम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएंगे। इन वाक्यों में भी 'इष्' तथा 'पच्' धातुओं के प्रधान होने के कारण उनके द्वारा कर्म (ग्राम तथा ओदन) के अभिहित होने पर प्रथमा ही होगी।

कुमारसंभव के 'ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुच: स्मितस्य'[2] श्लोकांश का 'स्मितस्य' पद चिन्त्य है, क्योंकि 'अनुकुर्यात्' क्रिया से 'स्मित' कर्म के अभिहित होने के कारण उससे षष्ठी न होकर द्वितीया होनी चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'भाषाणामश्नीयात्' प्रयोग के समान यहां पर शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी ही जाएगी। मल्लिनाथ ने भी यही समाधान दिया है।[3]

अन्तरान्तरेणयुक्ते २।३।४

आवयोरन्तरा वेदिः

'अन्तरा…' सूत्र 'अन्तरा' तथा 'अन्तरेण' 'निपातों के योग में द्वितीया विभक्ति का विधान करता है। 'अन्तरा' शब्द आधेयप्रधान अर्थ का वाचक है तथा 'अन्तरेण' पद मध्य और बिना अर्थ का।[4] इस नियम के अनुसार 'आवयोरन्तरा वेदि:' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर इस सूत्र द्वारा 'अस्मद्' शब्द से द्वितीया होनी चाहिए थी।

दुर्घटवृत्तिकार का इस विषय में यह कहना है कि इस सूत्र द्वारा 'अन्तरा' निपात के योग में द्वितीया का विधान उस स्थिति में किया गया है जब 'अन्तरा' निपात सावधारण अवधि से युक्त मध्य अर्थ का वाचक हो, जैसे 'त्वां च मां चान्तरा कमण्डलु:'। इस वाक्य में 'अन्तरा' शब्द 'त्वाम्' तथा 'माम्' पदों के सावधारणात्मक अवधि से युक्त मध्य अर्थ का वाचक है, परन्तु 'आवयोरन्तरा वेदि:' वाक्य में निश्चित रूप से अवधि का बोध नहीं होता। अत:

---

१. सुधानिधि, २।३।१, पृ० १०२७।
२. कुमारसंभव, १।४४।
३. मल्लिनाथ टीका, कुमारसंभव १।४४।
४. काशिका, २।३।४।

यहां पर शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी ही होगी।

सूत्रस्थ 'अन्तरा' शब्द के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि करते हुए शरणदेव ने कहा है कि 'अन्तरा…' सूत्र में 'तृतीया च होश्छन्दसि' (२।३।३) सूत्र से 'च' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिसे अनुन्यासकार ने 'एव' अर्थ का वाचक माना है। 'एव' का अर्थ अवधारण मानकर इस सूत्र का अर्थ होगा—सावधारण अवधि युक्त मध्य अर्थ होने पर ही द्वितीया होती है। सुधानिधि में भी कहा गया है कि मध्य की अपेक्षा होने पर अवधित्व की विवक्षा में ही द्वितीया होती है।[1]

परन्तु यदि यह माना जाए तो भट्टि का 'वैदेहीमन्तरा क्रुद्धः'[2] प्रयोग साधु नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहां पर सावधारणात्मक अवधि से युक्त मध्य अर्थ का बोध नहीं हो रहा है।

'पक्षान्तरे परिहाराः भवन्ति' न्याय के अनुसार शरणदेव ने यहां उन विद्वानों का आश्रय लेकर इस प्रयोग को साधु माना है जो 'अन्तरा' का अर्थ सामान्य रूप से मध्य करते हैं। यहां दुर्घटवृत्तिकार ने 'केचित्' निर्देश द्वारा जिन विद्वानों की ओर संकेत किया है उनमें काशिकाकार तथा जयमंगलाटीकाकार भी आते हैं।[3]

'अन्तरा' शब्द को सामान्य रूप से मध्य अर्थ का वाचक मानते हुए 'आवयोरन्तरा वेदिः' प्रयोग इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि 'अन्तरा' शब्द को निपात न मानकर 'अन्तर' शब्द का स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्ययान्त रूप माना जाए, जो मध्यवर्ती अर्थ का वाचक है।[4] परन्तु न्यास, शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा, तत्वबोधिनी आदि सभी ग्रन्थों में यह माना गया है कि इस सूत्र में अस्त्रीप्रत्यान्त 'अन्तरेण' निपात के सहचर्य से अस्त्रीवाचक 'अन्तरा' शब्द का ही ग्रहण अभिप्रेत है। अतः 'अन्तरा' को निपात मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में आवयोरन्तरा वेदिः, प्रयोग को असाधु मानना होगा।[5] साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि दुर्घटवृत्तिकार ने 'अन्तरा' शब्द का जो अर्थ किया है इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त पूर्वसूत्र से जो चकार की अनुवृत्ति की बात है, उसे भी किसी ने नहीं माना है। अतः काशिका आदि का मत ही मान्य है।

---

१. सुधानिधि, २।३।४, पृ० १०४३।
२. भट्टिकाव्य, ८।६४।
३. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ८।६४।
४. दुर्घटवृत्ति, पृ० ४७, पादटिप्पण १।
५. न्यास (भाग १), २।३।४, पृ० ४०१।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२

यानेन वनस्य

'गत्यर्थकर्मणि···' सूत्र द्वारा चेष्टा तथा परिस्पन्दन क्रिया वाली गत्यर्थक धातुओं से कर्मकारक में द्वितीया तथा चतुर्थी का विधान किया गया है, यदि कर्म मार्गवाचक शब्द न हो। द्वितीया विभक्ति द्वारा 'कर्तृकर्मणो···' सूत्र के 'कृत्' के योग में अपवाद रूप षष्ठी के निवारण के लिए ही यहां सूत्र में 'द्वितीया' पद का सन्निवेश किया गया। यदि यह प्रयोजन न होता तो सूत्रकार 'गत्यर्थ कर्मणि चतुर्थी वा' सूत्र न्यास को ही अपनाता।[1] काशिकाकार ने भी इस बात को स्पष्टतः स्वीकार किया है।[2] इस सूत्र के विषय में कर्तृकर्मणोः···' सूत्र अपवाद होकर भी उपस्थित नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र के अनुसार भट्टिकाव्य के 'यानेन वनस्य'[3] श्लोकांश में गत्यर्थक 'या' धातु के योग में कर्मसंज्ञक 'वन' शब्द से षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य है।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रश्न के उत्तर के रूप में महाभाष्य में किए गए सूत्र के प्रत्याख्यान की ओर संकेत किया है। महाभाष्य में कहा गया है कि क्रियाएं संदर्शन, प्रार्थना, अध्यवसाय आदि अपनी पृष्ठभूमि में विद्यमान क्रियाओं से व्याप्यमान (सम्बद्ध) होती हैं अर्थात् किसी भी क्रिया से पहले कर्ता बुद्धि द्वारा विचार (संदर्शन), इच्छा (प्रार्थना) करने का निश्चय अध्यवसाय आदि करता है, फिर गमन आदि कार्य आरम्भ करता है। यदि प्रतीयमान इन संदर्शन आदि क्रियाओं को गमन आदि क्रियाओं से भिन्न माना जाए तो गमन आदि क्रियाएं इन क्रियाओं द्वारा ईप्सिततम होने के कारण संदर्शन आदि क्रियाओं का कर्म बनती हैं। उस स्थिति में कर्मभूत गमन के द्वारा ग्राम आदि अभिप्रेयमाण हैं। इसलिए ग्राम आदि की 'कर्मणा यमभिप्रैति···' (१।४।३२) सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी सिद्ध हो जाएगी।[4]

परन्तु यदि भेद की विवक्षा न होकर अभेद की विवक्षा होगी तो उस स्थिति में प्रार्थना आदि क्रियाओं को गमन आदि क्रियाओं से भिन्न न मानने के कारण उनके प्रति गमन आदि क्रियाएं कर्म नहीं बन सकती। तब गमन क्रिया के

---

१. तत्वबोधिनी (भाग १) २।३।१२, पृ० ४६५।
२. काशिका, २।३।१२।
३. भट्टिकाव्य, ३।१३।
४. महाभाष्य, १।४।३२, पृ० ४०२।

व्याप्यमान होने के कारण ग्राम आदि की कर्म संज्ञा हो जाएगी तथा 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया हो सकेगी ।

इस प्रकार 'गत्यर्थकर्मणि···' सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है। इस आधार पर शरणदेव का विचार है कि 'गत्यर्थकर्मणि···' सूत्र सामर्थ्य रहित है। अतः 'यान' शब्द के उपर्युक्त प्रयोग में 'कर्तृकर्मणो···' सूत्र से षष्ठी की प्राप्ति हो जाएगी तथा उसे 'गत्यर्थकर्मण···' सूत्र बोध नहीं हो सकेगा ।

परन्तु महाभाष्य द्वारा किए गए इस सूत्र के प्रत्याख्यान की बात अन्य किसी वैयाकरण ने सिद्धान्त रूप से नहीं मानी है। इसलिए काशिका, सिद्धान्तकौमुदी तथा इनके व्याख्याकारों के मतानुसार तो 'यानेन बनाय' तथा 'यानेन वनम्' प्रयोग ही बनने चाहिएं ।

कैयट ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि भेद अथवा अभेद की विवक्षा लौकिक प्रयोगों के अनुसार होने के कारण नियत विषय वाली है। अतः प्रत्याख्यान करने का फल यह नहीं है। अपवाद के विषय में भी, 'गत्यर्थकर्मणि···' सूत्र में 'द्वितीया' पद के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'कर्तृकर्मणोः···' सूत्र से प्राप्त षष्ठी का बाध हो जाता है, सूत्र की यह व्याख्या नहीं की जा सकती ।[1] नागेश ने स्पष्ट कहा है कि पतञ्जलि के अनुसार 'ग्रामस्य गन्ता' आदि प्रयोगों में षष्ठी ही होगी ।[2]

अजां नयति ग्रामम्

यदि प्रत्याख्यान की बात मानी जाए तो 'अजां नयति ग्रामम्' जैसे प्रयोगों में भी प्रत्याख्यान पद्धति के अनुसार नयन आदि क्रियाओं तथा प्रार्थना आदि पूर्ववर्ती क्रियाओं में अभेद मानकर प्रार्थना आदि के कर्मभूत 'नयन' क्रिया द्वारा अभिप्रेत 'ग्राम' आदि से चतुर्थी की प्राप्ति होने लगेगी ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि इस प्रयोग में चतुर्थी का प्रयोग देखा ही नहीं जाता। अतः अभिधान के अभाव में चतुर्थी नहीं होगी ।

न्यास, तत्वबोधिनी आदि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इस सूत्र को अप्रत्याख्यात मान कर इस प्रयोग के लिए यह समाधान दिया गया है कि 'नी' धातु प्रधानतः गत्यर्थक नहीं है। जब धातु का मुख्य अर्थ पादविहरणात्मक गति रूप चरणप्रक्षेप पूर्वक होता है, तब ही 'गत्यर्थकर्मणि' सूत्र अपना कार्य करता

१. प्रदीप, महाभाष्य, २।३।१२, पृ० ७८३ ।
२. उद्योत, महाभाष्य, २।३।१२, पृ० ७८४ ।

है।[1] प्रदीप में भी, विकल्प के रूप में, यह समाधान दिया गया है।[2]

शोभनं ग्रामं गच्छति

'शोभनं ग्रामं गच्छति' प्रयोग को सिद्ध करते हुए यह कहा गया है कि जब केवल भेद की विवक्षा होगी; तब संदर्शन आदि क्रियाओं के प्रति गमन क्रिया कर्म होगी तथा गमन क्रिया से अभिप्रेयमाण ग्राम की सम्प्रदान संज्ञा हो जाएगी। परन्तु अभेद पक्ष में तो गमन क्रिया के प्रति ग्राम ही कर्म होगा और द्वितीया हो जाएगी। यहां यह समझ में नहीं आता कि इस प्रयोग के लिए भेदविवक्षा मानने की आवश्यकता ही क्या है क्योंकि यह प्रयोग अभेद पक्ष द्वारा ही सिद्ध हो जाता है।

तस्याभिगमनाय

भट्टि के 'तस्याभिगमनाय' प्रयोग में भी 'यानेन वनस्य' के समान समस्या उपस्थित होती है। सूत्र का प्रत्याख्यान मानने पर यहां भी षष्ठी साधु मानी जाएगी। शरणदेव ने इस विषय में पुरुषोत्तमदेव के नाम से कहा है कि यहां पर शेष पष्ठी हो जाएगी परन्तु यह मत भाषावृत्ति में 'गत्यर्थकर्मणि···' सूत्र की व्याख्या में नहीं मिलता।

चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३

कामस्य

'चतुर्थी सम्प्रदाने' सूत्र द्वारा सम्प्रदान कारक में चतुर्थी का विधान किए जाने के कारण 'कामस्यास्य विवेकशून्यमनसो मा देहि' श्लोकांश के 'कामस्यास्य' तथा 'विवेकशून्यमनसः' प्रयोगों में षष्ठी की स्थिति विचारणीय है क्योंकि 'कर्मणा यमभिप्रेति···' (१।४।३२) सूत्र द्वारा 'काम' तथा 'विवेकशून्यमनस्' की सम्प्रदान संज्ञा होने के कारण 'चतुर्थी सम्प्रदाने' सूत्र से चतुर्थी होनी चाहिए थी।

इन प्रयोगों के साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि यहां पर शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

हितमात्मनः

'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या'[3] वार्तिक की दृष्टि से 'हितमात्मनः' 'रोगिणां

---

१. न्यास (भाग १), २।३।१२, पृ० ४०६।
२. प्रदीप, महाभाष्य, २।३।१२, पृ० ७८४।
३. महाभाष्य, २।३।१३।

हितमौषधम्' तथा 'प्रामाद्य द् गुणिनां हिते'[1] प्रयोगों में षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य है।

ज्ञापकसमुच्चय में 'प्रामाद्य द् गुणिनां हिते' तथा दुर्घटवृत्ति में इन सभी प्रयोगों के सम्बन्ध में यह समाधान दिया गया है कि 'हितं भक्षाः' (४।४।६५) सूत्र में 'तदस्य पण्यम् (४।४।५१) सूत्र से 'तदस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस अनुवृत्ति से यह ज्ञापित होता है कि 'हित' के योग में शेष षष्ठी भी होती है। इस ज्ञापक द्वारा उपर्युक्त सभी प्रयोग साधु माने जा सकेंगे।[2]

परन्तु काशिका, न्यास, तत्वबोधिनी आदि में 'हितं भक्षाः' सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'हितयोगे चतुर्थी भवति' वार्तिक के विधान रूप सामर्थ्य से षष्ठ्यन्त पद 'तदस्य' का चतुर्थी विभक्ति में विपरिणाम कर लिया जाएगा। इस विपरिणाम का प्रयोजन यही है कि 'हित' के योग में षष्ठी न हो सके।[3] पदमञ्जरी में विभक्तिविपरिणाम की बात नहीं मानी गई तथा यह कहा गया है कि 'तदस्य' की अनुवृत्ति उसके अधिकार मात्र की अपेक्षा से मानी गई है।[4]

दुर्घटवृत्तिकार ने उपर्युक्त मत की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इस प्रकार विभक्ति विपरिणाम नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि सूत्रकार को ऐसा अभीष्ट होता तो वह 'तदस्मै नियुक्तम्' के 'अस्मै' ग्रहण से ही काम चला लेते।

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २।३।१६

नमस्कृत्य मुनित्रयम्

'नमः स्वस्ति...' सूत्र द्वारा 'नमस्', 'स्वस्ति' आदि शब्दों के योग में चतुर्थी का विधान किए जाने के कारण 'नमस्कृत्य मुनित्रयम्' प्रयोग में 'नमस्' के योग में 'मुनित्रय' शब्द के साथ द्वितीया का प्रयोग विचारणीय है। सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ, धातुवृत्ति आदि ग्रंथों में इसी प्रकार के प्रयोग 'नमस्करोति देवान्' के विषय में विचार किया गया है। महाभाष्य में भी

१. भट्टिकाव्य, १७।३६।
२. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ७८।
३. काशिका, ४।४।६५।
४. पदमञ्जरी (भाग २), ४।४।६५, पृ० २११।

इन्हीं प्रयोगों के सदृश 'नमस्यति देवान' पर उपर्युक्त समस्या प्रस्तुत की गई है।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार 'नमस्कृत्य' प्रयोग में 'करोति' क्रिया 'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति' परिभाषा के अनुसार क्रियासामान्य का वाचक होते हुए 'प्रणति' (प्रणाम) की वाचक है तथा 'उपसर्ग तथा निपात अर्थ के द्योतक होते हैं' नियम के अनुसार 'नमस्' शब्द भी उसी अर्थ अर्थात् प्रणति का द्योतक है। इस प्रकार 'नमस्' तथा 'प्रणति' दोनों में द्योतकद्योत्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को मान कर 'कृञ्' के योग में 'साक्षात्प्रभृतीनि च' (१।४।७४) सूत्र द्वारा 'नमस्' की विकल्प से गति संज्ञा होती है। यहां से तथा इसी सूत्र के एक अन्य स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्घटवृतिकार द्योत्यद्योतक सम्बन्ध होने पर 'नमस्' आदि की 'साक्षात् प्रभृतीनि च' सूत्र से गति सज्ञा होती है, ऐसा मानते हैं। परन्तु इस बात का स्पष्ट उल्लेख अन्य किसी व्याख्याकार ने नहीं किया है। गतिसंज्ञा के पक्ष में 'नमस्पुरसो...' (८।३।४०) सूत्र से 'नमः' के विसर्ग को सत्व की प्राप्ति हो जाती है। यहां 'मुनित्रय' के नमस्य होने के कारण 'मुनित्रय' की कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीय विभक्ति हो जाएगी। यह द्वितीया विभक्ति कारक विभक्ति है। अतः 'नमः स्वस्ति...' से प्राप्त उपपद विभक्ति चतुर्थी का 'उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तीर्बलीमयसी[1] परिभाषा के अनुसार बाध हो जाएगी।

महाभाष्य में भी 'देवान् नमस्यति' प्रयोग की सिद्धि के लिए 'उपपद-विभक्ते···' परिभाषा का आश्रय लिया गया है। धातुवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में भी महाभाष्य का ही अनुसरण किया गया है।[2]

प्रणम्य शितिकण्ठाय

'नमः स्वस्ति...' सूत्र 'नमस्' के योग में चतुर्थी का विधान करता है, न कि 'नम्' धातु के योग में। इसलिए कुमारसंभव के 'प्रणम्य शितिकण्ठाय'[3] प्रयोग में 'शितिकण्ठ' शब्द से चतुर्थी का प्रयोग विचारणीय है। 'शितिकण्ठ' प्रणाम क्रिया का कर्म है, इसलिए उससे द्वितीया होनी चाहिए। यदि कथ-ञ्चित् 'नमः स्वस्ति...' सूत्र को 'नम्' धातु के योग में भी चतुर्थी का विधायक

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या, १०३।
२. धातुवृत्ति, पृ० २७६।
३. कुमारसंभव, ६।८१।

मान लिया जाए, जैसाकि दुर्घटवृत्तिकार की कल्पना है, तो भी उपर्युक्त पद्धति से 'उपपद विभक्ति...' परिभाषा के अनुसार द्वितीया विभक्ति के कारक विभक्त होने के कारण द्वितीया का ही प्रयोग उचित माना जाएगा।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'शितिकण्ठ' की कर्मसंज्ञा होने पर भी 'माषाणामश्नीयात्' प्रयोग के सामान शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी की प्राप्ति होगी, परन्तु उसका बाध हो कर नमःस्वस्ति···' सूत्र से चतुर्थी हो जाएगी। लेकिन यह सामाधान कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'नमः स्वस्ति···' सूत्र 'नमस्' के योग में चतुर्थी का विधान करता है।

दूसरा समाधान महाभाष्यकार के वचन 'क्रिया ग्रहणं कर्तव्यम्' का आश्रय लेकर यह दिया गया है कि 'कर्मणा यमभिप्रेति···' सूत्र में कर्म शब्द से क्रिया का भी ग्रहण किया जाता है। काशिका में 'कर्मणा यमभिप्रेति···' सूत्र पर 'क्रियापि यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' वार्तिक मिलती है। इस वार्तिक अथवा वचन द्वारा नमन क्रिया से अभिप्रेयमाण 'शितिकण्ठ' की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी हो सकेगी।

तीसरा समाधान यह दिया गया कि 'प्रणम्य' विभक्ति-प्रतिरूपक निपात है जो 'नमस्' का पर्यायवाची है। इन तीनों समाधानों में द्वितीय समाधान ही बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है। ऊपर 'नमस्कृत्य' प्रयोग में द्वितीया की सिद्धि 'नमस्' को द्योतक तथा गतिसंज्ञक मान कर की गई है। 'साक्षात्प्रभृतीनि च' सूत्र विकल्प से गति संज्ञा करता है। इसलिए जब गति सज्ञा नहीं होगी तब 'नमस्' शब्द 'करोति' क्रिया के कर्म तथा विशेषणभूत प्रणाम अर्थ का वाचक होगा, द्योतक नहीं। अतः यहां 'नमस्' के योग में चतुर्थी का प्रयोग होगा ही, जैसा कि भाट्टि ने किया है—'रावणाय नमस्कुर्याः'[1] तथा 'नमश्चकार देवेभ्यः'।[2]

परन्तु इस प्रक्रिया में यह विचारणीय है कि यदि 'नमस्' की गति संज्ञा नहीं होगी तो फिर इन प्रयोगों में 'सत्व' की प्राप्ति कैसे साधु मानी जाएगी। दुर्घटवृत्तिकार का ध्यान संभवतः इस प्रश्न की ओर नहीं गया। शब्दकौस्तुभ में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन प्रयोगों में चतुर्थी का विधान

१. भट्टिकाव्य, ८।९८।
२, उपरिवत् १४। १८।

'नमःस्वस्ति···' सूत्र से न मान कर 'क्रियार्थोपपदस्य (२। ३। ६४)···' सूत्र से मानना उचित है ।[1]

ममायं प्रभुः

'अलमिति पर्याप्त्यर्थस्य ग्रहणम्'[2] वार्तिक द्वारा 'प्रभुर्मल्लो मल्लाय' प्रयोग में प्राप्त्यर्थक 'प्रभु' शब्द के योग में मल्ल पद से चतुर्थी हुई है। अतः इस वार्तिक के अनुसार 'ममायं प्रभु' प्रयोग में भी 'अमस्द्' शब्द से चतुर्थी होनी चाहिए।

शरणदेव ने इस समस्या का समाधान महाभाष्य की द्विविध व्याख्या का आश्रय लेकर दिया है। महाभाष्य में इस वार्तिक की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। प्रथम व्याख्या के अनुसार सूत्रस्थ 'अलम्' शब्द के द्वारा पर्याप्ति अर्थ वाले शब्दों का ग्रहण करना चाहिए। इसके अनुसार 'प्रभुर्मल्लो मल्लाय' प्रयोग में चतुर्थी की प्राप्ति हो जाती है। वार्तिक की दूसरी व्याख्या में कहा गया है कि यहां पर्याप्ति अर्थ वाले स्वरूपतः 'अलम्' शब्द का ग्रहण अभिप्रेत है। इस अर्थ के अनुसार 'अलं बाल ! रोदनेन' प्रयोग में चतुर्थी की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि यहां पर 'अलम्' शब्द पर्याप्त अर्थ वाला न होकर निषेध अर्थ वाला है।[3] इसी प्रकार इस द्वितीय व्याख्या के अनुसार 'ममायं प्रभुः' प्रयोग में भी चतुर्थी की प्राप्ति नहीं होगी अपितु प्रभ्वादि के योग में षष्ठी होगी। परन्तु प्रथम व्याख्या के अनुसार तो चतुर्थी ही होगी। सूत्रकार ने भी 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः' (५।१।१०१) तथा 'स एषां ग्रामणीः' (५।२।७८) सूत्रों में क्रमशः चतुर्थ्यन्त तथा षष्ठ्यन्त निर्देशों द्वारा प्रभ्वादि के योग में चतुर्थी तथा षष्ठी का प्रयोग स्वीकार किया है। भट्टि ने भी 'नाप्रोथीदस्य कश्चन'[4] तथा 'पुप्रोधास्मै न कश्चन्'[5] प्रयोगों में प्राप्त्यर्थक 'प्रोथ्' धातु से चतुर्थी तथा षष्ठी दोनों का प्रयोग किया है।

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।१६, पृ० २२८।
२. महाभाष्य, २।३।१६।
३. महाभाष्य, २।३।१६, पृ० ७८८।
४. भट्टिकाव्य, १४। ४०।
५. उपरिवत् १४।८४।

कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८

अधिपतिना

'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र अनुक्त कर्ता तथा करण में तृतीया का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भारवि के 'के नीरन्ध्रे गतवति संक्षयं पृषत्कै-र्भूतानामधिपतिना शिलाविताने[1] श्लोकांश में 'अधिपति' शब्द से तृतीया का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'अधिपति' न तो कर्ता है और न करण ही। 'तयोरेव कृत्य…' (३। ४। ७०) तथा 'कर्तरिकृत' (३।४। ६७) सूत्रों के अनुसार 'क्तवतु' प्रत्यय का विधान कर्ता में किया गया है। यहां श्लोक में 'शिलावितान' कर्ता है तथा 'पृषत्कैः करण'। यदि 'गतवति' शब्द में 'गम् धातु 'णिच्' अर्थ वाली भी मानी जाए तो भी 'क्तवतु' प्रत्ययान्त 'गतवति' के द्वारा 'अधिपति' अभिहित हो जाता है। अतः उसके उक्त होने के कारण उससे तृतीया नहीं हो सकती।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'हेतौ' (२।३।२३) सूत्र द्वारा तृतीया माननी चाहिए।

एकाकिना न गन्तव्यम्

इसके बाद दुर्घटवृत्तिकार ने 'एकाकिना न गन्तव्यम्' प्रयोग को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु यहां 'तव्य' प्रत्यय के द्वारा कर्म के कहे जाने के कारण कर्ता 'एकाकी' तो अनभिहित है। इसलिए उससे तृतीया का प्रयोग उचित ही है।

उत्तरेण

मेघदूत के 'धनपतिगृहादुत्तरेण'[2] श्लोकांश में 'उत्तर' पद के कर्ता अथवा करण कुछ भी न होने के कारण उससे तृतीया का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रयोग के साधुत्व के लिए तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'उत्तरेण' पद तृतीयान्त न होकर विभक्तिप्रतीरूपक निपात है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'उत्तर' शब्द को प्रकृत्यादिगण में पठित मान कर 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्'[3] वार्तिक द्वारा इससे तृतीया हो

---

१. किरातार्जुनीयम्, १७।६१।
२. मेघदूत, उत्तरमेघ, ७४।
३. महाभाष्य, २३।१८।।

जाएगी । तत्वबोधिनी में इस गण को आकृतिगण माना गया है ।[1]

यदि केवल पाणिनि को ही प्रमाण माना जाए तो इस पक्ष की दृष्टि से शरणदेव ने तीसरा समाधान यह दिया कि 'पथा' पद का अध्याहार करके 'उत्तरेण' पद का अर्थ 'उत्तरेण पथा गत्वा' करना चाहिए । इस प्रकार करण 'पथा' के विशेषण रूप 'उत्तरेण' पद के साथ भी तृतीया हो जाएगी ।

इस प्रसंग में शरणदेव ने 'उत्तरेण' शब्द में 'एनप्' प्रत्यय की कल्पना करके प्रस्तुत समस्या के समाधानकर्ताओं के मत का खण्डन यह कह कर कर दिया है कि यदि यहां 'एनप्' प्रत्यय माना जाता तो 'धनपतिगृह' शब्द से 'एनपा द्वितीया' (२।३।३१) सूत्र के अनुसार द्वितीया होनी चाहिए ।

शब्दकौस्तुभ, तत्वबोधिनी तथा सुधानिधि में भी 'एनपा द्वितीया'(२।३।३१) सूत्र की व्याख्या में 'उत्तरेण' पद को श्लोक की दूसरी पंक्ति 'दूराल्लक्ष्यं सुरपति-धनुश्चारुणा तोरणेन' के 'तोरणेन' पद के विशेषण के रूप में तृतीयान्त पद माना गया है ।[2]

परन्तु मेघदूत के कुछ संस्करणों में 'धनपतिगृह' शब्द का द्वितीयान्त प्रयोग ही उपलब्ध होता है तथा मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या में 'उत्तरेण' पद को 'एनम्' प्रत्यान्त तथा 'धनपतिगृह' शब्द को द्वितीयान्त माना है ।[3] शब्दकौस्तुभ आदि में, दूसरे समाधान के रूप में, मल्लिनाथ के मत को स्वीकार किया गया है ।[4]

पदमञ्जरी में इस प्रयोग को चिन्त्य कहा गया है ।[5] सुधानिधि में अन्य समाधान देने से पूर्व इस प्रयोग को प्रमाद कहा गया है ।

उच्चारणार्थवर्णान्तिर्भाविण भक्तिः

कुटादि सूत्र की व्याख्या में रक्षित द्वारा प्रयुक्त 'उच्चारणार्थ··· वर्णान्तिर्भाविण' प्रयोग में 'भाव' पद के साथ तृतीया का प्रयोग विचारणीय है ।

इस प्रयोग को दो प्रकार से सिद्ध किया गया है । प्रथम यह कि 'भाव' पद को प्रकृत्यादिगण में निर्दिष्ट मान कर प्रकृत्यादिभ्यः····' वार्तिक द्वारा

१. तत्वबोधिनी (भाग १), २।३।१८, पृ० ५४७ ।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।३१, पृ० २३३ ।
३. मल्लिनाथ टीका, मेघदूत, उत्तरमेघ, ७९ ।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।३१, पृ० २३३, ।
५. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।३१, पृ० ४३५ ।

तृतीया हो जायेगी ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर तृतीया विभक्ति 'इत्थंभूत-लक्षणे···' (२।३।२१) सूत्र द्वारा हुई है ।

प्रभूयते भृत्यः

भाव में सर्वत्र एकवचन का प्रयोग होने के कारण, एकवचन के उत्सर्ग होने से उसके द्वारा कर्ता अनुक्त रहता है । अतः अनुक्त कर्ता से तृतीया की प्राप्ति होने के कारण 'प्रभूयते भृत्यः' प्रयोग में 'भृत्य' शब्द के साथ प्रथमा का प्रयोग चिन्त्य है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'प्रभूयते' पद 'सार्वधातुके यक्' (२।३।६७) सूत्र द्वारा भाव में 'यक्' होकर सिद्ध नहीं हुआ है, अपितु 'प्रभुरिवाचरतीति प्रभु' व्युत्पत्ति के अनुसार 'कर्तुः क्यङः···' (३।२।११) सूत्र से आचार अर्थ में 'क्यङ' होकर निष्पन्न हुआ है । अतः यहां पर तृतीया का प्रश्न ही नहीं उठता ।

ग्रामं गन्तुमुपक्रम्यते

इसी प्रकार कर्मवाच्य के इस प्रयोग 'ग्रामं गन्तुमुपक्रम्यते देवदत्तः' में 'देवदत्त' शब्द से प्रथमा का प्रयोग विचारणीय है । यहां पर 'देवदत्त' कर्ता के अनभिहित होने के कारण उससे तृतीया होनी चाहिए ।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यह प्रयोग कर्मवाच्य का न होकर कर्तृवाच्य का है । 'क्रम्' धातु से 'प्रोपाभ्यां' (१।३।४२) सूत्र द्वारा आत्मनेपद होकर तथा 'वा भ्राश···' (३।१।७०) सूत्र से 'श्यन्' के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हुआ है ।

सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९

सह लक्ष्मणेन

'सहयुक्ते···' सूत्र द्वारा 'सह' अर्थ से युक्त होने पर अप्रधान में तृतीया का विधान किया गया है । इस नियम के अनुसार भट्टिकाव्य के 'प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्टमेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन[1] श्लोकांश में 'सह' पद के योग में लक्ष्मण के साथ तृतीय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि शत्रुघ्न की अपेक्षा लक्ष्मण के के ज्येष्ठ होने के कारण वह (लक्ष्मण) प्रधान है । इसलिए तृतीया 'लक्ष्मण' शब्द से न होकर 'शत्रुघ्न' शब्द से होनी चाहिए थी ।

---

१. भाट्टकाव्य, १।१४।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि क्रिया मुख्यतः जिससे सम्बन्धित होती है उसी के प्राधान्य का इस सूत्र में ग्रहण किया गया है। काशिका, न्यास पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ आदि सभी ग्रन्थों में इस बात को माना गया है।[1] दुर्घटवृत्तिकार ने उपर्युक्त समस्या की दृष्टि से जयमंगला को उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय यह है कि शत्रुघ्न के लक्ष्मण की अपेक्षा छोटे होने पर भी प्रसवन क्रिया का मुख्य रूप से शत्रुघ्न के साथ सम्बन्ध है। अत: यहां शत्रुघ्न की अपेक्षा लक्ष्मण अप्रधान है। इस प्रकार 'लक्ष्मण' पद से तृतीया का प्रयोग साधु है। परन्तु जयमंगला टीका के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में इस प्रकार का कोई कथन नहीं मिलता। हां, भट्टिकाव्य की दूसरी टीका चन्द्रकला-विद्योतिनी में इस प्रकार का मत अवश्य मिलता है।[2]

शशिना सह

इसी प्रकार कुमारसंभव के 'शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तटित्प्रलीयते'[3] श्लोकांश में तथा 'उपाध्यायेन सहागताश्छात्रा:' वाक्य में क्रमश: 'शशि' तथा 'उपाध्याय' शब्दों के साथ तृतीया का प्रयोग इसलिए सिद्ध हो जाएगा क्योंकि कौमुदी की अपेक्षा चन्द्रमा तथा छात्रों की अपेक्षा उपाध्याय के प्रधान होने पर भी 'या' तथा 'गम्' क्रियाएँ मुख्यतः कौमुदी तथा छात्रों के साथ ही सम्बन्धित हैं।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २।३।२५

'विभाषा गुणे…' सूत्र स्त्रीलिंग को छोड़कर अर्थात् पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में, हेतु अर्थ होने पर, गुणवाचक शब्दों से विकल्प द्वारा पञ्चमी का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'इह भूतले घटो नास्त्यनुपलब्धे.' वाक्य में 'अनुपलब्धि' शब्द के स्त्रीलिंग होने के कारण उससे पञ्चमी नहीं होनी चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, अनुन्यासकार के मत रूप में, यह कि महाभाष्यकार ने 'अनुपलब्धे:' प्रयोग में पंचमी का प्रयोग किया है। अत: उनके प्रमाणभूत होने से 'विभाषा गुणे...' सूत्र का योगविभाग

---

१. न्यास (भाग १), २।३।१९, पृ० ४१०।
२. चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, १।१४।
३. कुमारसंभव ४।३३।

करके पृथक् सूत्र 'विभाषा गुणे' से यहां पर पञ्चमी का प्रयोग साधु माना जा सकेगा। न्यास, पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी, सुधानिधि तथा शब्दकौस्तुभ में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुंए यही समाधान दिया गया है।[1] परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने सूत्र का इस प्रकार योगविभाग न करके 'विभाषा', 'गुणेऽस्त्रियाम् इस प्रकार किया है जिससे 'धूमाग्निमान्' जैसे प्रयोगों में भी गुणवाचक 'धूम' आदि शब्दों से पञ्चमी का प्रयोग साधु माना जा सके।[2]

दृष्टेः

इसी प्रकार की कठिनाई 'बाहुलंक प्रकृतेस्त्वनुदृष्टेः' वार्तिकांश के स्त्रीलिंग वाची पञ्चम्यन्त 'दृष्टेः' प्रयोग में उपस्थित होती है।

न्यासकार ने इस कठिनाई के निराकरण के लिए दो समाधान दिए हैं। प्रथम में 'ल्यप्' का लोप मान कर (दृष्टि वीक्ष्य) कर्म में पञ्चमी मानी है। दूसरे समाधान में 'विभाषा गुणे...' सूत्र के उपरिनिर्दिष्ट योगविभाग का आश्रय लिया है।[3] शरणदेव ने यह द्वितीय समाधान, न्यास के नाम से, दिया है।

शब्दकौस्तुभ, तत्वबोधिनी, सुधानिधि आदि में इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए 'तनुदृष्टेः' वार्तिकांश को ही इस बात का ज्ञापक माना गया है कि स्त्रीलिंग में भी पञ्चमी होती है। इस ज्ञापक को उन्होंने 'अनुपलब्धे' प्रयोग की सिद्धि के लिए दूसरे समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है।[4]

शरणदेव ने 'अनुपलब्धेः' प्रयोग के लिए द्वितीय समाधान यह दिया है कि सांख्य दर्शन में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान ये पर्यायवाची शब्द माने गए हैं। इस प्रकार 'अनुपलब्धि' शब्द ऐसे ज्ञान विशेष का बोधक होगा जिसकी उपलब्धि नहीं होती—जो मन का विषय नहीं बनता। इसका विग्रह इस प्रकार किया गया है—अविद्यमाना उपलब्धिः यस्मिन् इति ज्ञानविशेषः। 'उपलब्धि' को ज्ञान विशेष का वाचक मान कर 'विभाषा गुणे...' सूत्र से पञ्चमी हो जाएगी।

---

१. न्यास (भाग १), २।३।२५, पृ० ४१३।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), २।३।२५, पृ० ५७५।
३. न्यास (भाग १), ३।३।१, पृ० ६७३।
४. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।३।२५, पृ० २३१।

अपादाने पंचमी २।३।८२

कटकान्महाबाणकं सम्पातयति

'अपादाने पञ्चमी' सूत्र द्वारा अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति का विधान किए जाने के कारण लेखमालिका के 'कटकान्यहाबाणकं सम्पातयति' वाक्य में 'कटक' शब्द से पञ्चमी का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि कटक में स्थित व्यक्ति धनुष से बाण प्रहार करता है। अतः 'ध्रुवमपाये...' (१।४।२४) सूत्र के अनुसार अपाय में ध्रुव अपादान कारक धनुष है, न कि कटक। इसलिए अपादान संज्ञा के अभाव में 'कटक' शब्द से पञ्चमी का प्रयोग साधु नहीं माना जा सकता।

इस प्रश्न का उत्तर 'पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्'[1] वार्तिक के आश्रय से इस प्रकार दिया गया है कि 'कटकान्महाबाणकं' वाक्य में कटकम् आस्थाय' विग्रह करके ल्यबन्त 'आस्थाय' पद के कर्म 'कटक' शब्द से पञ्चमी हो जाएगी।

गृहादारभ्य

'गृहादारभ्य हट्टं यावत्' तथा 'कुट् कौटिल्य इत्यत आरभ्य कुङ. शब्द इति यावत्'[2] वाक्यों में यह विचारणीय है कि अपादानत्व की विवक्षा न होने के कारण 'आरभ्य' पद के योग में क्रमशः 'गृह' (ग्रहात्) तथा 'इदम्' (अतः) शब्दों से पञ्चमी कैसे हो गई ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि महाभाष्यकार ने 'प्रभृति' पद के योग में' कार्तिक्याः प्रभृति' इस प्रकार का पञ्चम्यन्त प्रयोग किया है।[3] कैयट के अनुसार यहां 'प्रभृति' शब्द का अर्थ 'आरम्य' है।[4] शरण-देव के अनुसार उपर्युत वाक्यों में भी 'आरभ्य' शब्द 'प्रभृति' का पर्यायवाची है। अतः भाष्य के उपर्युक्त प्रयोग के आधार पर 'प्रभृति' के पर्यायभूत 'आरभ्य' के योग में पञ्चमी हो जाएगी। सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में भी ऐसा

---

१. महाभाष्य, २।३।२८।

२. काशिका, १।२।१।

३. महाभाष्य, २।३।२८, पृ० ८००।

४. प्रदीप, महाभाष्य, २।३।२८, पृ० ८००।

ही माना गया है।[1] बालमनोरमा में तो यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि 'प्रभृति' शब्द के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होने पर भी उनके योग में पञ्चमी ही होती है।[2]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'आरभ्य' शब्द ल्यबन्त है। अतः उसके योग में 'गृह' तथा 'इदम्' की कर्म संज्ञा होकर उनसे द्वितीया हो जाएगी। उसके पश्चात् उपर्युक्त वार्तिक द्वारा पञ्चमी होकर 'तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य[3] उपसंख्यानम्' वार्तिक से पञ्चम्यर्थ में 'तसि' प्रत्यय द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। आद्यादिगण आकृतिगण है।[4]

विंशतेरधिको द्रोणः

'विंशतेरधिको द्रोणः' वाक्य में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'अधिक' शब्द के योग में 'विंशति' शब्द से पञ्चमी न होकर 'षष्ठी शेष' (२।३।५०) सूत्र से षष्ठी होनी चाहिए।

इस कठिनाई का निराकरण, रक्षित के मत रूप में, इस प्रकार किया गया है कि 'यस्मादधिकं...' (२।३।९) सूत्र में 'अधिक' शब्द के योग में 'पञ्चमी' के प्रयोग से यह ज्ञापित होता है कि 'अधिक' के योग में पञ्चमी भी होती है। पदमञ्जरी तथा शब्दकौस्तुभ में भी इस सूत्रनिर्देश को इस बात का ज्ञापक माना गया है।[5]

रणे प्रत्यागतम्

'जीर्णमन्नं···गृहमागतम्···' श्लोक का 'रणे प्रत्यागतम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'रण' शब्द की अपादान संज्ञा होने के कारण उससे सप्तमी न होकर पञ्चमी होनी चाहिए।

यहां यह कहा गया है कि इस प्रयोग में अपादान की विवक्षा न होने के कारण 'यस्य च भावेन···' (२।३।३७) सूत्र से सप्तमी होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), २।३।२९, पृ० ५७३।
२. बालमनोरमा (भाग १), २।३।२९, पृ० ५७३।
३. काशिका, ५।४।४४।
४. काशिका, ५।४।४४।
५. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।९, पृ० ४२३।

प्रशंसीयात्

प्रसंगतः उपर्युक्त श्लोक के 'प्रशंसीयात्' प्रयोग के विषय में भी यहां विचार किया गया है। 'शंस्' धातु के विधिलिङ् के प्रयोग में 'प्रशंसीयात्' न बन कर 'प्रशंस्यात्' बनना चाहिए।

शरणदेव ने इस प्रयोग को दो पदों 'प्रशंसी+इयात्' में विभक्त किया है। उसके अनुसार 'प्रशंसा' शब्द से 'आवश्यक···' (३।३।१७०) सूत्र द्वारा 'णिनि' अथवा 'व्रीहयादिभ्यश्च' (५।२।११६) सूत्र से 'इनि' प्रत्यय करके 'प्रशंसिन्' शब्द बनेगा जिसका प्रथमा के एकवचन में 'प्रशंसी' रूप होगा। 'इयात्' पद 'इण्' धातु के आशिष् लिङ् का प्रयोग है। इस प्रकार 'प्रशंसीयात्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु इस पद को इस रूप में विभक्त करना पूरे श्लोकार्थ की दृष्टि से कुछ उचित नहीं जान पड़ता।

दारिद्रयादतिमूर्खत्वम्

'दारिद्रयादतिमूर्खत्वम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि हेतु का आभाव होने के कारण 'दारिद्रय' शब्द से पञ्चमी कैसे हो गई ?

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां भी 'ल्यब्लोपे···' वार्तिक द्वारा पञ्चमी मानी है।

अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९

पूर्वं कायस्य

'अन्यारादि···' सूत्र द्वारा, आरात् आदि शब्दों के योग में पञ्चमी का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'पूर्वं कायस्य' प्रयोग में दिशावचक 'पूर्वं' शब्द के योग में 'काय' शब्द से षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि सूत्र में 'दिक्' शब्द का ग्रहण होने के कारण यहां पर पञ्चमी होनी चाहिए थी।

इस प्रयोग को, रक्षित के नाम से, इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'तस्य परम···' (८।१।२।) सूत्रस्थ अवयववाचक 'परम्' शब्द के योग में षष्ठ्यन्त 'तस्य' पद के प्रयोग से ज्ञापित होता है कि अवयववाची 'दिक्' शब्द के साथ योग होने पर पञ्चमी नहीं होती। अतः इस ज्ञापक द्वारा उपर्युक्त प्रयोग में षष्ठी ही होगी। यही समाधान पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में 'अन्यारादि···' सूत्र की व्याख्या में दिया गया है।[1]

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।२९, पृ० ४३५।

समुदायिभ्योऽनन्य:

'समुदायिभ्योऽनन्य: समुदाय:' वाक्य में 'अनन्य' शब्द के योग में 'समुदायिन्' शब्द से पञ्चमी का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति'[1] परिभाषा के अनुसार विभक्ति विधायक सूत्र में पठित 'अन्य' शब्द के साथ तदन्तविधि नहीं मानी जा सकती। इसलिए सूत्र द्वारा 'अन्य शब्दान्त अनन्य' शब्द का ग्रहण अभीष्ट नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र के अनुसार 'अनन्य' के योग में पञ्चमी नहीं होनी चाहिए।

इस समस्या का समाधान भी, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि सूत्र में 'अन्य' पद से अर्थ (अन्यार्थवाचक) का ग्रहण किया गया है जिससे उसके पर्यायवाची 'अपर' आदि शब्दों के योग में भी पञ्चमी होती है। यहां 'अनन्य' शब्द भी 'अन्य' अर्थ का ही वाचक है क्योंकि 'नञ्' समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है। अत: 'नञ्' समास के 'अनन्य' प्रयोग में भी उत्तरपद की ही प्रधानता होगी। स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'नञ्' निपात केवल द्योतक है, वाचक तो 'अन्य' शब्द ही है। इसलिए 'अनन्य' शब्द भी 'अन्य' का ही पर्याय है। इस प्रकार उसके योग में इसी सूत्र से पञ्चमी हो जाएगी।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३०

प्रातिपदिकात् परत:

'षष्ठ्यतस···' सूत्र द्वारा 'अतसुच्' प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान शब्दों के योग में अन्य शब्दों से षष्ठी का विधान किया गया है। अत: 'प्रातिपदिकात परत:' प्रयोग में 'अतसुच्' प्रत्ययान्त शब्द का योग होने से 'प्रातिपदिक' शब्द से पञ्चमी का प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'परत:' शब्द 'विभाषा परावरा···' (५ ३।२९) सूत्र से विहित 'अतसुच्' द्वारा निष्पन्न न होकर 'तसि प्रकरणे आभादिभ्य उपसंख्यानम्[2] वार्तिक द्वारा 'तसिल्' प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है। वाचस्पत्यम् में भी यह शब्द 'तसिल्' प्रत्ययान्त माना गया है।[3]

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या, ३१।
२. काशिका, ५।४।४४।
३. 'पर+विभक्त्यर्थे तसिल।'—वाचस्पत्यम्।

सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६

जन्मजन्म यदभ्यस्तम्

'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र अधिकरण कारक तथा 'दूर' और 'अन्तिक' अर्थ वाले शब्दों के योग में सप्तमी का विधान करता है। 'जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः' श्लोकांश में अधिकरण कारक 'जन्मन्' शब्द से प्रथमा न होकर सप्तमी होनी चाहिए।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यहाँ 'जन्म' शब्द जन्म सहचरित काल का निर्देश करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'कालाध्वनोः' (२।३।५) सूत्र से द्वितीया होगी।

दात्रेण धान्यं लुनाति

'निमित्तात् कर्मसंयोगे'[1] (निमित्त का कर्म से संयोग होने पर निमित्त वाचक शब्द से सप्तमी होती है) वार्तिक के अनुसार 'दात्रेण धान्यं लुनाति' वाक्य में 'दात्र' शब्द से तृतीया का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'दात्र' निमित्त है तथा 'धान्य' कर्म। अतः 'दात्र' पद से सप्तमी होनी चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि उपर्युक्त वार्तिक में 'निमित्त' का अर्थ 'प्रयोजन' अभीष्ट है तथा 'योग' पद का 'संश्लेष'। प्रदीप टीका तथा पदमञ्जरी में भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यहां पर 'निमित्त' पद से क्रिया का फल विवक्षित है।[2] इस प्रकार जो क्रिया का प्रयोजक है तथा जिसके लिए क्रिया आरम्भ की जाती है उस हेतु अथवा निमित्त का यदि कर्म के साथ संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध हो तो हेतु में तृतीया की प्राप्ति होने पर इस वार्तिक द्वारा सप्तमी का विधान किया गया है। इस वार्तिक के उदाहरणभूत 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' वाक्य में निमित्त रूप (प्रयोजन) चर्म का कर्म (हाथी) से संयोग सम्बन्ध होने के कारण 'चर्मन्' से सप्तमी हुई है। परन्तु 'दात्रेण धान्यं लुनाति' वाक्य में 'दात्र' शब्द प्रयोजन न होकर कारणमात्र है। अतः यहां पर 'कर्तृकरणयो…' सूत्र से तृतीया ही होगी।

यूपाय दार्वानय

परन्तु यदि प्रयोजन के साथ कर्म का संयोग होने पर सप्तमी होती है तो 'यूपाय दार्वानय' प्रयोग में प्रयोजन 'यूप' का कर्म 'दारु' के साथ सम्बन्ध

---

१. महाभाष्य, २।३।३६।
२. प्रदीप, महाभाष्य, २।३।३६, पृ० ८०६।

होने के कारण 'यूप' से सप्तमी की अनभीष्ट प्राप्ति होगी।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'यूप' तथा 'दारू' में संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध न होकर तादर्थ्य सम्बन्ध की विवक्षा है। अतः 'चतुर्थी तदर्थार्थ...' (२।१।३६) सूत्र से चतुर्थी ही होगी।

शयानेन भुक्तम्

प्रसंगतः दुर्घटवृत्तिकार ने यहां 'यस्य च भावेन...' (२।३।३७) सूत्र के विषयभूत 'शयानेन भुक्तम्' प्रयोग के विषय में भी विचार किया है। जिस प्रकार 'गोषु दुह्यमानासु गतः' आदि वाक्यों में दोहन क्रिया द्वारा गमन क्रिया के लक्षित होने के कारण 'यस्य च भावेन...' सूत्र से 'गो' शब्द से सप्तमी हुई है उसी प्रकार 'शयानेन भुक्तम्' प्रयोग में भी शयन क्रिया द्वारा भोजन क्रिया के लक्षित होने के कारण सप्तमी होनी चाहिए।

इस प्रयोग के विषय में, रक्षित तथा भागवृत्तिकार के नाम से, यह कहा गया है कि अनभिधान होने के कारण यह प्रयोग चिन्त्य है।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६

वृक्षोऽयम्

'प्रातिपदिकार्थ...' सूत्र पर किये गए एक आक्षेप के समाधान के विकल्प के रूप में महाभाष्य में 'अभिहिते प्रथमा' इस नए सूत्र न्यास की बात कही गई है। इस सूत्रन्यास के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कैयट ने कहा है कि तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास द्वारा अभिहित होने पर कर्त्ता आदि कारकों में प्रथमा होगी। यही आगे महाभाष्य में एक अन्य सूत्रन्यास 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' की बात भी कही गई है। इन दोनों सूत्रन्यासों के विषय में महाभाष्य में ही यह दोषारोषण किया गया है कि इनकी दृष्टि से 'वृक्षः', 'प्लक्ष' जैसे प्रयोगों में प्रथमा का विधान नहीं हो सकता।[1]

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रश्न के उत्तर के रूप में भागवृत्ति के मत को प्रस्तुत किया है जो अधूरा प्रतीत होता है। महाभाष्यकार ने इस प्रसंग में यह समाधान दिया है कि प्रथम पुरुष के वाचक 'अस्ति' आदि क्रियाओं का अर्थ अप्रयुक्त होने पर भी गम्यमान रहता है।[2] शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट कहा गया है कि 'वृक्षः',

---

१. महाभाष्य, २।३।४६, पृ० ८१६।
२. उपरिवत्।

'प्लक्ष:' आदि में प्रातिपदिकार्थ···' सूत्र की अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि इन शब्दों के साथ 'अस्ति' पद का अध्याहार मान लिया जाएगा ।[1] ऊपर भागवृत्ति के मत की अपूर्णता की बात कही गई है उस मत को यदि इस रूप में समझा जाए कि 'अस्ति' अर्थ के स्वत: उपस्थित होने के कारण 'वृक्षोऽयम्' आदि प्रयोगों में कारकता भी है और प्रातिपदिकत्व भी तो प्रथमा की उपपत्ति सुसंगत हो जाती है । युधिष्ठिर मीमांसक ने भी यही कहा है कि यदि भागवृत्ति के मत के साथ महाभाष्य का मत जोड़ दिया जाए तो समाधान स्पष्ट और पूर्ण हो जाएगा ।[2]

मञ्चा: क्रोशन्ति

'द्रोण:' आदि शब्द कभी-कभी केवल परिमाण को कहते हैं तो कभी उस परिमाण से परिमित वस्तु को । जब दूसरी स्थिति होती है अर्थात् द्रोण रूप परिमाण से परिमित वस्तु के लिए 'द्रोण' शब्द प्रयुक्त होता है तो वहां प्रातिपदिकार्थमात्रता नहीं रहती । 'द्रोण' शब्द का अपना परिमाण अर्थ गौण हो जाता है । इसी कारण सूत्रकार ने इन स्थलों की दृष्टि से सूत्र में 'परिमाण' शब्द को भी स्थान दिया ।[3]

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो 'मञ्चा: क्रोशन्ति' प्रयोग के 'मञ्चा:' पद में प्रथमा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार 'द्रोण:' द्रोण रूप परिमाण से परिमित व्रीहि का वाचक बनकर गौण बन गया तथा उसमें प्रातिपदिकार्थमात्रता की दृष्टि से प्रथमा की प्राप्ति नहीं हो रही थी उसी प्रकार यहां भी 'मञ्चा:' पद मञ्च अर्थ में प्रयुक्त न होकर मंचस्थ पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसीलिए गौण प्रयोग होने के कारण प्रथमा नहीं होनी चाहिए । उपचार (अद्रोण में द्रोण अथवा अमंच में मंच का आरोप) की स्थिति दोनों ही स्थलों में द्रष्टव्य है ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'वर्णो वर्णेत' (२।१।६९) सूत्र के 'वर्ण' पद में पशु की अपेक्षा होने पर भी 'वर्ण' शब्द से प्रथमा हुई है । इसी प्रकार इस सूत्र निर्देश रूप से ज्ञापक से 'मञ्चा: क्रोशन्ति' प्रयोग में भी प्रथमा हो जाएगी ।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।४६, पृ० २३८ ।

२. भागवृत्तिसंकलन, पृ० १६, पादटिप्पण २ ।

३. प्रदीप, महाभाष्य, २।३।४६, पृ० ८११ ।

प्रसूतस्य

'यस्य तस्य प्रसूतस्य गुणवान् स्फूर्जितो नरः' श्लोकांश में विशेष्य के समानाधिकरण होने के कारण 'प्रसूत' विशेषण पद से भी प्रथमा होनी चाहिए।

शरणदेव ने यहां समाधान के रूप में 'प्रसूतः सः' यह प्रथमान्त पाठ माना है।

षष्ठी शेषे २।३।५०

तदस्मिन्नधिकम्

'षष्ठी शेषे' सूत्र कर्म आदि कारकों तथा 'प्रातिपदिकार्थ—' सूत्र से विहित प्रथमा के प्रयोगों को छोड़कर अन्य स्वस्वामी आदि सम्बन्ध होने पर षष्ठी का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'तदस्मिन्नकम्' (५।२।४५) सूत्र में 'अधिक' शब्द के योग में 'इदम्' शब्द से सप्तमी का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि शेषत्व के आधार पर यहां षष्ठी होनी चाहिए थी।

इस विषय में रक्षित के नाम से, यह कहा गया है कि स्वयं पाणिनि के द्वारा निर्देश किये जाने के कारण यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति'[1] परिभाषा की दृष्टि से 'संख्याऽव्यया' (२।२।२५) सूत्र की व्याख्या में प्रायः सभी व्याकरण—ग्रन्थों में 'अधिकं दशानाम्' इस प्रकार का षष्ठ्यन्त प्रयोग भी किया गया है। इस प्रकार 'अधिक' शब्द के योग में 'यस्मादधिकं—' तथा 'तदस्मिन्नधिकम्' सूत्र निर्देश रूप ज्ञापक से पञ्चमी, सप्तमी तथा शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी, विभक्ति की साधुता उपपन्न माननी चाहिए।

कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५

रक्षोगणंक्षिप्नुम्

'कर्तृकर्मणां—' सूत्र द्वारा कृदन्त शब्दों का योग होने पर कर्ता तथा कर्म में षष्ठी का विधान किए जाने के कारण भट्टिकाव्य के 'क्षिप्नुमविक्षतात्मा'[2] तथा 'धार्यै रामोदमुत्तमम्'[3] श्लोकांशों में कृदन्त 'क्षिप्नुम्' तथा 'धाय' शब्दों के योग में कर्मसंज्ञक 'रक्षोगणम्' तथा 'आमोदम्' शब्दों से द्वितीया का प्रयोग चिन्त्य है।

इन प्रयोगों के साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि 'तदर्हम्' (५।१।१७) सूत्र निर्देश में कृदन्त 'अर्हम्' के योग में स्वयं सूत्रकार द्वारा द्वितीयान्त 'तद्'

---

१. परिभाषावृत्ति, परिभाषा संख्या, ६६।

२. भट्टिकाव्य, २।२१।

३. उपरिवत्, ६।७६।

के प्रयोग से ज्ञापित होता है कि 'कर्तृकर्मणो—' सूत्र अनित्य है। 'धार्यैरामोदमुत्तमम्' प्रयोग विषयक समस्या के लिए शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा, तत्वबोधिनी, जयमंगला, चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका, धातुवृत्ति, परिभाषावृत्ति आदि ग्रन्थों में यही समाधान दिया गया है।'[1] रक्षोगणम्—' प्रयोग के लिए जयमंगला में कहा गया है कि 'न लोकाव्यय—' (२।३।६९) सूत्र द्वारा 'वनु' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी का निषेध होने के कारण यहां द्वितीया हो जाएगी।[2]

इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने, रक्षित के नाम से, यह कहा है कि 'धेट्' धातु से 'श्याय—' (३।१।१४१) सूत्र द्वारा 'ण' प्रत्यय तथा बाद में 'युक्' आगम द्वारा तृतीया में 'धार्यैः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

'कृतपूर्वी कटम्'

'कृतपूर्वी कटम्' प्रयोग के विषय में शरणदेव ने यह पूर्वपक्ष रखा है कि यहां कृदन्त शब्द कृत' के योग में अनभिहितकर्ता 'कटम्' से इस सूत्र द्वारा षष्ठी होनी चाहिए। शब्कौस्तुभ, सुधानिधि तथा प्रदीप टीका में यह समस्या इस प्रकार प्रस्तुत की गई है कि तद्धित 'इनि' प्रत्यय द्वारा कर्ता के अभिहित होने के कारण उससे षष्ठी का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु 'करोति' क्रिया के द्वारा कर्म 'कट' के अभिहित होने के कारण उससे षष्ठी की प्राप्ति होती है। 'कृतपूर्वी कटम्' का विग्रह इस प्रकार किया गया है—कृतः कटः पूर्वम् अनेन।[3]

दुर्घटवृत्तिकार ने इस विषय में यह कहा है कि 'कर्तृकर्मणो—' सूत्र में 'कृत' का ग्रहण तिङन्त शब्दों के व्यावर्तन के लिए नहीं किया गया है, क्योंकि उनसे अनभिहित होने पर तो द्वितीया की प्राप्ति होती है। अतः तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों की निवृत्ति के लिए इस सूत्र में 'कृत्' शब्द का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार 'कृतपूर्वी' के तद्धितान्त होने के कारण उसके योग में 'कट' शब्द से षष्ठी नहीं होगी। शब्दकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में इसी प्रकार का समाधान मिलता है।

तत्वबोधिनीकार ने इस प्रयोग के विषय में विचार करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा है कि 'कृतः' कटः पूर्वमनेन' विग्रह में 'क्त' प्रत्यय के कर्म में विहित होने के कारण कर्म 'क्त' से अभिहित हो जाएगा। इसलिए न तो द्वितीया की प्राप्ति होगी, न उसके अपवादभूत 'कर्तृकर्मणोः—' सूत्र से षष्ठी की प्राप्ति होगी, क्योंकि इस सूत्र में भी अनभिहित का अधिकार है ही। साथ ही 'कृत' शब्द के 'कट' शब्द से सापेक्ष होने के कारण न तो समास ही हो सकेगा और

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।६५, पृ० २४५।
२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, २।२१।
३. तत्वबोधिनी, (भाग १), २।३।६५, ५८८।

तद्धित प्रत्यय ही ।[1]

इस आक्षेप की निवृत्ति करते हुए तत्वबोधिनीकार ने कहा है कि यहां पहले 'पूर्वं कृतम् अनेन' विग्रह किया जाएगा तथा कर्म के अविवक्षित होने के कारण भाव में 'क्त' प्रत्यय का विधान मानने से 'कृत' शब्द 'कट' का सापेक्ष नहीं रहेगा। इसलिए तद्धित और समास दोनों उपपन्न हो जाएंगे। इस प्रकार यहां भाव में 'क्त' प्रत्यय तथा कर्ता में तद्धित प्रत्यय की स्थिति मानी जाएगी। इस प्रकार कर्म के अनभिहित होने पर भी 'इनि' के तद्धित संज्ञक होने के कारण यहां 'कर्तृ कर्मणोः —' सूत्र उपस्थित नहीं होगा।[2]

महाभाष्य में 'कर्तृकर्मणोः—' सूत्र के 'कृति' शब्द का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि 'कृतपूर्वी कटम्' प्रयोग में तद्धित (इनि) प्रत्यय के कर्ता कर्म में यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।[3]

उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६

अङ : वितना बाधा भवति

'उभयप्राप्तौ—' सूत्र पर पठित, उभयप्राप्तौ षष्ठ्याः प्रतिषेधऽकादि-प्रयोगेऽप्रतिषेधे[4] (उभयप्राप्तौ—' सूत्र द्वारा किया गया प्रतिषेध 'अक' आदि (अ, अक) प्रत्ययान्त शब्दों के परे होने पर नहीं होता अर्थात् कर्ता में भी षष्ठी ही होती है) वार्तिक की दृष्टि से 'स्थागा—' (३।३।९५) तथा 'सुट् तिथोः' (३।४।१०७) सूत्रों की वृत्ति में क्रमशः प्रयुक्त 'अङः कितना बाधा भवति' तथा 'सुटा बाधा मा भूत्' वाक्यों में यह विचारणीय है कि 'अकार' प्रत्ययान्त कृदन्त 'बाधा' शब्द के योग में कर्ता रूप 'क्तिन्' तथा 'सुट्' से षष्ठी का प्रयोग क्यों नहीं किया गया? परन्तु काशिका वृत्ति के उपलब्ध संस्करणों में यह पाठ नहीं मिलता अपितु इसके स्थान पर 'अङोऽपवादस्य बाधकः' तथा 'सुटा बाधनं न भवति' पाठ मिलता है।[5] यद्यपि अभिप्राय की दृष्टि से दोनों पाठों में विशेष अन्तर नहीं है तो भी वर्तमान पाठ में यह समस्या उपस्थित नहीं होती।

दुर्घटवृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ में, रक्षित के नाम से, इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि उपर्युक्त वार्तिक में अप्रत्ययात् (३।३।१०२) सूत्र से प्रधान रूप में विहित 'अ' प्रत्यय का ही ग्रहण किया गया है। 'बाधा' शब्द इस 'अ' प्रत्यय से निष्पन्न न होकर 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) सूत्र

१. तत्वबोधिनी (भाग १), २।३।६५, पृ० ५८८।
२. तत्वबोधिनी, (भाग १), २।३।६५, पृ० ५८९।
३. महाभाष्य, २।३।६५, पृ० ८३३।
४. महाभाष्य, २।३।६६।
५. काशिका, ३।३।९५, ३।४।१०७।

द्वारा विहित 'अ' प्रत्यय से सिद्ध हुआ है ।[1] तत्वबोधिनी में इन प्रयोगों के विषय में यह कहा गया है कि कर्ता के करणत्व की विवक्षा में तृतीया होगी ।[2]

क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७

त्वया रक्षितः

'न लोकाव्यय—' सूत्र निष्ठान्त (क्तप्रत्ययान्त) शब्दों के योग में षष्ठी का निषेध करता है । परन्तु अपवादभूत 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र द्वारा वर्तमान में विहित 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पुनः षष्ठी का विधान किया गया है ।[3] इस सूत्र में 'मतिबुद्धि' (३।२।१८८) सूत्र से विहित 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण अभिप्रेत है । इस 'मतिबुद्धि—' सूत्र पर 'शीलितो रक्षितः क्षान्तः—' श्लोकवार्तिक पढ़ी गई है जिसके द्वारा 'शीलितः' 'रक्षितः' आदि शब्दों से वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय का विधान स्वीकार किया गया है । अतः इन शब्दों में भी 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र द्वारा षष्ठी का ही प्रयोग साधु माना जा सकता है । इस दृष्टि से 'त्वया रक्षितः' प्रयोग में 'युष्मद्' शब्द के साथ तृतीया का प्रयोग विचारणीय है । यहां शरणदेव ने 'यत्र शीलितः' प्रयोग भी प्रस्तुत किया है । यदि यहां पर 'यत्र' के स्थान पर 'येन' पाठ माना जाए तो पूर्वपक्ष की संगति लग जाती है, अन्यथा 'यत्र' के अव्यय होने के कारण कोई संगति नहीं लगती ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन प्रयोगों में भूत में 'क्त' हुआ है । अतः षष्ठी नहीं होगी ।

ज्ञापकसमुच्चय में कहा गया है कि अनुपदकार आदि विद्वानों को तक्र-कौण्डिन्यन्याय द्वारा वर्तमान में विहित 'क्त' प्रत्यय द्वारा बाध अभीष्ट है । इस मत के अनुसार इन प्रयोगों को असाधु मानना होगा । परन्तु ज्ञापकसमुच्चय के लेखक के अपने विचार में 'उपज्ञाते' सूत्र में 'तेन' पद की अनुवृत्ति आने के कारण तथा इस रूप में वर्तमानकालिक 'क्त' प्रत्ययान्त 'उपज्ञाते' शब्द के योग में तृतीयान्त विभक्ति 'तेन' के प्रयोग द्वारा सूत्रकार यह ज्ञापित करते हैं कि 'मतिबुद्धि—' सूत्र से विहित 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में तृतीया का प्रयोग भी साधु है ।[4] इस ज्ञापक का उल्लेख शब्दकौस्तुभ, प्रदीप टीका आदि में भी मिलता है ।

---

१. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।३।६६, पृ० २४५ ।
२. तत्वबोधिनी, (भाग १) २।३।६६, पृ० ५६० ।
३. काशिका, २।३।६७ ।
४. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ६६ ।

न्यास में इसी प्रकार के 'शीलितो देवदत्तेन' प्रयोग के विषय में कहा गया है कि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) सूत्र से 'बहुल' ग्रहण की अनुवृत्ति लाकर उसके आधार पर इन तीनों प्रयोगों की सिद्धि की जा सकती है अथवा यह मानना चाहिए कि भले ही 'शीलितः' आदि प्रयोगों में वर्तमानकालता प्रतीत होती है पर जहां तक पदार्थ (शब्दार्थ) का सम्बन्ध है, वह भूत अर्थ का ही प्रतिपादन कर रहा है, वर्तमान का नहीं। अतः प्रकरणानुसार वर्तमानत्व और भूतत्व का निर्णय कर लिया जाएगा।[1]

शरणदेव ने इस विषय में भागवृत्ति का वह मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार यहां पर शेषत्व के आधार पर षष्ठी ही होनी चाहिए। भागवृत्ति का इसी प्रकार का मत भाषावृत्ति, संक्षिप्तसार वृत्ति तथा स्वयं शरणदेव द्वारा पुनः 'मतिबुद्धि—' सूत्र की व्याख्या में प्रस्तुत किया गया है।[2]

दोषाणां विवर्जितम्

'दोषाणां विवर्जितम्' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'वृज्' धातु से भूत में 'क्त' प्रत्यय का विधान होने के कारण उसके योग में 'न लोकाव्यय—' सूत्र से षष्ठी का निषेध हो जाएगा। अतः यहां पर तृतीया होनी चाहिए।

इस दोष का निवारण 'नपुंसके भावे क्तस्योपसंख्यानम्'[3] वार्तिक द्वारा इस प्रकार किया गया है कि यहां पर 'क्त' प्रत्यय भाव में हुआ है, न कि भूत में। अतः 'छात्रस्य हसनम्' के समान यहां भी षष्ठी हो जाएगी।

अनुन्यासकार ने यहां कर्म में 'क्त' प्रत्यय मानते हुए शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी मानी है, ऐसा दुर्घटवृत्ति से पता लगता है। उसके अनुसार इस प्रयोग का अर्थ होगा – 'दोषाणां सम्बन्धि यद् विवर्जितम्।'

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९

नरकस्य जिष्णवः

'न लोकाव्यय—' सूत्र द्वारा ल,उ (उकारान्त प्रत्यय), उक आदि के प्रयोग में षष्ठी का प्रतिषेध किए जाने के कारण शिशुपालवध के 'नरकस्य जिष्णवः'[4] प्रयोग में 'क्स्नु' प्रत्ययान्त 'जिष्णवः' शब्द के योग में 'नरक' शब्द से षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य है।

---

१. न्यास, (भाग १), १।३।६७, पृ० ४३२।
२. (क) भाषावृत्ति, ३।२।१८८।
   (ख) भागवृत्ति संकलन, ३।२।१८८
३. महाभाष्य, २।३।६७।
४. शिशुपालवध, १२।३।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी हुई है। भट्टोजिदीक्षित ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'न लोकाव्यय—' सूत्र द्वारा कारक षष्ठी का निषेध अभीष्ट है, शेष षष्ठी का नहीं।[1]

तुल्यार्थेरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २।३।७२

स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना

'तुल्यार्थे—' सूत्र तुला और उपमा शब्दों को छोड़कर तुल्यार्थक शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया का विधान करता है तथा पक्ष में षष्ठी का। इस सूत्र की दृष्टि से शिशुपालवध के 'स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना'[2] श्लोकांश में 'शम्भु' पद के साथ तृतीया का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि जिससे उपमा दी जाती है उस उपमान से तृतीया का निषेध कर दिया गया है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'सह' की विवक्षा में तृतीया हुई है। शब्दकौस्तुभ में विकल्प के रूप में तथा तत्वबोधिनी में इसी प्रकार का समाधान 'तुल्यार्थे—' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि यहां पर 'सहयुक्ते—' (२।३।१९) सूत्र से तृतीया हुई है।'[3] यह आवश्यक नहीं है कि 'सह' पद का प्रयोग सर्वत्र ही किया जाए, क्योंकि इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि 'सह' शब्द के प्रयोग के बिना भी तृतीया हो जाती है।[4]

यदि इस प्रकार 'सह' की विवक्षा मान कर तृतीया कर ली जाए तो 'तुल्यार्थे—' सूत्र द्वारा तृतीया का विधान व्यर्थ हो जाएगा। इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यह सूत्र उस स्थिति में कार्य करता है, जब षष्ठी के अर्थ की विवक्षा हो या दूसरे शब्दों में 'सह' की विपक्षा का अभाव हो।

दुर्घटवृत्तिकार ने इसके प्रयोग के लिए दूसरा समाधान यह दिया है कि यहां पर 'उपमा' शब्द का अर्थ प्रधान नहीं है। अतः इस सूत्र से तृतीया का निषेध नहीं हो सकेगा।

हरदत्त ने इस विषय में यह कहा है कि तुला और उपमा शब्द कर्मसाधन पक्ष में तुल्य अर्थ वाले होते हैं। उस अवस्था में तृतीया का प्रतिषेध होकर

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), २।३।६९, पृ० ५६३।
२. शिशुपालवध, १।४।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।३।७२, पृ० २४७।
४. काशिका, २।३।१९।

षष्ठी ही होती है, परन्तु इस प्रयोग में भावसाधन पक्ष मानकर 'उपमान' शब्द के प्रयोग में भी करण में तृतीया ही होगी ।[1] शब्दकौस्तुभ में भी इसी पक्ष की दृष्टि से यह कहा गया है कि धातु के अर्थ के प्रति करणभूत 'दन्तवासम्' तथा 'शम्भु' शब्दों से तृतीया ही उचित हैं ।[2] इस विषय में मल्लिनाथ का यह कहना है कि 'तुल्यार्थै—' सूत्र 'सदृश' के पर्याय तुला और उपमा शब्दों से ही निषेध करता है, सादृश्य वाचक से नहीं । इस प्रयोग में 'उपमा' शब्द सादृश्य का वाचक है । अतः तृतीया ही होगी ।[3]

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २।३।७३

गोभ्यः स्वस्ति

'चतुर्थी चाशिष्या—' सूत्र आशीर्वाद अर्थ के गम्यमान होने पर आयुष्म, मद्र आदि शब्दों के योग में चतुर्थी का विधान करता है । सूत्र में चकार का ग्रहण विकल्प के अनुकर्षण के लिए किया गया है । अतः पक्ष में षष्ठी होती है ।[4] इस नियम की दृष्टि से 'गोभ्यः स्वस्ति' प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर नित्य चतुर्थी ही क्यों होती है ? पक्ष में षष्ठी क्यों नहीं होती ?

इस कठिनाई का निराकरण, काशिका के मत रूप में, इस प्रकार किया गया है कि 'नमः स्वस्ति···' (२।३।१६) सूत्र में चकार का ग्रहण 'नमस्', 'स्वस्ति' आदि शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति के लिए किया गया है । अतः आशीर्वाद की विवक्षा में षष्ठी का बाध होकर अपवाद रूप में नित्य चतुर्थी ही होगी ।[5] न्यास में इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'च' के समुच्चयार्थक होने के कारण इस सूत्र के पुनर्विधायक बन जाने से 'चतुर्थी चाशिष्या—' सूत्र द्वारा आशीर्वाद की विवक्षा में विकल्प द्वारा जो षष्ठी का विधान किया जाता है उसको बाध कर नित्य चतुर्थी ही होती है ।[6] वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के प्रयोगों में चतुर्थी का प्रयोग रूढ़ि हो चुका है तथा व्याकरण प्रयोगों का अनुयायी होता है । अतः ये प्रयोग साधु ही हैं ।

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), २।३।७२, पृ० ४७५ ।

२. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।३।७२, पृ० २४७ ।

३. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, १।४ ।

४. काशिका, २।३।७३ ।

५. काशिका, २।३।१६ ।

६. न्यास (भाग १), २।३।१६, पृ० ४०८ ।

द्वितीय अध्याय, चतुर्थ पाद

द्विगुरेकवचनम् २।४।१

रुद्रैकादशी

'द्विगुरेकवचनम्' तथा 'स नपुंसकम्' सूत्रों के अनुसार द्विगु समास में एकवचन तथा नपुंसकलिंग का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'रुद्रैकादशीम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'एकादशानां रुद्राणां समाहारः' विग्रह वाक्य में द्विगु समास करने पर एकवचन तथा नपुंसकलिंग का प्रयोग होकर 'एकादशरुद्रम्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'स्तोमे डड् वक्तव्यः'[1] वार्तिक द्वारा 'एकादशन्' शब्द से 'डड्' प्रत्यय करने पर 'एकादश' शब्द अकारान्त बन जाएगा। उसके पश्चात् नपुंसकलिंग की प्राप्ति होने पर 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते'[2] वार्तिक द्वारा स्त्रीलिंग की प्राप्ति होगी तथा 'टिड्ढाग···' (४।१।१५) सूत्र से 'डड्' के डित् होने के कारण 'ङीप्' होकर 'एकादशी' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार द्विगु समास के 'षोडशी' प्रयोग में भी स्त्रीलिंग की सिद्धि की जा सकती है।

इस प्रयोग में 'रुद्र' शब्द का पूर्वनिपातत्व भी विचारणीय है। इस विषय में यह कहा गया है कि 'एकादशी' शब्द को राजदन्तादिगणा में पठित मान कर 'राजदन्तादिषुपरम्' सूत्र द्वारा उपसर्गन संज्ञक 'एकादशी' का परनिपात हो जाएगा तथा इस प्रकार 'रुद्र' का पूर्वनिपात हो सकेगा। राजदन्तादिगण आकृतिगण है।

पञ्चमूल्य इमाः

'पञ्चमूल्य इमाः' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'पञ्चानां मूलानां समाहारः' विग्रह वाक्य में द्विगु समास होने पर 'द्विगुरेकवचनम्' सूत्र के अनुसार एकवचन का प्रयोग होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'पञ्चपूली च पञ्चपूलीः च पञ्चपूली च पञ्चमूल्यः' इस प्रकार

---

१. महाभाष्य, ५।२।३७।
२. उपरिवत् २।४।३०, वा० ४।

द्विगु समास न होकर एकशेष समास हुआ है। रक्षित के समाधान का आधार महाभाष्य का एक वचन है जिसमें ठीक यही समाधान इस प्रयोग के लिए दिया गया है।[1]

एकपूली

'एकपूली' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'पूली' के एक होने के कारण समाहार ही नहीं बन पाता, क्योंकि समाहार एक से अधिक का हुआ करता है। अतः समाहार के अभाव में द्विगु समास नहीं हो सकता तथा द्विगु समास न होने पर 'अकारान्तोत्तर—' वार्तिक द्वारा स्त्रीलिंग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

इस दोष का निवारण भी, रक्षित के मत रूप में, इस प्रकार किया गया है कि एक में ही बहुत्व का आरोप करके उस बहुत्व के आधार पर समाहार बन जाएगा। उसके पश्चात् द्विगु समास तथा 'ङीप्' दोनों की प्राप्ति हो जाएगी।

चतुर्दिशी मेघोदयः

'चतुर्दिशी' प्रयोग में विचारणीय यह है कि 'चतसृणां दिशां समाहारः' विग्रह वाक्य में द्विगु समास करके एकवचन नपुंसकलिंग का प्रयोग होना चाहिए।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि हलन्त 'दिक्' शब्द से स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्यय करके टाबन्त 'दिशा' शब्द के साथ द्विगु समास किया जाएगा। पाणिनि द्वारा पठित अजादिगण में 'दिश्' शब्द का पाठ नहीं मिलता। परन्तु वर्धमान ने इस गण में कुछ हलन्त शब्दों के साथ 'दिश्' शब्द का पाठ स्वीकार किया है[2] तथा भागुरि ने भी 'दिश्' शब्द के साथ 'टाप्' का विधान किया था, ऐसा पाणिनीय संप्रदाय में प्रसिद्ध एक कारिका से स्पष्ट पता लगता है।[3]

जो भी हो भागुरि, वर्धमान आदि के अनुसार टाबन्त 'दिशा' शब्द के साथ 'चतसृणां दिशानां समाहारः' विग्रह वाक्य में द्विगु समास मानते हुए 'वाडडबन्तः स्त्रियाम् इष्टः' वार्तिक द्वारा आबन्त शब्दों के साथ स्त्रीलिंग का विकल्प से विधान होने के कारण नपुंसकलिंग पक्ष में 'दिशा' शब्द को ह्रस्व होकर 'चतुर्दिशम्' प्रयोग बनेगा तथा स्त्रीलिंग पक्ष में द्विगोश्च' (४।१।२१) सूत्र से

१. महाभाष्य, २।४।१, पृ० ८४४।

२. गणरत्न महोदधि, पृ० ७१।

३. सिद्धान्त कौमुदी, (भाग १), २।४।८२, पृ० ४२४।

'ङीप्' होकर 'चतुर्दिशी' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

इस प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने 'समुदायिभ्योऽन्यः समुदायः' अर्थात् अवयवों से समुदाय भिन्न होता है, इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है। न्यासकार ने इस सिद्धान्त के विपरीत समुदाय तथा अवयव को अभिन्न (समुदायिभ्योऽनन्यः समुदायः) मानते हुए 'द्विगुरेकवचनम्' की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। इससे स्पष्ट है कि समुदाय से अवयवों को भिन्न मानने पर इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।[1] महाभाष्य में भी 'न वा समाहारस्यैकत्वात्' वार्तिक द्वारा अवयवों से समुदाय को भिन्न मानते हुए 'द्विगुरेकवचनम्' सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है।[2] शरणदेव ने इस सिद्धान्त की दृष्टि से कहा है कि 'द्विगुरेकवचनम्' सूत्र का भले ही प्रत्याख्यान हो जाए तथा इस कारण 'चतुर्दिशी' प्रयोग में एकत्व की प्राप्ति न हो सके फिर भी 'द्विगोश्च' सूत्र से 'ङीप्' की प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होगी। शरणदेव ने यहां यह भी संकेत किया है कि रक्षित ने ये सब विचार, 'पञ्चगुः' शब्द के प्रसंग में प्रस्तुत किए थे। इसी प्रकार कुमारसंभव का 'चतुर्दिशीशानवमन्य[3] प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा। यहां 'चतुर्दिशी + इशान्' इस प्रकार सन्धिच्छेद करना होगा अथवा हलन्त 'दिक्' शब्द से द्विगु समास करके 'चतुर्दिशीशान्' पाठ मानना चाहिए। कुमार-संभव के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में यही पाठ मिलता है।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२

ग्रीवाकुक्षिललाटेषु

'द्वन्द्वश्च प्राणि—' सूत्र द्वारा प्राणि, तूर्य तथा सेना के अवयववाची शब्दों में द्वन्द्व समास होने पर एकवचन का विधान किए जाने के कारण 'ग्रीवाकुक्षि-ललाटेषु' तथा 'मुखनासिकाभ्याम्' प्रयोगों में बहुवचन तथा द्विवचन का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'ग्रीवा' आदि शब्दों के प्राणियों के अवयववाची होने से इनमें एकवद्भाव होना चाहिए था।

इस समस्या के पाँच समाधान दिए गए हैं। प्रथम, रक्षित के नाम से, यह कि दधिपयादीनि गण को आकृतिगण मानते हुए उसमें इन शब्दों का पाठ माना जाए। 'न दधिपय—' (२।४।१४) सूत्र इस गण में पठित शब्दों में एकवद्भाव का निषेध करता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोगों में बहुवचन का प्रयोग साधु माना जा सकेगा। प्रक्रिया कौमुदी तथा गणरत्नमहोदधि में इस गण को आकृति-

---

१. न्यास (भाग १) २।४।१, पृ० ४३६।

२. महाभाष्य, २।४।१, वा० ७।

३. कुमारसंभव, ५।५३।

गण माना गया है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'नासिकास्तनयोः''''(३।२।२९) सूत्र में द्वि-वचनान्त 'नासिकास्तनयोः' निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि 'द्वन्द्वश्च प्राणि—' सूत्र अनित्य है। यदि यह नित्य होता तो सूत्रकार ने यहां पर एक -वचन का ही प्रयोग किया होता।

तीसरा समाधान यह दिया गया कि इन प्रयोगों में द्वन्द्व समास न मानकर एकशेष समान माना जाए।

चतुर्थ यह कि इन प्रयोगों में द्वन्द्व समास न मानकर 'शाकपार्थिवादि' प्रयोगों के समान मध्यमपदलोपी समास माना जाए। संभवतः दुर्घटवृत्तिकार का अभिप्राय यह है कि इन प्रयोगों का 'ग्रीवाकुक्षिसहितेषु' तथा 'मुखसहिताभ्यां नासिकाभ्याम्' इस प्रकार विग्रह किया जाए। यहां 'ललाटेषु' पद में जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है वह ललाट जाति की दृष्टि से तथा 'नासिकाभ्याम्' पद में जो द्विवचन हुआ है वह नासिका के दो विवरों की दृष्टि से समझना चाहिए।

यों भी ये सभी प्रयोग 'जातिरप्राणिनाम्' (२।४।६) सूत्र के 'अप्राणिनाम्' पद के प्रत्युदाहरण के रूप में सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि इन प्रयोगों में प्राणि-जातियों का प्रयोग किया गया है। इसलिए इनमें एकवद्भाव का विधान नहीं होगा। दुर्घटवृत्तिकार ने 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र का आधार इसलिए नहीं लिया कि साध्य अर्थात् बहुवचनात्मक प्रयोग दोनों प्रकार से अभिन्न ही रहते हैं। महाभाष्य में 'विभाषा वृक्षमृग—' (२।४।१२) सूत्र पर पठित 'बहुप्रकृतिः फलसेना—' वार्तिक के 'सेना' अंश के उदाहरण के रूप में 'हस्त्यश्वम्' तथा 'हस्त्यश्वाः' प्रयोग प्रस्तुत किए गए हैं। यह वार्तिक विकल्प से एकवद्भाव का विधान करती है। इस वार्तिक के आधार पर भी उपर्युक्त प्रयोग साधु माने जा सकते हैं। स्वयं महाभाष्यकार ने भी 'संग्राम हस्तश्वरथपदातिभिः' जैसे प्रयोग किए हैं।[2]

इसी प्रकार अमरकोश का 'चञ्चुचरणैर्लोहितैः' तथा दुर्गासप्तशती के 'पातितै रथनागाश्वैः[3] और 'दन्तमुष्टितलैः[4] प्रयोगों में शाकपार्थिवादि समास मानते हुए जाति की अपेक्षा से बहुवचन मानना चाहिए। 'दन्तमुष्टितलैः'

१. प्रक्रियाकौमुदी (भाग १), २।४।१४, पृ० ४३५।

२. उद्योत, महाभाष्य, २।४।१२, पृ० ८५२।

३. दुर्गासप्तशती, २।६५।

४. उपरिवत् ३।१७।

प्रयोग में कुछ लोग 'क्तिन्' प्रत्ययान्त 'मुष्टि' के स्थान पर 'क्त' प्रत्ययान्त 'मुष्ट' पाठ मानते हैं।

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २।४।५

छात्रोपाध्यायम्

'अध्ययनतो—' सूत्र अध्ययन निमित्तवाची शब्दों के समीपवर्ती वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर एकवचन का विधान करता है। इस सूत्र की व्याख्या में रक्षित ने 'छात्रोपाध्यायम्' उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा यह कहा है कि यहां पर 'अध्ययन' शब्द कर्मसाधन में प्रयुक्त हुआ है। अतः प्रत्यासत्ति अध्येतव्य ग्रन्थ के आधार पर मानी जाएगी। जैसे 'पदकक्रमकम्' (पदकानां क्रमकाणां च समाहारः) प्रयोग में पदों के अध्ययन के पश्चात् क्रम के अध्ययन की प्रत्यासत्ति होने से एकवचन की प्राप्ति होती है, परन्तु 'छात्रोपाध्यायम्' प्रयोग में 'छात्र' तथा 'उपाध्याय' में इस प्रकार की ग्रन्थकृत प्रत्यासत्ति नहीं है। संभवतः रक्षित का अभिपाय यह है कि 'छात्रोपाध्यायम्' जैसे प्रयोगों की दृष्टि से 'अध्ययन' शब्द को भाव में निष्पन्न मानना चाहिए।

न्यासकार ने अध्ययन शब्द को कर्मसाधन तथा भावसाधन दोनों पक्षों में निष्पन्न माना है।[1] इस शब्द को भावसाधन में सिद्ध मानते हुए अध्ययन की प्रत्यासत्ति के आधार पर इस प्रयोग को साधु मानना होगा।

जातिरप्राणिनाम् २।४।६

विविधास्तरुशैलाः

'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र द्वारा प्राणिवाचक शब्दों को छोड़ कर जातिवाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव का विधान किए जाने के कारण भारवि का विविधास्तरुशैलाः[2] प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'तरु' तथा 'शैल' शब्दों में व्यक्ति विशेष की विविक्षा न होकर जाति की विवक्षा है तथा साथ ही ये शब्द प्राणिवाचक नहीं है। अतः यहां पर उपर्युक्त सूत्र द्वारा एकवद्भाव होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'तरुप्रधानशैलाः तरुशैलाः' विग्रह वाक्य के 'प्रधान' रूप मध्यम पद का लोप होने से मध्यमपद-लोपी समास है। अतः इस शब्द को शाकपार्थिवादिगण के अन्तर्गत मानकर

---

१. 'अधीतिरध्ययनमिति भावसाधनोऽध्ययन शब्दः। कर्मसाधनो वा।'—न्यास (भाग १), २।४।५।

२. किरातार्जुनीयम्, ६।१५।

यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि आदि ग्रन्थों में भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[1] वहाँ पर 'प्रधाना:' के स्थान पर 'सहिता:' पद का लोप माना गया है।

'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र में जाति मुख्य रूप से विवक्षित है। इसलिए जाति की प्रधान रूप से विवक्षा होने पर ही एकत्व की प्राप्ति होती है। द्रव्य की प्रधान रूप से विवक्षा होने पर तो 'बदरामलकानि' प्रयोग के समान बहुवचन ही होता है। इसलिए 'विविधास्तरुशैला:' प्रयोग में यदि द्रव्य की प्रधान रूप से विवक्षा मानी जाए तो यह प्रयोग स्वयमेव सिद्ध हो जाएगा। परन्तु यहां पर द्रव्य की मुख्य रूप से विवक्षा न होकर जाति की ही विवक्षा है। इसीलिए तत्वबोधिनी में मनोरमा के मत रूप में, 'तरुसहितशैलाः' समाधान दिय गया है।[2]

भागवृति संकलन में उद्धृत तत्वचन्द्रिका के कथन से यह ज्ञात होता है कि भागवृत्तिकार के अनुसार यहां पर मध्यमपदलोपी समास मानना अथवा नित्य द्रव्य की विवक्षा के आधार पर एकवद्भाव न होना, उचित नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार यहाँ पर कवि अन्धकार के अतिशय का प्रतिपादन कर रहा है तथा उसका उत्कर्ष 'रञ्जन' में है। अत: एकवद्भाव हो कर रञ्जित तु विविधं तरुशैलम्' प्रयोग होना चाहिए।[3]

येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९

देवासुरै:

'येषां च विरोधः—' सूत्र का अर्थ है—जिनका परस्पर विरोध है, उनके वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव होता है। इस नियम के अनुसार किरातार्जुनीयम् के 'देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे[4] श्लोकांश के 'देवासुरै:' प्रयोग में बहुवचन का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि देवताओं तथा राक्षसों में परस्पर नित्य विरोध होने के कारण यहां पर एकवद्भाव होना चाहिए था।

इस दोष का निवारण, रक्षित के नाम से, इस प्रकार किया गया है कि देवताओं तथा राक्षसों में पारस्परिक विरोध सदैव न हो कर कभी-कभी होता है। इसके अतिरिक्त जब द्वन्द्व समास विरोध का प्रतिपादन करता है तो उस स्थिति में ही एकवद्भाव की प्राप्ति होती है। परन्तु इस प्रयोग में द्वन्द्व समास विरोध का बोध नहीं करा रहा है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय तो दोनों पक्षों में

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।९, पृ० २५०।
२. तत्वबोधिनी (भाग २), २।४।९, पृ० १६५।
३. भागवृत्ति संकलन, २।४।९।
४. किरातार्जुनीयम्, ५।३०।

सामंजस्य है । अतः बहुवचन का प्रयोग उचित ही है । शब्दकौस्तुभ में भी यही समाधान दिया गया है ।[1] भाषावृत्ति में कहा गया है कि देवताओं तथा राक्षसों में नित्य विरोध न होकर नैमित्तिक विरोध है ।[2]

ज्ञापकसमुच्चय में उपरिलिखित समाधान का उल्लेख करते हुए कहा गया हैं कि 'गवाश्व—' (२।४।११) सूत्र की वृत्ति में पठित 'श्वचाण्डालम्' प्रयोग से यह ज्ञापित होता है कि जब विरोधियों का विरोधी वाचक शब्दों से द्वन्द्व होता है तो उस स्थिति में ही एकवद्भाव की प्राप्ति होती है । 'देवासुरैः' प्रयोग में विरोध की विवक्षा न होने के कारण एकवद्भाव नहीं हुआ है ।[3]

स नपुंसकम् २।४।१७

गिरिसागरविहारः

द्विगु तथा द्वन्द्व समास के जिन प्रयोगों में एकवद्भाव का विधान किया गया है उनसे 'स नपुंसकम्' सूत्र नपुंसकलिंग का विधान करता है । इस सूत्र के अनुसार 'गिरिसागरविहारः' प्रयोग में पुंल्लिंग न होकर नपुंसकलिंग होना चाहिए ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'स नपुंसकम्' सूत्र में 'सः' पद का ग्रहण भाषा में द्विगु समास के एकवद्भाव वाले प्रसिद्ध पदों के उपसंग्रहार्थ किया गया है अर्थात् लोक में जो शब्द नपुंसकलिंग में प्रसिद्ध हो गए हैं उन शब्दों से ही इस सूत्र द्वारा नपुंसकलिंग का विधान किया गया है । 'गिरिसागरविहारः' प्रयोग नपुंसकलिंग के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सका । अतः यहां पर नपुंसकलिंग की प्राप्ति नहीं होगी । न्यासकार ने भी सूत्रस्थ 'सः' पद का यही अर्थ किया है ।[4] वस्तुतः पदों में लिंग आदि के निर्णय का एकमात्र आधार लौकिक प्रयोग ही होते हैं । इस तथ्य का सुस्पष्ट प्रतिपादन महाभाष्यकार ने 'लिङ्गम् अशिष्यं लोकाश्रयत्वात्' वचन द्वारा किया है ।[5] इसलिए 'युवोरनाकौ (७।१।१) सूत्र के 'युवोः' पद में सूत्रकार ने नपुंसक लिंग का प्रयोग नहीं किया । न्यास में इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'युवोः' पद में समाहार द्वन्द्व मानने पर नपुंसकत्व की प्राप्ति होगी तथा बाद

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।९, पृ० २५१ ।
२. भाषावृत्ति, २।४।९ ।
३. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६८ ।
४. न्यास (भाग १), २।४।१७, पृ० ४५१ ।
५. महाभाष्य, ४।३।१ ।

में 'इकोऽचि विभक्तौ' (७।१।७३) सूत्र में 'नुम्' होकर 'युवुन:' निर्देश होना चाहिए था। इस समस्या के वहां पर दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'आगमशास्त्रमनित्यम्' परिभाषा के अनुसार यहां पर नपुंसकलिंग नहीं हुआ है। दूसरा समाधान यह दिया गया कि यहां पर नपुंसकलिंगता तो है ही नहीं, क्योंकि लिंग का आश्रय लौकिक प्रयोग हैं।[1] प्रदीप टीका में इस विषय में यह कहा गया है कि सौत्र निर्देश होने के कारण यह प्रयोग साधु है।[2]

दुर्घटवृत्तिकार ने दूसरे समाधान के रूप में 'गिरिसागरविहार:' प्रयोग में मध्यमपदलोपी समास माना है तथा तीसरे समाधान में 'गिरिसागरविहारम्' पाठान्तर दिया है।

सभा राजामनुष्यपूर्वा २।४।२३

नृपतिसभा

'सभा राजा—' सूत्र द्वारा राजन् अथवा अमनुष्य शब्दपूर्वक 'सभा' शब्दान्त तत्पुरुष समास में नपुंसकलिंग का विधान किया गया है। यहां सूत्र में 'राजन्' शब्द का ग्रहण अभिप्रेत न होकर उसके पर्यायवाची 'इन', 'ईश्वर' आदि का ग्रहण अभीष्ट है।[3] इस नियम की दृष्टि से कीचकवध का 'नृपति-सभा' प्रयोग इसलिए चिन्त्य है कि राजपर्याय 'नृपति' शब्द के पूर्व में होने के के कारण यहां पर नपुंसकलिंग होना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, रक्षित के मत रूप में, यह कि 'नृपति' शब्द 'गजपति' के समान है अर्थात् जिस प्रकार गजपति कोई राजा नहीं होता उसी प्रकार 'नृपति' शब्द से मनुष्यों का राजा यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार वह राजा का पर्याय नहीं है। अत: यह प्रयोग इस सूत्र का विषय नहीं बन सकता। शब्दकौस्तुभ' तत्वबोधिनी में रक्षित के नाम से तथा भाषावृत्ति में इसी सूत्र के प्रसंग में यही समाधान मिलता है।[4]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग में पहले 'नृणांपति: यस्याम् इति नृपति:' इस प्रकार बहुव्रीहि समास करके फिर 'नृपतिश्चासौ सभा च नृपतिसभा' विग्रह के अनुसार कर्मधारय समास मानना चाहिए। इस प्रकार कर्मधारय का प्रयोग होने पर 'सभा राजा' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस सूत्र में 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय:' (२।४।१९) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही

---

१. न्याय (भाग ३), ७।१।१। पृष्टि ६१८।
२. प्रदीप, महाभाष्य, ७।१।१, पृ० १।
३. इति।—काशिका, २।४।२३।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।२३, पृ० २६०।

है । अतः इस सूत्र द्वारा 'नम्' तथा कर्मधारय समास के प्रयोगों को छोड़ कर अन्य प्रयोगों में नपुंसकलिंग का विधान किया गया है । शब्दकौस्तुभ, सुधानिधि तथा तत्वबोधिनी में भी इसी सूत्र के प्रसंग में यह समाधान दिया गया है ।[1]

प्रथम समाधान में यह विचारणीय है कि 'नृपति' शब्द राजा का पर्याय क्यों नहीं है ? श्लोक में तो यह शब्द 'राजन् के पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध है । संभवतः इसीलिए दुर्घटवृत्तिकार आदि ने दूसरा समाधान भी दिया है ।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६

गृहस्थूणम्

'परवल्लिङ्गं—' सूत्र द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास के प्रयोग में पर शब्द (समास में बाद में प्रयुक्त) के लिंगप्रयोग का विधान करता है । इस सूत्र की दृष्टि से 'गृहस्थूणम्' तथा 'शशोर्णम्[2] प्रयोगों में नपुंसकलिंग का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां बाद में विद्यमान 'स्थूणा' तथा 'ऊर्णा' शब्द स्त्रीलिंग हैं ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'असिद्धवद्—, (६।४।२२) सूत्र के 'वति' निर्देश के समान इस सूत्र में भी 'वति' शब्द व्यभिचारार्थक है अर्थात् यह सूत्र अनित्य है । यहां यह स्पष्ट नहीं होता कि 'वत्' का अर्थ व्यभिचार कैसे लिया गया ।

दूसरा समाधान महाभाष्य के 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' वचन अनुसार यह दिया गया है कि लोक में ये शब्द नपुंसकलिंग में भी प्रयुक्त होते हैं । अतः यहां पर नपुंसकलिंग का प्रयोग साधु है । भाष्य में कहा गया है कि गृह तथा शश पूर्वक स्थूणा तथा ऊर्णा शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होते हैं ।

रात्राह्नाहा पुंसि २।४।२९

गणरात्रम्

'रात्राह्नाहः पुंसि' सूत्र द्वारा समासान्त रात्र, अहन् तथा अह शब्दों से पुंल्लिग का विधान किए जाने के कारण अमरकोश का' 'गणरात्रम्'[3] प्रयोग विचारणीय है । 'बहुगण—' (१।१।२३) सूत्र द्वारा 'गण' शब्द की 'संख्या' संज्ञा होने के कारण 'गण' शब्द से परे विद्यमान 'रात्रि' शब्द

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।२३, पृ० २६० ।

२. अमरकोष, ३।५।३० ।

३. अमरकोश, १।४।६ ।

के साथ 'अहस्सर्वै···' (५।४।८७) सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर समासान्त 'गण-रात्र' प्रयोग निष्पन्न हुआ है। इसलिए यहां पर 'रात्राह्नाहाः पुंसि' सूत्र द्वारा पुल्लिग का प्रयोग होना चाहिए। दुर्घटवृत्तिकार ने यहां 'अच्' की प्राप्ति सोमनन्दी के नाम से 'अच्प्रत्यव—' (५।४।७५) सूत्र द्वारा मानी है। इस सूत्र की वृत्ति में 'अन्यत्रपि च दृश्यते' कह कर 'दीर्घरात्रः' आदि प्रयोगों में 'अच्' प्रत्यय माना गया है।[1] इसी प्रकार 'गणरात्रम्' शब्द में भी इस वचन अथवा सूत्र के योगविभाग के आधार पर 'अच्' की प्राप्ति संभव तो है, परन्तु जब 'अहस्सर्वे—' सूत्र से साक्षात् प्रत्यय की प्राप्ति हो जाती है तो फिर उपयुक्त कल्पित अथवा असाक्षात् आधार को अपनाने की बात समझ में नहीं आती। अस्तु।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। 'गण' शब्द बहुत्व तथा समूह दोनों अर्थों का वाचक है। प्रथम समाधान बहुत्ववाचिता पक्ष को मानते हुए यही दिया गया है कि 'गणानां (बहूनां) रात्रीणां समाहारः' विग्रह द्वारा समाहार अर्थ में—' तद्धितार्थो···' (२।१।५१) सूत्र से द्विगु समास करके तथा बाद में 'अच्' प्रत्यय होकर 'गणरात्र' शब्द बन जाएगा। इसके पश्चात् 'समासान्ताः अनवयवाः' न्याय के अनुसार 'गणरात्र' के उत्तर पद 'रात्र' के अकारन्त न होने के कारण 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते'[2] वार्तिक द्वारा स्त्रीलिंग की प्राप्ति नहीं हो सकेगी तथा 'स नपुंसकम्' सूत्र द्वारा नपुंसकलिंग होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जायेगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने यह समाधान समासान्त प्रत्ययों को समास का अवयव न मान कर दिया है। परन्तु महाभाष्य, प्रदीप उद्योत, पदमञ्जरी, न्यास आदि में इस सिद्धान्त के विपरीत यह सिद्धान्त माना गया है कि समासान्त अवयव होते हैं। यदि समासान्त प्रत्ययों को अवयव न माना जाए तो 'उपशरदम्' जैसे प्रयोगों में कठिनाई उपस्थित होगी। 'टच्' प्रत्ययान्त 'उपशरीदम्' आदि प्रयोगों में यदि 'टच्' को अवयव न माना जाए तो 'टच्' के अभाव में दो दोष उपस्थित होंगे। प्रथम यह कि अकारान्तता न होने के कारण 'अम्' आदेश नहीं होगा तथा दूसरा यह कि 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' वार्तिक द्वारा 'टि' लोप की प्राप्ति होगी। समासान्त प्रत्यय को अवयव मानने पर ये दोष उपस्थित नहीं होंगे।[3]

---

१. काशिका, ५।४।७५।

२. महाभाष्य, २।४।३०, वा० ४।

३. बालमनोरमा (भाग २), ५।४।६८, पृ० २३।

दुर्घटवृत्तिकार ने दूसरा समाधान, अमरकोश टीका के अनुसार, यह दिया है कि 'रात्र' शब्द के पात्रादि होने के करण उससे नपुंसकलिंग हो जाएगा। अमरकोश की सुधा टीका में कहा गया है कि अदन्त पात्रादि, शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होते हैं।[1] महाभाष्य में 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेध.'[2] वार्तिक पढ़ी गई है जिसके अनुसार पात्रादि शब्दों से पुल्लिग का निषेध किया गया है, क्योंकि इन शब्दों में नपुंसकलिंगत्व अभीष्ट है। कैयट के अनुसार पात्रादिगण आकृतिगण है।[3] संभवतः इसी गण का निर्देश दुर्घटवृत्ति में उद्धृत अमरकोशटीका के नाम से किया गया है।

द्वितीय पक्ष में अर्थात् 'गण' शब्द को समूहवाची बताते हुए शरणदेव ने दूसरा समाधान यह दिया है कि 'रात्रे गणः' विग्रह के अनुसार 'रात्रि' का गण के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करके तथा 'रात्रि' शब्द को राजदन्तादिगण में समाविष्ट मानते हुए उसका परनिपात करके 'गणरात्रि' शब्द बनेगा तथा समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो कर 'लिङ्मशिष्यं लोकाश्रयत्वात्' वचन के अनुसार 'शतम्', 'सहस्रम्' आदि प्रयोगों के समान 'गणरात्रम्' में नपुंसकलिंग सिद्ध हो जाएगा। गणपति शास्त्री ने कहा है कि लिंगानुशासन के 'शतायुतपुंसि च' (सू० १४५) तथा 'सहस्रः पुंसि' वचनों के होने पर भी 'शत' और सहस्र शब्द नपुंसकलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं।[4] लिङ्गानुशासन में यह सूत्र 'सहस्र क्वचित्' (सू० १४८) रूप में मिलता है जिससे 'सहस्र' और सहस्रम्' दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। वाचस्पत्यम् में भी 'गणरात्र' शब्द का लिंग नपुंसकलिंग माना गया है।

अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने नपुंसक शब्दों के प्रकरण में अमरकोश का 'रात्रं प्राक् संख्ययान्वितम्'[5] वचन उद्धृत किया है, जिसमें संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द से नपुंसकलिंग का विधान किया गया है। अतः इस वचन के अनुसार 'गण शब्द की 'बहुगण—' सूत्र से संख्या संज्ञा होने के कारण 'गणरात्रम्' में नपुंसकलिंग का प्रयोग साधु माना जाएगा।

सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' वचन के अनुसार इस प्रयोग में नपुंसकलिंग माना गया है।[6] लिंगानुशासन में यह सूत्र

---

१. अमरकोश, सुधा टीका, ३।५।२५।
२. महाभाष्य, २।४।३०।
३. प्रदीप, महाभाष्य, २।४।३०, पृ० ८३४।
४. दुर्घटवृत्ति, पृ० ५५ पादटिप्पण १।
५. अमरकोश, ३।५।२५।
६. सिद्धांतकौमुदी, (भाग २), २।२।२६, पृ० १०३।

संख्यापूर्वा रात्रिः' (सू०१३१) रूप में मिलता है। ऊपर उद्धृत 'रात्रं प्राक् संख्ययान्वितम्,' 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' तथा 'संख्यापूर्वोरात्रिः' इन तीनों वचनों में एक ही नियम वर्णित है। इस प्रकार 'त्रिरात्रम्' तथा 'पञ्चरात्रम्' में भी नपुंसकलिंगता सिद्ध हो जाएगी।

'रात्राह्नाहाः पुंसि' सूत्र के 'अहन्' शब्द के विषय में विचार करते हुए शरणदेव ने कहा है कि यह सूत्र अभिधेयलिंगता (परवल्लिंगता) का अपवाद है। इसीलिए 'अहन् निर्गतः' अर्थ में 'निरह्नः' प्रयोग निष्पन्न होगा। यहां समास में विद्यमान परशब्द 'अहन्' का लिंग नपुंसकलिंग है, फिर भी उसकी दृष्टि से लिंगप्रयोग न होकर अपवाद नियम 'रात्राह्नाहाः पुंसि' के अनुसार यहां पुंल्लिंग का प्रयोग ही साधु माना जाएगा, ऐसा रक्षित का विचार है।

इस प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में दुर्घटवृत्तिकार ने 'दयह्ना' पूजा प्रयोग को प्रस्तुत करके यह कहा है कि यहां पर 'रात्राह्नाहाःपुंसि' सूत्र के अनुसार पुंल्लिगता क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'परवल्लिङ्गम्—' (२।४।२६) सूत्र से 'तत्पुरुषयोः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः उसकी अनुवृत्ति तथा द्वन्द्व पद के साहचर्य के कारण समास के पदों का जो अभिधेय अर्थ है उसी का यहां ग्रहण किया जाएगा अर्थात् केवल उनकी ही अभिधेयता अथवा वाच्यार्थता के होने पर यह सूत्र पुंल्लिग का विधान करता है। 'द्वयाह्नापूजा' प्रयोग में जो तत्पुरुष समास है उसमें समास के पदों के अर्थ के साथ-साथ 'भव' अर्थ भी है। इसलिए केवल समस्त पदों की अभिधेयार्थता न होने के कारण यहां सूत्र द्वारा पुंल्लिगता का विधान नहीं होगा। इस प्रयोग में 'राजाहःसखि—' (५।४।९१) सूत्र से 'टच्' प्रत्यय हुआ है, जो 'टित्' है। अतः 'टिड्ढाण—' सूत्र के अनुसार यहां स्त्रीलिंग में 'ङीप' होना चाहिए। परन्तु 'अनुपसर्जनात्' सूत्र से 'ङीप्' का निषेध हो जाने कारण 'टाप्' ही होगा।

अपथं नपुंसकम् २।४।३०

अपन्थानम्

'अपथं नपुंसकम्' सूत्र द्वारा 'अपथ' शब्द के नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने के कारण 'अपन्थानंतुगच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति'[1] श्लोकांश के 'अपन्थानम्' पद में पुंल्लिंग का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उपर्युक्त सूत्र में 'अपथम्'

१. अनर्घराव, १।४।

समासान्त निर्देश है अर्थात् 'अपथिन्' शब्द से ऋक्पूर— (५।४।७४) सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय होकर 'अपथ' शब्द सिद्ध होता है। उसी का इस सूत्र में ग्रहण हुआ है। अतः समासान्त प्रत्यय से युक्त होने पर ही नपुंसकलिंग की प्राप्ति अभीष्ट है, अन्यत्र 'अपन्थाः', 'अतिपन्थाः', 'सुपन्थाः' आदि में जिनमें 'न पूजनात्' (५।४।६९) सूत्र द्वारा समासान्त प्रत्यय का निषेध किया गया है यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। न्यास, सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा आदि में इसी सूत्र की व्याख्या में 'अपन्थाः' पद में पुंल्लिग की सिद्धि इसी प्रकार की गई है।[1]

कापथः

'पथः संख्याव्ययादेः'[2] (संख्या तथा अव्ययपूर्वक 'पथ' शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है) वार्तिक की दृष्टि से अमरकोश के 'विपथंकदध्वा कापथः समः'[3] वाक्य के 'कापथः' पद में पुंल्लिगता चिन्त्य है, क्योंकि 'काक्थ्यक्षयोः' (६।३।२०४) सूत्र से 'कु' अव्यय को 'का' आदेश होकर यह प्रयोग सिद्ध हुआ है। अमरकोश के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'विपथम' के स्थान पर 'विपथः' पाठ मिलता है।

इस प्रयोग को दो प्रकार से सिद्ध किया गया है। प्रथम यह कि 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) सूत्र में 'गति' शब्द के साहचर्य से सूत्रकार को 'कु' अव्यय ही अभीष्ट है, 'कु' के स्थान पर आदिष्ट 'का' नहीं। अतः 'कापथः' शब्द पुंल्लिग में ही प्रयुक्त होगा। 'कु' का पाणिनीय स्वरादिगण में पाठ नहीं मिलता। इसलिए उसकी अव्ययता के विषय में प्रश्न किया जा सकता है; परन्तु शरणदेव ने रक्षित का नाम लेकर यहां यह कहा है कि 'कु' की अव्ययता 'कु' पद का संख्या (वचन) लिंग तथा विभक्ति से सम्बन्ध न होने अथवा 'विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च' गणसूत्र के 'च' पद द्वारा उसे निपात मानने के कारण सिद्ध है।

इस समाधान में विचारणीय है कि 'कु' को अव्यय मानते हुए उसके आदेश 'का' को अव्यय क्यों नहीं माना जाता ?

दूसरे समाधान के रूप में यह कहा गया है कि यहां पर 'कापथःसमाः' पाठ न होकर 'कापथं समाः' पाठ होना चाहिए। अपने मत की पुष्टि में शरणदेव

१. न्यास (भाग १), २।४।३०, पृ० ४५७।
२. महाभाष्य, २।४।३०, वा० २।
३. अमरकोश, २।१।१६।

ने क्लीबलिंगकारिका (संभवत: श्लोकबद्ध लिंगानुशासन का नपुंसकलिंग सम्बन्धी प्रकरण) का 'पथ: संख्याव्ययात् पर:' वचन उद्धृत किया है जो अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त वार्तिक से सर्वथा अभिन्न है।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'कश्चित्' निर्देश द्वारा एक अन्य समाधान 'लिंगमशिष्यं लोकश्रयत्वात्' वचन के रूप में दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि 'कापथ:' शब्द के पुंल्लिग में प्रयुक्त होने के कारण यहां पर पुंल्लिगता साधु माननी चाहिए। यह ध्यातव्य है कि 'का पथ्यक्षयो:' तथा 'पथि च छन्दसि' दोनों सूत्रों के उदाहरण के रूप में काशिकाकार आदि ने पुंल्लिग 'कापथ:' शब्द का ही प्रयोग किया है।[1] वाचस्पत्यम् आदि कोशों में 'कापथ' शब्द को पुंल्लिग माना गया है। मोनियर विलियम कोश में मार्ग अर्थ में प्रयुक्त 'कापथ' शब्द को पुंल्लिग माना गया है, परन्तु औषधि या वनस्पति विशेष अर्थ होने पर इस शब्द का लिंग नपुंसकलिंग माना गया है।[2]

तत्वबोधिनी में 'विपथ:', 'कापथ:' प्रयोगों को पहले 'बहव:' निर्देश द्वारा प्रमाद कहा गया है। बाद में, मनोरमा के मत रूप में, यह समाधान दिया गया है कि 'पथे गतौ' धातु से पचादि 'अच्' करके 'पथति' व्याप्नोतीति पथ:' व्युत्पत्ति के अनुसार 'पथ' शब्द सिद्ध होता है। इसी का 'कापथ:' तथा 'विपथ:' में प्रयोग हुआ है।[3] त्रिकाण्डशेष के 'वाट: पथश्च मार्ग: स्यात्' वाक्य में भी उपरि-निर्दिष्ट 'अच्' प्रत्ययान्त 'पथ' शब्द का ही निर्देश है।[4] अमरकोश की टीका में भी यही समाधान मिलता है।[5]

यहां पर यह कहा जा सकता है कि 'कापथ:' प्रयोग में 'कापथ्यक्षयो:' सूत्र से 'का' आदेश की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि यह शब्द 'पथिन्' शब्द के परे होने पर 'का' आदेश का विधान करता है, 'पथ' शब्द के परे होने पर नहीं। इस दोष का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि यहां पर 'ईषदर्थे' (६।३।१०५) सूत्र से 'का' आदेश की प्राप्ति हो जाएगी।

---

१. काशिका, ६।३।१०४, ६।३।१०८।

२. 'कापथ, m, a bad road, N. the fragrant root of Andropogon Muricatus.' —Monier William Dictionary.

३. तत्वबोधिनी (भाग २), २।४।१७, पृ० १०७।

४. त्रिकाण्डशेष, २।१।१६।

५. अमरकोश, सुधा टीका, २।१।१६।

इसी प्रसंग में धातुवृत्ति में कहा गया है कि 'पथिन्' शब्द का पर्यायवाची 'पथ' शब्द अर्धचादिगण में पठित होने के कारण उभयलिंग वाला है।[1] परन्तु गणपाठ के सभी उपलब्ध सस्करणों के इस गण में यह शब्द नहीं पढ़ा गया। संभवत: इस गण की आकृतिगणता के आधार पर धातुवृत्तिकार ने यह बात कही है। उसने अपनी बात कहने के पश्चात् यह सूचना भी दी है कि सुभूति तथा चन्द्र के अनुसार 'कापथ' तथा 'विपथ' शब्द पुल्लिग तथा नपुंसकलिंग दोनों लिगों में प्रयुक्त होते हैं तथा शाक्यमुनि ने 'पथः संख्याव्ययादेः' वार्तिक के विपरीत संख्या तथा अव्यय से परे 'पथिन्' शब्द को पुल्लिग माना है।[2]

द्वितीयाटौस्स्वेन: २।४।३४

'द्वितीयाटौ···' सूत्र द्वितीया आदि विभक्तियों के परे होने पर 'इदम्' तथा 'एतत्' शब्दों को अन्वादेश के विषय में 'एन' आदेश करता है। जब किसी के विषय में कुछ कह कर फिर उसी के विषय में कुछ कहा जाए तो वहां अन्वादेश होता है।[3] जैसे—'इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय अथो एनं व्याकरण-मध्यापय।' इस नियम के अनुसार—'हे रोहिणि ! त्वमसि शीतकरस्य भार्या एनं निवारय पतिं सखि ! दुर्विनीतम्जालान्तरेण मम वासगृहं प्रविश्य श्रोणीतटं स्पृशति किं कुलधर्म एषः ॥' श्लोक में अन्वादेश का अभाव है, क्योंकि 'एनं निवारय' कथन से पूर्व कुछ नहीं कहा गया अर्थात् चन्द्रमा के अपराध का उल्लेख पहले नहीं किया गया। अत: यहां पर अन्वादेश की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

यों चन्द्रमा के विषय में इतना तो कहा ही गया है कि 'त्वमसि शीतकरस्य भार्या।' इस दृष्टि से तो अन्वादेश की स्थिति है ही, परन्तु शरण्देव ने संभवत: उपरिनिर्दिष्ट स्थिति से यहां अन्वादेश का अभाव माना है। ध्यातव्य है कि गणपति शास्त्री ने 'शीतकरस्य भार्या' के स्थान पर 'शीलवतीषु धन्या' पाठ माना है।[4] यदि यह पाठ माना जाए तो अन्वादेश का अभाव सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। इसलिए इसी पाठ को प्रसंग की दृष्टि से ठीक मानना चाहिए। अत: अन्वादेश के अभाव में 'एतद्' को 'एनम्' आदेश नहीं हो सकता।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'श्रोणीतटं स्पृशति किं

---

१. धातुवृत्ति, पृ० २११।

२. उपरिवत्।

३. 'Refrence again to what has been stated previously.'
—A Dictionary of Sanskrit Grammar, p. 29.

४. दुर्घटवृत्ति, पृ० ५६, पाद टिप्पण-२।

कुलधर्मः एषः' श्लोकांश के पश्चात् 'एनं निवारय' अंश का अन्वय करना चाहिए। इस प्रकार 'एषः' शब्द का अन्वादेश होने पर 'एनम्' प्रयोग साधु माना जा सकेगा। शब्दकौस्तुभ में भी यही समाधान दिया गया है।[1]

यह दोष वेणीसंहार के 'बहुवेणीं स्पृशन्नेनां कृष्णां धूमशिखामिव[2] श्लोकांश में उपस्थित होता है। यहां पर यह कहा गया है कि 'एनाम्' के स्थान पर 'एताम्' पाठ होना चाहिए।

अस्तेर्भूः २।४।५२

आस

'अस्तेर्भूः' सूत्र द्वारा आर्धधातुक (लकार प्रत्यय) परे होने पर 'अस्' धातु को 'भू' आदेश किए जाने के कारण कुमारसंभव के 'लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः'[3] श्लोकांश का 'आस' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'लिट्' लकार की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण 'अस्' को 'भू' आदेश होकर 'बभूव' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि प्रस्तुत प्रयोग 'अस भुवि' से निष्पन्न न होकर उभयपदी 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः भूभाव का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि 'अस्तेर्भूः' सूत्र में 'अस्ति' इस निर्देश विशेष से अदादिगणीय 'अस भुवि' का ही ग्रहण सूत्रकार को अभीष्ट है, न कि भौवादिक 'अस्' का। मल्लिनाथ टीका में वामन के नाम से तथा काव्यालंकार—सूत्रवृत्ति, वाचस्पत्यम् और शब्दकल्पद्रुम में भी यही समाधान मिलता है।[4]

इस प्रयोग को 'अस भुवि' से निष्पन्न मानते हुए शरणदेव ने, धातु प्रदीप के नाम से, दूसरा समाधान यह दिया है कि कुछ विद्वान् अनुप्रयोग से अन्यत्र 'अस्' को भूभाव करना नहीं चाहते। इसका अभिप्राय यह है कि 'अस्' के अनुप्रयोग में (एधामास आदि प्रयोगों में) तो 'अस्' को भूभाव होता ही नहीं। अनुप्रयोग से अन्यत्र भी कुछ प्रयोगों में भूभाव नहीं होता। अतः इन विद्वानों के अनुसार यह प्रयोग 'अस भुवि' से ही सिद्ध हो जाएगा। यहां दुर्घटवृत्ति में 'केचिदनुप्रयोगदन्यत्रास्तेर्भूभावं नेच्छन्ति' पाठ मिलता है। इस पाठ में 'अन्यत्र' के पश्चात् 'अपि' अंश त्रुटित है जो अभिप्रायः की दृष्टि से

१. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।४।३४, पृ० २८१।
२. वेणी संहार, १।१९।
३. कुमारसंभव, १।३५।
४. काव्यालंकार सत्रवृत्ति, ५।२।२७।

सर्वथा अनिवार्य है। यह बात धातुप्रदीप तथा धातुवृत्ति के उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है।[1] धातुवृत्ति में इसी बात की चर्चा करते हुए कहा गया है कि चान्द्र व्याकरण के अनुसार कभी-कभी 'असभुवि' के स्थान पर इस सूत्र द्वारा भूभाव अभिप्रेत नहीं होता।[2]

मल्लिनाथ तथा आप्टे के कोश में शाकटायन के नाम से, एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'आस' प्रयोग 'तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्' वचन के अनुसार तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय है। परन्तु वल्लभ को यह मत मान्य नहीं, क्योंकि 'अस्' को 'भू' आदेश के नियम के कारण उस प्रकार का तिङन्त अव्यय नहीं बन सकता। अतः कवि का यह प्रयोग प्रमादजन्य ही है।[3] आप्टे के अनुसार इस प्रयोग को या तो तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय मानना होगा या फिर प्रमादजन्य प्रयोग, क्योंकि यहां पर भौवादिक 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' धातु से इस प्रयोग को निष्पन्न मानते हुए 'दिदीपे' (दीप्ति) का अर्थ लेना बहुत दूर की बात होगी।[4]

ब्रुवो वचिः २।४।५३

प्रेष्यब्रुवः

'ब्रुवो वचिः' सूत्र द्वारा 'ब्रू' धातु को आर्धधातुक के विषय में 'वच्' आदेश का विधान किया गया है। अतः इस सूत्र के अनुसार 'प्रेष्यब्रुवो····' (२।३।६१) सूत्र में 'ब्रुवः' पद विचारणीय है, क्योंकि 'ब्रू' धातु से आर्धधातुक प्रत्यय 'क्विप्' होकर यह प्रयोग निष्पन्न हुआ है। अतः यहां पर 'ब्रू' को 'वच्' आदेश होना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'अजेर्व्यघञपोः' (२।४।५६) सूत्र 'अजेः' निर्देश 'इक्' प्रत्ययान्त 'अज्' धातु का है। 'इक्' प्रत्यय के आर्धधातुक होने के कारण यहां पर भी 'अज्' को 'वी' आदेश होना चाहिए था। परन्तु इस सूत्र में 'वी' आदेशरहित तथा लाघव की दृष्टि से उपर्युक्त साक्षात् 'अज्' धातु के षष्ठ्यन्त 'अजः' निर्देश के स्थान पर 'अजेः' गुरु निर्देश किया गया। अतः सूत्रकार के इस 'वी' आदेश रहित तथा गुरु निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि आर्धधातुकीय कार्य अनित्य होता है। इस सामान्य ज्ञापक के द्वारा

१. धातुप्रदीप, पृ० ८३।
२. धातुवृत्ति, पृ० ३७१।
३. मल्लिनाथ टीका, कुमार संभव १।३५।
४. 'But the sense of दिदीपे or 'shone' is far fetched through, प्रामादिकः प्रयोगः।—आप्टे-शब्दकोश।

'बू' से 'क्विम्' परे होने पर भी 'वच्' आदेश नहीं हुआ। इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है।[1] शरणदेव ने इस ज्ञापक के विषय में कहा है कि रक्षित ने 'अजेर्व्यघञपो:' सूत्र के प्रसंग में यह ज्ञापक सूचित किया था तथा ज्ञापकसमुच्चय में यह उल्लिखित है।

अजनै:

आर्धधातुकीय कार्य के अनित्य होने के कारण 'विकृति: कटके कृताजनै:' श्लोकांश का 'अजनै:' प्रयोग भी साधु माना जा सकेगा। यहां पर आर्धधातुक 'ल्युट्' प्रत्यय के परे होने के कारण 'अज्' को 'वी' आदेश की प्राप्ति थी।

अजेर्व्यघञपो: २।४।५६

वीज्यते

'अजेर्व्यघञपो:' सूत्र 'घञ्' तथा 'अप्' प्रत्ययों को छोड़कर अन्य आर्धधातुक प्रत्ययों के परे होने पर 'अज्' धातु को 'वी' आदेश करता है। कुमारसंभव के 'वीज्यते स हि संसुप्त:[2] श्लोकांश के 'वीज्यते' पद को पूर्वपक्ष के रूप मे 'अज्' धातु से निष्पन्न मानते हुए यह प्रश्न किया जा सकता है कि आर्धधातुक 'यक्' प्रत्यय के परे होने के कारण 'अज्' को 'वी' आदेश होकर 'वीयते' प्रयोग बनना चाहिए था।

यहां पर उत्तरपक्ष के रूप में यह कहा गया है कि यह प्रयोग 'ईज गति-कुत्सनयो:' धातु से निष्पन्न हुआ है। अत: यहां पर 'वी' भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार 'वातवीजनै:' 'प्रयोग में 'वीजनै:' शब्द 'ईज्' 'धातु से निष्पन्न हो जाएगा। यहां 'वीज्यते' में 'अज्' धातु की कल्पना करके पूर्वपक्ष प्रस्तुत करना बड़ा हास्यास्पद-सा लगता है। समझ में नहीं आता कि लेखक ने ऐसा क्यों किया ? वाचस्पत्यम् तथा आप्टे के कोश में इस प्रयोग को 'वीज्' धातु से निष्पन्न माना गया है।[3] यह धातु सिद्धान्तकौमुदी तथा धातुवृत्ति में नहीं मिलती, परन्तु श्रीषचन्द्रबसु द्वारा सम्पादित सिद्धान्त कौमुदी में इस धातु का भ्वादिगण में परिगणन अवश्य किया गया है।

वा यौ २।४।५७

'वा यों' सूत्र 'यु' (ल्युट्) प्रत्यय के परे होने पर 'अज्' धातु को विकल्प

१. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६६।

२. कुमारसंभव, २।४२।

३. वीज व्यजने, 'वीज्यते स हि संसुप्त:' इति कुमार वाचस्पत्यम्।

से 'वी' आदेश करता है । इस दृष्टि से अमरकोश के 'धवित्रं व्यजनम्[1] वाक्य के 'व्यजनम्' शब्द, जिसमें 'अज्' को 'वी' आदेश होता ही नहीं, की सिद्धि विचारणीय है, क्योंकि उपर्युक्त सूत्र द्वारा पक्ष में 'वी' भाव होकर सर्वदा दो प्रयोग बनने चाहिए ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम समाधान 'बहुलं संज्ञाच्छन्दसोरिति वक्तव्यम्'[2] (संज्ञा तथा छन्दस् के विषय में बहुल से कार्य होता है) वार्तिक द्वारा दिया गया है । इस प्रकरण में सामान्य रूप से वार्तिक में संकेतित 'बहुल' वचन से 'वी' आदेश की प्राप्ति होने के कारण नित्य 'व्यजनम्' शब्द ही सिद्ध होगा । यहां बहुलता के आधार पर 'वी' आदेश प्रवृत्त नहीं हो सकेगा ।

महाभाष्य में उपर्युक्त वार्तिक 'बहुलं तणि' रूप में मिलती है ।[3] वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त 'तण्' शब्द संज्ञा और छन्दस् के लिए प्राचीन पारिभाषिक शब्द है ।[4] अमरकोश की टीका में 'वा तणि' वार्तिक द्वारा यही समाधान दिया गया है ।[5] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार भी पक्ष में 'वी' भाव नहीं होता ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि व्यवस्थितविभाषा द्वारा नित्य 'व्यजनम्' शब्द ही बनेगा ।

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२

कौरव्याः

'तद्राजस्य...' सूत्र द्वारा स्त्रीलिंग को छोड़ कर अन्य लिंगों में बहुवचन में वर्तमान तद्राजसंज्ञक प्रत्यय के 'लुक्' का विधान किया गया है । 'ते तद्राजाः' (४।१।१७४) सूत्र द्वारा 'जनपदशब्दात्...' (४।१।१६८) आदि सूत्रों से विहित 'अञ्' आदि प्रत्ययों की तद्राजसंज्ञा का विधान किया गया है । अतः 'तद्राजस्य...' सूत्र की दृष्टि से वेणीसंहार के 'कौरव्याः पशवः'[6] श्लोकांश का 'कौरव्याः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कुर्वादिभ्योण्यः' (४।१।१५१) सूत्र में 'क्षत्रिय' पद की अनुवृत्ति न आने के कारण इस प्रयोग में 'ण्य' प्रत्यय नहीं

---

१. अमरकोश, २।७। २३ ।

२. काशिका, २।४।५४ ।

३. महाभाष्य, २।४।५४ ।

४. 'तण् ancient term for संज्ञा and छन्दस् used by vartikkara'. A Dictionary of Sanskrit Grammar p. 166.

५. 'बहुलं तणि' (वा० २।४।५५) इति वा वीभावो न ।—अमरकोशसुधा टीका, २।६।१४० ।

हार, १।२५ ।

माना जा सकता। इसके विपरीत 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' (४।१।१७२) सूत्र में 'जनपदशब्दात्…' सूत्र से 'जनपद' तथा 'क्षत्रिय' की अनुवृत्ति आने के कारण 'कौरव्याः'[1] प्रयोग इसी सूत्र द्वारा विहित 'ण्य' प्रत्यय के संयजोन से सिद्ध होगा। परन्तु इस 'ण्य' प्रत्यय की तद्राज संज्ञा होने के कारण बहुवचन में प्रत्यय का 'लुक्' होकर 'कुरवः' प्रयोग बनना चाहिए, जैसाकि भारवि ने अपने काव्य में किया है 'चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति'।[2]

इस समस्या के दो समाधान दिए गए है। प्रथम, भागवृत्ति के मत रूप में यह दिया गया है कि 'कुर्वादिभ्योण्यः' सूत्र में भी 'क्षत्रियगोत्र' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यह सूत्र भी क्षत्रियगोत्र वाचक शब्दों से ही प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार इस सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय होकर 'कौरव्याः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस सूत्र द्वारा विहित प्रत्यय की तद्राज संज्ञा न होने के कारण उसके 'लुक्' का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

परन्तु इस समाधान में यह विचारणीय है कि 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' सूत्र में क्षत्रियगोत्र की अनुवृत्ति कहां से आ रही हैं, क्योंकि काशिका आदि किसी भी ग्रन्थ में ऐसा नहीं माना गया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने कहा है कि भागवृत्तिकार ने यह स्पष्ट नहीं किया कि इस सूत्र में क्षत्रियगोत्र वचन की अनुवृत्ति कहां से आ रही है क्योंकि यह अनुवृत्ति कहीं से भी संभव नहीं है।[3]

'कुर्वादिभ्योण्यः' सूत्र में क्षत्रियगोत्र की अनुवृत्ति न मानते हुए जयादित्य के मतानुसार दूसरा समाधान यह दिया गया है कि द्विवचन अथवा एकवचन में कुरुनादिभ्यो ण्यः' सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय करके 'कौरव्य' शब्द सिद्ध हो जाएगा। उसके पश्चात् 'तत्र साधुः' (४।४।९८) सूत्र द्वारा साधु अर्थ में 'कौरव्ये साधवः' व्युत्पति के अनुसार 'यत्' प्रत्यय हो कर 'कौरव्य+त्' स्थिति बनेगी। फिर अकार तथा यकार का लोप हो कर बहुवचन में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा सुधानिधि में भी इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[4] शरणदेव ने इस प्रसंग में यह भी कहा है कि 'कौरव्याः' शब्द दुर्योधन, द्रोण, दुश्शासन आदि का वाचक होगा।

कौरवः

शिशुपालवध तथा वेणीसंहार के 'कुकुरकौरवस्त्रियः'[5] तथा 'संरक्ष्यतां

१. काशिका, ४।१।१५१।
२. किरातार्जुनीयम्, १।१७।
३. भागवृत्ति संकलन, पृ० १७, पादटिप्पण २।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २) २।४।६२, पृ० २८९।
५. उपरिवत्

कौरवाः'[1] श्लोकांशों में 'कौरवः' पद इसलिए विचारणीय है कि 'कुरु' शब्द का कच्छादिगण में परिगणन न होने के कारण मनुष्यतत्स्ययोश्च' (४।२।१३४) सूत्र से 'वुञ्' होकर कौरवकः प्रयोग बनना चाहिए था।

इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए यह कहा गया है कि शब्दों की व्युत्पत्ति विवक्षा पर आधारित है अर्थात् जिस अर्थ की विवक्षा होती है उसी के अनुसार प्रत्यय आदि होकर शब्दों का प्रयोग होता है। इन प्रयोगों में मनुष्य अर्थ की विवक्षा न होने के कारण 'वुञ्' प्रत्यय न होकर 'तस्येदम्' (४।३।१२०) सूत्र से 'तस्येदम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ है।

यदि यहां पर जनपद की विवक्षा मानी जाए तो ये प्रयोग 'अञ्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध हो जाएंगे। भागवृत्तिकार के अनुसार तो ये प्रयोग विषयों देशे (४।२।५२) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर सिद्ध होंगे।

पाण्ड्याः

रघुवंश के 'तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे[2] श्लोकांश के 'पाण्ड्याः' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'पाण्डोर्जनपदशब्दात् क्षत्रियाड्डयण् वक्तव्यः[3] वार्तिक द्वारा 'ड्यण् प्रत्यय होकर 'पाण्ड्वाः शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'ड्यण्' प्रत्यय की तद्राज संज्ञा होने के कारण प्रत्यय का 'लुक्' होकर 'पाण्डवाः' प्रयोग बनना चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहां पर ड्यण् प्रत्यय न होकर 'पाण्डौ साधवः' व्युत्पति के अनुसार 'तत्र साधुः सूत्र से 'यत्' प्रत्यय हुआ है। सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा सुधानिधि में भी इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'पाण्डु' शब्द से पहले 'ड्यण' प्रत्यय करने के बाद साधु अर्थ में 'यत' प्रत्यय कर लिया जाएगा।[4]

अदिप्रभृतिभ्यः शपः २।४।७२

विश्वसेत्

'अदिप्रभृति···' सूत्र 'अद्' आदि धातुओं से परे 'शप्' का 'लुक्' करता है

---

१. शिशुपालवध, १३।१६।
२. वेणीसंहार, ३।४७।
३. रघुवंश, ४।४९।
४. महाभाष्य में यह वार्तिक 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः' रूप में मिलती है।—महाभाष्य, ४।१।१६८।

इस दृष्टि से भट्टिकाव्य तथा पंचतंत्र के 'आश्वसेयुर्निशाचराः'[1] तथा 'न विश्वसेत् पूर्वविरोधितस्य'[2] श्लोकांशों के 'आश्वसेयुः' तथा 'विश्वसेत्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'श्वस्' धातु के अदादि होने के कारण इनसे परे 'शप्' का 'लुक्' होना चाहिए था ।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'श्वस्' धातु से पचादि 'अच्' करके आचार अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय के संयोजन से 'लिङ्' लकार में ये प्रयोग सिद्ध हुए हैं । अतः 'शप्' के 'लुक्' का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । यह समाधान शब्दकौस्तुभ तथा शब्दकल्पद्रुम में भी मिलता है ।[3]

दूसरा समाधान, जयमंगला टीका के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'गणकार्यमनित्यम्' परिभाषा के आश्रयण से यहां पर 'शिप्' के 'लुक्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा । पदमञ्जरी में 'अपरः' निर्देश द्वारा तथा धातुवृत्ति और परिभाषावृत्ति में भी यही समाधान मिलता है ।[4] हरदत्त के अनुसार ये प्रयोग 'निरंकुशाः कवयः' नियम के अनुसार साधु ही हैं । उसके अनुसार उपर्युक्त समाधान इसलिए उचित नहीं है कि गणकार्य की अनित्यता के आधार पर यदि इन प्रयोगों को साधु मान लिया जाए तो किसी भी असाधु प्रयोग को अपशब्द नहीं कहा जा सकेगा ।[5]

तीसरा समाधान यह दिया गया कि भ्वादिगण के आकृतिगण होने के कारण 'श्वस्' धातु को उसमें समाविष्ट मानकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे । यदि यह कहा जाए कि 'यजादयो वृत्ताः' कथन से 'यज्' आदि धातुओं के पश्चात् भ्वादिगण समाप्त हो जाता है अर्थात् यह गण आकृतिगण नहीं है तो इसका उत्तर यह दिया गया कि वृत्तकरण का तात्पर्य यजादि धातुओं की समाप्ति है, न कि 'भ्वादि' धातवों की । भट्टोजिदीक्षित ने इस गण को आकृतिगण माना है ।[6]

उपासते

इसी प्रकार का दोष 'वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते' वाक्य के एकवचन के प्रयोग 'उपासते' में उपस्थित होता है, क्योंकि 'अस्' धातु भी अदादि है । अतः इससे परे 'शप्' का 'लुक्' होना चाहिए था ।

---

१. भट्टिकाव्य, १६।२१ ।
२. पंचतंत्र, ३।१।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।७२, पृ० २६६ ।
४. पदमञ्जरी (भाग १), २।४।७२, पृ० ४६२ ।
५. पदमंजरी (भाग १), २।४।७२, पृ० ४६२ ।
६. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ७।४।१८, पृ० २२०-२२१ ।

दुर्घटवृत्ति, सुधानिधि तथा शब्दकौस्तुभ में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यह प्रयोग अदादिगणीय 'अस्' से निष्पन्न न होकर भौवादिक 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' से निष्पन्न हुआ है। अतः 'शप्' के 'लुक्' का प्रश्न ही नहीं उठता।[1] यही समाधान शब्दकल्पद्रुम में भी दिया गया है।

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७

मा भैः

'गातिस्था···' सूत्र द्वारा 'गा,' 'स्था' आदि धातुओं से परस्मैपदी प्रत्ययों के परे होने पर 'सिच्' लोप का विधान किया गया है। इस सूत्र में 'भी' धातु का परिगणन न होने के कारण 'लुङ्' के मध्यम पुरुष एकवचन के 'मा भैः' 'सिच्' का 'लुक्' चिन्त्य है। उसके स्थान पर 'भैषीः' प्रयोग बनना चाहिए था। जैसाकि भट्टि ने अपने काव्य में प्रयोग किया है—मा स्म भैषीः।[2]

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'आगमशास्त्रम-नित्यम्'[3] परिभाषा के अनुसार 'अस्तिसिचो···' (७।३।९६) सूत्र द्वारा 'ईट्' का आगम न होकर 'भै+स्+स्' स्थिति में 'हल्ङ्या···' (६।१।६८) सूत्र द्वारा 'सिप्' के 'स्' का लोप हो जाएगा। उसके पश्चात् विसर्जनीय आदेश होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। शब्दकौस्तुभ तथा सुधानिधि में 'गातिस्था···' सूत्र के प्रसग में यह समाधान विकल्प के रूप में मिलता है।[4]

दूसरा समाधान किसी आचार्य के मत रूप में यह दिया है कि 'गातिस्था···' सत्र का पञ्चम्यन्त 'भूभ्यः' निर्देश बहुवचनान्त न होकर एकवचनान्त है। 'भू+मी+ङस् (अस्) स्थिति में 'एरनेकाच···' (६।४।८२) सूत्र से 'यण्' आदेश होकर 'भूभ्यः' प्रयोग बना है। इस प्रकार 'गातिस्था···' सूत्र में ही 'भी' धातु का पाठ होने के कारह यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु शब्द-कौस्तुभ तथा सुधानिधि के अनुसार यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भट्टि का 'मा स्म भैषीः' प्रयोग असाधु सिद्ध होगा।[5] इसके अतिरिक्त महाभाष्य आदि किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में इस प्रकार के एकवचनान्त निर्देश का उल्लेख नहीं मिलता। अतः प्रथम समाधान ही उचित जान पड़ता है।

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।४।७२, पृ० २९६।
२. भट्टिकाव्य, ५।५८।
३. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या, ९५।
४. शब्दकौस्तुभ, (भाग २), २।४।७७, पृ० २९७।
५. उपरिवत्।

तृतीय अध्याय, प्रथम पाद

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३।१।७

नदीकूलं पिपतिषति

'धातोः कर्मणः—' सूत्र इच्छा का विषय होने पर 'सन्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'नदीकूलं पिपतिषति' प्रयोग में 'सन्' प्रत्यय की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि इच्छा अचेतन का धर्म न होकर चेतन का धर्म है। नदी का किनारा तो अचेतन होता है।

इस प्रश्न का उत्तर पदसंस्कार पक्ष के आश्रयण से यह दिया गया है कि पहले 'पितिषति' प्रयोग सिद्ध कर लिया जाएगा। उसके पश्चात् ही उसका 'नदीकूलम्' पद से योग होगा। अत: उपर्युक्त प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा।

महाभाष्य में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। काशिका, न्यास, पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी आदि में इस समस्या का समाधान 'आशंकायामुपसंख्यानम्'[1] वार्तिक द्वारा दिया गया है।[2] आशंका का अर्थ संभावना है और वह प्रयोक्ता का धर्म है। इस वार्तिक द्वारा स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय का विधान उस स्थिति में किया गया है जब धातु आशंका अर्थ की वाचक होती है। अत. 'नदीकूलं पिपतिषति' वाक्य का अर्थ होगा—'शंके कूलं पतिष्यति' अर्थात् संभावना है कि किनारा टूट जाए।

परन्तु महाभाष्य में इस वार्तिक का प्रत्याख्यान इस प्रकार कर दिया गया कि चेतन तथा अचेतन दोनों में इच्छा का कारण प्रवृत्ति है तथा वह दोनों में समान रूप से विद्यमान है। जैसे कोई चटाई बनाने की इच्छा करता है। उसकी इच्छा की उपलब्धि उसको चटाई बनाने में प्रवृत्त देखकर ही होती है। इसी प्रकार जब किनारा टूटने लगता है तो पहले ही ढेले टूटकर गिरने लग जाते हैं, दरारें पड़ जाती हैं तथा ढेले एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहने लगते हैं। यह दशा देखकर नदी के किनारे में टूटने की इच्छा का अध्यारोप कर लिया जाता है। अतः 'नदीकूल' के अध्यारोपित इच्छा का आश्रय होने के कारण 'पत्' धातु से 'सन्' प्रत्यय सिद्ध माना जाएगा।[3]

---

१. महाभाष्य, ३।१।७।

२. काशिका, ३।१।७।

३. महाभाष्य, ३।१।७, पृष्ठ ४१।

इच्छा का निमित्त जो कार्य है, वह अचेतन में नहीं होता तथा जो उसमें होता है वह इच्छा का कार्य नहीं माना जा सकता। इस दोष के निवारण हेतु महाभाष्यकार ने एक अन्य समाधान यह दिया है कि 'उपमानाद्वा' (चेतन के समान अचेतन इच्छा करता है) वार्तिक द्वारा 'पिपतिषतीव पिपतिषति' इस प्रकार यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1] परन्तु इस समाधान में यह कहा जा सकता है कि तिङन्त उपमान नहीं बन सकता। इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार ने यह दिया है कि 'इच्छा इव इच्छा' में इच्छा शब्द के अर्थ का वाचक होने के कारण उसके सत्त्वभूत होने से वह उपमान माना जा सकेगा तथा उसके सदृश होने पर 'सन्' प्रत्यय हो जाएगा।[2]

महाभाष्यकार ने एक अन्य समाधान यह दिया है कि सभी के चेतनावान् होने के कारण उनमें इच्छा हो सकेगी।[3] कैयट ने इस वचन की व्याख्या करते हुए यहां पर अद्वैत दर्शन माना है। वेद समस्त वस्तुओं अर्थात् चेतन-अचेतन दोनों में चैतन्य का प्रतिपादन करता है।[4]

मुमूर्षति

'मुमूर्षति' प्रयोग की सिद्धि में यह दोष उपस्थित होता है कि मरण इच्छा का विषय नही बन सकता—कोई मरना नहीं चाहता—अतः यह प्रयोग उत्पन्न नहीं हो पाता।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिए यह कहा गया है कि अत्यधिक दु:खी व्यक्ति के लिए मरण भी ईप्सित हो जाता है। कहा गया है—कि कुछ ऐसे दु:ख होते हैं जिनसे जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है।

कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३।१।११

गर्वायसे

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र उपमान रूप कर्ता से प्रत्यय का विधान करता है। इस दृष्टि से 'किं नाम गर्वायसे चक्री' श्लोकांश का 'गर्वायसे' प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि यहां पर उपमान का अभाव होने के कारण 'क्यङ्' नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'गर्व' शब्द से 'गर्वःअस्यास्तीति गर्वः' व्युत्पत्ति के अनुसार अर्शादि 'अच्' करके 'गर्व' शब्द बन जाएगा

---

१. महाभाष्य, ३।१।७ पृष्ठ ४१।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० ४२।

४. प्रदीप, महाभाष्य, ३।१।७, पृष्ठ ४३।

तथा यह शब्द गर्वीले पुरुष का वाचक होगा। उसके पश्चात् 'अगर्वी गर्वो भवति' अर्थ में 'भृशादिभ्यो···' (३।१।१२) सूत्र द्वारा अभूततद्भाव विषय में 'क्यङ्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। अर्शादिगण आकृतिगण है।[1] अतः 'गर्व' शब्द को उसमें पठित मान कर 'अच्' प्रत्यय तो हो जाएगा परन्तु 'गर्वः' शब्द न तो भृशादिगण में पढ़ा गया और न ही यह गण आकृतिगण है। अतः विचारणीय है कि यहां पर 'क्यङ्' की प्राप्ति किस सूत्र से हो सकेगी।

कैरवकोरकीयति

'श्वासः कैरवकोरकीयति' श्लोकांश के 'कैरवकोरकीयति' प्रयोग में 'उपमानदाचारे' (३।१।३०) सूत्र द्वारा विहित 'क्यच्' का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यह सूत्र 'पुत्रभिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्' जैसे प्रयोगों में प्रत्यय का विधान करता है। 'कैरवकोरकीयति' प्रयोग में श्वास आदि कैरवकोरक के समान आचरण नहीं कर रहे हैं। इस पद का अर्थ है—कैरवकोरक आदि आत्मभाव से आचरण कर रहे हैं। अतः उपमान के अभाव में 'क्यच्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए। 'क्यच्' के अभाव में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र द्वारा 'क्यङ्' होकर 'कैरवकोरकीयते' प्रयोग निष्पन्न होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'आत्मानम्' रूप उपमेय की कल्पना की जानी चाहिए। 'आत्मानम्' को कर्मकारक के रूप में उपमेय मानकर इस प्रयोग का अर्थ होगा—'श्वासः कैरवकोरकभिवात्मानमाचरति।' इस प्रकार यह प्रयोग साधु माना जाएगा।

प्रावृषायते

'प्रायः पुण्यवता देशे शरदिय प्रावृषायते' वाक्य में 'प्रावृषायते' प्रयोग न बनकर 'प्रावृष्' शब्द से 'क्यङ्' द्वारा 'प्रावृष्यते' प्रयोग बनना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह शब्द 'क्यङ्' प्रत्ययान्त नहीं है अपितु तृतीयान्त 'प्रावृषा' शब्द से 'अय्' धातु के एकवचान्त 'अयते' के संयोजन द्वारा सिद्ध हुआ है। परन्तु यह समाधान कुछ उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि स्वयं शरणदेव के अनुसार ही यह शब्दकोशों में टाबन्त (प्रावृषा) के रूप में मिलता है—'कालप्रभाता शरदा प्रावृषा तु जलार्णवा।'[2]

बाष्पोष्माभ्यामुद्वमने ३।१।१६

धूमायन्त

'वाष्पोष्मा···' सूत्र द्वारा केवल 'वाष्प' तथा 'उष्म' शब्दों से 'क्यङ्'

---

१. काशिका, ५।२।१२७।
२. त्रिकाण्डशेष, १।४।२६।

प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'धूमायन्त' प्रयोग में 'क्यङ्' की स्थिति विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कुछ विद्वान् 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्'[1] वार्तिक के स्थान पर 'फेनधूमाभ्याम्' निर्देश मानते हैं। अतः उनके अनुसार स्वतः प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। दुर्घटवृत्तिकार ने यहां पर प्रत्यय की प्राप्ति वार्तिक के चकार पद को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानते हुए मानी है। इसी प्रकार भाष्यकार का 'लालायितः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। भाषावृत्ति में भर्तृहरि के नाम से 'धूमाच्चेति भर्तृहरिः' वाक्य द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया गया है।[2]

नित्यं कौटिल्ये गतौ ३।१।२३

यायावराः

'नित्यं कौटिल्ये गतौ' सूत्र द्वारा कौटिल्य अर्थ में नित्य 'यङ्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण समभिव्याहार अर्थ में इस प्रत्यय का निषेध हो जाता है। इस दृष्टि से भट्टिकाव्य के 'यायावराः पुष्पफलेन चान्ये'[3] श्लोकांश का 'यायावराः' प्रयोग चिन्त्य है। 'यङश्च यङः' (३।२।१७६) सूत्र यङन्त धातु से 'वरच्' प्रत्यय का विधान करता है। अतः विचारणीय यह है कि यहां पर 'या' धातु के कौटिल्य अर्थ में प्रयुक्त न होने के कारण उससे 'वरच्' प्रत्यय कैसे हो गया।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' वचन के अनुसार 'यायावराः' प्रयोग में 'या' धातु को ज्ञानार्थक मान कर अथवा अन्य शब्दों में ज्ञान अर्थ की विवक्षा मानते हुए 'यङ्' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' सूत्र गत्यर्थक धातुओं से ही प्रत्यय का निषेध करता है, न कि ज्ञानार्थक धातुओं से।

धातुवृति में इस प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि 'यङश्च यङः' सूत्र में 'च' पद द्वारा जो पुनः 'वरच्' का विधान किया गया, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कौटिल्य भिन्न अर्थ में भी 'या' धातु से 'यङ्' प्रत्यय होता है।[4] इस प्रकार 'या' धातु से 'यङ्' तथा 'वरच्' होकर 'यायावराः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

---

१. महाभाष्य, ३।१।१६।
२. भाषावृत्ति, ३।१।१६।
३. भट्टिकाव्य, २।२०।
४. धातुवृत्ति, पृ० ३६१।

लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् ३।१।२४

चञ्चुरा

'लुपसदचर—' सूत्र द्वारा भावगर्हा अर्थ में 'यङ्' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'चरैराचरचञ्चुरा' श्लोकांश का 'चञ्चुरा' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर धातु गत्यर्थक है तथा भावगर्हा में प्रयुक्त नहीं हुई है। अतः 'यङ्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि पदों की सिद्धि के लिए सूत्र में क्रियागर्हा विवक्षित है। क्रियागर्हा से तात्पर्य धात्वर्थ से ही है। हरदत्त ने स्पष्ट कहा है कि भाव शब्द धात्वर्थ का वाचक है।[1] 'चञ्चुरा' प्रयोग में क्रियागर्हा के विवक्षित होने के कारण प्रत्यय हो जाएगा। सिद्धान्तकौमुदी तथा भाषावृत्ति में तो सूत्र का अर्थ ही यह किया गया है कि धात्वर्थ में प्रत्यय होता है।[2]

दुर्घटवृत्ति में उपयुक्त श्लोकांश भट्टि के नाम से उद्धृत किया गया है परन्तु यह श्लोकांश भट्टिकाव्य में न मिलकर किरातार्जुनीयम् में मिलता है।[3]

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् ३।१।२५

लिखापयति

'सत्यपपाश—' सूत्र' सत्याप, आदि शब्दों से तथा चुरादि धातुओं से 'णिच्' का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से कायस्थ द्वारा प्रयुक्त 'वर्णापयाति' तथा 'लिखापयाति' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि अन्य किसी सूत्र द्वारा इन प्रयोगों के लिए 'आपुक्' का विधान नहीं किया गया।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'णिविधा -वर्थवेदसत्यानामापुक् च'[4] वार्तिक द्वारा 'आपुक्' के विधान से यह ज्ञापित होता है कि 'आपुक्' का विधान अन्य प्रयोगों की सिद्धि के लिए भी किया गया हैं। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'आपुक्' कहने के स्थान पर यदि 'आकार' अथवा 'पुक्' ही निर्देश कर दिया जाता तो भी 'अर्थापयति' जैसे प्रयोग सिद्ध हो जाते। यदि केवल 'आ' का विधान किया जाता तो 'अर्तिह्री'— (७।१।३६) सूत्र द्वारा 'पुक्' की प्राप्ति हो जाती और यदि केवल 'पुक्' का विधान किया जाता तो 'अर्थप्' स्थिति बन जाने के पश्चात् 'णिच्' के परे होने

१. पदमंजरी (भाग १), ३।१।२४, पृ० ५३०
२. सिद्धान्तकौमुदी, ३।१।२४।
३. किरातार्जुनीयम्, ५।३८।
४. महाभाष्य, ३।१।२५,वा० २।

के कारण अत 'उपधायाः' (७।२।११६) सूत्र द्वारा वृद्धि आदेश होकर 'अर्थ-पर्यति' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस ज्ञापक का उल्लेख धातुवृत्ति में आत्रेय के नाम से तथा ज्ञापकसमुच्चय में भी किया गया है। इन ग्रंथों में इसी ज्ञापक द्वारा 'लिखापयति' प्रयोग सिद्ध किया गया है।[1]

जुघुषुः

'सत्यापपाश—' सूत्र की दृष्टि से 'जुघुषुः पुष्पमालवाः' वाक्य का 'जुघुषुः' प्रयोग भी विचारणीय है, क्योंकि यह शब्द 'घुषिर् विशब्दने' धातु से निष्पन्न हुआ। इस शब्द का अर्थ है—अपने विचार शब्दों में प्रकट किए। 'घुषिर विशब्दने' धातु के चुरादिगण में पठित होने के कारण 'सत्यापपाश—' सूत्र द्वारा णिच् होकर नित्य 'णिच्' सहित प्रयोग करना चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'घुषिरविशब्दने' (७।२।२३) सूत्र द्वारा 'घुषिर् अविशब्दने' धातु से निष्ठा में 'इट्' का निषेध किया गया है। अतः चुरादिगणीय 'घुषिर् विशब्दने' धातु से निष्ठा में 'इट्' का निषेध नहीं हो सकेगा। चौरादिक समस्त धातुएं ण्यन्त के रूप में प्रयुक्त होती हैं। 'घुष्' धातु से 'णिच्' करके यदि 'इट्' किया जाए तो 'घुष+इ+णिच् (इ)' स्थिति में 'निष्ठायां सेटि' (६।४।५२) सूत्र से 'णिच्' का लोप होकर 'घोषितम्' प्रयोग बनेगा। इसी प्रकार यदि 'इट्' का निषेध कर भी दिया जाए तो उस अवस्था में भी (घुष्+णिच्+क्त) यही प्रयोग बनेगा। अतः सूत्रस्थ 'अविशब्दन' शब्द से यही ज्ञापित होता है कि चुरादि धातुओं से 'णिच्' कार्य अनित्य है। यदि यह कार्य नित्य होता तो सूत्र में 'अविशब्दने' पद का ग्रहण न किया जाता। इस प्रकार 'घुषिर विशब्दने' धातु से 'णिच्' प्राप्ति के अनित्य होने के कारण 'जुघुषुः' प्रयोग साधु माना जा सकेगा। इस ज्ञापक का उल्लेख महाभाष्य, न्यास, पदमंजरी, ज्ञापकसमुच्चय आदि सभी ग्रन्थों में मिलता है तथा इसी ज्ञापक द्वारा 'जुघुषुः' प्रयोग भी सिद्ध किया गया है।[2] महाभाष्य तथा न्यास में 'णिच्' की अनित्यता केवल घुषिर 'विशब्दने' धातु से मानी गई है, जबकि ज्ञापकसमुच्चय के अनुसार इस ज्ञापक को सामान्य ज्ञापक मानते हुए—समस्त चौरादिक धातुओं से 'णिच्' अनित्य है— ऐसा माना गया है।[3]

---

१. (क) अत्र आत्रेयः—इति भवति। —धातुवृत्ति, पृष्ठ ४७५।
(ख) ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ७०।

२. महाभाष्य, ७।२।२३, पृ० पृ० १२१।

३. ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ६०।

दुर्घटवृत्तिकार ने दूसरा समाधान यह दिया है कि यह प्रयोग भौवादिक 'घुषिर्' धातु से निष्पन्न हुआ है। परन्तु भौवादिक 'घुषिर्' धातु का विशब्दन अर्थ मानने पर ही यह समाधान उचित माना जा सकता है। धातुवृत्ति तथा सिद्धांत—कौमुदी में कहा गया है कि कुछ विद्वान् इस धातु का विशब्दन अर्थ भी मानते हैं।[1]

हेतुमति च ३।१।२६

रामो राज्यमकारयत्

'हेतुमति च' सूत्र प्रयोजक के व्यापार को कहने के लिए 'णिच्' प्रत्यय करता है। इसलिए 'रामो राज्यमकारयत्', 'भवान वाहयेदध्वशेषम्', 'कोकिला विष्णुरूपेण राजकन्यामजीहरन्' तथा 'सकलभुवनराज्यं कारयामास' प्रयोग विचारणीय हैं क्योंकि इन समस्त प्रयोगों में प्रयोजक के रूप में किसी हेतु का उल्लेख नहीं किया गया। अत: उसके अभाव में यहां पर स्वार्थ में 'णिच्' की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

'रामो राज्यमकारयत्' तथा 'भवान वाहयेदध्वशेषम्' प्रयोगों के लिए रक्षित के नाम से, यह समाधान दिया गया है कि लक्षण अथवा नियमों के विवक्षाधीन होने कारण इन प्रयोगों में 'णिच्' की प्राप्ति के लिए पहले हेतुहेतुमद्भाव की विवक्षा करनी होगी। 'राम ने स्वयं से राज्य करवाया' इस प्रकार स्वयं रूप हेतु की विवक्षा होने पर धातु से 'णिच्' हो जाएगा। ण्यन्त प्रयोग के सिद्ध हो जाने के पश्चात् यह शब्द स्वभावत: स्वार्थ को कहने लगता है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' में भी स्वीकार की गई है। यहां पर प्रयोजक का अभाव होने पर भी 'स्वयम्' में हेतु की विवक्षा करके 'रूह्' धातु से 'णिच्' प्रत्यय माना गया है।

'सकलभुवनराज्यं कारयामास' प्रयोग के लिए जयमंगला टीका के मत रूप में, यह समाधान दिया गया है कि यहां पर पादुकाओं को प्रयोज्य मान कर धातु से 'णिच्' हुआ है। परन्तु सम्प्रति उपलब्ध जयमंगला टीका में यह मत उपलब्ध नहीं होता। भट्टिकाव्य की ही चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका में यह कहा गया है कि 'कारयास्मन्मतेन' प्रयोग में पादुकाओं को प्रयोज्य मान कर 'णिच्' का प्रयोग हुआ है।[2] इसी प्रकार 'कोकिला विष्णुरूपेण राजकन्यामजी-हरन्' प्रयोग में भी विष्णुरूप में प्रयोज्य की विवक्षा मान कर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

---

१. धातुवृत्ति, पृष्ठ ५५८।

२. चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, ३।५६।

गुपुधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३।१।२८

गुपितम्

'गुपुधुप—' सूत्र 'गुपू रक्षणे' आदि धातुओं से 'आय' प्रत्यय का विधान करता है परन्तु आर्धधातुक प्रत्यय के पर रहने परे 'आयादय—' (३।१।३१) सूत्र से 'आय' प्रत्यय की विकल्प से प्राप्ति होती है। 'गुप्' धातु ऊदित् है। अत: 'स्वरतिसूति—' (७।२।४४) सूत्र द्वारा विकल्प से वलादि 'इट्' की प्राप्ति होने के कारण 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) सूत्र से निष्ठा' में 'इट्' का निषेध हो जाता है। इसलिए 'गुप्तम्' तथा 'गोपायितम्' दो प्रयोग बनेंगे। इस दृष्टि से 'गुपितम्' प्रयोग की साधुता विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर, धातुप्रदीप टीका के मत के रूप में, यह दिया गया है कि 'गुप गोपनकुत्सनयो:' धातु से 'सन्' की प्राप्ति केवल निन्दा आदि अर्थों में ही होती है। उन अर्थों से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'सन्' न होकर केवल 'तिङ्' आदि प्रत्यय ही होते हैं। इस प्रकार इस 'गुप्' धातु से, जो अदित् नहीं है, 'इट्' होकर 'गुपितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। चौरादिक 'गुप्' धातु से 'णिच्', 'गुण' आदि कार्य होकर 'गोपितम्' प्रयोग ही बनेगा। धातुप्रदीप में कहा गया है कि निन्दा अर्थ से अन्यत्र 'गोपित्वा और गुपितम्' प्रयोग ही बनेंगे।[1]

पणायितम्

'गुपूधूप—' सूत्र में 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' तथा 'पन स्तुतौ' ये दो धातुएं पढ़ी गई हैं। काशिका, न्यास, पदमंजरी, सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ आदि के अनुसार स्तुत्यर्थक 'पन' के साहचर्य से स्तुत्यर्थक 'पण' से ही 'आय' प्रत्यय होगा, व्यवहारार्थक 'पण्' से नहीं।[2] इस दृष्टि से 'पणायितम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यह शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।[3] स्तुति अर्थ में प्रयुक्त होने पर यह प्रयोग साधु माना जाएगा परन्तु व्यवहार अर्थ में प्रयुक्त होने पर इसकी साधुता चिन्त्य होगी ही।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि कुछ विद्वान् 'पन्' धातु के साहचर्य की अपेक्षा नहीं करते। उनके अनुसार व्यवहार अर्थ में भी 'आय' प्रत्यय होता ही है। भट्टि ने भी व्यवहार अर्थ में

---

१. धातुप्रदीप, पृ० ७१।

२. काशिका, ३।१।२८।

३. स्तुत:। इत्यमर:, ३।२।१०६ (व्यवहृतम्) क्रीतम्। विक्रीतम्। इति धात्वर्थलब्धोऽर्थ:।—शब्दकल्पद्रुम।

इस धातु का प्रयोग किया है— 'न चोपलेभे पणायान्'।[1] परन्तु जयमंगला के लेखक ने यहां पर स्पष्टतः साहचर्य स्वीकार किया है। भट्टि के इस प्रयोग में 'पण' धातु का अर्थ स्तुति मानते हुए 'आय' प्रत्यय की कल्पना की गई। अतः इस श्लोकांश का अर्थ किया गया— व्यवहार विषयक स्तुति को प्राप्त नहीं किया।[2]

गां विच्छति

तौदादिक 'विच्छ' धातु से 'गुपूधूप—' सूत्र द्वारा सार्वधातुक लकारों में नित्य 'आय' प्रत्यय होकर 'विच्छायति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। अतः इस सूत्र की दृष्टि से 'च्छ्वोः—' (६।४।१९) सूत्र की व्याख्या में न्यासकार द्वारा प्रयुक्त 'गां विच्छतीति गोविट्' प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रयोग की साधुता के लिए 'केचित्' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि तुदादिगण में इस धातु का पाठ करने से यह ज्ञापित होता है कि सार्वधातुक लकारों में भी 'आय' प्रत्यय विकल्प होता है। यदि सूत्रकार को ऐसा अभीष्ट न होता तो वह 'विच्छ' धातु को भ्वादिगण में ही पढ़ देते, क्योंकि उस अवस्था में भी 'शप्' होकर 'विच्छायति' प्रयोग ही बनता। धातुवृत्ति में यह मत सुधाकर, काश्यप तरंगिणीकार नामक विद्वानों के नाम से उद्धृत किया गया है। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने न्यासकार के 'गां विच्छतीति गोविट' वाक्य को उद्धृत किया है।[3]

परन्तु पदमंजरी, धातुवृत्ति, धातुप्रदीप, प्रदीप टीका, शब्दकौस्तुभ आदि ग्रंथों के अनुसार तो 'श' विकरण वाली धातु से भी नित्य 'आय' होता ही है। इनके मत में 'विच्छ्' धातु को तुदादिगण में पढ़ने का प्रयोजन यह है कि 'शतृ' प्रत्ययान्त 'विच्छायती' प्रयोग में 'आच्छी—' (७।१।८०) सूत्र द्वारा विकल्प से 'नुम्' होकर 'विच्छायती' और 'विच्छायन्ती' दो प्रयोग बन सकें। इस धातु का पाठ यदि भ्वादिगण में किया जाता तो 'विच्छायन्ती' प्रयोग ही सिद्ध हो पाता।[4] दुर्घटवृत्ति ने यह मत 'अन्ये' निर्देश द्वारा प्रस्तुत किया है। शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् में दोनों ही प्रयोग मिलते हैं।

---

१. भट्टिकाव्य, ३।२७।

२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ३।२७।

३. धातुवृत्ति, पृ० १२७।

४. पदमंजरी (भाग १), ३।१।२८, पृष्ठ ५४१।

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५

ददरिद्रौ

'कास्यनेकाच् इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम्'[1] ('कास्' तथा 'अनेकाच्' धातुओं से 'आम्' प्रत्यय होता है) वार्तिक के अनुसार 'चुलुम्प' आदि धातुओं से 'आम्' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाती है। अतः 'अनेकाच्' धातुओं से सर्वदा 'लिट्' लकार में 'आम्' की प्राप्ति होने के कारण 'दरिद्रा' धातु से 'लिट्' में 'ददरिद्रौ' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि नित्य 'आम्' होकर 'दरिद्राञ्चकार' प्रयोग ही बनना चाहिए।

पदमंजरी, सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ, दुर्घटवृत्ति, प्रदीप टीका में प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'आत औैर णलः' (७।१।३४) सूत्र में 'ओकार' के अपेक्षाकृत लघु आदेश 'ओकार' के स्थान पर जो गुरु निर्देश 'औकार' किया गया, उससे यही ज्ञापित होता है कि 'दरिद्रातेरार्धधातुके लोपः' वार्तिक द्वारा 'दरिद्रा' धातु से आर्धधातुक 'लिट्' लकार के परे होने पर 'दरिद्रा' के आकार का लोप हो जाने के पश्चात् 'औ' का श्रवण हो सके। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'औकार' के स्थान पर 'ओकार' आदेश किया जाता तो भी 'पपौ' आदि प्रयोग में 'प+पा+औ' स्थिति होने पर वृद्धि आदेश द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाते, परन्तु 'दरिद्रा' धातु के आकार का लोप होने पर 'औ' आदेश की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। अतः सूत्रकार ने सूत्र 'औ' निर्देश किया। इस प्रकार इस ज्ञापक से सिद्ध होता है कि 'दरिद्रा' धातु से पक्ष में 'आम्' रहित प्रयोग भी बनते हैं।[2] यही समाधान धातुवृति तथा ज्ञापकसमुच्चय में भी दिया गया।[3]

कासाञ्चक्रे

'कास्प्रत्ययादा—' सूत्र में 'कासृ कुत्सायाम्' धातु का ग्रहण हुआ है, न कि 'काशृ दीप्तौ' का। जैसे 'चकाशे तीर्णलौहित्ये' प्रयोग में 'काशृ' धातु 'आम्' रहित होकर प्रयुक्त हुई है। इस दृष्टि से भट्टि के 'कासाञ्चक्रे पुरी सौधैः'[4] श्लोकांश का 'कासाञ्चक्रे' प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि यहां पर 'कासृ' धातु शब्द कुत्सा में प्रयुक्त हुई है न कि दीप्ति अर्थ में। जयमंगला टीका के अनुसार इस

१. महाभाष्य में यह वार्तिक 'कास्यनेकाच् इति वक्तव्यम्' इस रूप में मिलती है।—३।१।३५।
२. पदमंजरी (भाग १), ३।१।३५, पृष्ठ ५४८।
३. धातुवृत्ति, पृष्ठ ३७८-७९।
४. भट्टिकाव्य, ८।३८।

श्लोकांश का अर्थ है—पुरी लंका शोभते स्म ।[1]

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'शब्द कुत्सायाम्' अनेक अर्थों में प्रयुक्त होती है । अत: यदि यहां पर उसका अर्थ प्रकाश माना जाए तब यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ: ३।१।३६

समीहे

'ऋच्छ्' धातु को छोड़ कर 'इजादेश्च—' सूत्र द्वारा इजादि तथा गुरुमान् धातुओं से 'लिट्' लकार के परे होने पर 'आम्' प्रत्यय का विधान किया गया है । इस नियम की दृष्टि से भट्टि के 'समीहे मतुमानर्चे'[2] श्लोकांश का 'समीहे' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'ईह्' धातु के इजादि तथा गुरुमान् होने के कारण 'आम्' होकर नित्य 'ईहाञ्चक्रे' प्रयोग बनना चाहिए ।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'इन्धिभवतिभ्यां च' (१।२।६) सूत्र द्वारा 'लिट्' को 'कित्' विधान करने से यह ज्ञापित होता है कि इजादि निमित्त कार्य अनित्य है । यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'इन्ध्' धातु के मन्त्र अथवा छन्दस् विषयक होने के कारण 'ईजादेश्च—' सूत्र से 'आम्' की प्राप्ति नहीं होगी । छान्दस् प्रयोगों में 'छन्दस्युमय—' (३।१।११७) सूत्र द्वारा सार्वधातुक तथा आर्धधातुक दोनों संज्ञाओं का विधान किया गया है । सार्वधातुक पक्ष में 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्र से 'लिट्' के 'ङित्' होने के कारण 'अनिदितां—' सूत्र से अनुनासिक का लोप होकर कित्व के विशेष विधान के बिना भी 'समीहे' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । अत: 'इन्ध्' धातु से परे 'लिट्' को 'कित्' करने से यह ज्ञापित होता है कि 'आम्' कार्य अनित्य है । यदि यह नित्य होता तो 'आम्' होने के पश्चात् 'इन्धाम्' स्थिति में 'असंयोगाल्लिट् कित्' सूत्र द्वारा स्वत: कित्व की प्राप्ति हो जाती । इस प्रकार 'आम्' प्रत्यय के अनित्य होने के कारण 'समीधे' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । इस ज्ञापक का उल्लेख न्यास तथा पदमंजरी में भी मिलता है । ज्ञापकसमुच्चय में इस ज्ञापक का पारायणिक विद्वानों के नाम से उल्लेख करके इसी ज्ञापक द्वारा 'समीधे' प्रयोग सिद्ध किया गया है ।[3] परन्तु महाभाष्य आदि ग्रन्थों में 'इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वाताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्'

---

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य ८।३८ ।

२. भट्टिकाव्य, १४।६३ ।

३. ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ६१ ।

वार्तिक द्वारा 'इन्धिभवतिभ्यां च' सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है।[1] धातुवृत्तिकार के अनुसार यह ज्ञापक उपेक्ष्य है, क्योंकि इसका महाभाष्य की वार्तिक से विरोध पड़ता है।[2]

ज्ञापकसमुच्चय में 'अन्ये' निर्देश द्वारा 'आत औ णलः' (७।१।३४) सूत्र को 'आम्' कार्य की अनित्यता का सामान्य रूप से ज्ञापक मानते हुए 'समीहे' प्रयोग को साधु माना गया है।[3]

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०

पातयां प्रथममास

'कृञ्चा···' सूत्र 'लिट्' लकार के परे होने पर 'आम्' के पश्चात् 'कृञ्' के अनुप्रयोग का विधान करता है। 'अनुप्रयोग' शब्द में 'अनु' का अर्थ पश्चात् है। अतः 'कृञ्' का प्रयोग 'आम्' के पश्चात् ही होता है। यहां पर 'अनु' का प्रयोग अवधारण अर्थ में हुआ है। महाभाष्य में 'अनुप्रयोग' शब्द के प्रयोजन को बताने के लिए दो वार्तिकें मिलती हैं—'विपर्यास—निवृत्यर्थं च' तथा 'व्यवहित—निवृत्यर्थं च।'[4] इन वार्तिकों का अर्थ है—'आम्' के पश्चात् ही 'कृञ्' का प्रयोग होता है तथा मध्य में अन्य किसी का व्यवधान नहीं होना चाहिए। इस नियम के अनुसार रघुवंश के 'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्'[5] श्लोकांश में 'पातयां प्रथममास' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'पातयाम्' (आम् प्रत्ययान्त) तथा 'आस' (कृञ् विषयक) शब्दों के मध्य में 'प्रथमम्' पद का व्यवधान है।

इसी सूत्र के प्रसंग में सुधानिधि में 'केचित्' निर्देश द्वारा तथा पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा, मल्लिनाथ की टीका आदि में इस प्रयोग को प्रमादजन्य कहा गया है।[6]

दुर्घटवृत्ति में इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान में 'पातयाम्' शब्द को 'आम्' प्रत्ययान्त न मानकर 'विच्' प्रत्ययान्त माना गया है तथा 'अस्' के अनुप्रयोग का विषय न मानकर स्वतंत्र प्रयोग माना गया है।

---

१. महाभाष्य १।२।६, पृष्ठ १४।
२. धातुवृत्ति, पृष्ठ ४९९।
३. ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ८८।
४. महाभाष्य, ३।१।४०, वा० ८-९।
५. रघुवंश, ९।६१।
६. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।१।४०, पृष्ठ ३७२।

'पात' शब्द अपपद होने पर 'या' धातु से 'विच्' करके 'पातं यान्तम्' अर्थ में द्वितीयान्त प्रयोग तथा 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' धातु से 'प्राप्तवान्' अर्थ में 'लिट्' लकार का 'आस' प्रयोग माना गया है। इसी प्रकार का समाधान सुधानिधि में 'अन्ये' निर्देश द्वारा 'पातं यातीति पातयाः' व्युत्पत्ति द्वारा दिया गया है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'आम्' प्रत्ययान्त शब्द क्रिया ाधन प्रधान होता है अर्थात् इस प्रकार के शब्दों में क्रियासाधन की प्रधानता होती है। 'कृञ्चा···' सूत्र में इसी प्रकार के शब्दों की व्यावृत्ति का विधान किया गया है। 'प्रथमम्' शब्द तो क्रियाप्रधान न होकर उसका विशेषण है। उसकी निवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह प्रयोग साधु माना जाएगा। इसी प्रकार 'सम्भावयां राघवमास वृष्टेः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।

सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च ३।१।५६

समारन्त

'सर्तिशास्त्य···' सूत्र 'सृ गतौ' आदि धातुओं से 'लुङ्' लकार में 'च्लि' को 'अङ्' आदेश का विधान करता है। इस सूत्र के 'च' पद से पूर्ववर्ती सूत्र 'पुषादिद्युतादि···' (३।१।५५) सूत्र से 'परस्मैपदेषु' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यह सूत्र परस्मैपद में ही अपना कार्य कर सकेगा। यहां पर यह कहा जा सकता है कि सत्रकार को यदि ऐसा ही अभीष्ट था तो उन्होंने एक ही सूत्र क्यों नहीं बना दिया, योगविभाग क्यों किया ? इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्य के वचन रूप में यह दिया गया है कि योगविभाग का प्रयोजन केवल वैचित्र्य प्रकट करना है। इस दृष्टि से 'सम' पूर्वक 'ऋ' धातु से 'समोगम्यृच्छि···' (१।३।२९) सूत्र द्वारा आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर भट्टि के 'समारन्त ममाभीष्टाः'[2] प्रयोग में 'च्लि' को 'अङ्' आदेश चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कतिपय विद्वान् योगविभाग किए जाने के कारण अनुवृत्ति का सम्बन्ध परस्मैपद से नहीं मानते। काशिका, न्यास, पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ आदि के अनुसार आत्मनेपद में भी 'अङ्' होता है। अतः 'अङ' होकर 'आरत' तथा 'समरन्त' दोनों प्रयोग बनते हैं।[3] न्यासकार ने स्पष्ट कहा है कि यदि एक ही सूत्र बनाया जाता तो आत्मनेपद में 'अङ्' की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। अतः योगविभाग किया गया।[4] इस सूत्र के 'च'

१. सुधानिधि, ३।१।४०, पृष्ठ १२४८।
२. भट्टिकाव्य, ८।१६।
३. काशिका, ३।१।५६।
४. न्यास (भाग १), ३।१।५६, पृष्ठ ५६२।

पद द्वारा परस्मैपद की अनुवृत्ति उरत्तवर्ती सूत्रों के लिए मानी गई है। यह मत दुर्घटवृत्ति में रक्षित के नाम से उद्धृत किया गया है।

इस प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यदि आत्मनेपद में भी 'अङ्' की प्राप्ति मानी जाए तो यह महाभाष्य के विरुद्ध होगा, क्योंकि महाभाष्यकार ने 'सभो गम्यृच्छि…' (३।१।२९) सूत्र के भाष्य में 'मासमृषाताम्' आदि 'ऋ' धातु के आत्मनेपदी प्रयोगों में 'सिच्' का प्रयोग किया है। इस प्रश्न का उत्तर पदमंजरी और शब्दकौस्तुभ में 'सर्तिशास्त्य…' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि ये प्रयोग भौवादिक 'ऋ' धातु से निष्पन्न हुए हैं। यही बात धातुवृत्ति में भी कही गई है। 'अर्तिशास्त्य…' सूत्र में तो 'शप्' रहित 'शास्' के साहचर्य से 'शप्' रहित जौहत्यादिक 'सृ' तथा 'ऋ' का ही ग्रहण अभिप्रेत है न कि भौवादिक 'ऋ' तथा 'स' का।[1]

कृदतिङ् ३।१।९३

ककार:

'कृदतिङ्' सूत्र 'धातोः' (३।१।९१) सूत्र के अधिकार में विहित 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर अन्य प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'ककार:' प्रयोग में विभक्ति की प्राप्ति विचारणीय है। यह शब्द 'वर्णात्कार:'[2] 'वार्तिक द्वारा विहित 'कार' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध हुआ है। 'कृत्' प्रत्ययों के धातुओं से ही होने के कारण 'कृदतिङ्' सूत्र द्वारा 'ककार' पद की 'कृत्' संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि 'कार' प्रत्यय का विधान 'कृदतिङ्' सूत्र में अधिकार में किया गया है न कि 'धातोः' सूत्र के अधिकार में। अत: 'कृत्' संज्ञा के अभाव में 'ककार' पद से विभक्तियों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

इस प्रश्न का उत्तर बालमनोरमा, तत्वबोधिनी, प्रदीप टीका आदि में 'रोगाख्यायां…' (३।३।१०८) सूत्र की व्याख्या में तथा दुर्घटवृत्ति में यह दिया गया है कि यद्यपि 'कार' प्रत्यय 'कृदतिङ्' सूत्र के अधिकार में विहित हुआ है परन्तु यह सूत्र भी तो 'धातोः' सूत्र के अधिकार में ही आता है। 'धातोः' सूत्र का अधिकार तृतीय अध्याय पर्यन्त है। अत: उसके अधिकारबल द्वारा 'ककार' की 'कृत्' संज्ञा हो जाएगी तथा विभक्तियों की प्राप्ति हो सकेगी।[3]

दुर्घटवृत्ति में एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'रोगाख्यायां…' सूत्र के 'बहुल' पद द्वारा इसकी 'कृत्' संज्ञा हो जाएगी। उद्योत में यह मत

१. पदमंजरी (भाग १), ३।१।५६, पृष्ठ ५६२।
२. महाभाष्य, ३।३।१०८।
३. प्रदीप, महाभाष्य, ३।३।१०८, पृष्ठ ३४२-४३।

'अन्ये' निर्देश द्वारा दिया गया है ।[1]

वासरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४

पचानि

'वासरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र का अर्थ है—'धातोः' सूत्र के अधिकार में विहित असरूप अपवाद प्रत्यय सामान्य प्रत्ययों का विकल्प से बाध करते हैं । इस नियम के अनुसार नित्य 'पचानि' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'तस्थस्थमिपां···' (३।४।१०१) सूत्र से विहित 'अम्' प्रत्यय तथा 'मेर्निः' (३।४।८९) सूत्र द्वारा विहित 'नि' प्रत्यय सरूप न होकर असरूप है । अतः वासरूपविधि के अनुसार पक्ष में 'अम्' प्रत्ययान्त प्रयोग भी बनना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'लिटः कानज् वा' (३।४।१०१) सूत्र में 'वा' ग्रहण से ज्ञापित होता है कि लादेशों के विषय में वासरूपविधि नहीं होती । यदि ऐसा होता तो सूत्र में 'वा' ग्रहण की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'लिट्' तथा 'कानच्' प्रत्ययों के असरूप होने के कारण स्वतः पक्ष में 'लिट्' की प्राप्ति हो जाती तथा सूत्रकार को विकल्प से विधान न करना पड़ता । इस प्रकार लादेशों के विषय में वासरूपविधि का अभाव होने के कारण नित्य 'पचानि' प्रयोग ही बनेगा । इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है ।[2]

कण्डूति

'कण्डू' धात से 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (३।१।२७) सूत्र द्वारा 'यक्' होने पर उसके 'यक्' प्रत्ययान्त बन जाने से 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय होकर 'कण्डूया' प्रयोग बनता है । 'अ' प्रत्यय 'क्तिन्' प्रत्यय का अपवाद है । स्त्र्यधिकार में विहित प्रत्ययों में वासरूपविधि का निषेध होने के कारण 'कण्डूति' प्रयोग चिन्त्य है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'संपदादिभ्यः क्विप्'[3] वार्तिक द्वारा 'सम्पत्' आदि शब्दों के प्रत्ययान्त बन जाने के कारण 'क्तिन-पीष्यते'[4] वार्तिक रची गई है जिससे इन शब्दों से भी 'क्तिन्' की प्राप्ति हो जाती है । अमरकोश की टीका में कहा गया है कि 'अव्ययं विभक्ति···' सूत्र

---

१. उद्योत, महाभाष्य, ३।३।१०८, पृष्ठ ३४२ ।

२. ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ७३ ।

३. महाभाष्य, ३।३।१०८ ।

४. उपरिवत् ।

में निर्दिष्ट 'संपत्ति' शब्द से ज्ञापित होता है कि स्त्र्यधिकार में भी कभी-कभी वासरूपविधि प्रवृत्ति हो जाती है ।[1] इस प्रकार 'कण्डूति' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा । कोशों में 'कण्डूति' तथा 'केण्डूया' दोनों प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

अचो यत् ३।१।९७

भाव्यम्

'अचो यत्' सूत्र की दृष्टि से 'भाव्यम्' प्रयोग में 'यत्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यह सूत्र अजन्त धातुओं से 'यत्' प्रत्यय का विधान करता है । इस प्रयोग को 'ओरावश्यके' (३।२।१२५) सूत्र द्वारा विहित 'ण्यत्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध माना गया है, क्योंकि यहां पर अवश्यंभाव घोषित हो रहा है । भाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है ।[2]

पोरदुपधात् ३।१।९८

जाप्या

'पोरदुपधात्' सूत्र अकारोपध पवर्गान्त धातुओं से 'यत्' प्रत्यय करता है। यह सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।११४) सूत्र का अपवाद है ।[3] इन सूत्रों में वासरूपविधि कार्य नहीं करती, क्योंकि अनुबन्ध के आधार पर असरूपता नहीं मानी जाती ।[4] 'यत्' तथा 'ण्यत्' प्रत्ययों में अनुबन्ध-सारूप्य तो है परन्तु प्रत्ययों का सारूप्य नहीं है । इस दृष्टि से 'जाप्या' प्रयोग विचारणीय है ।

इस प्रयोग को पारायण के मत रूप में, बहुल वचन द्वारा सिद्ध माना गया है । भाषावृत्ति में भी इस प्रयोग को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है ।[5]

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३।१।१००

विनियम्यम्

'गदमद···' सूत्र 'गद्' आदि धातुओं से 'यत्' प्रत्यय करता है । इस नियम के, अनुसार 'इन्ह्वा···' (६।४।१२) सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'विनियम्यम्' शब्द में 'यत्' की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि 'वि' तथा 'नि' उपसर्गों के पूर्व में होने के कारण 'यत्' न होकर 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र द्वारा 'ण्यत्' होना चाहिए था।

---

१. अमरकोश, ३।६।५३ ।
२. भाषावृत्ति, ३।१।९७।
३. काशिका, ३।१।९८ ।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४) ३।१।९८, पृष्ठ ९ ।
५. भाषावृत्ति, ३।१।९८ ।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। पहला यह कि पहले केवल 'यम्' धातु से प्रत्यय होने के पश्चात् ही उसका उपसर्गों से समास हुआ है। अतः समस्त पद मानने पर उपर्युक्त दोष उपस्थित ही नहीं होगा। यह समाधान इसी सूत्र की व्याख्या में शब्दकौस्तुभ में 'अपरे' निर्देश द्वारा तथा भाषावृति में मिलता है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'वि' तथा 'नि' उपसर्ग न होकर उनके प्रतिरूपक है। अतः 'यत्' का प्रयोग साधु है।

तीसरे समाधान में 'अन्ये' निर्देश द्वारा इस प्रयोग को कृदन्त न मान कर तद्धितान्त माना गया है। 'विनिमये साधुः' अर्थ में 'तत्र साधुः' (४।४।९८) सूत्र द्वारा 'यत्' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। शब्दकौस्तुभ में 'अपरे' निर्देश द्वारा तथा सिद्धान्तकौमुदी में इसी सूत्र की व्याख्या में यह समाधान विकल्प के रूप में दिया गया है।[2] भट्टोजिदीक्षित के मतानुसार तो यह प्रमादपाठ है।[3]

स्वयं वार्तिककार द्वारा इस शब्द का प्रयोग किए जाने के कारण उनके प्रमाणभूत होने से सिद्धान्तकौमुदी में इस जैसे अन्य 'अनियम्यस्य नायुक्तिः' प्रयोगों को भी सिद्ध किया गया है।[4]

वदः सुपि क्यप् च ३।१।१०६

सत्यवद्यः

'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र के चकार द्वारा 'यत्' प्रत्यय का भी समुच्चय किया गया है। इस दृष्टि से भट्टि के 'सत्यवद्यो रघूतमः'[5] श्लोकांश के 'सत्यवद्य' प्रयोग से 'यत्' तो सिद्ध हो जाता है परन्तु इस सूत्र में उत्तरवर्ती 'भवो भावे' (३।१।१०७) सूत्र में 'भाव' पद का ग्रहण किया गया है। अतः भाव में प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण यहां पर कर्ता में 'यत्' का प्रयोग विचारणीय है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान यह दिया गया है कि इस शब्द को अर्शादिगण में पठित मान कर अर्शादि 'अच्' द्वारा यह

---

१. भाषावृत्ति, ३।१।१००।
२. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।१।१००, पृष्ठ ४०४।
३. उपरिवत्।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), ३।१।१००, पृष्ठ १०।
५. भट्टिकाव्य, ५।६०।

प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । इस प्रकार इस प्रयोग को तद्धितान्त मानने पर उपर्युक्त दोष उपस्थित ही नहीं होगा । भाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है[1] तथा जयमंगला में विकल्प के रूप में यही समाधान मिलता है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।१।११३) सूत्र के 'बहुल' पद द्वारा कर्ता में भी 'यत्' का प्रयोग साधु माना जा सकेगा। जयमंगला टीका में भी यह समाधान मिलता है ।[2]

अनूद्यम्

'अनूद्यम्' प्रयोग में धातु के सोपसर्ग होने के कारण 'क्यप्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'वदः सुपि क्यम् च' सूत्र उपसर्ग रहित धातुओं से प्रत्यय का विधान करता है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'अनु' उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है। अतः यहां पर 'क्यप्' का निषेध नहीं हो सकेगा।

शब्दकौस्तुभ में, न्यायसुधा के मत रूप में, यह कहा गया है कि यह प्रयोग अधिकरण में प्रयुक्त हुआ है । अतः निश्चयार्थक 'अनु' शब्द के उपपद होने पर 'वद्' धातु से 'क्यप्' होकर 'नञ्' समास में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।[3]

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९

स्तव्यः

'एतिस्तु—' सूत्र 'इण्' आदि धातुओं से 'क्यप्' प्रत्यय का विधान करता है । इस दृष्टि से दुर्गासप्तशती के 'का ते स्तुतिः स्तव्यपरोक्तिः'[4] श्लोकांश के 'स्तव्यः' प्रयोग में 'यत्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'क्यप्' होकर 'स्तुत्यः' बनना चाहिए था ।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग को कृदन्त न मानकर तद्धितान्त माना है। 'स्तवमर्हति' अर्थ में 'स्तु' धातु से 'दण्डादिभ्यो यत्' (५।१।६६) सूत्र द्वारा 'यत्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । दण्डादिगण को वर्धमान के अतिरिक्त अन्य किसी वैयाकरण ने आकृतिगण नहीं माना है ।[5] धातुवृत्ति में यही

---

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ५।६० ।
२. उपरिवत् ।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।१।१०९, पृष्ठ ४०७ ।
४. दुर्गासप्तशती, ११।६ ।
५. गणरत्नमहोदधि, पृ० ४०१ ।

समाधान, आत्रेय के नाम दिया गया है ।[1]

ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४

जागरतया

'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र ऋकारान्त तथा हलन्त धातुओं से 'ण्यत्' प्रत्यय का विधान करता है । 'जागर्तेरकारो वा'[2] वार्तिक के अनुसार 'जागरा' तथा पक्ष में 'ण्यत्' द्वारा 'जागर्या' प्रयोग बनेंगे । इस दृष्टि से 'खिन्नाहं तव रात्रिजागरतया' श्लोकांश का 'जागरतया' प्रयोग असाधु ठहरता है ।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'जागृ' धातु को पचादिगण में पठित मानकर पचादि 'अच्' द्वारा जागर शब्द बन जाएगा । उसके पश्चात् 'तल्' प्रत्यय के संयोजन से तृतीया में यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा ।

निर्बन्धसे

'शपथेः किं धूर्त । निर्बन्धसे श्लोकांश का 'निर्बन्धसे' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'बन्ध्' धातु के क्रयादिगण में पठित होने के कारण 'श्ना' होकर 'निर्बध्नासि' प्रयोग बनना चाहिए ।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यह प्रयोग अपशब्द है । बाद में उसने 'निर्बध्यते पाठान्तर भी प्रस्तुत किया है ।

ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३

आधिष्ठकः

'ण्वुल्तृचौ' सूत्र समस्त धातुओं से 'ण्वुल' तथा 'तृच्' प्रत्ययों का विधान करता है । इस सूत्र द्वारा 'अधि' पूर्वक 'स्था' धातु से 'ण्वुल पूर्वक' अधिस्था अक्' स्थिति में 'आतोयुक्चिण्कृतोः' (७।३।३३) सूत्र से 'युक्' आगम होकर 'अधिष्ठायकः' प्रयोग बनता है । इस दृष्टि से 'अधिष्ठकः' प्रयोग चिंत्य है ।

इस प्रगोग के विषय में यह कहा गया है कि यहां पर 'ण्वुल्' न होकर 'आतश्चोपसर्गे' (३।१।१३६) सूत्र से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है । 'अधि+स्था +क (अ) 'यह स्थिति बन जाने पर 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) सूत्र द्वारा 'स्था' के 'आ' का लोप होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

दुन्योरनुपसर्गे ३।१।१४२

दवाग्नि

'दुन्योरनुपसर्गे' सूत्र 'दु' तथा 'नी' धातुओं से 'ण' प्रत्यय करता है । इस

१. धातुवृत्ति पृ० ३४६ ।

नियम के अनुसार मेघदूत और अमरकोश के 'क्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः'[1] तथा 'दवो दावो वनानलः'[2] वाक्यों के क्रमशः 'दवाग्निः' तथा 'दावः' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि धातु में 'ण' प्रत्यय का विधान होने के कारण नित्य 'दावः' ही बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र के उत्तरवर्ती सूत्र 'विभाषाग्रहः' (३।१।१४३) के 'विभाषा' पद का इस सूत्र से भी सम्बन्ध होगा। अतः पक्ष में 'अच्' होकर 'दवः' प्रयोग भी बनेगा।[3] अमरकोश की टीका में भी कुछ इसी प्रकार का समाधान दिया गया है कि 'दुन्योरनुपसर्गे' सूत्र विकल्प से कार्य करता है। अतः पक्ष में 'दवः' प्रयोग भी बनेगा।[4] परन्तु यहां पर विकल्प का आधार कुछ नहीं दिया गया। संभवतः भानुजिदीक्षित की दृष्टि में भी इस सूत्र में उत्तरवर्ती सूत्र से 'विभाषा' पद का अनुवर्तन अभीष्ट है। परन्तु काशिका आदि किसी ग्रन्थ में इस प्रकार 'विभाषा' पद का ग्रहण नहीं किया गया।

सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ, बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'दुन्योरनुपसर्गे 'सूत्र द्वारा अनुबन्ध सहित 'णीञ्' के साहचर्य से यहां पर स्वादिगणीय 'टुदु' का ग्रहण किया जाएगा, भौवादिक 'दु' का नहीं। धातुवृत्ति आदि ग्रन्थों में भी ऐसा ही माना है। अतः 'टुदु' धातु से 'णः' होकर 'दावः' प्रयोग बनेगा तथा 'दु' को पचादिगण में मानकर 'अच्' के संयोजन से 'दवाः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[4]

प्रथम समाधान की अपेक्षा सिद्धान्तकौमुदी आदि का समाधान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि नीचे से ऊपर की ओर 'विभाषा' पद का अनुवर्तन कुछ स्वाभाविक नहीं जान पड़ता।

---

१. मेघदूत, पूर्वमेघ ५५।
२. अमरकोश, ३।३।२०६।
३. अमरकोश सुधा टीका, ३।३। २०६।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), ३।१।१४२, पृ० ३६।

तृतीय अध्याय, द्वितीय पाद

कर्मण्यण् ३।२।१

जातिस्मरौ

'कर्मण्यण्' सूत्र कर्म उपपद होने पर धातु से 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार रघुवंश के 'जातिस्मरौ' नूनरिभावमूताम्'[1] श्लोकांश में कर्म रूप 'जाति' के उपपद होने के कारण 'स्मृ' धातु से 'अण्' होकर, जातिस्मारौ प्रयोग बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'स्मृ' धातु को पचादिगण में मानकर पचादि 'अच्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

कलहंसराममहित:

भट्टि के 'कलहंसराममहित:'[2] प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि यहां पर कर्म न होने के कारण 'रम्' धातु से 'अण्' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'राम:' शब्द में अन्तर्भावित 'णिच्' का अर्थ विद्यमान होने के कारण यह धातु सकर्मक है। अत: 'अण्' का प्रयोग ठीक है। संभवत: यह समाधान जयमंगला में की गई व्याख्या पर आश्रित है, क्योंकि वहां पर 'कलहंसरामम्' पद का 'कलहंसान् रमयति' विग्रह करके 'रम्' धातु को ण्यन्त मानते हुए 'अण्' का प्रयोग सिद्ध किया गया है।[3]

दूसरे समाधान में 'राम' शब्द को घञन्त मानकर इस पद को व्यधिकरण बहुव्रीहि समास का प्रयोग माना गया है।

आतोऽनुपसर्गे क: ३।२।१६

नदीष्ण:

'आतोऽनुपसर्गे क:' सूत्र उपसर्ग रहित आकारान्त धातुओं से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार रघुवंश के

---

१. रघुवंश, ७।१५।
२. भट्टिकाव्य, १०।२।
३. जयमंगला, उपरिवत्।

'कर्षविस शैवाललता नदीष्ण:'[1] श्लोकांश का 'नदीष्ण:' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'नद्यां स्नात:' में अधिकरण उपपद होने से 'क' प्रत्यय नहीं हो सकता ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'मूल विभुजादिभ्य उपसंख्यानम्'[2] वार्तिक द्वारा 'क' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

दूसरा समाधान, वृत्तिकार के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'निनदीभ्या' सूत्र की वृत्ति में 'नदीष्ण:' प्रयोग उद्धृत किया गया है तथा यहां पर प्रत्यय की प्राप्ति 'सुपि स्थ:' (३।२।४) सूत्र का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'सुपि' से मानी गई है । महाभाष्य आदि समस्त ग्रन्थों में इस योगविभाग को स्वीकार किया गया है ।[3] भट्टि ने भी अपने काव्य में 'नदीष्ण:' शब्द का प्रयोग किया है ।[4] रघुवंश तथा भट्टिकाव्य की क्रमश: मल्लिनाथीय तथा जयमंगला टीकाओं में यही समाधान मिलता है ।[5] धातुवृत्ति में भी इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है ।[6]

हरतेरनुद्यमनेऽच् ३।२।९

तमोज्योत्स्नाहर:

'हरतेरनु—' सूत्र कर्म उपपद होने पर 'हृ' धातु से अनुद्यमन अर्थ में 'अच्' प्रत्यय का विधान करता है । 'उद्यमन' का अर्थ है—उत्क्षेपण अर्थात् नीचे स्थित वस्तु को ऊपर ले जाना ।[7] इस दृष्टि से 'तमोज्योत्स्नाहर:' प्रयोग में 'अच्' की स्थिति विचारणीय है क्योंकि यहां पर उद्यमन अर्थ गम्यमान हो रहा है ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि सूत्र का योगविभाग करके पृथक सूत्र 'हरते:' द्वारा उद्गमवृत्ति होने पर भी 'अच्' की प्राप्ति हो जाएगी । परन्तु यहां द्रष्टव्य है कि अन्य किसी वैयाकरण ने इस सूत्र का योगविभाग नहीं किया । इसके अतिरिक्त इस सूत्र से सम्बन्धित पूर्वपक्ष भी स्पष्ट नहीं है,

---

१. रघुवंश में 'शैलोपम: शैवलमंजरीणाम्' के स्थान पर 'कर्षविस शैवाललता नदीष्ण:' पाठ पाठान्तर के रूप में दिया गया है । रघुवंश, ५।४६ ।
२. महाभाष्य, ३।२।५ ।
३. महाभाष्य, ३।२।४ ।
४. भट्टिकाव्य, २।४३ ।
५. मल्लिनाथ टीका, रघु० १६।५
६. धातुवृत्ति, पृष्ठ ३६३ ।
७. न्यास (भाग १), ३।२।९७, पृष्ठ ५९५ ।

क्योंकि इस पद का अर्थ है—ज्योत्स्ना को नष्ट करने वाला अन्धकार। अतः यहां पर उद्गवृत्ति का बोध स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं हो रहा है जैसा कि 'भारहरः' प्रयोग में स्पष्ट है।

अधिकरणे शेतः ३।२।१५

गिरिशः

'गिरौ डश्छन्दसि'[1] वार्तिक द्वारा 'गिरि' पद उपपद होने पर 'शी' धातु से वेद में 'ड' प्रत्यय का विधान किया गया है तथा 'अधिकरणे शेतः' सूत्र द्वारा सामान्य रूप से 'अच्' का। 'ड' प्रत्यय द्वारा 'गिरिशः' तथा 'अच्' द्वारा 'गिरिशयः' प्रयोग बनते हैं। इस प्रकार 'गिरिशः' शब्द के वेद में ही प्रयुक्त होने कारण कुमारसंभव में इस पद का प्रयोग चिन्त्य है— गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी।'[2]

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यह प्रयोग कृदन्त न हो कर तद्धितान्त है। 'गिरिरस्यास्तीति गिरिशः' व्युत्पति के अनुसार 'लोमादि— (५।2।१००) सूत्र द्वारा 'गिरि' शब्द के लोमादि होने के कारण 'श' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। महाभाष्य में भी इस शब्द को दो प्रकार से व्युत्पादित किया गया है—एक तो कृदन्त के रूप में तथा दूसरा तद्धितान्त के रूप में।[3] यही समाधान धातुवृत्ति में हरदत्त के नाम से दिया गया है।[4]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अध्वर्युक्रतुः' (२।४।४) सूत्र में निर्दिष्ट 'अध्वयुः' शब्द से यह ज्ञापित होता है कि भाषा में कभी-कभी छान्दस् प्रयोग भी होते हैं। 'अध्वर्युः शब्द कर्मकाण्ड विषयक है। इसकी सिद्धि व्याकरण द्वारा नहीं हो सकती। इसलिए 'यजुःक्रतुः' कहने के स्थान पर जो 'अध्वर्युक्रतुः' कहा गया उससे यही ज्ञापित होता है कि छान्दस् प्रयोग भी भाषा में, कभी-कभी प्रयुक्त हो जाते हैं। ज्ञापकसमुच्चय में यह ज्ञापक इस सूत्र से न निकाल कर 'वयस्यासु मूर्ध्नो…' (४।४।१२७) सूत्र के 'वयस्यासु' पद से निकाला गया है। यह शब्द 'तद्वानासामुपधाना…' (४।४।१२५) सूत्र द्वारा वेद के लिए व्युत्पादित किया गया है। इस पद से यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'वयः सु' कहने के स्थान पर जो 'वयस्यासु' कहा गया उससे यही

१. महाभाष्य, ३।२।१५।
२. कुमारसंभव १।६०।
३. महाभाष्य, ३।२।१५ पृ० २३३।
४. धातुवृत्ति, पृ० ३५०।

ज्ञापित होता है कि भाषा में वैदिक प्रयोग भी हो जाते हैं।[1] शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् में भी यही कहा गया है।[2]

चरेष्टः ३।२।१६

सहचरीम्

'चरेष्टः' सूत्र अधिकरण उपपद होने पर 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय करता है। इस नियम की दृष्टि से रघुवंश के 'प्रेक्ष्यस्थितां सहचरीम्'[3] श्लोकांश का 'सहचरीम्' पद चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर अधिकरण उपपद न होकर 'सह' शब्द उपपद है।

दुर्घटवृत्तिकार ने सर्वप्रथम, भागवृत्ति के नाम से, इस प्रयोग को असाधु ठहराया है। भाषावृत्ति ने इस प्रयोग के साधुत्व के लिए दो समाधान भी दिए हैं। प्रथम यह कि 'चरेष्टः' सूत्र का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'ट' से यहां प्रत्यय हो जाएगा परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने इस सूत्र का योगविभाग इस प्रकार नहीं किया।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि उत्तरवर्ती सूत्र 'भिक्षासेनादायेषु च' (३।३।१७) में 'सहचर' शब्द का भी पाठ माना जाए। यह मानने पर इस प्रयोग के 'भिक्षासेना…' सूत्र का विषय बन जाने के कारण 'सहचरीम्' पद सिद्ध हो जाएगा। दुर्घटवृत्ति में 'सहचराद्वा' पाठ मिलता है। उसके स्थान पर 'सहपाठद्वा' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पाठ की ओर गणपति शास्त्री ने संकेत किया है।[4]

शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, तत्वबोधिनी आदि में 'भिक्षा सेनादायेषु च' (३।२।१७) सूत्र की व्याख्या में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि पचादिगण में 'चरट्' शब्द पढ़ गया है। अतः उससे पचादि 'अच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[5] यही समाधान मल्लिनाथ ने भी दिया है[6] तथा अपने मत की पुष्टि में 'अनुचरीति चरेष्टित्वात्'[7] वचन उद्धृत किया है।

---

१. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ७९।
२. वाचस्पत्यम्।
३. रघुवंश, ९।५७।
४. दुर्घटवृत्ति, पृ० ६५, पादटिप्पण ३.१।
५. शब्दकौस्तुभ (भाग-२), ३।२।१७, पृ० ४३३।
६. रघुवंश, ९।५७।
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।३१।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः ३।३।८

पुरस्सरा वाम्

'पुरोऽग्रतो···' सूत्र 'पुरस्' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'सृ' धातु से 'ट' प्रत्यय का विधान करता है । 'ट' प्रत्ययान्त शब्द के 'टित्' होने के कारण स्त्रीलिंग में 'ङीप्' होकर 'पुरस्सरी' प्रयोग बनना चाहिए । इस दृष्टि से भाषा-वृत्ति का 'पुरस्सरा वाम्' प्रयोग चिन्त्य है । भाषावृत्ति में 'पुरस्सरा वाचः' प्रयोग मिलता है[1] जो अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि यहां पर तो 'पुरस्सरा' का विशेषण 'वाचः' मिल जाता है परन्तु 'पुरस्सरा वाम्' में नहीं मिलता ।

इस प्रश्न का उत्तर 'केचित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'सृ' धातु को पचादिगण में पठित मान कर 'अच्' प्रत्यय द्वारा 'पुरस्सर' शब्द बन जाएगा । उसके पश्चात् 'टाप्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । भाषावृत्ति में भी यही कहा गया है ।[2]

फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ५।२।२६

उदरम्भरयः

'फलेग्राहि' सूत्र द्वारा 'फलेग्रहिन्' तथा 'आत्मभरिन्' शब्द 'इन्' प्रत्ययान्त निपातित किए गए हैं । अतः अनर्घराधव के 'उदम्भरयः'[3] प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर 'इन्' की प्राप्ति किस सूत्र से हुई ?

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस सूत्र के चकार द्वारा 'उदम्भरिः' शब्द का भी संग्रह मान लिया जाएगा । चकार द्वारा संग्रहीत 'कुक्षिम्भरिः' शब्द उपलक्षणमात्र है । अतः उसके समान 'उदरम्भरयः' जैसे प्रयोग भी साधु माने जा सकते हैं । धातुवृत्ति में भी यही समाधान दिया है ।[4] काशिका में चकार को अनुक्त समुच्चयार्थक मानते हुए 'उदरम्भरी' प्रयोग का भी समुच्चय माना गया है ।[5] शरणदेव ने अपने मत की पुष्टि में चान्द्र व्याकरण को उद्धृत किया है जिसके अनुसार आत्मन्, कुक्षि तथा उदर शब्दों के उपपद होने पर प्रत्यय की प्राप्ति स्वतः हो जाती है । शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी में इसी सूत्र की व्याख्या में चान्द्र सूत्र के द्वारा ही इसी प्रयोग को सिद्ध किया गया है ।[6] परन्तु चान्द्र व्याकरण में यह सूत्र 'आत्मोदर-

---

१. भाषावृत्ति, ३।२।१८ ।
२. व्युत्पत्त्यन्तरेण पचाद्य च् ।—भाषावृत्ति ३।२।१८ ।
३. अनर्घराधव, २।४४ ।
४. धातुवृत्ति, पृष्ठ २३१ ।
५. काशिका, ३।२।२६ ।
६. शब्दकौस्तुभ (भाग १), २।३।२६ । पृ० ४३६ ।

कुक्षिम्भः' रूप में न मिलकर 'फलेग्रहिरात्मभरिः कुक्षिम्भरिः' रूप में मिलता है ।[1] शब्दकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में उद्धृत चान्द्र सूत्र की स्थिति लगभग दुर्घट-वृत्ति के समान ही है । केवल विभक्तियों में अन्तर है । एक में पंचमी का प्रयोग है तो दूसरी में सप्तमी का ।

अपे: क्लेशतमसोः ४।२।५०

भयापहाः

'अपेः क्लेशतमसोः' सूत्र द्वारा 'क्लेश' तथा 'तमस्' शब्दों के उपपद होने पर 'अप' पूर्वक हन् धातु से 'ड' प्रत्यय का विधान किया गया है । इस सूत्र की दृष्टि से 'भयापहाः' तथा 'कफापहाः' प्रयोगों में 'ड' का प्रयोग विचारणीय है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) सूत्र द्वारा 'ड' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी । शब्दकल्पद्रुम में भी 'भयापहाः' शब्द इसी प्रकार सिद्ध किया गया है । काशिका, पदमंजरी, न्यास, सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के अनुसार इस सूत्र में 'अपि' शब्द समस्त उपाधियों के व्यभिचार के लिए है ।[2]

अमनुष्यकर्तृके च ।३।२।५३

कृतघ्ने

'अमनुष्यकर्तृके[3] च' सूत्र मनुष्य के कर्तृत्व के अभाव में 'हनु' धातु से कर्म के उपपद होने पर 'टक्' प्रत्यय करता है । इस नियम से अनुसार 'कृतघ्नः'[4], 'ब्रह्मघ्नम्', प्रलम्घ्नः' तथा 'शत्रुघ्नः' प्रयोगों में 'टक्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर मनुष्य कर्ता है ।

इन प्रयोगों के साधुत्व के लिए तीन समाधान दिए गए हैं । प्रथम समा-धान भाषावृत्ति के मत के रूप में, यह दिया गया है कि इन शब्दों को मूल-विभुजादिगण में पठित मानने से मूलविभुजादि 'क' के प्रत्यय हो जाने पर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे । धातुवृत्ति में 'एक' निर्देश द्वारा तथा शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी, पदमंजरी आदि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समा-धान दिया गया है ।[5]

---

१. चान्द्र व्याकरण, १।२।१० ।
२. काशिका, ३।२।१०१ ।
३. पंचतंत्र, ४।११
४. (क) पदमंजरी (भाग १), ३।२।५३, पृ० ६२६,
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ३१६

दूसरा समाधान पदसंस्कार पक्ष द्वारा यह दिया गया है पहले स्वतन्त्र रूप से 'कृतघ्न' आदि शब्दों को सिद्ध कर लिया जाएगा। उसके पश्चात् ही दूसरे पदों से सान्निध्य होने पर मनुष्य के कर्तृत्व का बोध होगा।

तीसरा समाधान यह दिया गया है कि 'कृत्यल्युटो बहुलं च' सूत्र के 'बहुल' पद द्वारा यहां पर 'टक्' प्रत्यय हो जाएगा।

स्पृशोऽनुदके क्विन् ।३।१।५८

उदकस्पृश:

'स्पृशोऽनुदके क्विन्' सूत्र 'उदक्' शब्द को छोड़कर सुबन्त के उपपद होने पर 'स्पृश्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'उदकस्पृश:' प्रयोग में 'क्विन्' की स्थिति विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'क्विन्' न होकर औणादिक 'क्वि' प्रत्यय हुआ है। अत: यह प्रयोग साधु है।

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ।३।२।५९

नीच:

'ऋत्विक्धृक—' 'ऋत्विक' आदि पांच शब्दों को तथा 'अञ्चु' आदि तीन धातुओं को 'क्विन्' प्रत्ययान्त निपातित करता है। इस नियम के अनुसार 'नि' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'क्विन्' होकर 'न्यङ' शब्द बनना चाहिए। इस दृष्टि से 'नीचो वदति न कुरुते' वाक्य का 'नीचः' प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रयोग को 'क्विन्' प्रत्यय करके तद्धित 'अच्' प्रत्ययान्त माना गया है। 'नि' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'क्विन्' करके 'अनिदितां—' (६।४।२४) सूत्र द्वारा अनुनासिक का लोप हो जाएगा। उसके पश्चात् 'अच् प्रत्यन्वव—' (५।४।७५) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'अच्' से 'अच्' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। इस प्रकार 'नि+अच्+अच् (अ)' स्थिति बन जाने पर 'अचः' (६।४।१३८) सूत्र द्वारा धातु के अवयव 'अकार' का लोप होकर 'चौ' (६।३।१३८) सूत्र 'नि' को दीर्घादेश हो जाएगा तथा 'नीचः' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। काशिका आदि में 'अच् प्रत्यन्वव'—सूत्र का इस प्रकार से योगविभाग स्वीकार किया गया है।[1]

क्रव्ये च ३।२।६९

क्रव्याद:

'क्रव्ये च' सूत्र 'क्रव्य' शब्द के उपपद सोने पर 'अद्' धातु से 'विट्' प्रत्यय करता है। परन्तु इस सूत्र के पूर्ववर्ती सूत्र 'अदोऽनन्ने' (३।२।६८) से

---

१. काशिका, ५।४।७५

ही 'विट्' की प्राप्ति हो जाने के कारण महाभाष्य, काशिका आदि के अनुसार पुनर्विधान का प्रयोजन वासरूपविधि द्वारा 'कर्मण्यण्' से प्राप्त 'अण्' का निषेध करना है।[1] अतः 'विट्' प्रत्यय द्वारा नित्य 'क्रव्यात्' शब्द ही बनेगा। इस दृष्टि से अमरकोश का 'क्रव्यादः'[2] प्रयोग विचारणीय है।

इस शब्द की सिद्धि के लिए काशिका में कहा गया है कि 'कृत-विकृत' शब्द के उपपद होने पर तो धातु से 'अण्' ही होता है। इस 'कृत-विकृत' शब्द को पृषोदरादिगण में पठित मान कर तथा 'कृत-विकृत' शब्द को 'क्रव्य' आदेश होकर 'क्रव्यादः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। जब 'कच्चा मांस खाने वाला' अर्थ अभीष्ट होगा तो 'विट्' होकर 'क्रव्यात्' प्रयोग ही बनेगा। 'पका हुआ मांस खाने वाला' अर्थ अभिप्रेत होने पर तो आदेशभूत 'क्रव्य' शब्द के उपपद होने पर 'अद्' से 'अण्' होकर 'क्रव्यादः' प्रयोग सिद्ध होगा।[3] दुर्घटवृत्ति में यह समाधान 'कश्चित्' निर्देश द्वारा दिया गया है। शब्दकौस्तुभ आदि में भी काशिका के नाम से इस मत का उल्लेख मिलता है। परन्तु यह बात विचारणीय है, क्योंकि 'कृत-विकृत' शब्द के स्थान पर 'क्रव्य' आदेश की बात संगत प्रतीत नहीं होती। नागेश भट्ट ने 'बहवः' निर्देश द्वारा इस विषय में यह कहा है कि 'विट्' प्रत्यय के पुनर्विधान वासरूपविधि का निषेध हो जाने से क्रव्यादः प्रयोग नहीं बनेगा क्योंकि महाभाष्यकार ने कहीं भी 'क्रव्य' शब्द को 'कृतविकृत' शब्द का आदेशरूप नहीं माना है। अतः उनके मत में 'क्रव्य' शब्द से 'पका हुआ मांस' अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा।[4]

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८

स्वैरिणी

'सुप्यजातौ—' सूत्र द्वारा 'स्वेन ईरितुं शीलमस्याः' व्युत्पति के अनुसार अजातिवाचक 'स्व' शब्द के उपपद होने पर 'ईर' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होकर 'स्व+ईर+इन्' स्थिति बन जाती है। उसके पश्चात् यहां पर गुण प्राप्ति की दशा में वृद्धि कैसे हो गई, यह विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'स्वादीरेरिणोर्वृद्धिर्वक्तव्या'[5] वार्तिक द्वारा यहां वृद्धि हो जाएगी।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् ३।२।८७

हिमहा

'ब्रह्मभ्रूण—' सूत्र 'ब्रह्म' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'हन्' धातु से

---

१. महाभाष्य, ३।२।६९, पृ० ३४४।

२. अमरकोश, १।१।५९।

३. काशिका, ३।२।६९।

४. उद्योत, महाभाष्य, ३।२।६९, पृ० २४४।

५. महाभाष्य, ६।१।८९।

'क्विप्' प्रत्यय का विधान करता है। काशिका, न्यास तथा पदमंजरी के अनुसार इस सूत्र में चतुर्विध नियम अभिप्रेत है अर्थात् 'ब्रह्म' आदि शब्दों के उपपद होने पर ही 'हनु' धातु से केवल भूतकाल में 'क्विप्' प्रत्यय होता है।[1] परन्तु महाभाष्यकार के अनुसार तो यहां पर उपपद और प्रत्यय सम्बन्धी नियम ही अभीष्ट हैं।[2] जो भी हो, दोनों की दृष्टि से 'हिमहा'[3], कामहा तथा 'मधुहा' प्रयोग प्रथम नियम अर्थात् उपपद सम्बन्धी नियम के अनुसार चिन्त्य हैं। शरणदेव ने यहां पर समस्या का उपस्थापन ठीक ढंग से नहीं किया है। उसने 'ब्रह्मदिषु हन्तेरेव नियमात्' के जिस दूसरे नियम के अनुसार समस्या रखी है, उसके विपरीत यहां पर प्रथम नियम 'ब्रह्मदिष्वेव' के अनुसार दोष उपस्थित हो रहा है। संभवतः यहां पर 'ब्रह्मादिष्वेव हन्तेः' पाठ ही रहा हो।

इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए, रक्षित के मत रूप में, यह समाधान दिया गया है कि इस सूत्र में उत्तरवर्ती सूत्र 'बहुलं छन्दसि' (३।२।८८) से 'बहुल' पद की अनुवृत्ति आ रही है तथा यह अनुवृत्ति व्यभिचार के लिए है अर्थात् 'ब्रह्म' आदि शब्दों से भिन्न शब्दों के उपपद होने पर भी 'हन्' धातु से क्विप्' हो जाएगा। न्यास में भी 'बहुल' के आधार पर इस नियम की प्रायिकता मानी गई है।[4] धातुवृत्ति में 'हिमहा' शब्द की सिद्धि 'क्विप् च' सूत्र द्वारा विहित सार्वकालिक 'क्विप्' द्वारा की गई है।[5]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते' (३।२।७८) सूत्र द्वारा 'क्विप्' होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

माघ द्वारा प्रयुक्त 'न हिमहा' प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'यहां पर 'नहि' शब्द अव्यय है तथा वह निषेध अर्थ का वाचक है। यह मानने पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि अब अर्थ होगा—सूर्य विशेष रूप से हिम का विनाशक नहीं बना। इस प्रकार इस प्रयोग में उपर्युक्त दोष उपस्थित ही नहीं होगा। शिशुपालवध के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'न हि महाहिमहानिकरोऽभवत्' पाठ मिलता है जिसमें 'न' तथा हि' पद अलग-अलग हैं। अतः समस्या ही समाप्त हो जाती है।

---

१. काशिका, ३।२।८७।
२. महाभाष्य, ३।२।८७, पृ० २५५।
३. शिशुपालवध, ६।६३।
४. न्यास (भाग १), ३।२।८७, पृ० ६२६।
५. धातुवृत्ति, पृ० ३१६।

वृत्रस्य हन्तुः

'ब्रह्मभ्रूण…' सूत्र द्वारा 'वृत्र' शब्द के उपपद होने पर 'हन्' धातु से केवल 'क्विप्' का विधान किए जाने के कारण कुमारसंभव के 'वृत्रस्य हन्तुः'[1] प्रयोग में 'तृच्' का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर कालसामान्य की विवक्षा होने के कारण 'तृच्' हुआ है अर्थात् यहां पर केवल भूतत्व ही विवक्षित नहीं है। न्यासकार के अनुसार नियम के प्रयिक होने से 'तृच्' हो ही जाएगा।[2]

परोक्षे लिट् ३।२।११५

अभून्नृपः

'परोक्षे लिट्' सूत्र द्वारा अनद्यतन परोक्ष भूत में 'लिट्' का विधान किए जाने के कारण भट्टि तथा माघ के 'अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः'[3] तथा 'अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनाम्'[4] श्लोकांशों में 'भू' धातु से 'लुङ्' का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि राजा दशरथ तथा हिरण्यक्षिपु दोनों के परोक्ष में होने के कारण 'लिट्' होना चाहिए था। इसी प्रकार की समस्या भट्टि के एक अन्य श्लोकांश 'कौसल्ययासावि सुखेन रामः प्राक् केकयीतो'[5] के 'असावि' प्रयोग में उपस्थित होती है।

इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए पदसंस्कारपक्ष का आश्रय लिया गया है। इस पक्ष में सामान्यभूत की विवक्षा में 'लुङ्' हो जाएगा। उसके पश्चात् ही 'नृप' आदि शब्दों से सम्बन्ध होने पर परोक्ष अर्थ का बोध होगा। शब्दकौस्तुभ तथा जयमंगला में केवल यही कहा गया है कि यहां पर सामान्यभूत की विवक्षा में 'लुङ्' हुआ है।'[6]

'केकयी

प्रसंगतः यहां पर 'केकयी' शब्द की सिद्धि पर भी विचार किया गया है। शरणदेव के अनुसार देशवाचक 'केकय' शब्द में पुरुषत्व का आरोप करके केकय की पुत्री' अर्थ में 'ङीप्' होकर 'केकयी' शब्द बनेगा। जयमंगला में इस

१. कुमारसंभव, २।२०।
२. न्यास (भाग १), ३।२।८७, पृ० ६२७।
३. भट्टिकाव्य, १।१।
४. शिशुपालवध, १।४२।
५. भट्टिकाव्य, १ १४।
६. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।२।११५, पृ० ४६५।

शब्द की सिद्धि एक अन्य ढंग से की गई है। 'कैकयानाचष्टे' (कैकयी—कैकय देशवासियों के विषय में वे ऐसे हैं—इत्यादि कहतीं है) अर्थ में णिच्' होकर णिजन्त से उणादि सूत्र 'अच इ:' 'द्वारा 'इ' प्रत्यय तथा 'णिच्' का लोप होकर 'केकयि' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'कृदिकारक्तिन:' वार्तिक द्वारा 'ङीष्' की प्राप्ति हो जाएगी। इस श्लोक में भरत की मां के लिए 'केकयी' शब्द का प्रयोग हुआ है। भरत की मां केकय देश के राजा की पुत्री मानी जाती है। इस अर्थ की दृष्टि से 'जनपद···' सत्र द्वारा 'अञ्' होकर 'केकयमित्रयु···' (७।३।२) सूत्र से 'इय्' आदेश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1]

खे मरुत: चरन्ति

कुमारसंभव के 'यावद् गिर: खे मरुतां चरन्ति[2]' श्लोकांश में परोक्ष अर्थ गम्यमान होने के कारण 'चर्' धातु से 'लट्' का प्रयोग विचारणीय है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि भस्मावशेष रूप कार्य जो भविष्यत् काल में होना है, उससे पहले मरुतों की वाणी 'क्रोधं प्रभोसंहर संहर' इस रूप में निकल रही थी। इसलिए भस्मावशेष रूप कार्य में भविष्यत्-कालीन कार्य की अपेक्षा जो वर्तमानता है, उसकी दृष्टि से यहां पर 'चर्' धातु से 'लट्' हुआ है।

वर्तमाने लट् ३।२।१२३

आह

'वर्तमान' का अर्थ है—जो आरम्भ तो हो गया हो परन्तु समाप्त न हुआ हो।[3] उस वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त धातु से 'वर्तमाने लट्' सूत्र द्वारा 'लट्' का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'यथाह प्रथमोदितं वच:'[4] 'स मुक्तवति पौलस्त्ये भूयोऽप्याह महेश्वर:' तथा 'परिघारुभुजानाह हसन्ती स्वागतं कपीन्'[5] श्लोकांशों में 'आह' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'ब्रुव:' पञ्चा···' (३।४।८४) सूत्र द्वारा 'ब्रू' धातु को 'लट्' लकार के प्रथम पांच प्रयोगों में 'आह' तथा 'णल्' आदेशों का विधान किया गया है। उपर्युक्त वाक्यों में वर्तमान अर्थ न होने के कारण 'आह' का प्रयोग असाधु सिद्ध होता है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'ब्रू' धातु से

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य, १।१४।
२. कुमारसंभव, ३।७२।
३. काशिका, ३।२।१२३।
४. रघुवंश, ३।२५।
५. भट्टिकाव्य, ७।७३।

निष्पन्न 'आह' का प्रयोग न होकर तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय का, जो कालसामान्य का वाचक है,[1] प्रयोग हुआ है। अतः कालसामान्य के वाचक होने के कारण ये प्रयोग साधु माने जाएंगे। रघुवंश के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में 'यथाह' के स्थान पर 'उवाच' पाठ मिलता है। यह पाठ मानने पर तो उपर्युक्त समस्या ही नहीं रहती।

अथ कंसो निहन्यते

'अथ कंसो निहन्यते' वाक्य में वर्तमानार्थक 'लट्' का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि कंस के परोक्षभूत होने से यहां पर 'लिट्' का प्रयोग होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कथा कि अभिसन्धि (तारतम्य) की दृष्टि से वर्तमान तत्व की विवक्षा के कारण यहां पर 'लट्' का प्रयोग साधु है।

लेखके नास्ति दोषः

'लेखके नास्ति दोषः' वाक्य में 'नास्ति' पद का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि लेखक को जो लिखना था वह उसने लिख दिया। इस समय तो वह लिख नहीं रहा है। अतः यहां पर 'लट्' का प्रयोग विचारणीय है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि इस वाक्य में 'नास्ति' शब्द विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है तथा कालसामान्य का वाचक है। अतः यह प्रयोग साधु है।

न ज्ञास्यति प्रभुः

कुमारसंभव के 'न ज्ञास्यति प्रभुः'[2] श्लोकांश में वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त 'ज्ञा' धातु से 'लृट्' का प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'प्रत्येकं विनियुक्तात्मा' नियम के अनुसार प्रत्येक में आत्मा के विनियोग के अनन्तर ज्ञान होने के कारण विवक्षावश यहां 'लृट्' हुआ है।

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४

पचानस्य

'लटः शतृशानचा···' सूत्र द्वारा 'पच्' धातु से 'शानच्' की प्राप्ति होने के पश्चात् 'आने मुक् (७।२।८२) सूत्र द्वारा 'मुक्' आगम होकर 'पचमानः' प्रयोग

---

१. 'आह, व्य उवाच इत्यर्थे कालमात्रे निपातोऽयम्।'—शब्दकल्पद्रुम।

२. कुमारसंभव, २।३६।

सिद्ध होता है। इस दृष्टि से 'पचानस्य' प्रयोग चिन्त्य है। इस प्रयोग में यह भी विचारणीय है कि 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्र द्वारा 'शानच्' के ङिद्वत् होने के कारण 'आतो ङितः' (७।२।८१) सूत्र से अदन्त अङ्ग (पच्+च=पच) के परे 'आन' का जो अवयव रूप आकार है उसको 'इय्' आदेश की प्राप्ति होगी तथा 'पचानस्य' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

प्रथम समस्या के लिए 'आगमशास्त्रमनित्यम्'[1] परिभाषा द्वारा यह समाधान दिया गया है कि आगमशासन के अनित्य होने के कारण 'मुक्' नहीं होगा।

दूसरी समस्या की निवृत्ति के लिए यह समाधान दिया गया है कि गणकार्य की अनित्यता के कारण 'शप्' परे न होने पर 'आतोङितः' (७।२।८१) सूत्र द्वारा विहित 'इय्' रूप कार्य की प्राप्ति नहीं होगी। ज्ञापकसमुच्चय में इस समस्या का समाधान 'आतिदेशिकं कार्यमनित्यम्' परिभाषा के द्वारा दिया गया है।[2]

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ३।२।१५८

ईर्ष्यालुः

'स्पृहिगृहि···' सूत्र 'स्पृह्' आदि धातुओं से 'आलुच्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'ईर्ष्यालुः' 'बुभुक्षालुः, 'लज्जालुः', तथा 'शीतालुः' प्रयोगों में 'आलुच्' की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि 'ईर्ष्य्' आदि धातुएं सूत्र में अपठित हैं।

प्रथम तीन प्रयोगों के लिए यह समाधान दिया गया है कि इन शब्दों को मृग्व्यादिगण में पठित मान लिया जाएगा तथा मृग्व्यादयश्च (सिद्धान्तकौमुदी ३७) उणादिसूत्र द्वारा 'कु' प्रत्यय का निपातन करके ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। मृग्व्यादिगण आकृतिगण है।[3] शब्दकौस्तुभ तथा तत्वबोधिनी में इसी प्रकार के प्रयोग 'कृपालुः' तथा 'स्पर्धालुः' इसी उणादिसूत्र द्वारा सिद्ध किए गए हैं।[4]

'शीतालुः' प्रयोग इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'शीतं न सहते इति शीतालुः' विग्रह के अनुसार 'शीताष्ठातृप्रेभ्यस्तन्न[5] सहते वार्तिक द्वारा 'आलुच्' की प्राप्ति हो जाएगी। शब्दकल्पद्रुम में भी यही समाधान दिया गया है।[6]

---

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ९५।
२. ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ७४।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४) उणादिसूत्र ३७, पृ० १३०।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।२।१५८, पृ० ४७२।
५. महाभाष्य ५।२।१२२, वा० ६।
६. 'शीतं न सहते इति। शीत+शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तन्न सहते।'—शब्दकल्पद्रुम।

'विदिभिदिच्छिदेः कुरंच् ३।२।१६२

भिदुरम्

'विदिभिदि···' सूत्र की वृत्ति में कथित में 'भिदिच्छधौः कर्मकर्तरि प्रयोगः' कथन के अनुसार इस सूत्र द्वारा 'विद्' आदि धातुओं से कर्ता में तथा 'भिद्' और 'छिद्' धातुओं से कर्मकर्ता में 'कुरच्' प्रत्यय का विधान किया गया है।

कर्मकर्ता उस स्थिति का निर्देश करता है जब कर्म को ही कर्ता मान लिया जाता है, जैसे— छिद्यते स्वयमेव। इस दृष्टि से 'कुलिशं भिदुरम् पविः'[1] संसार-बन्धच्छिदुरान् द्विजातीन्', 'करीन्द्रबन्धच्छिदुरम्' तथा 'छिदुरयादुरयचितमं-गना'[2] श्लोकांशों में 'भिद' आदि धातुओं से 'कुरच्' का प्रयोग विचारणीय है क्योंकि यहां पर 'भिदुरम्' आदि शब्द कर्ता में प्रयुक्त हुए हैं, कर्मकर्ता में नहीं।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि वामन रचित 'भिदुरादयः कर्मकर्तारि कर्तरि च' (५।२।३८) सूत्र द्वारा केवल कर्ता में भी ये प्रयोग सिद्ध हो सकेंगे। काव्लंकारसूत्रवृत्ति में कहा गया है कि 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' वाक्य के चकार द्वारा कर्ता का भी ग्रहण हो जायेगा।[3]

शब्दकौस्तुभ तथा तत्वबोधिनी में इस सूत्र की व्यख्या करते हुए शिशुपाल-वध के प्रयोग के लिए यह कहा गया है कि 'कर्मकर्तरि प्रत्ययः (कर्मकर्ता में ही प्रत्यय होगा) कथन वृत्तिकार का है, महाभाष्यकार का नहीं। यदि महाभाष्यकार को ऐसा अभीष्ट होता तो वह इसका निर्देश अवश्य करते। अतः यह प्रयोग साधु है।[4] यह समाधान 'मुनित्रयप्रामाण्यम्' के आधार पर दिया गया है।

धातुवृत्ति में आत्रेय के मत रूप में कहा गया कि 'करीन्द्रदर्पच्छिदुरम्' आदि प्रयोगों को देखने से यही लगता है कि वृत्तिकार का उपयुक्त कथन अनित्य है।[5]

सनाशंसाभिक्ष उः ३।१।१६८

अनुसूयुः

सनांशाभिक्ष उः' सूत्र सन्नन्त, 'आशंस्' तथा 'भिक्ष्' धातुओं से 'उ' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार मीमांसा वार्तिक 'सन्तः प्रणयि-

---

१. अमरकोश, १।१।४७।
२. शिशुपालवध, ६।८।
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।३८।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।२।१६२, पृ० ४७२।
५. धातुवृत्ति, पृ० ४६६।

वाक्यानि गृहणन्त्यनुसूयवः' के 'अनुसूयवः' प्रयोग में 'उ' प्रत्यय विचारणीय है, क्योंकि 'अनुसूय' शब्द कण्ड्वादि होने के कारण 'यक्' प्रत्ययान्त है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस शब्द को 'मितद्रु' आदि शब्दों में पठित मान कर 'डुप्रकरणे मितद्रवादिभ्य उपसंख्यानम्'[1] वार्तिक द्वारा 'डु' प्रत्यय से हो जायेगा। न्यास में कहा गया है कि 'विप्रसंभ्यो—' सूत्र में 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र से 'अपि' शब्द की अनुवृत्ति आ रही है जिससे भिन्न धातु तथा भिन्न पद होने पर भी 'डु' प्रत्यय की प्राप्ति हो जायेगी। इस प्रकार 'अनुसूय' शब्द से प्रत्यय सिद्ध हो जाएगा।[2]

शब्दकौस्तुभ में इस समस्या का समाधान हरदत्त के नाम से यह दिया गया है कि यहां पर 'मृग्य्वादयश्च' उणादिसूत्र द्वारा 'कु' प्रत्यय हो जायेगा।[3]

बिन्दुरिच्छुः ३।२।१६६

तैलबिन्दवः

'बिन्दुरिच्छुः' सूत्र में 'विद्' धातु का ग्रहण किया है न कि पवर्गीयादि 'बिदि अवयवे' का। अतः इस धातु से निष्पन्न 'बिन्दुः' शब्द में 'उ' प्रत्यय विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'शृस्वृ—' (सिद्धान्तकौमुदी, १०) उणादिसूत्र के चकार द्वारा 'बिद्' धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाएगा। सिद्धान्त-कौमुदी में भी यही समाधान दिया गया है।[4]

धातुवृत्ति तथा क्षीरतरंगिणी में यह कहा गया है कि यहां पर 'बहुल' से 'उ' प्रत्यय हुआ है।[5] पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ तथा तत्वबोधिनी में इसी सूत्र की व्याख्या में इस शब्द की सिद्धि 'मृग्य्वादयश्च' सूत्र द्वारा विहित 'उ' प्रत्यय के संयोजन से की गई है।[6]

धातुवृत्ति से पता लगता है कि मैत्रेय ने इस सूत्र के 'बिन्दु' शब्द को बशादि अर्थात् 'बिन्दु' मानते हुए 'बिन्दुः' शब्द सिद्ध किया था।[7] परन्तु धातु-वृत्तिकार की दृष्टि में वृत्तिकार आदि का मत ही ठीक है जिसमें वकारादि पाठ स्वीकार किया गया है।

---

१. मीमांसा वार्तिक, १।३।
२. न्यास (भाग १), ३।२।१८०, पृष्ठ ६६८।
३. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।२।१८०, पृष्ठ ४७४।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४) उणादिसूत्र १०।
५. (क) धातुवृत्ति, पृष्ठ ७८। (ख) क्षीरतरंगिणी, पृष्ठ २६।
६. पदमंजरी (भाग १), ३।२।१६६, पृ० ६५२।
७. धातुवृत्ति, पृ० ४५।५१।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८

त्वया ज्ञातो भया भीतः

'मतिबुद्धि—' सूत्र मति (इच्छा), बुद्धि (ज्ञान) तथा पूजार्थक (सत्कार) धातुओं से वर्तमान में 'क्त' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'त्वया ज्ञातो वधाद् भीतः' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि सत्यपि संभवे बाधनं भवति'[1] परिभाषा द्वारा वर्तमान में विधान करने वाले सूत्रों से 'क्त' प्रत्यय द्वारा भूत में विहित 'क्त' का बाध हो जाता है। 'भीतः' शब्द में 'क्त' प्रत्यय 'ञीतः क्तः' (३।२।१८७) सूत्र द्वारा हुआ है। इस प्रकार इन धातुओं से वर्तमान में ही प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) सूत्र द्वारा षष्ठी होकर 'तव ज्ञातो वधस्य भीतः' प्रयोग बनने चाहिएं। इसी प्रकार की समस्या पुनः 'त्वया ज्ञातो भया ज्ञातः' प्रयोगों के विषय में प्रस्तुत की गई है।

इन प्रयोगों को, भागवृत्ति के मत रूप में, अपशब्द ठहराया गया है। भागवृत्ति का यह मत 'पदम्' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित था, ऐसा दुर्घटवृत्ति से पता चलता है। शरणदेव ने भाषावृत्ति में उद्धृत भागवृत्तिकार के मत को पुनः उद्धृत किया है जिसके अनुसार इन प्रयोगों को अचिकित्य (असाधु) कहा गया है। यह मत भी उपर्युक्त मत ही है। यहां यह समझ में नहीं आता कि पुनः इसी समस्या पर विचार क्यों किया गया।

इन प्रयोगों को बाद में साधु सिद्ध करने के प्रयत्नस्वरूप 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि 'अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्'[2] परिभाषा द्वारा मत्यर्थक धातुओं से वर्तमान तथा भूत दोनों कालों में प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। इस प्रकार इन प्रयोगों में प्रत्यय का विधान मानने पर षष्ठी प्रयोग संबंधी प्रश्न ही नहीं उठता।

त्वया शीलितो मया ज्ञातः

यदि भूत में इन धातुओं से प्रत्यय माना जाए तो 'त्वया शीलितो मया ज्ञातः' प्रयोगों के 'मतिबुद्धि—' सूत्र के चकार द्वारा संग्रहीत होने के कारण तथा 'ज्ञा' धातु के ज्ञानार्थक होने से वर्तमान में विहित 'क्त' द्वारा भूत 'क्त' का बाध हो जाएगा तथा षष्ठी की प्राप्ति होगी। अतः ये प्रयोग साधु नहीं माने जा सकेंगे। यहां पर भी भागवृत्ति के नाम से यही कहा गया है कि अपशब्द कालदुष्ट होते हैं।

---

१. परिभाषावृत्ति, परिभाषा संख्या २३।

२. उपरिवत्, २२।

न्यास में 'त्वया शीलितः' सदृश[3] एक दूसरे प्रयोग 'शीलितो देवदत्तेन' पर विचार करते हुए कहा गया है कि इस प्रयोग में वर्तमानकालता प्रकरणानुसार ही गम्ययान हो रही है। पद का अर्थ तो भूतार्थ का ही प्रतिपादन कर रहा है। अतः जब पद का अर्थ वर्तमान का बोध कराए तो उस स्थिति में ही षष्ठी होगी अन्यथा नहीं।[1]

इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि 'मतिबुद्धि —' सूत्र का चकार अनुक्त समुच्चयार्थक है जिससे 'शीलितः' आदि शब्दों में 'क्त' का विधान वर्तमान में किया गया है। यह बात महाभाष्य, काशिका आदि सभी ग्रन्थों में मानी गई है।[2]

राममहितः

भट्टि के 'कलहंसराममहितः'[3] प्रयोग में यह समस्या उपस्थित होती है कि 'रामस्य महितः' विग्रह के अनुसार 'राममहितः' प्रयोग में समास की स्थिति चिंत्य है, क्योंकि पूजार्थक 'मह' धातु से, वर्तमान में 'क्त' विहित होने के कारण 'क्तेन च पूजायाम्' (२।२।१२) सूत्र समास का निषेध हो जाएगा।

इस प्रयोग को पहले तो चिन्त्य कहा गया है परन्तु बाद में उसके साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि 'मतिबुद्धि —' सूत्र द्वारा वर्तमानकाल में अप्राप्त 'क्त' का विधान किया गया है। अतः मत्यादि धातुओं से 'क्त' स्वतः प्राप्त है इसलिए इन धातुओं से वर्तमान में विहित 'क्त' द्वारा भूत में विहित 'क्त' का बाध नहीं हो सकता। इस प्रकार इस प्रयोग में भूत में 'क्त' होने के कारण समास हो जाएगा।

इस प्रसंग में 'क्तेन च पूजायाम्' (२।२।१२) सूत्र की व्याख्या में अनुपदकार ने कहा है कि तककौण्डिन्याय द्वारा मत्यादि धातुओं से प्राप्त भूत 'क्त' का वर्तमान 'क्त' के द्वारा बाध अभीष्ट है। इस स्थिति में मत्यादि धातुओं से भूत में 'क्त' की प्राप्ति नहीं हो सकती।[4]

इस मत का खंडन इस प्रकार किया गया है कि 'उपज्ञाते' (४।३।११५) सूत्र में 'तेनप्रोक्तम्' (४।३।१०१) सूत्र से तृतीयान्त 'तेन' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस अनुवृत्ति द्वारा 'उपज्ञाते' सूत्र से तृतीयार्थ में प्रत्यय का विधान किया गया है। इससे यह ज्ञापित होता है कि मत्यादि धातुओं से विहित 'क्त'

१. न्यास (भाग १), २।३।६७, पृ० ४३३।
२. काशिका, ३।२।१८८।
३. भट्टिकाव्य, १०।२।
४. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६६।

के योग में तृतीया समास अभीष्ट है तथा इन धातुओं से भूत में भी 'क्त' होता है। तृतीया समास की प्राप्ति उस स्थिति में ही हो सकती है जब भूत में प्रत्यय की प्राप्ति हो क्योंकि वर्तमान में प्रत्यय होने पर तो 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र द्वारा षष्ठी ही होगी।

तत्वबोधिनी में 'अन्ये' निर्देश द्वारा तथा शब्दकौस्तुभ में इस समस्या का एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र द्वारा कारक षष्ठी वाले प्रयोगों में ही समास का निषेध किया गया है, शेष षष्ठी में नहीं। अतः जब कर्ता आदि में शेष षष्ठी होगी तो उस स्थिति में समास का निषेध नहीं हो सकेगा।[1]

इष्यते

'इष्यते' तथा 'ज्ञायते' जैसे प्रयोगों की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'इषि' आदि इच्छार्थक तथा 'ज्ञा' आदि ज्ञानार्थक धातुओं से विहित 'क्त' प्रत्यय के द्वारा 'लट्' का निवारण हो जाना चाहिए। यहां पर वासरूप-विधि कार्य नहीं कर सकेगी, क्योंकि 'क्तल्युट्—' परिभाषा द्वारा 'क्त' आदि प्रत्ययों के प्रति वासरूपविधि का निषेध कर दिया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उपर्युक्त परिभाषा में 'ल्युट्' के साहचर्य से भाव में विहित 'क्त' का ही ग्रहण होगा, वर्तमान में विहित 'क्त' का नहीं। अतः वर्तमानकालीन 'क्त' के प्रति वासरूपविधि का निषेध नहीं हो सकेगा। अप्रतिषेध मानने पर इन धातुओं से पक्ष में 'लट्' होकर दो दो प्रयोग बनेंगे।

यदि 'क्त' तथा 'ल्युट्' दोनों को इस परिभाषा में भाव का वाचक माना जाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परिभाषा में दोनों का ग्रहण क्यों किया गया जबकि दोनों एक ही अर्थ (भाव) के वाचक हैं। 'हस्' आदि धातुओं से 'हसितं छात्रस्य', 'हसनम्' आदि प्रयोगों के साथ साथ वासरूपविधि द्वारा 'घञ्', होकर नपुंसक लिंग' में 'हासम्' जैसे प्रयोग न बन जाएं, इसलिए परिभाषा में दोनों का ग्रहण किया गया।[2] परन्तु इस 'घञ्' का निवारण तो किसी भी एक अथवा 'क्त' या 'ल्युट' के द्वारा हो सकता है, क्योंकि परिभाषा में' 'अर्थेषु' पद का ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय है कि वह अथवा 'ल्युट' का जो अर्थ (भाव) है, उस अर्थ वाले प्रत्ययों में वासरूपविधि नहीं होगी।

---

१. (क) शब्दकौस्तुभ (भाग २), २।२।१२, पृ० २०५।
(ख) तत्वबोधिनी (भाग २), २।२।१२, पृ० ४४।

२. दुर्घटवृत्ति, पृ० ७०।

विदितः

किरातार्जुनीयम् के 'श्रियः कुरूणाम्—'[1] श्लोक में 'विदितः' पद इसलिये विचारणीय है कि ज्ञानार्थक धातुओं से वर्तमान में प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण भूत में प्रत्यय कैसे हो गया ?

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'क्त' प्रत्यय की प्राप्ति 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (३।४।१) सूत्र द्वारा हो जाएगी। जैसे 'अग्निष्टोम याज्यस्य पुत्रो जनिता', (अग्निष्टोम याग कर लिया है जिसने, ऐसा इसका पुत्र होगा)। इस सूत्र में 'धातु' पद का अभिप्राय है धात्वर्थ। अतः 'धातुसम्बन्धे' का अर्थ हुआ—दो धात्वर्थों का परस्पर विशेषण विशेष्य भाव रूप सम्बन्ध। इस प्रकार का सम्बन्ध होने पर अयथाकाल प्रत्यय भी साधु माने जाते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में 'यज्' धातु से भूतकाल को कहने के लिए 'णिनि' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है तथा 'जनिता' शब्द में 'जन्' धातु से भविष्यत्काल की दृष्टि से 'तृच्' प्रत्यय का। 'यज्' तथा 'जन्' धातुएँ परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव से युक्त हैं। 'याजी' विशेषण है तथा 'जनिता' विशेष्य। इसलिए 'जनिता' के सम्बन्ध से 'णिनि' प्रत्यय को भविष्यत्काल में विहित मान लिया गया।[2] यहां भी विदितः विशेषण हैं और 'समाययौ' विशेष्य। इस प्रकार इन दोनों धात्वर्थों के परस्पर सम्बन्धित होने के कारण वर्तमान 'क्त' को भूतकाल में साधु मान लिया जाएगा। इसी प्रकार 'विदितः' पद में वर्तमान को कहने के लिए 'क्त' का प्रयोग हुआ है तथा 'समाययौ' में 'लिट्' लकार का प्रयोग भूतकाल की दृष्टि से किया गया है। यहां भी वर्तमानकालिक भूतकाल से सम्बद्ध होता हुआ भूतकालिक बन जाएगा। 'अग्निष्टोम' वाक्य में भूतकाल वाला 'याजी' प्रयोग 'जनिता' से सम्बद्ध होता हुआ भविष्यत्कालीन बन जाएगा। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने कहा है कि वर्तमानकाल की शक्ति, जिसमें गौण हो गई है, ऐसी 'विद्' क्रिया का यहां प्रयोग हुआ है। इस प्रकार 'समाययौ' क्रिया के सम्बन्ध से वर्तमानकालीन 'क्त' भी भूतकालीन अर्थ वाला हो जाएगा। ००

१. किरातार्जुनीयम्, १।१।
२. काशिका, ३।४।१।

तृतीय अयाय, तृतीय पाद

भावे ३।३।१८

पथश्शेषम्

महाभाष्य के 'घञजबन्ता:' वचन तथा लिंगानुशासन के 'घञबन्त:' (सूत्र ३६) और 'घाजन्तश्च' (सूत्र ३७) सूत्रों में 'पुमान्' की अनुवृत्ति आने के कारण 'घञ्', 'अप्' तथा 'अच्' प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में यह विधान किया गया है कि ये प्रयोग पुंल्लिग में ही होते हैं। इस नियम की दृष्टि से 'मन्दाकिन्या: पथश्शेषम्'[1] 'शेषाण्यहौषीत्'[2], 'शेषति कीर्तिता'[3], तथा 'शेष समानम्' वाक्यों के 'शेष पद में नपुंसकलिंग चिन्त्य है, क्योंकि शेष शब्द 'घञ्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है। वाचस्पत्यम् में इस शब्द को 'अच्' प्रत्ययान्त माना गया है।

इस प्रश्न का उत्तर, न्यास के मत रूप में दिया गया है। 'ग्रहवृदृ···' (३।३।५८) सूत्र के न्यास में कहा गया है कि यह नियम प्रायिक है। परन्तु न्यास में इस सूत्र की व्याख्या में यह कथन नहीं मिलता। दूसरा समाधान, वल्लभ के नाम से, यह दिया गया है कि घञन्त शब्द के भाव अर्थ में प्रयुक्त होने पर पुंल्लिग का तथा करणादि में प्रयुक्त होने पर नानालिंगों का प्रयोग होता है।

इस प्रसंग में 'यत्र' नद्या: शेषस्ये···भागामिति सिध्यतीति' पंक्ति स्पष्ट नहीं है।

शब्दकल्पद्रुम तथा मोनियर विलियम कोश के अनुसार शेष शब्द उभयलिंगी (पुंल्लिग तथा नपुंसकलिंग) है परन्तु वाचस्पत्यम् के अनुसार केवल पुंल्लिग। इस प्रकार लोक में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने के कारण उपर्युक्त प्रयोग साधु माने जाएंगे।

पद

'सर्वं पदा हस्तिपदे प्रतिष्ठितां' वाक्य के 'पदा' पद में यह विचारणीय है कि यह शब्द लिंगानुशासन के 'भयलिंगभगपदानि' सूत्र के अनुसार नपुंसक-

---

१. कुमारसंभव, २।४४।

२. भट्टिकाव्य, १।१२।

३. शाश्वतकोश, श्लोक ७३।

लिंग का है। अतः यहाँ पर पुंल्लिग का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रश्न के उत्तर में 'सर्वे पदं हस्तिपदे प्रविष्टम्' पाठान्तर प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः 'पद' शब्द नपुंसकलिंग का है परन्तु कभी-कभी पुंल्लिग में भी प्रयुक्त हो जाता है।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ३।२।२०

सप्तदश प्रत्ययाः

'परिभाषा…' सूत्र परिमाण गम्यमान होने पर समस्त धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'कुञ्छणादि—' (४।२।८० सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'सप्तदशप्रत्ययाः' तथा इसी प्रकार 'तिङोऽष्टादश प्रत्यया' वाक्यों के 'प्रत्ययाः' शब्दों में 'घञ्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि ये सप्तदश तथा 'अष्टादश' परिमाण रूप अर्थ के वाचक हैं।

इस प्रश्न का उत्तर पदसंस्कार पक्ष द्वारा यह दिया गया है कि पहले 'प्रत्ययाः' शब्द सिद्ध हो जाएगा तथा उसके बाद ही उसका सप्तदश आदि शब्दों से योग होगा।

उपसर्गे रुवः ३।३।२२

रावः

'उपसर्गे रुवः' सूत्र उपसर्ग उपपद होने पर 'रू' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'भीषणरावगद्गदम्' प्रयोग प्रस्तुत किया गया है। इस श्लोकांश में शरणदेव का विचार है कि 'भीषणा' तथा 'रावगद्गदम्' प्रयोगों को अलग अलग मानते हुए 'राव' शब्द की व्युत्पत्ति, जिसमें 'रू' धातु से 'घञ्' माना गया है, विचारणीय है। यदि 'भीषण आराव' यह विग्रह माना जाए तो कोई दोष उपस्थित नहीं होगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग अदादिगणीय 'रुशदे' धातु से सिद्ध नहीं हुआ है। इस प्रयोग की सिद्धि के लिए शरणदेव ने चौरादिक भाषार्थक 'वृतुवृधु' आदि धातुओं में 'रू' धातु का भी पाठ माना है। इस प्रकार इस धातु के चौरादिक होने से 'णिच्' होकर बाद में 'एरच्' (३।३।५६) सूत्र से 'अच्' हो जाएगा तथा यह प्रयोग साधु माना जा सकेगा।

श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे ३।३।२४

प्रादुर्भावः

'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' सूत्र उपसर्ग रहित 'श्रि' आदि धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'प्रादुर्भावः' प्रयोग में 'घञ्'

की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि प्र, आङ्-तथा दुर् उपसर्गों का समुदाय होने पर भी उनमें उपसर्गत्व होने से 'घञ्' नहीं होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्ति···' (८।३।८७) सूत्र में 'उपसर्ग' पद के ग्रहण के साथ साथ जो 'प्रादुर्' का भी ग्रहण किया गया, उससे यह ज्ञापित होता है कि 'प्रादुर्' का योग होने पर उपसर्ग संबंधी कार्य नहीं होता। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'प्रादुर्' के उपपद होने पर उपसर्ग संबंधी कार्य होता तो सूत्र में पृथक् निर्देश की आवश्यकता न होती। इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है तथा वहां पर 'प्रादुर्भाव' शब्द की सिद्धि इसी प्रकार की गई है।[1]

प्रभाव:

'प्रभाव:' शब्द की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि यहां पर 'प्र' उपसर्ग के पूर्व में होने के कारण 'घञ्' नहीं होना चाहिए। इस कठिनाई का निराकरण वृत्ति के नाम से इस प्रकार किया गया है कि यहाँ पर 'प्रभू' धातु से समास न होकर 'प्रकृष्टो भाव: प्रभाव:' इस प्रकार प्रादि समास हुआ है। काशिका, भाषावृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी तथा सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान किया गया है।[2] धातुवृत्ति में भी यही समाधान मिलता है।[3]

नयो नीत:

'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' सूत्र द्वारा 'नी' धातु से 'घञ्' होकर नया: 'प्रयोग बनता है। इस दृष्टि से 'नयो नीत:' वाक्य का 'नय:' प्रयोग चित्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'संज्ञोपूर्वकोविधिरनित्य:' परिभाषा के द्वारा यहां पर वृद्धि का अभाव सिद्ध हो जाएगा। काशिका में इसी प्रकार के प्रयोग 'नयो राज्ञ:' पर भी विचार किया गया है। वहां पर तथा सिद्धान्तकौमुदी, तत्वबोधिनी आदि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि यहां पर 'घञ्' न होकर 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र के 'बहुल' पद द्वारा 'अच्' हुआ है।[4] धातुवृत्ति में भी यही कहा गया है।[5]

---

१. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६६।
२. काशिका, ३।३।२४।
३. धातुवृत्ति, पृ० ४४।
४. काशिका, ३।३।२४।
५. धातुवृत्ति, पृ० २३७।

उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः ३।३।४९

समुच्छ्रयाः

'उदिश्रयति···' सूत्र द्वारा 'उत्' पूर्वक 'श्रि' धातु से 'घञ्' होकर 'उच्छ्राय प्रयोग बनता है। इस दृष्टि से 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उत्तरवर्ती सूत्र 'विभाषाङिरुप्लुवोः' (३।३।५०) से सिंहावलोकितन्याय द्वारा 'विभाषा' पद के ग्रहण के कारण पक्ष में 'अच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। काशिका तथा न्यास में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[1] परन्तु न्यास में यह भी कहा गया है कि यदि विभाषा का सम्बन्ध इस सूत्र से माना जाए तो 'यु' आदि सभी धातुओं से विकल्प द्वारा प्रयोग बनने लगेंगे। अतः यहां पर व्यवस्थित-विभाषा का ग्रहण किया जाना चाहिए।

सिद्धान्तकौमुदी और सुधानिधि में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यहां पर 'बहुल' से 'अच्' माना गया है।[3] यही समाधान धातुवृत्ति में दिया गया है।[4] भागवृत्तिकार के अनुसार यह प्रयोग अनुचित है।[5]

एरच् ३।३।५६

परिमलम्

'एरच्' सूत्र में 'भावे' (३।३।१८) सूत्र से 'भाव' शब्द की अनुवृत्ति आ रही है। उसके क्रियावाची होने के कारण इस सूत्र द्वारा विहित 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न शब्दों के क्रियावाचक होने के कारण तिङन्त शब्दों के समान द्रव्यवाचक शब्दों के साथ समानाधिकरण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से 'परिमलं कस्तूरिकार्द्रं धनुः' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'परिमलम्' शब्द के 'अच्' प्रत्ययान्त होने के कारण वह क्रियावाची है। अतः द्रव्यवाची 'कस्तूरिकार्द्रम्' से उसका समानाधिकरण उचित नहीं। वैसे इस श्लोकांश का 'परिमलम्' पाठ इसलिए साधु प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'मल्' धातु इकारान्त न होकर हलन्त है। अतः उससे 'अच्' का प्रश्न ही नहीं उठता। यहां पर 'परिमलम्' के स्थान पर 'परिमयम्' पाठ होना चाहिए जैसाकि शरणदेव द्वारा दिए गए समाधान से प्रतीत होता है।

---

१. काशिका ३।३।४९।
२. न्यास (भाग २), ३।३।४९ पृ० २८०।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४) ३।३।४९।
४. धातुवृत्ति, पृ० २३०।
५. भागवृत्तिसकलन, ३।३।४९।

इस प्रयोग के विषय में यही कहा गया है कि 'परिमलम्' प्रयोग असाधु है तथा उसके स्थान पर 'परिमयः' पाठ होना चाहिए। यहां पर 'अर्शआद्यचि स्त्रीत्वं स्यात्' पंक्ति स्पष्ट नहीं है।

मयनम्

'अज्विधौ मयस्योपसंस्थानम्'[1] वार्तिक द्वारा 'भय' आदि शब्दों के उपसंख्यान का प्रयोजन यह है कि नपुंसकलिंग में 'क्त' आदि की निवृत्ति हो सके। 'क्त' आदि से 'ल्युट्' आदि प्रत्यय अभीष्ट हैं। इस प्रकार 'क्त' आदि की निवृत्ति हो जाने के कारण 'अच्' के अपवादभूत 'ल्युट्' आदि की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस दृष्टि से 'भीतं शिशुना', 'वर्षणं वृष्टम्' तथा 'भयनं भीः' प्रयोगों में 'क्त' तथा 'ल्युट्' प्रत्ययों का प्रयोग चिन्त्य है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'क्तादि की निवृत्ति के लिए' ऐसा कहने से प्राप्तिमात्र की उद्भावना (संकेतित) होती है। अतः वासरूपविधि द्वारा 'क्त', 'ल्युट्' आदि की भी प्राप्ति हो जाएगी। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि 'क्तल्युट्...' परिभाषा द्वारा वासरूपविधि प्रवृत्त नही होगी, क्योंकि 'क्त' आदि प्रत्ययों से यहां पर 'घञ्' का ही निवारण अभीष्ट है। इसलिए यहां पर यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी अर्थात् वासरूपविधि द्वारा 'ल्युट्' हो जाएगा। इस प्रकार 'भयनम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। दुर्घटवृत्ति के अध्ययन से यह पता लगता है कि रक्षित ने इस मत का उल्लेख 'भीत्रार्थानाम्...' (१।४।२५) सूत्र की व्याख्या में किया था।

परंतु शरणदेव का ऐसा कहना उचित नहीं जान पड़ता। धातुवृत्ति में स्पष्ट कहा गया है कि 'क्तादिनिवृत्यर्थम्' का तात्पर्य यही है कि 'क्त' तथा 'ल्युट्' का बाध होकर 'अच्' ही होता है। पारायण में वासरूपविधि द्वारा 'भीतम्' आदि प्रयोगों को न्यायोचित ठहराया गया है परन्तु धातुवृत्तिकार ने उसे असत् कहा है, क्योंकि 'क्तल्युट...' परिभाषा के अनुसार 'क्त' तथा 'ल्युट' में वासरूपविधि नहीं होती।[2]

इसी प्रसंग में कहा गया है कि 'भयभीतभीति...'[3] वार्तिक में 'क्त' प्रत्ययान्त 'भीतः' शब्द से यह ज्ञापित होता है कि भय शब्द के साथ साथ 'क्त' प्रत्ययान्त प्रयोग भी निष्पन्न होते हैं। महाभाष्यकार द्वारा 'वृषभो वर्षवात्' प्रयोग किये जाने के कारण 'वर्षणम्' प्रयोग साधु है। कैयट ने इस प्रयोग को महाभाष्यकार

१. महाभाष्य, ३।३।५६, वा० १।
२. धातुवृत्ति, पृ० ३८५।
३. महाभाष्य, २।१।३७।

द्वारा प्रयुक्त होने के कारण साधु माना है[1] तथा नागेश ने यहां पर 'बहुल' से प्रत्यय की उपपत्ति मानी है ।[2] नागेश के समाधान को देखने से पता लगता है कि 'क्तादिनिवृत्त्यर्थम्' वचन को प्राप्तिमात्र का उद्भावक नहीं माना जा सकता ।

ॠदोरप् ३।३।५७

भर:

'ॠदोरप्' सूत्र ॠकारान्त तथा उकारान्त धातुओं से 'अप्' प्रत्यय करता है । अत: अमरकोश के 'अतिशयो भर:'[3] वाक्य के 'भर:' पद में 'अप्' का प्रयोग चिंत्य है, क्योंकि भौवादिक 'भृभरणे' धातु दीर्घ ॠकारान्त नहीं है ।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यह प्रयोग 'भृभरणे' से निष्पन्न न होकर क्रयादीय 'भृ भर्त्सने' से निष्पन्न हुआ है । यहां पर 'भृ भरण' इति क्रयादेर्दीर्घान्तत्वात्' पाठ कोष्ठक में दिया गया है जो समाधान की दृष्टि से ठीक है । अमरकोश की टीका में भी यही समाधान दिया गया है । परन्तु वहां पर इस समाधान का खंडन करते हुए कहा गया है कि क्रयादीय 'भृ' से 'अप्' मानने पर 'ल्युट्' द्वारा 'अप्' की बाधा हो सकती है । इसलिए 'भृ भरणे' को पचादिगण में मान कर 'अच्' कर लिया जाएगा ।[4]

रूपावतारक्रिया

'तॄ' धातु से निष्पन्न 'रूपावतार:' प्रयोग में 'अप्' के परे होने पर वृद्धि आदेश विचारणीय है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर करणाधिकरण में 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' (३।३।१२०) सूत्र से 'घञ्' हुआ है । धातुवृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है ।[5]

अवतारो नद्या:

'अवतारो नद्या:' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' सूत्र द्वारा संज्ञा में प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण यहां पर संज्ञा का अभाव होने से 'घञ्' कैसे हो गया ?

इस प्रश्न का उत्तर, वृत्तिकार के मत रूप में यह दिया गया है कि 'बहुल' वचन द्वारा 'घञ्' हो जाएगा । काशिका, न्यास तथा पदमंजरी में 'अवे तॄस्त्रो-

---

१. प्रदीप महाभाष्य, ३।३।५६, पृ० ३३३ ।
२. उद्योत, महाभाष्य, ३।३।५६, पृ० ३३३ ।
३. अमरकोश, १।१।६६ ।
४. अमरकाश, सुधा टीका १।१।६६ ।
५. धातुवृत्ति, पृ० २७१ ।

घंञ्' सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि इस सूत्र में 'पुंसिज्ञ संज्ञायां···' (३।३।११८) सूत्र से 'प्रायेण' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'प्रायः' शब्द उपाधि का वाचक है। अतः प्रत्यय की प्राप्ति कभी कभी असंज्ञा में भी हो जाती है। इस प्रकार 'अवतार···' प्रयोग में प्रत्यय की प्राप्ति हो जाती हैं।[1] शरण-देव ने प्रायिक स्थिति के लिए 'बहुल' वचन का प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

प्रसरम्

माघ के 'रुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरम्'[2] श्लोकांश के 'प्रसरम्' प्रयोग में 'अप्' की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि 'सृ' धातु दीर्घ ऋकारान्त नहीं है।

इस दोष का निवारण 'अन्यः' निर्देश द्वारा इस प्रकार किया गया है कि बहुल द्वारा 'घञ्' हो जाएगा तथा वृद्धि का अभाव 'संज्ञापूर्वकोविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा सिद्ध हो सकेगा। यही समाधान धातुवृत्ति में भी दिया गया है।[3]

ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ३।३।५८

स्वयंग्राहः

'ग्रहवृदृ···' सूत्र 'ग्रह' आदि धातुओं से 'अप्' प्रत्यय का विधान करता है। अप् प्रत्यय के संयोजन से 'ग्रहः' शब्द सिद्ध होता है। इस दृष्टि से 'ग्राहं गता-स्तत्र कथञ्चिदन्ये' तथा 'कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहु'[4] श्लोकांशों में 'ग्राहः' शब्द चिन्त्य है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इस प्रयोग में 'घञ्' प्रत्यय 'बहुल' द्वारा हुआ है। भाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है।[5]

दूसरे समाधान में इस प्रयोग को कृदन्त न मानकर तद्धितान्त माना गया है। 'ग्रह' शब्द को प्रज्ञादिगण में पठित मानकर 'ग्रह एवं ग्राहः' विग्रह के अनुसार 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५।४।३८) सूत्र से 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। प्रज्ञादिगण आकृतिगण है।

मल्लिनाथ कृत टीका में कहा गया है कि 'स्वयं गृह्णातीति स्वयंग्राहः' व्युत्पत्ति के अनुसार विभाषाग्रह सूत्र द्वारा 'ण' प्रत्यय हुआ है, क्योंकि इस सूत्र

---

१. न्यास (भाग १), ३।३।१२०, पृ० ७२०।
२. शिशुपालवध, ५।३६।
३. धातुवृत्ति, पृ० २५६।
४. कुमारसंभव, ३।७।
५. भाषावृत्ति, ३।३।५८।

के नियमानुसार जलचर अर्थ होने पर 'ग्राह' ही बनता है और ग्राह ही जलचर नहीं होता। इस प्रकार यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1] काशिका के अनुसार भी जलचर अर्थ होने पर ग्राह शब्द बनता है।[2]

परिवारशतैवृत:

'परिवारशतैवृत:' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'ग्रहवृद्...' सूत्र में 'वृ' धातु का सामान्य रूप से ग्रहण होने के कारण 'अप्' प्रत्यय परे होने पर वृद्धि कैसे हो गई?

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यहां पर 'परिवारयतीति परिवार:' व्युत्पत्ति के अनुसार 'वृ' धातु से 'अप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

परीवार:

भट्टि के 'परीवारौ पर्यभूतां तथापि माम्'[3] श्लोकांश के 'परीवारौ' पद में घञ् का प्रयोग विचारणीय है। इस शब्द की सिद्धि 'घञ्' प्रत्यय द्वारा 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६।३।१२२) सूत्र से 'परि' को दीर्घादेश होकर हुई है।

इस प्रयोग में 'बहुल' द्वारा भाव में 'घञ्' प्रत्यय तथा दीर्घ, वृद्धि आदि कार्य माने गए हैं। जयमंगला में कहा गया है कि 'परिव्रियतेऽनेनेति परिवार:' व्युत्पति के अनुसार 'घञ्' होकर मृगों के मनुष्य न होने के कारण 'परि' को दीर्घ हुआ है।[4]

सारसंग्रह:

'क्रियते सारसंग्रह:' वाक्य के 'संग्रह:' पद में 'अप्' इसलिए नहीं हो सकता कि 'हलश्च' (३।३।१२१) सूत्र से 'करणाधिकरणयो:' की अनुवृत्ति आने के कारण करण तथा अधिकरण में 'घञ्' द्वारा 'अप्' का बाध हो जाता है। अत: यहां पर 'घञ्' होकर 'संग्रह:' प्रयोग बनना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार 'करणाधिकरणायोश्च' सूत्र से विहित 'ल्युट' द्वारा सामान्य 'घञ्' का बाध हो जाता है। उसके पश्चात् 'ल्युट' का भी 'हलश्च' सूत्र से विहित 'घञ्' द्वारा बाध की प्राप्ति होती है। अत: जिस प्रकार वासरूप-विधि द्वारा 'ल्युट' हो जाता है, उसी प्रकार वासरूपविधि द्वारा 'अप्' हो जाएगा।

---

१. मल्लिनाथटीका, कुमारसंभव, ३।७।

२. काशिका ३।१।१४३।

३. भट्टिकाव्य ४।३७।

४. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ४।३७।

यहां पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'ल्युट' के विषय में 'क्त-ल्युट···' परिभाषा के अनुसार वासरूपविधि नहीं होती। अतः उपर्युक्त समाधान उचित नहीं है। इस आक्षेप का निवारण, इन्दु के मत रूप में, किया गया है। इन्दु ने 'प्रत्यय' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'क्त ल्युट' परिभाषा में भाव 'ल्युट्' का ग्रहण हुआ है, सामान्य 'ल्युट्' का नहीं। यही बात 'मति—' सूत्र के प्रसंग में कही गई है परन्तु वहां पर इन्दु का नाम नहीं लिया गया।

इसके विपरीत रक्षित का मत भी उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार परिभाषा में सामान्य 'ल्युट्' का ग्रहण हुआ है। अतः उसके मत में 'सार-संग्रहः' प्रयोग में 'बहुल' द्वारा 'अच्' हो जाएगा।

वरम्

मेघदूत के 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे 'लब्धकामा:'[1] श्लोकांश के 'वरम्' पद में यह विचारणीय है कि 'वर' शब्द के 'अप्' प्रत्ययान्त होने के कारण 'घञजपाः' वचन के अनुसार उससे सदैव पुल्लिग होना चाहिए।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'घञजपाः' नियम के प्रायिक होने के कारण कभी-कभी ये शब्द नपुंसकलिंग में भी प्रयुक्त हो जाते हैं।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर कर्म में 'वृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय हुआ है। अतः लिंग का प्रयोग विशेष्य के अनुसार होगा। 'घञबन्तः' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि जब इन प्रत्ययों का प्रयोग कर्म आदि में होता है तो इनका लिंग विशेष्य के अनुसार होता है।[2]

तीसरा समाधान 'वरम्' शब्द को अव्यय मानकर दिया गया है। अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने अमरकोश की 'देवादीप्सित—त्वाहुस्तदव्ययम्' कारिका उद्धत की है, जिसमें 'वरम्' शब्द को अव्यय माना गया है। अमरकोश के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में यह कारिका इस रूप में मिलती है— देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये।[3] इसी की सुधा टीका में मेदिनी के नाम से यह मत उद्धृत किया गया है—' मनागिष्टे वरं क्लीबं केचिदाहुस्तदव्ययम्।[4]

---

१. मेघदूत, पूर्वमेघ ६।

२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), सूत्र ३६।

३. अमरकोश, ३।३।१८७।

४. अमरकोश, सुधाटीका, ३।३।१७३।

व्यधजपोरनुपसर्गे ३।३।६१

कर्णजाप:

'व्यधजपो···[1] सूत्र उपसर्ग रहित 'व्यध्' तथा 'जप्' धातुओं से 'अप्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार 'कर्णजाप:' तथा 'मन्त्रजापम्' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि यहां पर धातु के उपसर्गरहित होने के कारण 'अप' होकर कर्णजाप:' तथा 'मन्त्रजापम्' प्रयोग बनने चाहिए थे।

शरणदेव के अनुसार चौरादिक 'वृतुवृधु···' आदि धातुओं के साथ 'जप्' का भी पाठ मान कर उसके भाषार्थक होने से 'णिच्' तथा 'अप्' होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। धातुवृत्ति आदि में इन धातुओं के साथ 'जप्' धातु का पाठ नहीं माना गया है। वाचस्पत्यम् में 'कर्णजाप:' प्रयोग की सिद्धि 'अण्' द्वारा तथा आप्टे के कोश में 'घञ्' द्वारा की गई है।

मदोऽनुपसर्गे ३।३।६७

माद:

'मदोऽनुपसर्गे' सूत्र उपसर्ग रहित 'मद्' धातु से 'अप्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार अमरकोश के 'मादो मद:'[1] वाक्य का 'माद:' शब्द विचारणीय है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'सद्यमाद— (६।३।९६) सूत्र में निर्दिष्ट 'माद:' शब्द द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। सूत्रस्थ प्रयोग की सिद्धि के लिए 'अन्य:' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि 'मदोऽनुपसर्गे' सूत्र में 'स्वनहसोर्वा' (३।३।६२) सूत्र से 'वा' शब्द की अनुवृत्ति लाकर व्यवस्थितविभाषा द्वारा पक्ष में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अमरकोश की टीका में भी यही समाधान दिया गया है तथा 'घञ्' की प्राप्ति 'भाव' (३।३।१८) सूत्र द्वारा मानी गई।[1]

न्यास में कहा गया है कि 'व्यधजपो—' सूत्र द्वारा ही 'मद्' का भी निर्देश किया जा सकता था, पृथक् सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस पृथक् सूत्रन्यास से ज्ञापित होता है कि यह विधि अनित्य है। फलत: पक्ष में 'माद:' प्रयोग भी बनेगा।[2] यही बात धातुवृत्ति में न्यास के नाम से कही गयी है।[4] भाषावृत्ति में 'माद:' प्रयोग 'बहुल' द्वारा सिद्ध किया गया है।[3]

---

१. अमरकोश सुधा टीका, ३।२।१२।
२. न्यास (भाग १), ३।३।६७, पृ० ७०२।
३. धातुवृत्ति, पृ० ४३६।
४. भाषावृत्ति, ३।३।६७।

संघोद्घौ गणप्रशंसयो: ३।३।८६

अरिसंघातन्

'संघोद्घौ…' सूत्र में गण शब्द के लिए 'संघ' शब्द निपातित है । गण शब्द का अर्थ है… प्राणियों का समूह ।[1] उससे इतर वस्तुओं के समूह के लिए 'संघात' शब्द प्रयोग होता है । इसलिए भट्टि के 'दमित्वाप्यरिसंघातान्'[2] श्लोकांश में यह विचारणीय है कि 'अरि' शब्द के साथ 'संघात' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? नियमानुसार यहां पर 'संघ' शब्द प्रयुक्त होना चाहिए था ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'पूर्वं धातु: साधनेन युज्यते' नियम के अनुसार 'हन्' धातु से प्रत्यय आदि हो कर 'घात' शब्द बन जाएगा । उसके पश्चात् ही उसका 'सम्' से योग होगा ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'हन्' धातु से 'णिच्' करके 'घाति' धातु बन जाएगी । उसके पश्चात् उपसर्ग से योग होकर तथा प्रत्यय आदि की प्राप्ति के पश्चात् 'संघात' शब्द बन जाएगा । धातुवृत्ति में भी यही समाधान, आत्रेय के नाम से दिया गया है ।[3]

धातुवृत्ति में इसी प्रकार के 'ब्राह्मणसंघात' प्रयोग पर विचार करते हुए कहा गया है कि इस प्रयोग में प्राणिविषयता की प्रतीति 'संघात' श्ब्द से न होकर 'ब्राह्मण' पद के योग से हो रही है । अत: यहां पर कोई दोष नहीं है ।[4] यही समाधान भट्टि के लिए भी दिया जा सकता है । वहां पर भी प्राणि-विषयता की प्रतीति 'संघात' शब्द से न होकर 'अरि' शब्द से हो रही है ।

उपसर्गे घो: कि: ३।३।९२

विश्वसृड्विधि:

'उपसर्गे धो: कि:' सूत्र उपसर्ग पूर्वक 'घु' संज्ञक धातुओं से 'कि' प्रत्यय करता है । इस सूत्र में 'भावे अकर्तरि च कारके' सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है जिसके फलस्वरूप यह सूत्र कर्ता में प्रवृत्त नहीं हो सकता ।[5] इस दृष्टि से

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ३१८ ।
२. भट्टिकाव्य, ९।४२ ।
३. धातुवृत्ति, पृ० ३१८ ।
४. उपरिवत्
५. काशिका, ३।५।९२ ।

अमरकोश के 'विश्वसृड्विधिः'[1] वाक्य का 'विधिः' शब्द विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'विधिः' शब्द कर्ता में प्रयुक्त हुआ है। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि कर्ता के कारणत्व के रूप में विवक्षित होने के कारण प्रत्यय हो जाएगा, क्योंकि उस स्थिति में तो 'करणाधि···' (३।३।११७) सूत्र द्वारा विहित 'ल्युट्' से 'कि' के बाध की प्राप्ति होगी। 'ल्युट्' की प्राप्ति होने पर वासरूपविधि द्वारा 'कि' की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'क्तल्युट्···' परिभाषा द्वारा 'ल्युट्' के प्रति वासरूपविधि का निषेध कर दिया गया है। रक्षित ने इस परिभाषा का उल्लेख 'समर्थ' (२।१।१) सूत्र की व्याख्या में किया था, ऐसा दुर्घटवृत्ति से पता चलता है।

दुर्घटवृत्तिकार के अनुसार यहां पर कर्ता में 'बहुल' द्वारा प्रत्यय हो जाएगा। धातुवृत्ति, अमरकोश की टीका तथा सुधानिधि में यह समाधान माधव के नाम से दिया गया है।[2] परन्तु तत्वबोधिनीकार के अनुसार यह मत उचित नहीं है, क्योंकि तौदादिक 'विध्' धातु से उणादिसूत्र 'इगुपभात् कित्' (सि०कौ०५५६) द्वारा 'इन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।[3] यही समाधान सुधानिधि में दीक्षित के नाम से तथा अमरकोश की टीका में मिलता है।[4]

स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४

म्लानिः

'ग्लाज्याहाभ्यो निः'[5] वार्तिक द्वारा स्त्रीलिंग में 'ग्ला' आदि धातुओं से 'नि' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'म्लानिः' प्रयोग चित्य है। दुर्घटवृत्ति तथा क्षीरतरंगिणी के अनुसार यहां पर 'बहुल' द्वारा प्रत्यय हो जाएगा।[6]

महाभाष्य तथा काशिका के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में यह वार्तिक 'म्लै' धातु सहित मिलती है··· 'ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः'। इन प्रामाणिक ग्रंथों में वार्तिक का यह रूप देखते हुए आश्चर्य होता है कि शरणदेव ने 'म्लै' धातु

---

१. अमरकोश, १।१।१७।
२. (क) धातुवृत्ति, पृ० ३९५।
   (ख) अमरकोश सुधा टीका, १।१।१७।
   (ग) सुधानिधि, ३।३।९२, पृष्ठ १४२४-२५।
३. तत्वबोधिनी (भाग ४), ३।३।९२, पृ० २८८।
४. (क) सुधानिधि, पृ० ३।३।९२, १४२४-२५।
   (ख) द्र० अमरकोश सुधा टीका, १।१।१७।
५. महाभाष्य, ३।३।९५, वा० ४।
६. क्षीरतरंगिणी, पृ० १३२।

सहित वार्तिक पाठ स्वीकार क्यों नहीं किया ? दुर्घटवृत्ति से ही पता लगता है कि पुरुषोत्तमदेव भी 'म्लै' सहित पाठ स्वीकार करते हैं।[1]

ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च ३।३।९७

कीर्त्तना

'ण्यन्त कृत संशब्दने' धातु से स्त्रीलिंग में 'ण्यास···' (३।३।१०७) सूत्र द्वारा 'युच्' की प्राप्ति होती है परन्तु उसके अपवादभूत 'ऊतियूति···' सूत्र द्वारा 'ति' प्रत्ययान्त 'कीर्तिः' शब्द का निपातन किया गया है। स्त्रीप्रत्ययों के विषय में वासरूपविधि का निषेध होने के कारण 'कीर्तना' प्रयोग में 'युच्' की स्थिति विचारणीय है। महाभाष्य, काशिका आदि सभी ग्रन्थों में 'कीर्तिः' प्रयोग ही अभीष्ट माना गया है। कोशों में दोनों प्रयोग मिलते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'युच्' की प्राप्ति 'बहुल' द्वारा हो जाएगी। पदमंजरी तथा धातुवृत्ति में कहा गया है कि कालाप वैयाकरणों के अनुसार यहां पर 'युच्' हो जाएगा।[2]

व्रजयजोर्भावे क्यप् ३।३।९८

यष्टिः

'व्रजयजोर्भावेक्यप्' सूत्र 'व्रज्' तथा 'य्ज्' धातुओं से स्त्रीलिंग में भाव की विवक्षा होने पर 'क्यप्' प्रत्यय का विधान करता है। यह सूत्र 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र का अपवाद है। स्त्रीलिंग में वासरूपविधि का निषेध होने के कारण पक्ष में 'क्तिन्' की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः 'यष्टिः' प्रयोग चिन्त्य है।

यहां पर यह कहा गया कि 'बहुल' द्वारा वासपरूपविधि से यहां पर 'क्तिन् हो जाएगा। शरणदेव के अनुसार 'वासरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र के 'अस्त्रियाम्' पद में 'नञ्' समास का प्रयोग अल्पार्थ में हुआ है। अतः स्त्रीलिंग में नित्य वासरूपविधि का निषेध न होने के कारण कभी-कभी वासरूपविधि की प्राप्ति हो जाएगी।

क्षीरतरंगिणी के अनुसार इस प्रयोग में प्रत्यय की प्राप्ति 'वसेस्तिः' (सि०कौ० ६१९) उणादिसूत्र द्वारा हो जाएगी।[3] इसी ग्रन्थ के पादटिप्पण में कहा गया है कि इस सूत्र द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति 'बहुल' द्वारा होगी।[2] अमरकोश की टीका में इस शब्द की सिद्धि 'यज्' धातु से न करके चौरादिक

---

१. भाषावृत्ति, ३।३। ९४।
२. (क) पदमंजरी (भाग १), ३।३।९७, पृ० ६८६।
   (ख) धातुवृत्ति, पृ० ५५१।
३. क्षीरतरंगिणी, पृ० १५९।
४. क्षीरतरंगिणी, पाद टिप्पण, पृ० १५९।

यक्ष पूजायाम् धातु से की गई है। इस धातु से 'क्तिच्कतौ—' (३।३।१७४) सूत्र द्वारा 'क्तिच्' प्रत्यय हो जाएगा।[1]

संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः ३।३।९९

भार्या

'संज्ञायां समजनि···' सूत्र संज्ञा के विषय में 'समज्' आदि धातुओं से स्त्री-लिंग में 'क्यप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'भार्या' शब्द की सिद्धि विचारणीय है, क्योंकि 'भृ' धातु से 'क्यप्' होकर 'भृत्या' बनेगा 'भार्या' नहीं।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'भृत्या' शब्द स्वाभाविक रूप से अर्थ अर्थात् भावव्यापार का वाचक होगा। कर्म की विवक्षा होने पर 'भृञोऽसंज्ञायाम्' (३।१।११२) सूत्र द्वारा 'क्यप्' होगा, परन्तु संज्ञा का विषय होने पर 'भार्या' की विवक्षा में 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) सूत्र द्वारा 'ण्यत्' हो जाएगा। भृञोऽसंज्ञायाम्' सूत्र की व्याख्या में न्यास, पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी, प्रदीप आदि में कहा गया है कि यह शब्द 'ण्यत्' द्वारा ही सिद्ध होगा।[2] धातुवृत्ति में भी यही कहा गया है।[3]

शब्दकौस्तुभ' पदमंजरी तथा सुधानिधि में 'भृञोऽसंज्ञायाम्' सूत्र के प्रसंग में इस शब्द की सिद्धि एक अन्य ढंग से इस प्रकार की गई है कि 'एकानुबन्ध-ग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य' परिभाषा के अनुसार भौवादिक 'भृभरणे' का ही 'क्यप्' विधि में ग्रहण होगा,' जौहत्यादिक 'डुभृञ्' का नहीं। इस प्रकार 'डुभृञ्' अथवा क्रायदीय 'भृ' धातु से 'ण्यत्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[4]

भृतिः

स्त्रीलिंग में वासरूपविधि के निषेध के कारण 'भृतिः' प्रयोग में 'क्तिन्' का प्रयोग विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'कर्मणि भृतौ' (३।२।२२) सूत्र में निर्दिष्ट 'भृतौ' शब्द से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। धातुवृत्ति तथा न्यास में भी यही समाधान दिया गया है।[5]

---

१. अमरकोश सुधा टीका, ३।३।३८।
२. पदमंजरी (भाग १), ३।१।११२, पृष्ट ५९७।
३. धातुवृत्ति, पृ० २३१।
४. शब्दकौस्तुभ (भाग २), ३।१।११२, पृ० ४१०।
५. (क) धातवृत्ति, पृ० २३१।
(ख) न्यास (भाग २), ३।३।९९, पृ० ७१०।

समितिः

'संज्ञायाम्—' सूत्र द्वारा 'इण्' धातु से 'क्यप्' का विधान किए जाने के कारण 'समितिः' प्रयोग चिन्त्य है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'बहुल' द्वारा 'क्तिन्' हुआ है । दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यह शब्द 'इण्' धातु से सिद्ध न होकर 'इट किट कटी गतौ' धातुओं के साथ 'इ' का भी पाठ मान कर इसी 'इ' धातु से सिद्ध हुआ है । सिद्धान्तकौमुदी, क्षीरतरंगिणी तथा धातुवृत्ति में कहा गया है कि कुछ विद्वान् 'कटी' धातु में 'इ ई' इस प्रकार का प्रश्लिष्ट निर्देश मानकर 'इ' धातु भी मानते हैं, जिससे 'अयति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।[1]

मतिः

'मन्' तथा 'सु' धातुओं से इस सूत्र के द्वारा 'क्यप्' का विधान किए जाने के कारण 'मतिः' तथा 'आसुति' शब्दों में 'क्तिन्' का प्रयोग चिन्त्य है ।

इस प्रयोगों के विषय में यह कहा गया है कि 'मतिबुद्धि—' (३।२।१८८) तथा 'कृष्यासुतिः—' (५।२।११२) सूत्रों में निर्दिष्ट 'मतिः' तथा 'आसुतिः' शब्दों द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे । न्यास में भी यही समाधान दिया गया है ।[2]

अ प्रत्ययात् ३।३।१०२

कण्डूतिः

'अ प्रत्ययात्' सूत्र स्त्रीलिंग में प्रत्ययान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'कण्डूतिर्वदनादपैति शिरसः' वाक्य के कण्डूतिः' पद में 'क्तिन्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कण्डूय्' धातु 'यक्' प्रत्ययान्त है । अतः 'अ' प्रत्यय होकर 'कण्डूया' प्रयोग बनना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि कण्ड्वादि शब्द दो प्रकार के हैं धातु तथा प्रातिपदिक । 'कण्डूतिः' शब्द धातु से निष्पन्न न होकर 'कण्डू' प्रातिपदिक से निष्पन्न हुआ है । 'कण्डू' षष्ठ्यन्त शब्द (कण्ड्वा) का 'प्रदेशे दीप्तौ वृद्धौ वा' अर्थ में प्रयुक्त 'अतिः' शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है। अतः यह प्रयोग साधु है । सिद्धान्तकौमुदी तथा धातुवृत्ति में 'अव्' धातु जिससे 'ऊतिः' शब्द निष्पन्न हुआ है, दीप्ति तथा वृद्धि अर्थों में तो पढ़ी गई है, परन्तु प्रदेश अर्थ में नहीं ।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३) ७।२।५, पृ० १०६ ।
२. न्यास (भाग १), ३।३।९९, ७१० ।

इस समाधान के विषय में यह कहा जा सकता है कि 'कण्डूतिः' शब्द में यदि इस प्रकार षष्ठी समास माना गया तो 'न पदान्त' (१।१।५८) सूत्र की वृत्ति में दिए गए 'य्' लोप का 'कण्डूतिः' उदाहरण उचित नहीं होगा।

इस आक्षेप का निवारण, न्यासकार के मत रूप में, इस प्रकार किया गया है कि यहां पर 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र द्वारा 'क्तिन्' प्रत्यय हो जाएगा।[1] इस संबंध में शरणदेव का यह मत है कि यहां पर 'क्तिन्' की प्राप्ति 'बहुल' द्वारा होगी। रक्षित ने भी यहां पर बहुल द्वारा ही प्रत्यय की प्राप्ति मानी थी, ऐसा दुर्घटवृत्ति से पता लगता है। हरदत्त के अनुसार 'कण्डू' को आबादि में मानकर 'क्तिनाबादिभ्यो वक्तव्यः' वार्तिक द्वारा 'क्तन्' की प्राप्ति होगी।[2] भाषावृत्ति में 'क्तिच्' प्रत्यय द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया गया है।[3] धातुवृत्तिकार ने इस प्रसंग में 'क्तिन्प्रत्ययेवलिलोपस्य—' पाठ उद्धत किया है परन्तु काशिका में 'कण्डूयतेः क्तिचि' पाठ मिलता है। हरदत्त के अनुसार काशिका का पाठ ठीक है।[4]

बाद में दुर्घटवृत्तिकार ने इस शब्द को अपशब्द भी माना है। भागवृत्तिकार भी ऐसा ही मनते हैं।[5]

कण्डूया

यदि 'कण्डूतिः' प्रयोग को साधु मान लिया जाए तो 'कण्डूया' प्रयोग असाधु माना जाएगा, क्योंकि 'क्तनाबादिभ्यः' वार्तिक द्वारा 'अ' प्रत्यय का बाध हो जाने से 'अ' प्रत्यय नहीं हो सकेगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'क्तिन्' प्रत्यय अत्यन्त (सर्वथा) बाधक नहीं है। इस बात का ज्ञापक 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।३।३४) सूत्र है। 'स्थागापा···' (३।३।९५) सूत्र द्वारा विहित 'अङ्' का 'क्तिन्' द्वारा बाध न हो कर व्यवस्था शब्द बनता है।

'कण्डूया' शब्द के लिए दूसरा समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग को उणादिसूत्र द्वारा निष्पन्न मानना चाहिए।

शोभा

'शोभा' शब्द की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'शुभ्' धातु

---

१. न्यास (भाग १), १।१।५८, पृ० ११३।
२. पदमंजरी (भाग १), १।१।५८,११७।
३. भाषावृत्ति, १।१।५८।
४. पदमंजरी (भाग १), १।२।५८, पृ० ११७
५. टीकासर्वस्वम्, (भाग २) पृ० ३११।

के गुरुमान् न होने के कारण 'गुरोश्च हल:' (३।३।१०३) सूत्र द्वारा 'अकार' प्रत्यय कैसे हो गया ?

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि यह प्रयोग 'शुभ शुम्भ शोभार्थे' धातु निर्देश द्वारा सिद्ध हो जाएगा । काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है ।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'गुरोश्च हल:' सूत्र का चकार अनुक्तसमुच्चयार्थक है । अत: उसके द्वारा 'शुभ्' धातु का भी समुच्चय होकर इस धातु से 'अकार' प्रत्यय हो सकेगा ।

तीसरा समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग घञन्त होने के कारण साधु है । वाचस्पत्यम् में यह प्रयोग 'अ' प्रत्यय द्वारा तथा शब्दकल्पद्रुम में 'घञ् द्वारा सिद्ध किया गया है ।[2]

'घञजबन्ता:' नियम के अनुसार घञन्त शब्दों के पुंल्लिग में प्रयुक्त होने के कारण 'शोभा' शब्द से स्त्रीलिंग का प्रयोग विचारणीय है । इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि लोकाश्रय से यहां पर स्त्रीलिंग का प्रयोग साधु ही है ।

पीडा

'पीडा' शब्द में 'अ' का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'पीड' धातु के चौरादिक होने के कारण उससे 'ण्यास...'(३।३।१०७) सूत्र द्वारा 'युच्' होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'आर्धधातुके' (६।४।४६) सूत्र में विषयसप्तमी मान कर 'णेरनिटि' (६।४।५१) सूत्र द्वारा 'णि' का लोप होकर धातु के गुरुमान् होने से 'अ' प्रत्यय हो जाएगा । 'आर्धधातुके' सूत्र में परसप्तमी मानने पर तो 'युच्' होकर 'पीडनम्' प्रयोग ही बनेगा जैसाकि माघ ने प्रयोग किया है' कुरुराज...निर्दयनि पीडनाभयात् ।[3]

धातुवृत्ति में 'पीड' धातु को भिदादिगण में पठित मानकर 'षिद्भिदा...' (३।३।१०४) सूत्र द्वारा यहां पर 'अङ्' माना गया है ।[4] वर्धमान इस गण को आकृतिगण मानते हैं ।[5]

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।४१ ।
२. 'शुभ+अ ।—वाचस्पत्यम् । 'शुभ+करणे घञ ।'—टाप् ।—शब्दकल्पद्रुम ।
३. शिशुपालवध, १३।११ ।
४. धातुवृत्ति, पृ० ५४० ।
५. गणरत्नमहोदधि, पृ० ४७५-७६ ।

षिद्भिदादिभ्योऽङ् ३।३।१०४

उपलब्धिः

'षिद्भिदा—' सूत्र 'षित्' आदि धातुओं से 'अङ्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'उपलब्धिः' पद में 'क्तिन्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'डुलभष्' धातु 'षित्' है। अतः इससे 'अङ्' होना चाहिए।

इस समस्या के चार समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यह प्रयोग 'लभ्' से निष्पन्न न होकर 'रभ्' धातु से निष्पन्न हुआ है। रेफ और लकार के एकत्व के नियम के कारण 'रभ्' के रेफ को लकार हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'लभ्' धातु के आबादि होने के कारण 'क्तिनाबादिभ्यश्च' वार्तिक द्वारा 'क्तिन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। काशिका, सुधानिधि तथा धातुवृत्ति में यही समाधान दिया गया है।[1] सुधानिधि तथा तत्वबोधिनी में कहा गया है कि महाभाष्यकार द्वारा इस शब्द के प्रयुक्त होने के कारण, उनके प्रमाणभूत होने से, यह प्रयोग साधु है।[2]

तीसरा समाधान 'केचित्' निदश द्वारा यह दिया गया है कि कुछ विद्वान् 'डुलभ्ष्' के स्थान पर 'डुलभ्' निर्देश मानते हैं जो अषित् है। यह निर्देश मानने पर प्रत्यय की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी।

चतुर्थ समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में यह दिया गया है कि 'बहुल' द्वारा 'क्तिन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3] तत्वबोधिनी में विकल्प के रूप में तथा पदमंजरी में इसी सूत्र की व्याख्या में यही समाधान दिया गया है।[4]

क्षान्तिः

इसी प्रकार की कठिनाई 'क्षान्तिः' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि 'क्षमूष्' धातु भी 'षित्' है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग भौवादिक 'क्षमूष्' से निष्पन्न न होकर दैवादिक 'क्षमू' से निष्पन्न हुआ है। धातुवृत्ति में कहा गया है कि कुछ विद्वान् दैवादिक 'क्षमू' धातु को भी 'षित्' पढ़ते हैं। परन्तु यह मत

---

१. (क) काशिका, ३।३।९४।
   (ख) सुधानिधि, ३।३।१०४ पृ० १४२९।
२. सुधानिधि, ३।३।१०४, पृ० १४२९।
३. भाषावृत्ति, ३।३।१०४।
४. तत्वबोधिनी (भाग ४), ३।३।१०४, पृ० २९३।

उचित नहीं है । धातुवृत्ति से ही पता लगता है कि स्वामी और वर्धमान के अनुसार इस धातु को 'षित्' मानना उचित नहीं है ।[1]

परभित्तिकृत्

'भिदाविदारणे'[2] वार्तिक द्वारा विदारण अर्थ होने पर 'अङ्' होकर 'भिदा' शब्द बनता है परन्तु अन्य अर्थों में 'भित्ति' । इस दृष्टि से माघ के 'सपक्षः परभित्तिकृत्' श्लोकांश का 'भित्तिः' शब्द चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर यह शब्द विदारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'धारा प्रपतने घृतिरन्ये'[3] वार्तिक के समान उपर्युक्त वार्तिक भी प्रायिक है । अतः यह प्रयोग साधु है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'बहुल' द्वारा 'क्तिन्' हो जाएगा ।

तीसरा समाधान यह दिया गया है कि कुछ विद्वान् 'परभित्तिकृत्' पाठ के स्थान पर 'सपक्षः परभेदन' पाठ मानते हैं, जिसमें कोई दोष उपस्थित नहीं होता । शिशुपालवध के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में भी यही पाठ मिलता है ।[4]

मृजा

'भट्टि' के 'मृजान्वयाः स्नेहमिव स्रवन्तीः'[5] श्लोकांश के 'मृजा' पद में 'अङ्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'मृज्' धातु 'षित्' नहीं है । धातुवृत्ति में यह धातु 'ऊदित्' पढ़ी गई है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'मृज्' धातु को भिदादिगण में पठित मानकर उससे 'अङ्' हो जाएगा । सिद्धान्तकौमुदी तथा तत्वबोधिनी में तो 'मृजा' शब्द ही इस गण में पठित है ।[6]

पदमंजरी तथा क्षीरतरंगिणी में यह धातु 'षित्' भी पढ़ी गई है ।[7] 'षित्' मानने पर तो प्रत्यय स्वतः हो जाएगा । सिद्धान्तकौमुदी में भी यह धातु अदादिगण में 'षित्' पढ़ी गई है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'चिन्तिपूजि—' (३।३।१०५) सूत्र

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ४३६ ।
२. महाभाष्य, ३।३।१०४, वा० १ ।
३. महाभाष्य, ३।३।१०४, वा० ४ ।
४. शिशुपालवध, २।९७ ।
५. भट्टिकाव्य, ३।१३ ।
६. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), ३।३।१०४, पृ० २९३ ।
७. पदमंजरी (भाग १), ३।३।१०४, पृ० ६८८ ।

के चकार द्वारा 'मृज्' धातु से भी 'अङ्' हो जाएगा। इसी प्रकार चकार के आधार पर 'स्पृहा', 'चुरा' तथा 'रुजा' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएंगे।

'चुरा' और 'रुजा' प्रयोगों के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि छत्रादिगण में 'चुरा' शब्द का पाठ होने से[1] तथा 'रुजार्था—' (२।३।५४) सूत्र में 'रुजा' निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि इन धातुओं से 'अङ्' भी होता है।

मृष्टिः

यदि इस प्रकार 'मृजा' प्रयोग को साधु मान लिया गया तो 'मृष्टिः' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'मृज् शुद्धौ' से निष्पन्न न होकर चौरादिक 'मृजू शुद्धालंकारणयोः' से बना है।

आतश्चोपसर्गे ३।३।१०६

प्रमितौ

'आतश्चोपसर्गे सूत्र उपसर्ग उपपद होने पर स्त्रीलिंग में अकारान्त धातुओं से 'अङ्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से अमरकोश तथा शिशुपालवध के क्रमशः 'प्रमितौ'[2] तथा 'निर्मितिः'[3] प्रयोग चिन्त्य हैं।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'बहुल' द्वारा 'क्तिन' हुआ है। धातुवृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है।[4]

अमरकोश की टीका में 'प्रमितिः' शब्द की सिद्धि स्वादीय 'डुमिञ्' धातु से की गई है न कि 'भाङ् माने' से।[5] शब्दकल्पद्रुम में यह शब्द इन दोनों धातुओं से सिद्ध माना गया है।[6]

ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७

दंष्ट्रातुला

'ण्यास…' सूत्र ण्यन्त आदि धातुओं से स्त्रीलिंग में 'युच्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'तुला' शब्द विचारणीय है, क्योंकि 'तुल्'

---

१. काशिका, ४।४।६२।
२. अमरकोश, ३।२।१०।
३. शिशुपालवध, ३।५८।
४. धातुवृत्ति, पृ० ३६८।
५. अमरकोश सुधा टीका ३।२।१०।
६. 'प्र+मा वा मि क्तिन्' —शब्दकल्पद्रुम।

धातु चौरादिक होने के कारण ण्यन्त है ।

इस समस्या का समाधान दुर्घटवृत्ति, सुधानिधि, शब्दकौस्तुभ तथा धातुवृत्ति में यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'अतुलोपमा—' (२।३।७२) सूत्र द्वारा निपातित 'तुला' शब्द से सिद्ध हो जाएगा ।[1] तत्वबोधिनी में हरदत्त के नाम से तथा पदमंजरी में यह समाधान दिया गया है कि 'चिन्तिपूजि—' सूत्र के चकार द्वारा 'तुल्' धातु से भी 'अङ्' हो जाएगा ।[2]

धातुवृत्ति में, मैत्रेय के नाम से, एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'णिच्' के अनित्य होने के कारण यहां पर 'अङ्' हुआ है ।[3]

पाक्तिः

'पच्' धातु से 'णिच्' करने के पश्चात् उसके ण्यन्त होने के कारण 'युच्' होना चाहिए, 'क्तिन्' नहीं । इस दृष्टि से 'पाक्तिः' प्रयोग चिन्त्य है ।

दुर्घटवृत्तिकार तथा भाषावृत्ति के अनुसार यहां पर 'बहुल' द्वारा 'क्तिन्' हो जाएगा ।[4]

रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् ३।३।१०८

एवकारः

'वर्णात्कारः' वार्तिक की दृष्टि से 'एवकारः' तथा 'हुंकारेणैव' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि यहां पर वर्णसमुदाय से प्रत्यय कैसे हो गया, क्योंकि वार्तिक तो केवल एक ही वर्ण से प्रत्यय का विधान करता है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'रोगाख्या···' सूत्र के 'बहुल' द्वारा वर्णसमुदाय से भी प्रत्यय हो जाएगा । यही समाधान इसी सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य, पदमंजरी, न्यास तथा प्रदीप टीका में भी दिया गया है ।[5]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'एवस्यकारः एवकारः' प्रयोग में 'कृ' धातु से 'घञ्' होकर षष्ठी समास हुआ है । न्यास में यह समाधान विकल्प के रूप में मिलता है ।[6]

सुधानिधि में अन्ये निर्देश द्वारा, तत्वबोधिनी, बालमनोरमा तथा शब्दकौस्तुभ में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'उच्चैः—'(१।२।-

१. धातुवृत्ति, पृ० ५४४।
२. पदमंजरी (भाग १), ३।३।१०५, पृ० ६८८।
३. धातुवृत्ति, पृ० ५४४।
४. भाषावृत्ति, ३।३।१०७।
५. प्रदीप, महाभाष्य, ३।३।१०८, पृ० ३४२।
६. न्यास (भाग १) ३।३।१०८, पृ० ७१६।

३५) सूत्र से निर्दिष्ट 'वषट्कार' शब्द से यह ज्ञापित होता है कि कभी-कभी वर्णसमुदाय से भी प्रत्यय हो जाता है।[1]

रकारादीन्

'रादिफः'[2] वार्तिक की दृष्टि से कल्पपञ्चिका के 'रकारादीन्' प्रयोग में 'कार' का प्रयोग विचारणीय है क्योंकि इस वार्तिक द्वारा रेफ से 'इफ' प्रत्यय का विधान किया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर 'क्वचिदपवाद—'परिभाषा द्वारा यह दिया गया है कि 'कार' प्रत्यय उत्सर्ग है तथा 'इफ' अपवाद। अतः उपर्युक्त परिभाषा द्वारा यहां पर अपवाद के विषय में उत्सर्ग (कार) हुआ है।

बालमनोरमा में कहां गया है कि 'रोगाख्या...' सूत्र में 'स्त्रियाम्' पद की अनुवृत्ति न आने के कारण यहां पर वासरूपविधि का निषेध नहीं हो सकेगा।[3]

ल्युट् च ३।३।११५

इतिकरणः

'ल्युट् च' सूत्र नपुंसकलिंग में धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार काशिका तथा न्यास के 'इतिकरणो विवक्षार्थः' तथा 'इति-करणो हेतौ' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि यहां पर ये प्रयोग भाव में न होकर कर्म में हुए हैं।

इस प्रश्न का उतर यह दिया गया है कि यहां पर 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र के 'बहुल' द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।

भूषणाः

'स ते करोतु कल्याणं यस्यैते पञ्चभूषणाः' वाक्य के 'ल्युट् प्रत्ययान्त' 'भूषणाः' शब्द में पुल्लिग का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'भावेल्युडन्तः' (लिंगानु-शासन ११६) सूत्र के अनुसार यहां पर नपुंसकलिंग होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह शब्द 'ल्युट्' प्रत्ययांत न होकर 'ऋघमण्डा···' (३।२।१५१) सूत्र द्वारा विहित 'युच्' के संयोजन से सिद्ध हुआ है। अतः लिंगानुशासन के 'णोपधः' (६७) सूत्र द्वारा यहां पर पुल्लिग सिद्ध हो जाएगा। वैसे 'भूषणम्' शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता है।

१. तत्वबोधिनी (भाग ४) ३।३।१०८, पृ० २६५।
२. महाभाष्य, ३।३।१०८, वा० ४।
३. महाभाष्य, ३।३।१३०, पृष्ठ ३४६।

ईषद्दुःसुषु कृच्छाकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६

दुर्योधन

'ईषद्दुः—' सूत्र कृच्छ तथा अकृच्छ अर्थों में प्रयुक्त धातुओं से 'ईषत्' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'खल्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'दुःखेन युध्यते इति दुर्योधनः', प्रयोग में 'युच्' विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।३।१३०) सूत्र के प्रसंग में महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्तकौमुदी में यह दिया गया है कि 'भाषायां शासि-युधिदृशिघृषिभ्यो युच्' वार्तिक द्वारा 'युच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1] धातुवृति में भी यही कहा गया है।[2]

दुर्घटवृतिकार ने यहां पर 'केवलाण्ण्यत्' कहा है जिसका समस्या से कोई संबंध नहीं दिखाई देता।

आतो युच् ३।३।१२८

दुर्विज्ञेयम्

'आतो युच्' सूत्र कृच्छाकृच्छ अर्थों में आकारान्त धातुओं से 'ईषत्' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'युच्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से दुर्विज्ञेयम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'दुस्' उपपद होने पर 'ज्ञा' धातु से 'युच्' होना चाहिए था। इस सूत्र में वासरूपविधि भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'क्तल्युट—' परिभाषा द्वारा खलर्थ के विषय में वासरूपविधि का निषेध कर दिया गया है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर, 'दुस्' उपसर्ग उपपद होने पर प्रत्यय नही हुआ है, अपितु 'दुःखेन विज्ञेयम्' इस प्रकार प्रादि समास हुआ है। अतः यह प्रयोग साधु है। दुर्घटवृत्ति में यहां पर 'दुःखेन ज्ञेयम्' पाठ मिलता है जिसके स्थान पर 'दुःखेन विज्ञेयम्' पाठ होना चाहिए।

प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ३।३।१६४

इदानीं करिष्यसि

'प्रेषाति—' सूत्र 'प्रैष' आदि अर्थों में धातुओं से कृत्य संज्ञक प्रत्ययों तथा 'लोट्' लकार का विधान करता है। 'प्रैस' शब्द 'विधि' का वाचक है जिसका अर्थ है—प्रेरणम् अर्थात् भृत्य आदि को काम के लिए प्रेरित करना।[3] इस नियम की दृष्टि से 'इदानीं करिष्यसि' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'इदानींमेव'

१. महाभाष्य, ३।३।१६३, पृ० ३४६।
२. धातुवृत्ति, पृष्ठ ४२४।
३. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग ३), ३।३।१६३, पृष्ठ ५६१।

कहने से प्रेषण अर्थ की वृति होने के कारण सभी लकारों के अपवाद भूत कृत्य-संज्ञक प्रत्यय अथवा 'लोट्' का प्रयोग होना चाहिए था। इसी प्रकार की समस्या 'श्वो' गमिष्यसि' प्रयोग में भी उपस्थित होती है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि पदसंस्कारपक्ष द्वारा पहले 'करिष्यसि' तथा 'गमिष्यसि' प्रयोग सिद्ध कर लिए जाएंगे। उसके पश्चात् इदानीम्' तथा 'श्वः' शब्दों से योग होने पर ही प्रेषण वृत्ति गम्यमान होगी।

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यात्

'लिङ्निमित्त—' सूत्र लिङ् का निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति की स्थिति में भविष्यत् अर्थ में 'लृङ्' का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'लज्जा-तिरश्चां यदि चेतसि स्यात्' वाक्य में 'लृङ्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर क्रियातिपति अर्थ गम्यमान हो रहा है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर क्रियातिपत्ति विवक्षित नहीं है। अतः 'लृङ्' नहीं होगा। शब्द की व्युत्पत्ति का प्रधान कारण विवक्षा है, न कि उनकी सत्ता। अतः यह प्रयोग साधु है।

माङि लुङ् ३।३।१७५

मा भवतु

'माङि लुङ्' सूत्र 'माङ्' उपपद होने पर 'लुङ' लकार करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'मा भवतु तस्य पापम्' वाक्य में 'माङ्' के योग में 'भू' धातु से 'लोट्' का प्रयोग चिन्त्य है।

इस प्रयोग के साधुत्व के लिए कहा गया है कि यहां पर 'मा' शब्द अङित् है। अतः लोट् का प्रयोग साधु है।

काशिका में यह समाधान 'केचिदाहुः' निर्देश द्वारा दिया गया है। संभवतः काशिकाकार के अनुसार तो यह प्रयोग असाधु ही है।[1]

माच्छादयामि

रूपावतार के 'माच्छादयामि' प्रयोग में भी उपर्युक्त समस्या ही उपस्थित होती है।

इस प्रयोग के लिए यह समाधान दिया गया है कि पदसंस्कार द्वारा पहले 'छादयामि' प्रयोग बना लिया जाएगा। उसके पश्चात् ही 'माङ्' से योग होगा।

---

१. काशिका, ३।३।१७५।

तृतीय अध्याय, चतुर्थ पाद

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१

अनाराध्य

'समानकर्तृकयोः—'सूत्र धात्वर्थ के समान कर्तृत्व की स्थिति होने पर पूर्वकालत्व में धातु से 'क्तवा' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से,

अवजनासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा।[1]

कूपोदके मुखं दृष्टवा सद्यस्तुष्यति' केशवः' 'स्नात्वा सुखं भवति', तथा 'मासेन तुष्टिः स्यात्' इन वाक्यों में 'राध्' आदि धातुओं से 'क्त्वा' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर समान कर्तृत्व नहीं है। रघुवंश के उपरिलिखित श्लोक में 'अनाराध्य' क्रिया का कर्ता राजा है तथा 'भविष्यति' की प्रजा। 'कूपोदके—' वाक्य में मुख देखने वाला कोई और है तथा तुष्ट होने वाला केशव। इसी प्रकार अन्य दो प्रयोगों में भी 'भवति' और 'स्यात्' क्रियाओं के कर्ता 'सुख' और 'तुष्टि' है न कि स्नान करने वाला तथा भोग करने वाला।

इस प्रयोगों के साधुत्व के लिए, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह कहा गया है कि प्रत्येक वाक्य में 'स्थितस्य' पद का अध्याहार करना चाहिए। इस अध्याहार द्वारा समान कर्तृत्व की प्राप्ति हो जाएगी तथा 'क्त्वा' का प्रयोग साधु माना जा सकेगा। भाषावृत्ति में केवल 'स्नात्वा सुखं भवति' प्रयोग मिलता है जिसे 'स्थितस्य' पद के अध्याहार द्वारा सिद्ध किया गया है।[2]

'स्थितस्य' पद के अध्याहार द्वरा समान कर्तृत्व कैसे हो जाएगा, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है, क्योंकि 'भविष्यति' आदि क्रियाओं के कर्ता तो वही रहेंगे जो पूर्वावस्था अर्थात् अध्याहार से पूर्व थे।

रघुवंश के प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'अनाराध्य' प्रयोग में हेतुमत् 'णिच्' मानकर उसके ण्यन्त होने से प्रजा ही कर्त्री होगी तथा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्।

'केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि

---

१. रघुवंश, १।७७।

२. भाषावृत्ति, ३।४।२१।

केशग्रहण में पुरुष के कर्तृत्व के कारण तथा प्रवृत्ति क्रिया के प्रति युद्ध के कर्ता होने से समानकर्तृत्व के अभाव में 'ग्रह्' धातु से 'क्त्वा' कैसे हो गया ?

इस समस्या का समाधान रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि प्रवृति रूप क्रिया में अन्तर्भावित 'णिच्' का अर्थ मानते हुए केश पकड़-पकड़ कर युद्ध प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार युद्ध जभिहित कर्म बन जाता है तथा समान कर्तृत्व की प्राप्ति हो जाती है।

बालमनोरमा में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'गृहीत्वा' पद के पश्चात् 'स्थितयोः' पद का अध्याहार करना चाहिए। इस अध्याहार द्वारा वाक्य का अर्थ होगा—परस्पर एक दूसरे के केशों को पकड़ कर स्थित होने पर युद्ध को प्रवृत्त किया। इस प्रकार समान कर्तृत्व हो जाएगा।[1]

कणेहत्य पयः पिबति

'कणेहत्य पयः पिबति' तथा 'उदरं पूरयित्वा भुङ्क्ते' वाक्यों में यह विचारणीय है कि 'कणेहत्य' तथा 'पिबति' क्रियाओं में ओर 'पूरयित्वा' तथा 'भुङ्क्ते' क्रियाओं में समान कालत्व है। अतः वहां पर पूर्वकालत्व के अभाव में क्त्वा प्रत्यय कैसे हो गया ?

इस समस्या का समाधान रक्षित के नाम से दिया गया है। रक्षित ने 'कणेमनसी—' (१।४।६६) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'कणेहत्य' प्रयोग में अभिलाषा की निवृत्ति के पश्चात् जो पान रूप कार्य है, उसकी अपेक्षा पूर्वकालत्व का ग्रहण करके प्रत्यय हो जाएगा। 'कणे' विभक्तिप्रतिरूपक निपात अतिशय अभिलाषा का वाचक है।[2]

दूसरा समाधान भाषावृत्ति के कथन रूप में, यह दिया गया है कि 'आस्य व्यादाय स्वपिति, चक्षुः सम्मील्य हसतीत्युपसंख्यानमपूर्वकालत्वात्' वार्तिक द्वारा इन शब्दों का उपसंख्यान करके इन प्रयोगों में पूर्वकालता का अभाव होने पर भी प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। 'आस्य व्यादाय स्वपिति', आदि प्रयोगों में भी उपर्युक्त दोष था। भाषावृत्ति में यह वार्तिक 'झनत्कृत्य पतति अक्षिणी सम्मील्य हसतीत्याविकमुपसंख्यानम्', रूप में मिलती है।[3]

पूर्वापरौ वारनिधी विगाह्य स्थितः

पूर्वापरौ वारनिधी विगाह्य स्थितः'[4] श्लोकांश में भी यही समस्या है कि 'विगाह्य' तथा 'स्थितः' क्रियाओं में समानकालत्व होने के कारण 'क्त्वा' नहीं

---

१. बालमनोरमा (भाग २) २।२।२७, पृ० १३६।
२. तत्वबोधिनी (भाग १), १।४।६६, पृ० ७९।
३. भाषावृत्ति, ३।४।२१।
४. कुमारसंभव, १।१।

होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उतर, पुरुषोतमदेव के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'स्थित:' का अर्थ 'स्थिर:' है। यह अर्थ होने पर इस श्लोकांश का अर्थ होगा— 'वारनिधी' का अवगाहन करके स्थिर हुआ । इस प्रकार स्थिर की अपेक्षा अवगाहन में पूर्वकालत्व है। यह कथन पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति में नहीं मिलता ।

अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्

अन्यथा कृत्वागत:

'अन्यथैवं—' सूत्र 'अन्यथा' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'कृञ्' धातु से 'णमुल्' करता है । सिद्धाप्रयोग का अर्थ है—निरर्थक होने से जिसका प्रयोग अनावश्यक हो ।[1] इसकी निरर्थकता का कारण अभिधान अथवा प्रयोजन का अभाव है ।[2] इस नियम के अनुसार' 'अन्यथा कृत्वा गत:' तथा 'कथं कृत्वा' प्रयोगों में 'क्त्वा' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'कृ' का प्रयोग निरर्थक है। अत: 'णमुल्' होना चाहिए था ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह यह कि महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त 'कथं कत्वा चोदितम्' तथा 'अन्यथा कृत्वा परिहृतम्' प्रयोगों को प्रमाण मानकर ये प्रयोग साधु सिद्ध हो जाएंगे ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि वासरूपविधि द्वारा यहां पर प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। इसी प्रसंग में शरणदेव ने रक्षित के मत रूप में, कहा है कि स्त्रयधिकार से परे वासरूपविधि प्रायिक होती है। 'वासरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीप, पदमंजरी और काशिका में भी ऐसा ही माना गया है ।[3]

कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोग: ३।४।४६

अपुषत् स्वपोषम्

'कषादिषु—' सूत्र 'निमूल' आदि शब्दों के उपपद होने पर 'णमुल' प्रत्ययान्त शब्दों के अनुप्रयोग का नियम करता है। कषादि 'समूलालंकृत···' (३।४।३६) सूत्र से लेकर 'कषादिषु—' सूत्र पर्यन्त हैं। इस नियम की दृष्टि से भट्टि के 'अपुषत् स्वपोषम्'[4] प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'स्वपोषम्' की अपेक्षा 'अपुषत्' का अनुप्रयोग होना चाहिए था ।

---

१. काशिका, ३।४।२७ ।
२. न्यास (भाग १), ३।४।२७, पृ० ७५७ ।
३. प्रदीप, महाभाष्य, ३।१।९४, पृ० २०० ।
४. भट्टिकाव्य, ६।२६ ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि जिस प्रकार 'अनुर्यत्समया (२।१।१५) सूत्र में 'अनु' शब्द समीपवाची है, उसी प्रकार 'कषादिषु—' सूत्र का 'अनु' भी समीपवाची है। यह अर्थ होने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि कषादि के जितने भी उदाहरण काशिका में दिए गए हैं उन सबमें 'अनु' का अर्थ पश्चात् ही माना गया है यथा—'समूलघातं हन्ति।' इसके अतिरिक्त भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'स्वपोषं पुष्णाति' पाठ मिलता है जिसमें उपर्युक्त शंका हो ही नहीं सकती।

कर्तरि कृत् ३।४।६७

स्वस्थे को वा न पण्डितः

'कर्तरि कृत्' सूत्र 'कृत्' संज्ञक प्रत्ययों का कर्ता में विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'स्वस्थे को वा न पण्डितः'[1] प्रयोग में 'स्था' धातु से 'क' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि कहां पर 'स्वस्थे', शब्द कर्ता में प्रयुक्त हुआ है तथा वह स्वास्थ्य अर्थ का वाचक है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'सुपिस्थः' (३।२।४) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'स्थः' से प्रत्यय हो जायेगा। महाभाष्य में इस योगविभाग द्वारा 'आखूत्थो वर्तते' जैसे प्रयोगों को सिद्ध किया गया है।[2]

दूसरे समाधान के रूप से 'स्वस्थे' के स्थान पर 'सुस्थे' पाठान्तर दिया गया है। 'सुस्थे' की अपेक्षा, जैसाकि गणपतिशास्त्री ने भी कहा है,[3] 'सुखे' अथवा 'स्वास्थ्ये' पाठ की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि 'सुस्थे' पाठ मानने पर कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता।

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

फलानामाशित :

'तयोरेव···' सूत्र भाव तथा कर्म में कृत् संज्ञक 'क्त' तथा खलर्थक प्रत्ययों का विधान करता है। इस सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र 'लः कर्मणि···' (३।४।६९) से 'चाकर्मकेभ्यः' पद की अनुवृत्ति आने के कारण ये प्रत्यय भाव में अकर्मक धातुओं से ही होते हैं।[4] इस नियम के अनुसार 'पूरणगुण···' (२।२११) सूत्र

१. पंचतंत्र, १।१३८।
२. महाभाष्य, ३२४, पृ० २२९।
३. दुर्घटवृत्ति, पृ० ७९, पादटिप्पण १।
४. काशिका, ३।४।७०।

की वृत्ति में प्रयुक्त 'फलानामाशितः' प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर 'अश्' धातु के सकर्मक होने के कारण 'क्त' प्रत्यय नहीं होना चाहिए था। काशिका के वर्तमान उपलब्ध संस्करण में 'फलानां सुहितः' पाठ मिलता है। इस पाठ में भी समस्या तो बनी ही रहती है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, महाभाष्य के मत रूप में, यह कि 'आशितः कर्ता' (६।१।२०७) स्वर सूत्र में निपातित 'आशितः कर्ता' द्वारा यहां पर 'क्त' प्रत्यय सिद्ध हो जा जाएगा। प्रदीप, उद्योत, बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी टीकाओं में 'आशितः' कर्ता सूत्र की व्याख्या में यही समाधान उचित माना गया है।[1]

दूसरा समाधान, वृत्ति के कथन रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर कर्म की विवक्षा न होने के कारण अकर्मकत्व है। अतः 'आङ्' उपसर्गपूर्वक कर्ता में 'क्त' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु इस समाधान का खंडन कैयट और नागेश ने इस प्रकार किया है कि यह मत महाभाष्य के विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं है। महाभाष्यकार ने इस प्रयोग को भाषा में प्रयुक्त होने के कारण निपातन द्वारा सिद्ध किया है।[2]

गुरौ भक्तः

इस प्रकार की समस्या 'गुरौ भक्तः', 'भुक्ता ब्रह्मणा' तथा 'वनायपीत-प्रतिबद्धवत्साम्'[3] प्रयोगों में उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर भी 'भुज्', 'भज्' तथा 'पा' धातुएं सकर्मक हैं। अतः 'क्त' नहीं होना चाहिए।

'गुरौ भक्तः' प्रयोग के लिए दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि गुरु रूप कर्म में अधिकरण की विवक्षा होने के कारण धातु के अकर्मक हो जाने से कर्ता में 'क्तोऽविकरणे…' (३।४।७६) सूत्र द्वारा 'क्त' हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'भक्तः' शब्द 'क्त' प्रत्ययान्त न होकर 'भक्तिरस्यास्तीति' व्युत्पति के अनुसार अर्शादि 'अच्' प्रत्ययान्त है। इसी प्रकार 'भुक्ता ब्राह्मणाः' में 'भुक्तमेषामस्ति' अर्थ में मत्वर्थीय 'अच्' हो जाएगा। इस प्रयोग के लिए काशिका, न्यास तथा सिद्धान्त-कौमुदी में 'क्तोऽधिकरणे…' सूत्र की व्याख्या में यही समाधान दिया गया है।[4]

'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' प्रयोग के लिए यह समाधान दिया गया कि 'पिबति'

---

१. प्रदीप, महाभाष्य, ६।१।२०७, पृ० ५३०।
२. उद्योत, महाभाष्य, ६।१।२०७, पृ०५३०।
३. रघुवंश, २।१।
४. काशिका, ३।४।७६।

क्रिया में अन्तर्भावित 'णिच्' अर्थ विद्यमान होने के कारण धातु से प्रत्यय हो जाएगा।

भवितव्यम्

कुमारसंभव के 'भवितव्यप्रियसंगमं वपुः'[1] श्लोकांश के 'भवितव्यम्' प्रयोग में 'तव्य' की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि यहां पर कर्म का अभाव है।

इस प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि यह प्रयोग 'भू सत्तायाम्' से निष्पन्न न हो कर चौरादिक 'भू प्राप्तौ' से 'आधृषाद्वा' गण सूत्र द्वारा 'णिच्' होकर निष्पन्न हुआ है।

शयनीयं शय्या

'शयनीयं शय्या' प्रयोग में 'अनीयर्' का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि यहां पर 'शय्या' शब्द कर्म में प्रयुक्त न होकर अधिकरण में प्रयुक्त हुआ है।

शरणदेव के अनुसार यहां पर 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र द्वारा प्रत्यय हुआ है।

कृष्णं श्रितः

'सोमनाथ बन्धुमहं नतो जगदीश्वरम्' तथा 'कृष्णं श्रितः' वाक्यों में 'नम्' धातु से 'क्त' का प्रयोग चिन्त्य है।

इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए यह कहा गया है कि वैशेषिकों ने नमन क्रिया को गति का भेद माना है। कहा भी गया है कि भ्रमण, आकुंचन, प्रसारण, ऊर्ध्वज्वलन, नमन आदि गति के विषय हैं। इसी प्रकार सेवा के भी गत्यर्थ के आश्रित होने के कारण 'श्रि' धातु भी गत्यर्थक है। अतः इन दोनों धातुओं से 'गत्यर्थाकर्मक···' (३।४।७२) सूत्र द्वारा 'कर्ता' में 'क्त' की प्राप्ति हो जाएगी। बालमनोरमा में भी 'कृष्णं श्रितः' प्रयोग के लिए यही समाधान दिया गया है।[2]

टित अत्मनेपदानां टेरे ३।४।७९

कर्तारौ

'टित आत्मने···' सूत्र 'टित्' लकारों के स्थान पर आदिष्ट आत्मनेपदी (त, आताम् आदि) विभक्तियों की 'टि' को 'ए' आदेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'लुट्' लकार के 'कर्तारौ' तथा 'कर्तारः' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि 'कृ' धातु से परे आत्मनेपद में 'आताम्' और 'झ' की 'टि' को एत्व क्यों नहीं हुआ ?

---

१. कुमारसंभव, ४।४४।

२. बालमनोरमा, (भाग १), ३।१।२४, पृ० २८।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान 'लुटः प्रथमस्य···' (२।४।८५) सूत्र के प्रसंग में महाभाष्य, पदमंजरी तथा शब्दकौस्तुभ में मिलता है।[1] इन सब ग्रन्थों में कहा गया है कि एत्व आदेश तथा 'डा' आदि आदेश दोनों कार्य शब्दान्तर से प्राप्त होने के कारण शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्च अनित्यत्वम्'[2] परिभाषा द्वारा अनित्य हैं। 'डा' आदि आदेश 'त' आदि को होते हैं जबकि एत्व कार्य 'त' आदि की 'टि' का होता है। अतः पर होने के कारण एत्व करके पुनः 'डा' आदि होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। दुर्घटवृत्तिकार ने यहां पर 'लक्षणाभावात्' शब्दों का प्रयोग किया है जिसका संभवतः यही अर्थ है··· सूत्र के अनित्य होने के कारण तथा यह अनित्यता शब्दान्तर की प्राप्ति के कारण है।

न्यास में कहा गया है कि 'डा' आदि आदेश केवल स्थानी की अपेक्षा करने के कारण अन्तरंग हैं तथा 'एत्वादेश' स्थानी और धातु इन दो की अपेक्षा करने से बहिरंग है। अतः 'असिद्धं बहिरंगमन्तरङ्गे' परिभाषा के अनुसार 'डा' आदि ही होंगे।[3]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'भासः से' (३।४।८०) सूत्र में 'स' आदेश के स्थान पर जो एकारान्त आदेश किया गया उससे यह ज्ञापित होता है कि आदेशों को आदेश करने पर उनकी 'टि' को एत्व नहीं होता। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'स' रूप आदेश को एत्व की प्राप्ति हो सकती तो एकारान्त आदेश करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार 'रो' तथा 'रस्' आदेशों की 'टि' को एत्व नहीं होगा। इस ज्ञापक का उल्लेख न्यास, पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ, प्रदीप तथा ज्ञापकसमुच्चय में भी मिलता है।[4]

शेरते

यदि आदेशों को एत्व की प्राप्ति नहीं होती तो 'शेरते' तथा 'श्रयन्ते' प्रयोगों में 'अत्' आदेश की 'टि' को एत्वादेश विचारणीय है।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर लादेश (झ) के एकदेश 'अ' को 'अत्' आदेश हुआ है जबकि 'डा' आदि आदेश तो पूर्ण 'त' आदि के स्थान पर होते हैं। अतः इस ज्ञापक के यहां पर प्रवृत्त न होने के कारण एत्वादेश हो जाएगा। ज्ञापकसमुच्चय में भी यही समाधान दिया गया है।[5]

---

१. महाभाष्य, २।४।८५, पृ० ६०५-६०६।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ४३।
३. न्यास (भाग १), २।४।८५, पृ० ४८३।
४. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ७५।
५. उपरिवत्।

दूसरा उत्तर यह दिया गया है कि एत्व करने के पश्चात् 'अत्' आदेश होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

एरुः ३।४।८६

जयति

'एरु' सूत्र द्वारा 'लोट्' लकार में 'तिप्' आदि के इकार को उकार आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार प्रक्रिया ग्रन्थ के 'लोट्' लकार में प्रयुक्त 'जयति' में उत्वाभाव विचारणीय है।

इस समस्या का समाधान 'केचित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि अभिधान न होने के कारण यहां पर उत्व नहीं हुआ है। अभिधान का अर्थ है—'अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्।[1]

इस समाधान पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि महाभाष्यकार ने इस प्रकार से 'लोट्' लकार में उकार आदेश रूप प्रत्यय का विधान नहीं किया। अतः यह समाधान उचित नहीं है। नेमिसंधान नामक ग्रन्थ में 'जयतु जयतु भट्टाः' प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी मूल व्याकरण में इस प्रकार का अनुशासन नहीं किया गया है। अतः 'जयति' प्रयोग असाधु है।

यहां पर शरणदेव ने यह भी कहा है कि 'तु' का स्थानिक 'तातङ्' आदेश है, जैसाकि इस श्लोक में उसका प्रयोग हुआ है—

'उत्पन्नसर्वमाङ्गल्यो···जयताद्राज्ञो महाचरः।'

नित्यं ङितः ३।४।९९

विदधामः

'नित्यं ङितः' सूत्र 'ङित्' लकारों के उत्तमपुरुष में सकार का नित्य लोप करता है। 'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) सूत्र द्वारा 'लोट्' के ङिद्वत् हो जाने के कारण 'नित्यं ङित्ः' सूत्र से 'लोट्' के उत्तमपुरुष में नित्य सकार का लोप होता है। इस दृष्टि से कुट्टनीमतम् के 'मातः! किं विदधामः'[2] वाक्य का 'विदधामः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर सकार का लोप होकर 'विदधाम' बनना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर, वृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'लोटोलङ्वत्' सूत्र में 'विदो लटो वा' (२।४।८३) सूत्र से 'वा' ग्रहण की अनुवृत्ति आ रही है जिससे 'लोट्' में व्यवस्थितविभाषा द्वारा 'अट्' आदि कार्य नही होते।

---

१. ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर।
२. कुट्टनीमतम्, १।४१।

अतः यहां पर भी व्यवस्थितविभाषा द्वारा 'लोट्' को लङ्वत् अतिदेश के अभाव में 'नित्य ङितः' से सकार का लोप नहीं होगा तथा यह प्रयोग साधु माना जा सकेगा। काशिका में इस सूत्र में इस प्रकार व्यवस्थितविभाषा स्वीकार की गई है।[1]

शरणदेव ने यहां पर सकार का लोप न करने का प्रयोजन यह बताया है कि यदि सकार का लोप हो जाता तो 'पदान्तेषु बहुलम्' (पदान्त को बहुल करके गुरुत्व होता है) सूत्र द्वारा गुरुत्व होने पर द्विमात्रता की प्राप्ति होती, जो छन्द की दृष्टि से अभीष्ट नहीं थी। अतः सकार का लोप नहीं किया गया।

बाद में शरणदेव ने 'विदधामः' स्थान पर 'विदधीमहि' पाठान्तर भी दिया है। 'डुधाञ' धातु उभयपदी है।

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३

जिघांसीयात्

'यासुट् परस्मै—' सूत्र दारा परमस्मैपद में 'लिट्' लकार के प्रयोगों में 'यासुट्' आगम की प्राप्ति होती है। यह सूत्र 'लिङ् सीयुट्' (३।२।१०२) सूत्र का अपवाद है।[2] इस दृष्टि से 'जिघांसीयात्' प्रयोग चिन्तय है, क्योंकि 'हन्' धातु के परस्मैपदी होने के कारण 'यासुट्' आगम होकर 'जिघांसीयात्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में दो पद हैं—'जिघांसी' तथा 'इयात्'। पहले पद को 'आवश्यका—' (३।३।१७०) सूत्र द्वारा सन्नन्त 'जिघांस' धातु से 'णिनि' करके सिद्ध किया तथा दूसरा पद 'इण्' धातु से 'लिङ्' में सिद्ध हो जाएगा।

———

१. काशिका, ३।४।८५।
२. उपरिवत्, ३।४।१०२।

चतुर्थ अध्याय, प्रथम पाद

अजाद्यतटाप् ४।१।४

त्वं ब्राह्मणी

'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र अजादि तथा अकारान्त शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'त्वं ब्राह्मणी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'युष्मद्' शब्द के 'युष्म्' भाग को 'त्व' आदेश तथा 'शेषे लोपः' (७।२।९०) सूत्र द्वारा 'अत्' रूप 'टि' का लोप हो जाने के पश्चात् 'त्व' से 'टाप्' होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्य के मत रूप में यह दिया गया है कि 'युस्मद्' और 'अस्मद्' शब्द लिंग रहित होते हैं तथा वे शक्ति स्वभाव के कारण लिंग रहित होकर भी उन अर्थों का अभिधान करते हैं। अतः 'टाप्' आदि प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं है।[1]

परन्तु यदि महाभाष्य का यह मत मान लिया जाए तो अमरकोश का यह वचन कि युष्मद्, अस्मद् तथा अव्यय तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं, असंगत सिद्ध होगा।

इस आक्षेप की निवृत्ति इस प्रकार से की गई है कि अमरकोश के इस वचन का तात्पर्य यह है कि ये शब्द लिंगसामान्यपरक हैं अर्थात् लिंगकृत विशेषता का अभाव होने के कारण समान हैं।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'शेषेलोपः' सूत्र का अर्थ 'शेष विभक्तियों में युष्मद्, अस्मद् का लोप होता है, यह न करके 'टि' का लोप होता है' यह अर्थ करना चाहिए। इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्तकौमुदी तथा न्यास में यह बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है कि 'शेषे' रूप स्थानी में अधिकरण की विवक्षा मानने पर 'म्' पर्यन्त 'अत्' लोप की प्राप्ति होगी। 'त्व+अत्' स्थिति बन जाने पर गुण के अन्तरंग होने के कारण 'अतो गुणे' (६।१।९७) सूत्र द्वारा पररूप एकादेश होकर 'त्वत्' स्थिति बन जाएगी। इस प्रकार अकारान्त की स्थिति न रहने पर 'टाप्' की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार

---

१. महाभाष्य, ७।१।३३, पृ० ३६।
२. अमरकोश, ३।५।४६।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ७।२।९०, पृ० ३४३-४४।

ने कात्यायन को उद्धृत किया है—। टिलोपष्टावभावार्थः कर्तव्य इति तत्स्मृतम् ।'[1]

यदि 'शेषे लोपः' सूत्र का अर्थ 'टि लोप' किया जाए तो 'भ्यसोऽभ्यम्' (७।१।३०) सूत्र में कठिनाई होगी, क्योंकि केवल 'भ्यम्' आदेश करने पर प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे। शरणदेव ने इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया कि इस सूत्र द्वारा 'भ्यम्' के स्थान पर 'अभ्यम्' आदेश रूप निर्देश किया जाना चाहिए। सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र का अर्थ करते हुए 'भ्यम्' तथा 'अभ्यम्' दोनों आदेशों का उल्लेख किया गया है।[2] काशिका में भी इसका उल्लेख मिलता है।[3]

काशिका, न्यास तथा पदमंजरी में 'शेषे लोपः' सूत्र की व्याख्या में 'टाप्' की निवृत्ति 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'[4] परिभाषा द्वारा की गई है। 'युष्मद्' शब्द के बाद अव्यवहित रूप से विभक्ति परे होने पर 'त्व' आदेश प्राप्त होता है। इस आदेश के अकारान्त होने के कारण बीच में आया हुआ 'टाप्' दोनों के मध्य में व्यवधान बनता है। इस रूप में 'टाप्' का सन्निपात नैमित्तिक विधि अव्यवहितता में बाधा नहीं बन सकती।[5]

वृत्तौ

'वृधेः-त्तौ' तथा 'धेनौ' प्रयोगों में टाप् की समस्या इस प्रकार उपस्थित होती है कि 'अच्च घेः' (७।३।११९) सूत्र द्वारा 'अत्' होकर उसके अकारान्त बन जाने से 'टाप्' की प्राप्ति होगी। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि सन्निपात परिभाषा के द्वारा 'त्व' आदेश के समान 'टाप्' की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'वृत्त+औ' तथा 'धेन+औ' प्रयोगों में स्थिति भिन्न हैं। यहां अकारान्तत्व की प्राप्ति में 'घि' संज्ञा तथा विभक्ति रूप दो की अपेक्षा है। दुर्घटवृत्ति में 'धेनौ' के स्थान पर 'हनौ' पाठ मिलता है जो प्रसंग की दृष्टि से असंगत है।

इस समस्या का समाधान 'अच्च घेः' सूत्र की व्याख्या में काशिका, न्यास तथा पदमंजरी में यह दिया गया है कि 'अच्च घेः' सूत्र में अकार के तपर निर्देशकरण का प्रयोजन यह है कि उसको दीर्घ न हो सके। यदि 'टाप्' की प्राप्ति हो जाए तो तपरकरण व्यर्थ हो जाएगा।[6]

---

१. महाभाष्य, ७।२।१०२।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ७।१।३०, पृ० ३४६।
३. काशिका, ७।१।३०।
४. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ८६।
५. काशिका, ७।२।९०।
६. काशिका, ७।३।११९।

यहां पर पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि 'गर्भवट्टापादयो भवन्ति'[1] परिभाषा के अनुसार 'टाप्' होना ही चाहिए। अतः 'अच्च घेः' सूत्र में तपरकरण का कोई लाभ नहीं। इस परिभाषा का ज्ञापक 'न यासयोः' (७।३।४५) सूत्र द्वारा 'इत्व' का प्रतिषेध करना है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'टाप्' मध्य में न हो तो उसके 'सुप्' से परे होने पर 'य' के अकार को इत्व नहीं हो सकता।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया है कि यह परिभाषा ज्ञापक के समान है तथा ज्ञापक सिद्ध कार्य सर्वत्र नहीं होते।

का

'का' तथा 'सा' प्रयोगों में सन्निपात परिभाषा द्वारा 'टाप्' की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार के नाम से यह दिया गया है कि 'न यासयौः' इस सौत्र निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि इन प्रयोगों में यह परिभाषा अनित्य है।

शरणदेव ने इसी प्रसंग में यह भी कहा है कि 'वृतौ' प्रयोग के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'क्तिन्' प्रत्यय का प्रयोग होने के कारण उसी के द्वारा स्त्री लिङ्गत्व भी गम्यमान हो रहा है। अतः 'टाप्' की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा माना जाए तो 'भाषा' शब्द में 'गुरोश्च हलः' (३३।१०३)' सूत्र द्वारा विहित अकार प्रत्यय से स्त्रीत्व के उचित होने के कारण 'टाप्' के अभाव का प्रसंग होगा।

ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५

नप्ता

'ऋन्नेभ्यो' सूत्र ऋकारान्त तथा नकारान्त शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'नप्तृ' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'नप्ता' प्रयोग विचारणीय है।

इस समस्या का समाधान, भागवृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'नप्तृ' शब्द स्वस्रादिगण में पढ़ा गया गया है। अतः 'न षट्स्वसादिभ्यः' (४।१।२०) सूत्र के अनुसार उससे 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं होगी। भाषावृत्ति में यही समाधान भागुरि के नाम से मिलता है।[2]

---

१. परिभाषावृत्ति, परिभाषा संख्या ११६। यह परिभाषा परिभाषेन्दुशेखर में नहीं मिलती।

२. भाषावृत्ति, ४।१।१०।

नप्त्री

यदि इस शब्द को स्वस्रादिगण में पठित मान लिया जाए तो अमरकोश का 'नप्त्री'[1] प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा।

इस विषय में यह कहा गया है कि कुछ विदान् 'नप्तृ' शब्द को स्वस्रादिगण में पठित नहीं मानते। अतः उनके अनुसार 'ङीप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि से पूर्व 'नप्ता' प्रयोग भाषा में मिलता था अतः भागुरि आदि ने इसका स्वस्रादियण में पाठ माना। परन्तु बाद में इस शब्द का इस रूप में प्रयोग न होने के कारण काशिका आदि में यह प्रयोग स्वस्रादि गण में अन्तर्भावित नहीं किया गया।

उगितश्च ४।१।६

'उगितश्च' सूत्र 'उगित्' शब्दों से स्त्रीलिंग में 'ङीप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'करिष्यमाणा' तथा 'पचमाना' प्रयोग विचारणीय है। 'करिष्यमाणा' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'लृट्' के स्थान पर आदिष्ट 'शानच्' में स्थानिवद्भाव के द्वारा 'लृट्' के 'उगित्' होने के कारण 'ङीप्' होना चाहिए था। इसी प्रकार 'पचमाना' प्रयोग में 'शानच्' में स्थानिवद्भाव के द्वारा 'लट्' के 'टित्' होने के कारण 'टिड्ढाण' (४।१।१५) सूत्र से 'ङीप्' की प्राप्ति होगी।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'यासुट् परस्मैपदेषू—' (३।४।१०३) सूत्र द्वारा 'यासुट्' को ङित्करण से यह ज्ञापित होता है कि लकाराश्रित और अनुबन्धाश्रित कार्य आदेशों के विषय में नहीं होते। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'आगमा यद्गुणीभूतास्तदग्रहणेन गृह्यन्ते'[2] परिभाषा के अनुसार 'यासुट्' आगम भी लिङादेश परस्मैपद का अवयव होने के कारण 'लिङ्' के ङित्' होने से स्वतः 'ङित्' हो जाता। अतः उसे ङित्करण की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार 'शानच्' आदेश के प्रति स्थानिवद्भाव द्वारा 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं होगी। यह ज्ञापक 'टिड्ढाण—' सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्तकौमुदी, तत्वबोधिनी, बालमनोरमा तथा ज्ञापकसमुच्चय में भी दिया गया है।[3]

'पचमाना' प्रयोग में 'ङीप्' की निवृत्ति के लिए 'टिड्ढाण—' सूत्र के

१. अमरकोश, २।६।२९।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ११।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १) ४।१।१५, पृ० ४५४।

प्रसंग में काशिका, न्यास, पदमंजरी तथा धातुवृत्ति में यह कहा गया है कि 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' परिभाषा के अनुसार 'लट्' के (अ, ट्) द्व्यनुबन्धक होने के कारण उसका ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि 'टिड्ढाण—' सूत्र में 'टित्' रूप एक अनुबन्ध का ग्रहण हुआ है। अत यहां पर ङीप् नहीं होगा।[1]

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।६

सहचरीम्

'टिड्ढाण—' सूत्र 'टित्' आदि शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भट्टि के 'सहचरीमशंक[2]' श्लोकांश का 'सहचरीम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि अधिकरण उपपद न होने के कारण 'चरेष्टः' सूत्र से 'ट' प्रत्यय नहीं हो सकेगा। अत 'चर्' धातु से पचादि 'अच्' होकर 'टाप्' का प्रसंग होगा, 'ङीप' का नहीं।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, जयमंगला टीका के मत रूप में, यह कि भिक्षासेनादायेषु च' (३।२।१७) सूत्र में चकार अनुक्त-समुच्चयार्थक है। अतः चकार द्वारा 'सह' पद का भी समुच्चय होकर (सह + चर) 'ट' प्रत्यय के संयोजन से 'ङीप्' लेकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3]

दूसरा समाधान, 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'सहचर' शब्द को गौरादि गण में पठित गान कर 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) सूत्र द्वारा 'ङीप्' होकर प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। गौरादिगण आकृतिगण है।[4]

रघुवंश में प्रयुक्त 'सहचरी' शब्द की सिद्धि 'भिक्षासेनादायेषु' सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी में इस प्रकार की गई है कि पचादिगण में पठित 'चरट्' शब्द से 'सहचर' शब्द बना लिया जाएगा। उसके पश्चात्' 'चरट्' शब्द के 'टित्' होने के कारण 'ङीप्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।[5]

भाषावृत्तिकार ने इस प्रयोग को चिन्त्य ठहराया है।[6]

---

१. काशिका ४।१।१५।
२. भट्टिकाव्य, ४।२०।
३. जयमंगला, भट्टिकाव्य ४।२०।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ४।१।४१, पृ० ४७७।
५. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ४), ३।२।१७, पृ० ४५।
६. भाषावृत्ति, ३।२।१६।

मधुपी

'सुराशीध्वोः'[1] (सुरा तथा शीधु शब्दों के उपपद होने पर 'पा' धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है) वार्तिक की दृष्टि से 'मधुपी' पद में 'ङीप्' का प्रयोग चिन्त्य है; क्योंकि 'टक्' के अभाव में 'क प्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्या--नम्'[2] वार्तिक द्वारा 'क' प्रत्यय होकर 'टाप्' की प्राप्ति होगी। इस प्रयोग में तो 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र द्वारा ही 'क' प्रत्यय की प्राप्ति है, फिर इस शब्द की मूल विभुजादि गण में कल्पना क्यों की गई, यह समझ में नहीं आता।

इस प्रयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा न मानते हुए, इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'जातेरस्त्रीविषयाद्' (४।१।६३) सूत्र द्वारा 'ङीप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

ईश्वरी

दुर्गासप्तशती के 'त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी'[3] श्लोकांश का 'ईश्वरी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'ईश् ऐश्वर्ये' धातु से कर्ता में 'वरच्' होकर 'टाप्' होना चाहिए था, 'ङीप्' नहीं। भारवि ने अपने काव्य में 'ईश्वरा' शब्द का ही ही प्रयोग किया है—'विन्यस्तमंगलमहौषधिरीश्वराया।'[4]

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'ईश्' धातु से 'वरच्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध न होकर 'अश्' धातु से 'अश्नोतेराशुकर्मणि' (सि० कौ० ७३५) उणादि सूत्र द्वारा विहित 'वरट्' प्रत्यय द्वारा सिद्ध हुआ है। इस सूत्र में चकार दारा उपर्युक्त सूत्र 'क्लिशेरीच्चोपधायाः' (सि०कौ० ७३४) से 'ईच्चोपधाया' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः इससे 'अश्' की उपधा को ईत्व हो जाएगा। इस प्रकार 'वरट्' प्रत्यय के 'टित्' होने के कारण 'ङीप्' हाकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यही समाधान धातुवृत्ति में आत्रेय के नाम से तथा भाषावृत्ति में मिलता है।[5] इसी प्रकार यह समाधान 'टड्ढाण···' सूत्र की व्याख्या में बालमनोरमा तथा तत्वबोधिनी में भी उपलब्ध होता है। इसी सूत्र की व्याख्या में इन दोनों ग्रन्थों में इस समस्या के दो और समाधान मिलते हैं। प्रथम यह कि 'ईश्वरी' शब्द से प्रयोग में 'ईश्वरस्य स्त्री' विग्रह के अनुसार 'पुंयोगादा···' (४।१।४८) सूत्र द्वारा 'ङीप' की प्राप्ति

---

१. महाभाष्य, ३।२।८, वा० १।
२. उपरिवत्, ३।२।५, वा० २।
३· दुर्गासप्तशती, १।७९।
४. किरातार्जुनीयम्, ५।३३।
५. भाषावृत्ति, ३।२।१७५

हो जाएगी ।[1] दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७५) सूत्र द्वारा 'क्वनिप्' प्रत्यय हो कर 'वनो र च' (४।१।७) सूत्र से 'ङीप्' की प्राप्ति हो जाएगी ।[2]

लवणा

'लवणा यवागू:' वाक्य के 'लवणा' पद में 'टाप्' चिन्त्य है, क्योंकि 'लवणा -ल्लुक्' (४।४।२४) सूत्र से 'ठक्' का लोप हो जाने के कारण प्रत्ययलक्षण द्वारा 'ङीप्' होना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर दुर्घटवृत्ति तथा परिभाषावृत्ति संग्रह में यह दिया गया है कि 'टिड्ढाण···' सूत्र में 'अत' की अनुवृत्ति आ रही है । अत: 'टित्' आदि के वर्णाश्रित होने के कारण 'वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणं नास्ति' परिभाषा के आश्रयण से ङीप् नहीं होगा ।[3]

श्रवणा

उपर्युक्त समाधान द्वारा 'श्रवणा' प्रयोग भी सिद्ध हो जायेगा । इस प्रयोग में यह समस्या थी कि 'नक्षत्रेण युक्त' कालः (४।२।१) सूत्र द्वारा विहित अण्' का 'संज्ञाया श्रवणा·········' (४।२।५) सूत्र द्वारा 'लुप्' हो जाने के कारण वर्णाश्रय विधि के अनुसार 'ङीप्' होना चाहिए था ।

इस प्रयोग के लिए एक एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'विभाषा फाल्गुनीश्रवणा···—' (४।२।२३) सूत्र में निपातित 'श्रवणा' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । धातुवृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है ।[4]

किंकरा:

'किंकरा: स्त्रिय:' वाक्य के 'किंकरा:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'कृञोताच्छील्ये······' (३।२।२०) सूत्र द्वारा 'ट' प्रत्यय की प्राप्ति होने के कारण 'टिड्ढाण······' सूत्र द्वारा 'ङीप्' होकर 'किंकरी' बनाना चाहिए ।

दुर्घटवृत्ति में इस समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता । परन्तु गणपति शास्त्री ने यह समाधान दिया है कि यह प्रयोग हेत्वर्थ में न होकर अहेत्वर्थ में हुआ है । 'कियंत्तद् बहुषु कृञोऽज्विधानम्'[5] (किम् आदि शब्दों के उपपद, होने पर

---

१. तत्वबोधिनी (भाग १), ४।१।१५, पृ० ४५७ ।

२. उपरिवत् ।

३. परिभाषावृत्ति, पृ० २७३ ।

४. धातुवृत्ति, पृष्ठ २६३ ।

५. महाभाष्य, ३।२।२१ ।

अहेतु अर्थ में 'कृञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है) वार्तिक द्वारा 'ट' का बाध होकर 'अच् तथा 'टाप्' प्रत्ययों द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।[1] 'दिवाविभा···' सूत्र की व्याख्या में यही समाधान महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमंजरी सिद्धान्तकौमुदी, धातुवृत्ति आदि में दिया गया है ।[2] कैयट के अनुसार तो 'किंकरी' प्रयोग असाधु है ।[3]

पुरस्सरा

भारवि द्वारा प्रयुक्त 'तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुश्शासन पुरस्सराम्'[4] श्लोकांश के 'पुरस्सरा' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषुसर्तेः' (३।२।१८) सूत्र द्वारा 'ट' प्रत्यय होने के कारण 'ङीप्' द्वारा 'पुरस्सरी प्रयोग बनना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर पदसंस्कार पक्ष द्वारा यह दिया गया है कि 'सृ' धातु को पचादिगण में मान कर 'अच्' प्रत्यय कर लिया जाएगा । उसके पश्चात् 'सर' शब्द से 'टाप् हो सकेगा । इस प्रकार 'पुरस्' शब्द का योग होकर 'पुरस्सरा' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । यही समाधान भाषावृत्ति में भी दिया गया है ।[5]

कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च ४।१।१९

माण्डूकि

'कौरव्य···' सूत्र 'कौरव्य' तथा 'माण्डूक' शब्दों से स्त्रीलिंग में 'ष्फ' प्रत्यय करता है । इस सूत्र में 'कौरव्य' शब्द के साहचर्य से अपत्य प्रत्यान्त 'माण्डूकः' शब्द का ही ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार 'माण्डूकः' शब्द से 'ष्फ' तथा 'ङीप्' होकर 'माण्डूकायनी' प्रयोग बनेगा । इस दृष्टि से भट्टि के 'यद्यसौ' कूपमाण्डूकि'[6] श्लोकांश का 'माण्डूकि' प्रयोग चिन्त्य है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'मण्डूकस्य भार्या' यह विग्रह करके 'तस्येदम्' (४।३।१२०) सूत्र द्वारा 'अण्' हो जाएगा । उसके पश्चात् 'टिड्ढाण···' सूत्र द्वारा 'ङीप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । 'कौरव्य···' सूत्र के प्रसंग में तत्वबोधिनी, भाषावृत्ति तथा शब्देन्दुशेखर में यही समाधान दिया गया है ।[7]

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृ० ८२, पाद-टिप्पण २ ।
२. महाभाष्य, ३।२।२१, पृ० २३४ ।
३. प्रदीप, महाभाष्य, ३।२।१, पृष्ठ २३४ ।
४. किरातार्जुनीयम्, ११।५१ ।
५. भाषावृत्ति, ३।२।१८ ।
६. भट्टिकाव्य, ५।८५ ।
७. तत्वबोधिनी (भाग १) ४।१।१९, पृ० ४६२ ।

शरणदेव ने इस प्रसंग में जयमंगला टीका को उद्धृत किया है। इस टीका में कहा गया है कि 'ढक् च मण्डूकात्' (४।१।११८) सूत्र के चकार द्वारा 'अण्' होकर तथा बाद में 'ङीप्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अथवा 'अण्' की प्राप्ति 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) सूत्र द्वारा हो जाएगी।[1] सिद्धान्तकौमुदी में भी 'ढक् च मण्डूकात्' सूत्र द्वारा 'अण्' माना गया है।[2]

वयसि प्रथमे ४।१।२०

बालाम्

'वयसि प्रथमे' सूत्र वयस् अर्थ में विद्यमान शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार रघुवंश के 'बालामलेन्दुमुखी बभाषे'[3] श्लोकांश का 'बाला' पद विचारणीय है क्योंकि 'बाला' शब्द प्रथम वयस् का वाचक है। यही समस्या 'वत्सा' तथा 'कन्या' प्रयोगों में भी उपस्थित होती है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'बाला' तथा 'वत्सा' शब्दों का अजादिगण में पाठ होने के कारण 'अजाद्यष्टाप्' सूत्र द्वारा 'टाप्' ही होगा। यही समाधान न्यास तथा धातुवृत्ति में दिया गया है।[4]

'कन्या' प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'कन्यायाः कनीन च' (४।१।११६) सूत्र में निर्दिष्ट 'कन्या' पद द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यही समाधान महाभाष्य, दुर्घटवृत्ति, भाषावृत्ति तथा सिद्धान्तकौमुदी में 'वयसि प्रथमे' सूत्र की व्याख्या में दिया गया है।[5]

षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१

त्रपा

'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा 'षित्' तथा गौरादि शब्दों से स्त्रीलिंग में 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'त्रपा' तथा 'क्षमा' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'त्रपूष्' तथा 'क्षमूष्' धातुओं के 'षित्' होने के कारण 'ङीष्' होना चाहिए था जैसाकि 'स्तनन्धयी' प्रयोग में 'धेट्' के 'टित्' होने से 'ङीष्' हुआ है।

इस प्रश्न का उत्तर इसी सूत्र की व्याख्या में न्यास, दुर्घटवृत्ति, पदमंजरी

---

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य ५।६।८५।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १) ४।१।१६, पृ० ४६२।
३. रघुवंश, ६।५३।
४. धातुवृत्ति, पृ० २०८।
५. महाभाष्य, ४।१।२०, पृ० ४८६।

तथा तत्वबोधिनी में यह दिया गया है कि जो अनुबन्ध अवयव में चरितार्थ नहीं होता, वह समुदाय के लिए होता है। इन धातुओं को 'षित्' करने का प्रयोजन 'षिद् गौरादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा 'अङ्' करना है। अतः 'क्षमूष्' आदि धातुओं के षित्करण का अङ्विधि के प्रति चरितार्थ हो जाने के कारण वह समुदाय के प्रति निष्प्रयोजन हो जाता है। अतः उनसे 'ङीष्' की प्राप्ति नहीं होगी।[1]

वोतो गुणवचनात् ४।१।४४

अनन्यगुर्व्याः

'वोतोगुणवचनात्' सूत्र उकारान्त शब्दों से विकल्प द्वारा 'ङीप्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से शिशुपालवध के 'अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः'[2] श्लोकांश का 'गुर्व्याः' पद विचारणीय है; क्योंकि 'गुरु' शब्द से 'ङीष्' होकर 'गुर्वी' बनता है। उसके पश्चात् 'अनन्य' पद से बहुव्रीहि समास होकर 'नद्यृतश्च (५।४।१५३) सूत्र द्वारा समासान्त 'कप्' प्रत्यय की प्राप्ति होनी चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'ङीष्' प्रत्यययान्त 'अनन्यगुर्व्याः' पाठ न होकर 'अनन्यगुर्वाः' पाठ है। यह पाठ मानने पर मल्लिनाथ ने कहा है कि यहाँ 'ङीष्' की प्राप्ति इसलिए नहीं होगी कि 'अनन्य' शब्द से 'गुरु' शब्द का समास होने पर बाद में 'वोतो गुणवचनात्' सूत्र में 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) सूत्र का अधिकार आ रहा है। अतः 'ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६) सूत्र से नदी संज्ञा हो जाएगी तथा बाद में 'आण्नद्याः' (७।३।११२) सूत्र द्वारा 'आट्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।[3] शिशुपाल-वध के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में भी यही पाठ मिलता है। वाचस्पत्यम् में 'अनन्यगुर्व्याः' तथा शब्दकल्पद्रुम में 'अनन्यगुर्वा' पाठ उल्लिखित है।

'अनन्यगुर्व्याः' पाठ मानते हुए दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा यहां पर 'कप्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा। मल्लिनाथीय टीका मे यह समाधान 'केचित्' निर्देश द्वारा मिलता है।[4]

बाह्वादिभ्यश्च ४।१।४५

वञ्चकवृत्तयः

'कृदिकारक्तिनः'[5] (इकारान्त कृदन्त शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है, परन्तु

---

१. पदमंजरी (भाग २), ४।१।४१, पृ० ४३ ।
२. शिशुपालवध, १।३५ ।
३. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध १।३५ ।
४. उपरिवत् ।
५. काशिका, ४।१।४५ ।

क्तिन् प्रत्ययान्त से नहीं, तथा 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके'[1] (समस्त 'कृत' तथा 'अकृत्' शब्दों से 'ङीष्' होता है परन्तु 'क्तिन्' के अर्थ से युक्त शब्दों से नहीं) वार्तिकों की दृष्टि से कुट्टनीमत का 'वञ्चकवृत्य' प्रयोग चिन्त्य है।

यह प्रयोग इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यह शब्द 'ङीष्' प्रत्ययान्त न होकर इकारान्त है तथा यहां पर 'इक्' प्रत्यय 'इक् कृष्यादिभ्यः'[2] वार्तिक द्वारा हुआ है।

दूसरे समाधान के रूप में 'वञ्चकवृता' पाठान्तर प्रस्तुत किया गया है जिसमें उपर्युक्त समस्या उठती ही नहीं।

इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।८४

ब्रह्माणी

'इन्द्रवरुण···' सूत्र द्वारा इन्द्र आदि शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय तथा 'आनुक्' आगम का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'ब्रह्माणी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि सूत्र में 'ब्रह्मन्' शब्द पढ़ा नहीं गया। इसी प्रकार की समस्या 'राजकुलानी' प्रयोग में भी उपस्थित होती है क्योंकि यह शब्द भी सूत्र में अपठित है।

दुर्घटवृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा आदि ग्रंथों में इसी सूत्र की व्याख्या में तथा वाचस्पत्यम् आदि कोशों में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'ब्रह्माणं आनयति' विग्रह के अनुसार कर्म में 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इसी बात को बालमनोरमा में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'ब्रह्माण आनयति' विग्रह के अनुसार 'अन प्रापणे' धातु से हेतुमति 'णिच्' होकर 'आनि' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'ब्राह्मण्' शब्द से उपपद समास होकर 'कर्मण्यण्' सूत्र द्वारा 'अण्' हो जाएगा। फिर 'णिच्' लोप तथा 'टिड्ढाण···' सूत्र द्वारा 'ङीप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3] इसी प्रकार 'राजकुलानी' प्रयोग भी सिद्ध किया जा सकेगा।

ब्राह्मी

परन्तु यदि यह शब्द साधु माना गया तो अमरकोश का 'ब्राह्मी'[4] प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा।

---

१. काशिका ४।१।४५।
२. महाभाष्य, ३।३।१०८, वा० ८।
३. बालमनोरमा (भाग १), ४।१।४९, पृ० ४८८।
४. अमरकोश, १।६।१।

इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'तस्येदम्' (४।३।-१२०) सूत्र द्वारा 'अण्' होकर तथा 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।१।१७१) सूत्र से 'ङीप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। उसके पश्चात 'टिड्ढाण···' सूत्र से 'ङीप्' की प्राप्ति हो सकेगी। अमरकोश की टीका में भी इस प्रयोग को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है।[1]

भिक्षुणी

'भिक्षुणी' प्रयोग में भी यही कठिनाई उपस्थित होती है कि 'भिक्षु' शब्द का भी 'इन्द्रवरुण···' सूत्र में पाठ नहीं हुआ। अत: 'आनुक्' का आगम कैसे हो गया?

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'भिक्षुत्वं नयति प्राप्नोति' विग्रह के अनुसार 'नी' धातु से 'क्विप्' हो जाएगा तथा बाद में 'कृदिकारक्तिन:' वार्तिक द्वारा 'ङीष्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

क्तादल्पाख्यायाम् ४।१।५१

अक्षरलवक्षिप्ता

'क्तादल्पा···' सूत्र करण पूर्वक क्तान्त शब्द से अल्प अर्थ आख्यात होने पर 'ङीष्' प्रत्यय का विधान करता है। इस दृष्टि से 'अक्षरलवक्षिप्ता प्रयोग में 'ङीष्' होना चाहिए था, क्योंकि यहां पर अल्पार्थ गम्यमान हो रहा है।

इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'लव' शब्द द्वारा अल्पत्व का कथन हो रहा है न कि क्तान्त 'क्षिप्त' शब्द द्वारा अत: 'ङीष् की प्राप्ति नहीं होगी।

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात ४।१।५४

शुभाङ्गी

'स्वाङ्गाच्चो···' सूत्र उपसर्जन संज्ञक तथा असंयोगोपध शब्दों से स्त्रीलिंग में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार 'शुभाङ्गी' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'अङ्ग की उपधा में संयोग होने के कारण 'ङीष्' नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि सूत्र में प्रयुक्त चकार द्वारा 'शुभाङ्ग' शब्द से भी 'ङीष्' हो जाएगा। काशिका में इसी सूत्र पर 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्य: इति वक्तव्य:' वार्तिक मिलती है जिसके अनुसार प्रत्यय की प्राप्ति

---

१. अमरकोश सुधा टीका १।६।१।

स्वतः हो जाएगी। इस विषय में हरदत्त का कहना है कि इस वार्तिक के महाभाष्य में अनुक्त होने पर भी प्रयोग बाहुल्य के कारण वृत्तिकार ने ऐसा कहा है।[1]

न्यासकार ने इस सूत्र के उत्तरवर्ती सूत्र 'नासिकोदरौ···' (४।१।५५) में प्रयुक्त चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थक मान कर 'अङ्ग' आदि शब्दों से 'ङीष्' की प्राप्ति मानी है।[2]

न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६

कल्याणक्रोडी

'न क्रोडादिबह्वचः सूत्र 'क्रोड' आदि शब्दान्त बह्वच प्रातिपदकों से 'ङीष्' का निषध करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'कल्याणक्रोडी' शब्द में 'ङीष्' का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'क्रोड' शब्द अन्त में है तथा 'कल्याण' शब्द बहु अच् वाला है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि न्यासकार ने इस सूत्र में 'क्रोडा' शब्द का ग्रहण माना है 'क्रोड' का नहीं।[3] अतः 'क्रोड' शब्द का प्रयोग होने पर ही 'ङीष्' का प्रतिषेध हो सकेगा। यहां पर शरणदेव ने रक्षित के नाम से यह कहा है कि 'कल्याणक्रोडी' शब्द में 'क्रोडा' शब्द का प्रयोग न होकर 'क्रोड' शब्द का प्रयोग हुआ है। अत 'ङीष्' का प्रतिषेध नहीं हो सकेगा।

ऊङुतः ४।१।६६

भीरवः

'ऊङुतः' सूत्र द्वारा उकारान्त मनुष्य जातिवाचक शब्दों से स्त्रीलिंग में 'ऊङ' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण शिशुपालवध तथा अमरकोश के 'सपदि वारिधरारवभीरवः'[4] तथा 'भीरुःकामिनी वामलोचना'[5] श्लोकांशों में 'भीरु' पद विचारणीय है, क्योंकि स्त्रीलिंग की विवक्षा होने के कारण 'ऊङ' होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उपर्युक्त सूत्र में 'इतो मनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र से मनुष्यजाति की अनुवृत्ति आ रही है। इन प्रयोगों में मनुष्यजाति की विवक्षा न होने के कारण 'ऊङ्' नहीं हुआ है।

---

१. पदमंजरी (भाग २) ४।१।५४, पृ० ५४।
२. न्यास (भाग १) ४।१।५४ पृ० ८५५।
३. न्यास (भाग १) ४।१।५६ पृ० ८५७।
४. शिशुपालवध ६।३८।
५. अमरकोश २।६।३।

ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९

पीवरोरू

'ऊरूत्तर...' सूत्र उत्तरपद 'ऊरू' शब्द से औपम्य अर्थ में स्त्रीलिंग में 'अङ्' प्रत्यय का विधान करता है । इस सूत्र की दृष्टि से कुमारसंभव के 'पीवरोरू ! पिबतीव बर्हिण:'[1] श्लोकांश में 'पीवरोरू' प्रयोग विचारणीय है; क्योंकि इस शब्द में औपम्य न होने के कारण 'ऊङ्' के अभाव में 'पीवरोरू' शब्द को सम्बुद्धि के गुण होकर 'पीवरोरो' प्रयोग बनना चाहिए था ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम समाधान यह दिया गया है कि 'संज्ञापूर्वकविधेरनित्य:' परिभाषा के अनुसार गुणविधि के अनित्य होने के कारण यहां पर गुणाभाव सिद्ध हो जाएगा । यही समाधान तत्वबोधिनी में भी दिया गया है ।[2]

दूसरा समाधान इस प्रयोग में 'ऊङ्' की स्थिति मान कर यह दिया गया है कि 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्'[3] वार्तिक द्वारा 'ऊङ्' हो जाएगा यथा बाद में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व:' (७।३।७७) सूत्र द्वारा ह्रस्व होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा ।

द्विगोर्लुनयपत्ये ४।१।८८

पाञ्चकपालो भाग:

'द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र का अर्थ है—द्विगु समास का जो सम्बन्धी निमित्त रूप तद्धित प्रत्यय है, उसका 'लुक्' होता है, प्राग्दीव्यतीय अपत्यार्थक प्रत्ययों को छोड़ कर ।[4] जिस तद्धित प्रत्यय के अर्थ में 'तद्धितार्थों...' (२।१।५१) सूत्र द्वारा द्विगु समास का विधान किया गया है, वह प्रत्यय निमित्त रूप से सम्बन्धी होता है, जैसे...'पञ्चकपाल:' प्रयोग । यहां पर 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृत: पुरोडाश:' अर्थ में 'संस्कृतं भक्षा:' (४।१।१६) सूत्र द्वारा 'अण्' प्रत्यय होकर तथा तथा उसके तद्धितार्थ का विषय होने के कारण द्विगु समास हुआ है तथा वह 'अण्' प्रत्यय द्विगु का निमित्त है ।[5] इस दृष्टि से 'पाञ्चकपालो भाग:' तथा 'पाञ्चकपालीयभिदम्' दोनों प्रयोग विचारणीय हैं, क्योंकि यहां पर द्विगु समास होने के कारण 'अण्' तथा 'छ' प्रत्ययों का 'लुक्' होना चाहिए था ।

---

१. कुमारसंभव, ८।३६ ।
२. तत्वबोधिनी (भाग १), ४।१।७०, पृ० ५०५ ।
३. महाभाष्य, ४।१।६६, वा० १ ।
४. काशिका, ४।१।८८ ।
५. पदमंजरी (भाग २) ४।१।८८, पृ० ७९ ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र में 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (४।१।८२) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस 'वा' पद द्वारा व्यवस्थितविभाषा का ग्रहण करके इन प्रयोगों में प्रत्ययों का 'लुक्' नहीं होगा तथा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। न्यासकार ने भी इस व्यवस्थितविभाषा का समर्थन किया है।[1]

'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) सूत्र की व्याख्या में ही 'पाञ्चकपाल:' प्रयोग के लिए न्यास, पदमंजरी और तत्वबोधिनी में यह समाधान दिया गया है कि इस प्रयोग में 'पञ्चकपालस्येदम्' अर्थ में 'तस्येदम्' सूत्र से 'अण्' हुआ है। अत: संस्कृत में जो 'अण्' प्रत्यय था, वह द्विगु का निमित्त था, न कि दूसरे 'अण्' प्रत्यय का। अत: उसका 'लुक' नहीं होगा।[2] वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में भी इस प्रयोग को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है।[3]

'पाञ्चकपालीयम्' प्रयोग के लिए तत्वबोधिनी में यह समाधान दिया गया है कि 'पञ्चभ्य: कपालेभ्यों हितम' अर्थ में यहां पर 'तस्मै हितम' (५।५।५) सूत्र के अधिकार में 'छ' प्रत्यय हुआ है। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र का अधिकार 'तेन दीव्यति···' (४।४।२) सूत्र तक है। अत: 'तस्मे हितम' सूत्र के प्राग्दीव्यतीय न होने के कारण प्रत्यय का 'लुक्' नहीं होगा।[4]

चातुर्थिक:

इसी प्रकार की समस्या 'चातुर्थिक:' तथा 'त्रर्वाणिक:' प्रयोगों में भी उपस्थित होती है क्योंकि ये प्रयोग भी द्विगु समास के हैं। अत: प्रत्यय का 'लुक्' होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन प्रयोगों को अध्यात्मादिगण में पठित मान कर गणसामर्थ्य से यहां पर प्रत्यय का 'लुक्' नहीं होगा। यह गण आकृतिगण है और इसमें 'आधिदैविकम्' आदि शब्द पढ़े गए हैं।[5]

'चातुर्थिक:' प्रयोग के लिए, रक्षित के नाम से, एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यह शब्द कथादिगण में पढ़ा गया है। अत: 'कथादिभ्यष्ठक्' (४।४।१०२) सूत्र द्वारा 'ठक्' होकर इस सूत्र के प्राग्दीव्यतीय न होने के कारण प्रत्यय का 'लुक्' नहीं होगा। परन्तु यहां द्रष्टव्य है कि 'चातुर्थिक'

---

१. न्यास (भाग १) ४।१।८८, पृ० ८८५।
२ पदमंजरी (भाग २), ४।१।८८, पृ० ७६।
३. 'समाहार द्विगु: । तस्येदम् अण् ।—वाचस्पत्यम् ।
४. तत्वबोधिनी (भाग २), ४।१।८८, पृ० २४२।
५. काशिका, ४।३।६०।

शब्द न तो क्थादिगण में पढ़ा गया और न यह आकृतिगण ही है ।

चातुर्विद्यः

इसी प्रकार की समस्या 'चातुर्विद्यः' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर 'कृतलब्ध…' (४।३।३८) सूत्र द्वारा 'अण्' प्रत्यय हुआ है तथा उसके अपत्यार्थक न होने के कारण 'द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र से प्रत्यय का 'लुक्' होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस प्रयोग में द्विगु समास न हो कर मध्यमपदलोपी समास है। 'चतुर्विद्या विद्या' अर्थ विवक्षित होने के कारण इस शब्द को शाकपार्थिवादिगण में पठित मान लिया जाएगा तथा 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा उत्तरपद 'विद्या' का लोप होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

चातुर्वैद्यम्

'चातुर्वैद्यम' प्रयोग में 'चतस्र एव विद्या चातुर्वैद्यम' विग्रह के अनुसार उसके अनुशतिकादिगण में पठित होने के कारण प्रत्यय का 'लुक्' नहीं होगा । इस शब्द की सिद्धि एक अन्य ढंग से भी की गई है। वह इस प्रकार से कि 'चातुर्वैद्यम शब्द के बाह्मणादिगण में अन्तर्भावित होने के कारण 'ष्यञ्' का 'लुक्' नहीं होगा, क्योंकि 'गुणवचन…' (५।१।१२४) सूत्र प्राग्दीव्यतीय के अधिकार में नहीं आता ।

अत इञ् ४।१।९५

वासुदेवः

'अत इञ्' सूत्र अकारान्त शब्दों से 'इञ्' प्रत्यय का विधान करता है । इस नियम के अनुसार 'वासुदेवः' प्रयोग में 'अण्' प्रत्यय की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि 'वसुदेव' शब्द अकारान्त है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि वसुदेव के वृष्णिवंशज होने के कारण 'ऋष्यान्धक…' (४।१।११४) सूत्र से 'अण्' हुआ है । काशिका में 'वृष्णि' पद का उदाहरण 'वासुदेवः' प्रयोग ही दिया गया है ।

शौरिः

परन्तु यदि वृष्णिवंशज होने से 'अण्' प्रत्यय होता है तो 'शौरिः' प्रयोग में भी 'अण्' होना चाहिए था, क्योंकि 'शूर' भी तो वृष्णिवंशज ही था ।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'शूर' शब्द को बाह्वादि गण में मान कर 'बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६) सूत्र द्वारा 'इञ्' की प्राप्ति हो

जाएगी। यह गण आकृतिगण है। 'ऋष्यन्धक···' सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्त कौमुदी तथा बालमनोरमा में यही समाधान दिया गया है।[1]

परन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'ऋस्यन्धक···' सूत्र वाह्वादिभ्यश्च' सूत्र का अपवाद है। 'अपवाद उत्सर्ग को अपेक्षा बलवान् होता है' इस नियम के अनुसार 'अण्' ही होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गप्रवृत्तिः' परिभाषा के अनुसार अपवाद रूप 'अण्' के विषय में उत्सर्ग रूप 'इञ्' ही जाएगा।

इसी प्रकार 'सावर्णिः' प्रयोग में भी 'इञ्' प्रत्यय सिद्ध हो सकेगा।

स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०

सौमित्रे

'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र द्वारा स्त्रीप्रत्यान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'भट्टि के' ज्ञातेयं सौमित्रे ! भयात् त्रायस्य राघवम्'[2] श्लोकांश का 'सौमित्रे' पद चिन्त्य है, क्योंकि 'सुमित्रा' शब्द के स्त्रीप्रत्ययान्त होने के कारण उससे 'ढक्' प्रत्यय होना चाहिए था।

इसी सूत्र के प्रसंग में दुर्घटवृत्ति सिद्धान्तकौमुदी, तथा बालमनोरमा में इस प्रयोग को इस सकार सिद्ध किया गया है कि सुमित्रा' शब्द के वाह्वादिगण में पठित होने के कारण उससे 'बाह्वादिभ्यश्च सूत्र दारा 'इञ्' ही होगा।[3] इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि इस गण में इन शब्दों का पाठ कुछ सूत्रों दारा विहित कार्य के बाधनार्थ किया गया है।[4]

सापत्नः

इसी प्रकार की समस्या 'सापत्नः' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि 'सपत्नी' शब्द भी स्त्रीप्रन्ययान्त है।

दुर्घटवृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'सापत्नः' शब्द के शिवादि गण में पठित होने के कारण 'शिवादिभ्योऽण्' (४।१।११२) सूत्र द्वारा 'अण्' ही होगा।[5]

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ४।१।११४, पृ० २६९।
२. भट्टिकाव्य, ५।५४।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ४।१।१२०, पृ० २७०।
४. काशिका, ४।१।९६।
५. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ४।१।१२०, पृ० २७०।

द्वयचः ४।१।१२१

पार्थः

'द्वयचः' सूत्र दारा द्वयच् स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'पार्थः' शब्द में 'ढक्' प्रत्यय का अभाव चिन्त्य है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्वबोधिनी में अन्ये निर्देश द्वारा तथा दुर्घटवृत्ति, भाषावृत्ति, वाचस्पत्यम् आदि में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस शब्द को शिवादिगण में पठित मानकर 'शिवादिभ्योऽण्' सूत्र द्वारा 'अण्' हो जाएगा।[1]

सिद्धान्तकौमुदी में इस प्रयोग में 'तस्येदम्' (४।३।१२०) सूत्र द्वारा 'अण' की स्थिति मानी गई है।[2]

कौसल्यकार्मार्याभ्यां च ४।१।१५५

कौसल्यायनिः

'कौसल्य···' सूत्र 'कौसल्य' तथा 'कार्मार्य' शब्दों से अपत्य अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि इस सूत्र द्वारा परम-प्रकृति अर्थात् कोसल शब्द से ही प्रत्यय की प्राप्ति अभीष्ट है[3] तथा प्रत्यय का सन्नियोग होने पर 'युट्' का आगम होता है। शरणदेव ने 'परमप्रकृति' शब्द के लिए 'मूलप्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से भट्टि के 'तर्हि उपलम्भ्यामपश्यन्तः कौसल्यायनिवल्लभाम्'[4] श्लोकांश का 'कौसल्यायनिः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यह शब्द राम का वाचक है तथा वह कोसल का अपत्य है। अतः यहां पर 'फिञ्' का प्रयोग विचारणीय है। दुर्घटवृत्तिकार ने पूर्वपक्ष को इस स्थल में रक्षित के नाम से रखा है।

इस प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि कौसल की लड़की कौसल्या थी। अतः 'कोसल' से अपत्यार्थ में 'फिञ्' करके 'कौसल्यायनि' बन जाएगा। उसके पश्चात् 'इतोमनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र द्वारा 'ङीष्' की प्राप्ति होकर युवापत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो जाएगा। फिर उसका 'अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा 'लुक्' होकर 'लुक् तद्धित लुकि' (१।२-४९) सूत्र से स्त्री प्रत्यय की निवृत्ति होने पर वह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

---

१. तत्वबोधिनी (भाग २) ४।१।१२१, पृ० २७१।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २) ४।१।१२१, पृ० २७१।
३. काशिका, ४।१।१५५।
४. भट्टिकाव्य, ७।९०।

जयमंगला, वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में परम प्रकृति के नियम को न मानते हुए 'कौसल्याया अपत्यम्' अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया गया है ।[1] महाभाष्य में भी इस सूत्र में परम प्रकृति के ग्रहण का उल्लेख नहीं मिलता ।

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ४।१।१६८

केकयी

'जनपदशब्दात्—' सूत्र द्वारा क्षत्रियवाची जनपद शब्द से अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय का विधान करता है । इस नियम के अनुसार भट्टि के 'केकय्युपज्ञं बत बह्वनर्थम्'[2] ऊचुस्तथान्ये भरतस्य मायां धिक् कैकयीम्'[3] तथा 'प्राक् केकयीतोज भरतस्ततो भूत्'[4] श्लोकांशों में 'केकयी' शब्द विचारणीय है, क्योंकि केकयस्य अपत्य स्त्री' अर्थ में 'अम्' प्रत्यय करके 'अतश्च' (४।१।१७७) सूत्र द्वारा प्रत्यय के 'लुक्' की प्राप्ति होती है परन्तु इसका 'न प्राच्यमर्गादि' (४।१।१७८) सूत्र से निषेध हो जाता है । उसके पश्चात् 'कैकयमित्रयु—' (७।३।२) सूत्र द्वारा 'इय्' आदेश तथा आदि अच् की वृद्धि होकर 'कैकयी' प्रयोग निष्पन्न होता है । रघुवंश में 'कैकयी 'शब्द का ही प्रयोग हुआ है—'कैकयी ! कामाः कलितास्तवेति ।[5]

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि उपचार से मूल प्रकृति रूप केकय शब्द स्त्री अपत्य अर्थ में वर्तमान है । अतः उसके स्त्र्यपत्य में प्रयुक्त होने के कारण उसको शाङ्र्गरवादिगण में पठित मान कर 'शाङ्र्गरवादिषु ङीन्' (४।२।७३) सूत्र द्वारा 'ङीन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । परन्तु यहां पर यह द्रष्टव्य है कि शाङ्र्गरवादिगण आकृतिगण नहीं माना गया है ।

तत्वबोधिनी टीकाकार के अनुसार 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।२।४८) सूत्र द्वारा 'केकय' शब्द से 'ङीष्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि लेखक

---

१. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ७।६० ।
२. भट्टिकाव्य, ३।३१ ।
३. वही, ३।१० ।
४. वही, १।१४ ।
५. रघुवंश, १३।५६ ।

के अनुसार इस सूत्र में न केवल दंपतिभाव ही इष्ट है अपितु जन्यजनक भाव का भी ग्रहण हुआ है।[1]

वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ४।२।१७१

पाण्डवाः

'पाण्डोर्जनपदशब्दात् क्षत्रियाड्ड्यण् वक्तव्यः'[2] वार्तिक की दृष्टि से 'पाण्डवाः प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'पाण्डु' शब्द से 'नित्येड्यण्' होकर 'पाण्ड्याः' प्रयोग ही बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर प्रत्यय की प्राप्ति अपत्य अर्थ में न होकर 'तस्येदम्' अर्थ में हुई है। इसलिए 'तस्येदम् सूत्र द्वारा 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

---

१. तत्वबोधिनी (भाग १), ४।१।४८, पृ० ४८४।

२. महाभाष्य में यह वार्तिक 'पाण्डोड्यंणवक्तव्यः' इस रूप में मिलती है। ४।१।६८।

चतुर्थ अध्याय : द्वितीय पाद

लुबविशेषे ४।२।४

अद्य रात्रौ पुष्य:

यदि विशेष गम्यमान न हो रहा हो तो 'लुबविशेषे' सूत्र 'नक्षत्रेण युक्त: काल:' सूत्र द्वारा विहित प्रत्यय का 'लुप्' करता है। 'अविशेष' का अर्थ है—नक्षत्र से युक्त दिन रात का जितना काल है, उसके विशेष रूप से गम्यमान होने पर ।[1] इस सूत्र के उदाहरण भूत 'अद्य पुष्य: प्रयोग में प्रत्यय का 'लुप्' इसलिए हुआ है कि यहाँ पर आने वाले कल और बीते हुए कल रूप विशेष अर्थ के गम्यमान होने पर भी दिन अथवा रात्रि रूप जो अवांतर विशेषता है, उसका बोध नहीं हो रहा है ।[2] अत: यहां पर प्रत्यय का 'लुप्' नहीं हुआ है। इस दृष्टि से 'अद्य रात्रौ पुष्य:' प्रयोग में प्रत्यय का 'लुप्' विचारणीय है, क्योंकि यहां पर भी रात्रि रूप विशेष अर्थ वर्तमान है।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि रात्रि रूप विशेषण के 'अद्य' रूप विशेष्य के प्रति अंतरंग होने के कारण दोनों का परस्पर समानाधिकरण हो जाएगा। यहां समानाधिकरण का अर्थ यह है कि 'रात्रि' अद्य अर्थ को भी कह रहा है तथा इस प्रकार रात्रि का विशेष रूप से बोध न होने के कारण अविशेष की स्थिति बनी ही रहती है। इसलिए 'लुप्' का निषेध नहीं हो सकेगा।

आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् ४।२।२२

आग्रहायणो मास:

'आग्रहायण्य'— सूत्र आग्रहायणी तथा अश्वत्थ शब्दों से पौर्णमासी की उपाधि होने पर सप्तमी के अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र में पूर्वसूत्र 'सास्मिन्'—(४।२।११) से 'सास्मिन्' पद की अनुवृत्ति आ रही है ।[3] अत: 'ठक्' प्रत्यय नित्य होता है। इस दृष्टि से 'आग्रहायणो मास:' तथा 'आग्रहायणी' प्रयोग विचारणीय हैं क्योंकि नित्य 'ठक्' होकर आग्रहायणिको मास:' तथा 'आग्रहायणिका पौर्णमासी' प्रयोग बनने चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'सास्मिन्'

---

१. काशिका, ४।२।४।

२. तत्वबोधिनी, (भाग २), ४।१।४, पृ० २६७।

३. काशिका, ४।२।२२।

अर्थ में प्रत्यय न होकर 'तस्येदम्' अर्थ में 'आग्रहायण्या इयम्' (पोर्णमासी) तथा 'आग्रहायण्या अयम्' (मासः) इन व्युत्पतियों के अनुसार 'तस्येदम्' सूत्र में 'अण्' हुआ है। दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'आग्रहायण्य' सूत्र में अल्पाच्तर 'अश्वत्थ' का पूर्वनिपात नहीं किया गया। अतः जिस प्रकार यहां पर 'अल्पाच्तरम्' (२।२।३४) सूत्र का व्यभिचार हुआ है, उसी प्रकार 'ठक्' की नित्यता का भी व्यभिचार हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु यह समाधान उचित एवं बुद्धिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इन दोनों व्यवस्थाओं का कोई पारस्परिक संबंध नहीं है।

सास्य देवता ४।२।२४

ऐन्द्रम्

'सास्य देवता' सूत्र देवता वाचक शब्दों से 'अण्' आदि प्रत्ययों का विधान करता है। याग आदि में दी जाने वाली हवि रूप पुरोडाश का जो स्वामी है, उसके अभिधेय होने पर प्रत्यय का विधान किया गया है जैसे 'इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः' प्रयोग में हवि का स्वामी इन्द्र है।[1] इस नियम के अनुसार रघुवंश के 'ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः'[2] श्लोकांश के 'ऐन्द्रम्' पद में 'अण्' की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि यहां पर इन्द्र देवता हवि सम्प्रदान का विषय नहीं है। यह तो इन्द्र सम्बन्धी स्थान अर्थ का वाचक है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'सास्य देवता' सूत्र का विषय न होकर 'तस्येदम्' सूत्र का विषय है। अतः 'इन्द्रस्य इदम्' अर्थ के अनुसार 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। वाचस्पत्यम्-शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में भी इस शब्द को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है।[3]

सोमाट्ट्यण् ४।२।३०

सौम्यः

'सोमाट्ट्यण्' सूत्र 'सास्य देवता' अर्थ में 'सोम' शब्द से 'ट्यण्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से शिशुपालवध के 'अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः'[4] श्लोकांश का 'सौम्यः' पद विचारणीय है, क्योंकि यहां पर वह शब्द देवता अर्थ में प्रयुक्त न होकर प्रसन्न अर्थ में, प्रयुक्त हुआ है।

---

१. काशिका, ४।२।२४।
२. रघुवंश, २।५०।
३. '(इन्द्रस्य इदम्) इन्द्रसम्बन्धिनि त्रिः। तथा रघु० २।५०।'—शब्दकल्पद्रुम।
४. शिशुपालवध ३।१।

इस समस्या का समाधान यह मान कर दिया गया है कि यहां पर यह शब्द सुकुमार अर्थ का वाचक है। परन्तु मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'प्रसन्न' किया है।[1] अपने समाधान को और अधिक स्पष्ट करते हुए शरणदेव ने कहा है कि सोमदेवता तथा सुकुमार दोनों तृप्ति के हेतु हैं। अत: सुकुमार के आधार पर उपचार द्वारा सौम्य कहा जाता है। अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने अमरकोश को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'सौम्य' शब्द देवता तथा सुकुमार दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। परन्तु अमरकोश के सम्प्राप्त उपलब्ध संस्करणों में 'सौम्यस्स्यात्सुकुमारे सोमदेवते' पाठ न मिलकर 'सौम्य तु सुन्दरे सोमदेवते' पाठ मिलता है।[1]

अमकोश की टीका में 'सौम्य:' शब्द को एक अन्य ढंग से इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'सोम इव सोम:' विग्रह के अनुसार 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा 'ष्यञ्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[2] परन्तु इस समाधान में यह द्रष्टव्य है कि 'सोम' शब्द न तो चातुवर्ण्यादिगण में पढ़ा गया और न ही यह गण आकृतिगण है।

संङ्गामे प्रयोजनयोद्धृभ्य: ४।२।५६

भारतो ग्रन्थ:

'संग्रामेप्रयोजन···' सूत्र प्रयोजनवाची तथा योद्धावाची शब्दों से षष्ठ्यर्थ में संग्राम अभिधेय होने पर प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम की दृष्टि से 'भारतो ग्रन्थ:' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर संग्राम अभिधेय न होकर ग्रंथ अभिधेय है।

दुर्घटवृत्ति, वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'भरतान् भरतवंश्यानधिकृत्य कृतो ग्रन्थ:' व्युत्पति के अनुसार 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) सूत्र द्वारा 'भरत' शब्द से 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

शब्दकल्पद्रुम में इसकी व्युत्पति एक अन्य ढंग से भी की गई है। 'चतुर्वेदा-दिशास्त्रेभ्योऽपि सारांश तनोति' अर्थ की दृष्टि से 'भार' शब्द के उपपद होने पर 'तन्' धातु से 'ड' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3]

इस प्रसंग में शरणदेव ने महाभारत शब्द की व्युत्पत्ति भी दी है। ग्रंथों के विशाल अथवा विस्तृत परिमाणयुक्त होने के कारण उन्हें महाभारत कहा

---

१. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, ३।१।

२. अमरकोश, ३।३।१६१

३ अमरकोश, सुधा टीका, ३।१।१६१।

४. 'यद्वा, भारं चतुर्वेदादिशास्त्रेभ्योऽपि सारांशं तनोतीति। तान+ ड:। —शब्दकल्पद्रुम।

जाता है। वाचस्पत्यम् में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—महत्वात् भारतत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०

चातुर्विद्यः

'विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तदकल्पादेरिकक्स्मृतः'[1] वार्तिक की दृष्टि से 'चातुर्विद्यः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहाँ पर 'विद्या' शब्द के अन्त में में होने के कारण 'इक्क' प्रत्यय होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'कृतलब्ध—' (४।३।३८) सूत्र द्वारा विहित 'अण्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध हुआ है। यहां पर यह आपत्ति की जा सकती है कि इस 'अण्' प्रत्यय के अपत्यार्थक न होने के कारण उसका 'द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र में 'लक्' क्यों नहीं हुआ ?

इस आपित्त की निवृत्ति इस प्रकार की गई है कि यहां पर द्विगु समास न होकर मध्यमपदलोपी समास है। 'चतुर्विद्या विद्याः' विग्रह के अनुसार इस शब्द को शाकपार्थिवादिगण में अन्तर्भावित मान लिया जाएगा तथा शाकपार्थिवादीनाम्…' वार्तिक द्वारा उत्तरपद 'विद्याः' का लोप होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने 'विद्या चानङ्गक्षत्रधर्मसंसर्गत्रिपूर्वा' वार्तिक के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'त्रैविधः' प्रयोग प्रस्तुत किया है। पदमंजरी तथा न्यास में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत प्रयोग को द्विगु समास का प्रयोग न मानकर मध्यमपदलोपी समास माना गया है।[2] धातुवृत्ति आदि ग्रंथों में भी ऐसा ही माना गया है।

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७

माहिष्मतीम्

'महिषाच्चेति वक्तव्यम्'[3] वार्तिक की दृष्टि से शिशुपालवध के 'पुरी माहिष्मतीं द्विषः'[4] श्लोकांश का 'माहिष्मतीम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'ड्मतुप्' प्रत्यय होकर 'महिष्मती प्रयोग बनाना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि पहले 'महिष्मत्' शब्द बना कर उससे 'तत्र भवे' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय करके 'माहिष्मत' शब्द बन जाएगा।

---

१. महाभाष्य, ४।२।६० ।
२. न्यास (भाग १), ४।२।६०, पृ० ६४६ ।
३. महाभाष्य, ४।२।८७ ।
४. शिशुपालवध, २।६४ ।

उसके पश्चात् स्त्रीलिंग में 'ङीप्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। दुर्घटवृत्ति में यहां पर 'महिष्मत्या साध्यं भावे अर्थेऽण्' पाठ मिलता है, परन्तु उसके स्थान पर 'महिष्मत्यास्तत्र भुवेऽर्थेऽण्' पाठ उचित जान पड़ता है। इस पाठ की ओर गणपति शास्त्री ने भी संकेत किया है।[1]

कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ४।२।९६

ग्रैवेय:

'कुलकुक्षि…' सूत्र द्वारा 'कुल' आदि शब्दों से 'श्वन्' आदि अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण रघुवंश के 'सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः'[2] श्लोकांश का 'ग्रैवेयः' पद चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर इस शब्द के अलंकार अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण 'ठक्ञ्' होकर 'ग्रैवेयकम्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया कि 'ग्रीवाभ्योऽण् च' (४।३।८७) सूत्र के चकार पद द्वारा गृहीत 'ढक्ञ्' प्रत्यय के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। पक्ष में 'अण्' होकर 'ग्रैवम्' प्रयोग बनेगा। 'ढक्' प्रत्यय के संयोजन से तो 'ग्रैवेयकम्' प्रयोग ही बनेगा। यही समाधान मल्लिनाथ ने भी दिया है। दुर्घटवृत्ति में उपलब्ध 'अणि तु ग्रैवेयमिति भवति' पाठ से स्थान पर 'अणि तु ग्रैवमिति तु भवति' पाठ होना चाहिए, क्योंकि 'ग्रैवेयम्' प्रयोग तो 'ढञ्' प्रत्यय के संयोजन से ही बन सकेगा।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१

प्राक्तन

'द्युप्रागपागु…' सूत्र 'दिव्' आदि शब्दों से शैषिक 'यत्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार कुमारसंभव के 'प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्या'[3] श्लोकांश का 'प्राक्तन' शब्द इसलिए विचारणीय है कि उपर्युक्त सूत्र द्वारा 'प्राक्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होकर 'प्राच्यः' शब्द ही बनना चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'प्राक्' शब्द के कालवाचक तथा अव्यय होने के कारण परवर्ती सायंचिरं…' (४।३।२३) सूत्र द्वारा 'यत्' का बाध होकर 'ट्यु' प्रत्यय तथा 'तुट्' अगम द्वारा 'प्राक्तन' शब्द

---

१. दुर्घटवृत्ति, पादटिप्पण ३, पृ० ८७।
२. रघुवंश ४।७५।
३. कुमारसंभव, १।३०।

ही बनेगा। यही समाधान तत्वबोधिनी, वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में भी दिया गया है।[1]

प्राच्यासु वृत्तिषु

परन्तु यदि कालवाची 'प्राक्' शब्द से 'ट्यु' अथवा 'ट्युल्' प्रत्यय ही होते हैं तो न्यासकार द्वारा प्रयुक्त 'प्राच्यासु वृत्तिषु[2] प्रयोग असाधु माना जाएगा।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहां पर काल अर्थ में प्रत्यय न होकर साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ है। यहां पर 'सध्वार्थे' के स्थान पर 'साध्वर्थे' पाठ होना चाहिए।

इञश्च ४।२।११२

पाणिनीयम्

गोत्र अर्थ में विहित 'इञ्' प्रत्ययान्त शब्द से 'इञश्च' सूत्र 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। इस दृष्टि से 'पाणिनीयम्' प्रयोग विचारणीय है। यह शब्द इस प्रकार सिद्ध हुआ कि 'पणिन्' शब्द से अपत्यार्थ में 'अण्' हो कर तथा 'गाथिविद···' (६।४।१६५) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव होकर 'पाणिन्' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'अत इञ्' (४।१।९५) सूत्र द्वारा अपत्यार्थ में 'पाणिनि' शब्द बन जाने पर 'पाणिनिना प्रोक्तम्' अर्थ में 'इञश्च' सूत्र द्वारा 'अण्' प्रत्यय होना चाहिए, न कि 'छ' प्रत्यय।

इस समस्या का समधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग में 'अण्' प्रत्यय नहीं होगा क्योंकि यह 'अण्' प्रत्यय गोत्र अर्थ में विहित है। इसके अतिरिक्त 'वृद्धस्य च पूजायाम्' (४।१।१६५) सूत्र से विहित, युवसंज्ञा द्वारा गोत्र संज्ञा का बाध हो जाता है। इसीलिए 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६४) सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'पाणिनिना प्रोक्तम्' अर्थ में 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) सूत्र द्वारा 'छ' प्रत्यय होकर 'पाणिनीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'पाणिनेन प्रोक्तम्' अर्थ में 'अण्' करके 'अण्' प्रत्ययान्त 'पाणिन' शब्द से ही 'छ' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा; क्योंकि 'पाणिन' भी तो 'पणिन्' का अपत्य ही है।

---

१. तत्वबोधिनी (भाग २), ४।२।१०१, पृ० ३३५।

२. न्यास (भाग १), पृ० १।

वृद्धाच्छः ४।२।११४

कातीयः

'वृद्धाच्छः' सूत्र द्वारा वृद्धसंज्ञक शब्दों से शैषिक 'छ' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'कातीयः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कत' शब्द के आदि में कोई वृद्धिसंज्ञक वर्ण नहीं है। अतः वह वृद्धसंज्ञक नहीं है।

दुर्घटवृत्ति तथा बालमनोरमा में इस शब्द को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) सूत्र द्वारा गोत्रापत्यार्थ में 'कतस्य गोत्रापत्यम्' व्युत्पति के अनुसार 'यञ्' प्रत्यय हो जाएगा। उसके पश्चात् युवा अर्थ में 'यञिञोश्च' (४।१।१०१) सूत्र द्वारा 'फक्' होकर 'कात्यायन' शब्द बन जाएगा। 'कात्यायन' शब्द से छात्र अर्थ में 'वृद्धाच्छः' सूत्र से 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'फक्फिञोऽन्यतरस्याम्' (४।१।९१) सूत्र द्वारा 'फक्' का लुक् तथा 'छ' प्रत्यय होकर 'कातीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1] पक्ष में प्रत्यय के लुगाभाव में 'कात्यायनीयः' प्रयोग बनेगा।

धूमादिभ्यश्च ४।२।१२७

दाक्षिणापथी वृत्तिः

'धूमादिभ्यश्च' सूत्र 'धूम' आदि देशवाचक शब्दों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय का विधान करता है। यह सूत्र 'अण्' आदि प्रत्ययों का अपवाद है।[2] इस नियम की दृष्टि से 'दाक्षिणापथी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'दक्षिणापथ' शब्द के धूमादि होने के कारण नित्य 'वुञ्' होकर 'दाक्षिणापथिका' प्रयोग बनना चाहिए।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां यह कहा है कि 'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गः प्रवर्तते'[3] परिभाषा के आश्रयण से 'तस्येदम्' अर्थ में अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

भाषावृत्तिकार ने इस प्रयोग को चिन्त्य माना है।[4]

मनुष्यस्तत्स्थयोर्वुञ् ४।२।१३४

सैन्धवः

'मनुष्यस्त···' सूत्र द्वारा कच्छादिगण में पठित शब्दों से मनुष्य तथा

---

१. बालमनोरमा (भाग २), ४।१।८१, पृ० २४६।
२. 'अणादेरपवादः।' काशिका, ४।२।१२७।
३. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ५६।
४. भाषावृत्ति, ४।२।१२७।

मनुष्य जाति आदि प्रत्ययथार्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का विधान किया गया है । इस सूत्र की दृष्टि से 'सैन्धवः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'सिन्धु' शब्द के कच्छादि होने के कारण 'वुञ् होकर 'सैन्धवकः' बनना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'सिन्ध्वप···' (४।३।२२) सूत्र में 'मनुष्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अतः अभिजन अर्थ में 'अणञौ च' (४।३।३३) सूत्र द्वारा 'अण्' अथवा 'अञ्' होकर 'सैन्धवः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । यहां यह द्रष्टव्य है कि 'अण्' प्रत्यय ही हो सकेगा, 'अञ्' नहीं, क्योंकि 'अणञौ च' सूत्र यथासंख्य 'सिन्धु' शब्द से 'अण्' तथा 'अञ्' प्रत्ययों का विधान करता है ।

वाचस्पत्यम् में इस शब्द की सिद्धि 'सिन्धुनदीसमीपे देशेभवम् अण्' इस प्रकार की गई है ।

गहादिभ्यश्च ४।२।१३८

स्वकीयस्य

'कुक् जनस्य परस्य च'[1] (जन तथा पर शब्दों के परे होने पर 'कुक्' का आगम होता है) वार्तिक की दृष्टि से 'लुब्योगाप्रख्यानात्' (१।२।५४) सूत्र के न्यास में प्रयुक्त 'स्वकीयस्य' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि वार्तिक में 'स्व' शब्द पठित नहीं है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि न्यास के इस प्रयोग के आधार पर स्वार्थिक 'कन्' प्रत्ययान्त 'स्वक' शब्द को गहादिगण में मान कर 'छ' प्रत्यय द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । गहादिगण आकृतिगण है ।[2] यही समाधान तत्वबोधिनी में भी दिया गया है ।[3]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि उपर्युक्त वार्तिक में चकार को अनुयतसमुच्चयार्थक मान कर 'स्व' पद का भी ग्रहण हो जएगा तथा स्वतः 'कुक्' की प्राप्ति हो जाएगी । अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने 'स्वपरजन-देवराज्ञां कुक् च' चान्द्रसूत्र उद्धृत किया है जिसमें 'स्व' पद का स्पष्टतः ग्रहण हुआ है । परन्तु यह सूत्र चान्द्र-सूत्रों में नहीं मिलता अपितु उसकी वृत्ति में ऐसा कहा गया है ।[4]

---

१. काशिका, ४।२।१३८ ।
२. उपरिवत् ।
३. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ४।२।१३८, पृ० ३४३ ।
४. चान्द्रसूत्र वृत्ति, ३।२।५८ ।

सौवम्

इसी प्रसंग में 'स्व' शब्द से निष्पन्न 'सौवम्' शब्द पर भी विचार किया गया है। इस पद के विषय में यह कहा गया है कि 'स्व' शब्द से 'अण्' होकर 'द्वारादीनां च' सूत्र द्वारा आदि अच् को 'औ' आगम होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

स्वीयम्

'स्वीयम्' शब्द इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'तस्मै हितम्' अर्थ में 'प्राक् क्रीताच्छः' (५।१।१) सूत्र द्वारा 'छ्' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। बालमनोरमा में इस प्रयोग को 'आगमशासनस्यानित्यत्वम्' परिभाषा के आश्रयण से आगम रूप 'कुक्' को अनित्य मान कर सिद्ध किया गया है।[1] परन्तु वाचस्पत्यम् के लेखक के अनुसार तो यह प्रयोग अपाणिनीय है।[2]

नान्तरीयकः

'नान्तरीयकः' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि 'अन्तरा' शब्द को गहादिगण में अन्तर्भावित मान कर 'नञ्' समास में 'कन्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस गण में इस शब्द के पाठ सामर्थ्य से 'नञ्' को प्रकृतिभाव की प्राप्ति हो सकेगी। परन्तु यहां द्रष्टव्य है कि गहादिगण में इस शब्द का पाठ नहीं हुआ है। हाँ, अन्तर शब्द अवश्य पढ़ा गया है।

---

१. बालमनोरमा (भाग २), ४।२।१३८, पृ० ३४३।
२. 'अकुक्युक्तप्रयोगस्तु अपाणिनीयः' वाचस्पत्यम्।

चतुर्थ अध्याय, तृतीय पाद

कालाट्ठञ् ८।३।११

औषस:

'कालाट्ठञ्' सूत्र कालविशेषवाची शब्दों से 'ठञ्' प्रत्यय करता है। इस दृष्टि से किरातार्जुनीयम् तथा कुमारसंभव के 'अनुदितौषसराग:'[1] तथा 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये'[2] श्लोकांशों के क्रमश: 'औषस:' तथा 'शार्वरस्य' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि इनके विशेष कालवाचक होने के कारण इनसे 'ठञ्' प्रत्यय होना चाहिए था।

इन प्रयोगों की साधुता के लिए तीन समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम यह कि 'कालाट्ठञ्' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'कालात्' द्वारा 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु महाभाष्य, काशिका आदि किसी भी ग्रन्थ में इस सूत्र का योग विभाग नहीं किया गया।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि उत्तरवर्ती सूत्र 'विभाषा रोगातपयो:' (४।३।१३) सूत्र से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति लाकर तथा उसे व्यवस्थित विभाषा मान कर इन प्रयोगों में 'अण्' की प्राप्ति हो जाएगी।

तीसरा समाधान 'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते' परिभाषा के आश्रयण से यह दिया गया है कि अपवाद रूप 'ठञ्' के विषय में यहाँ उत्सर्ग रूप 'अण्' हुआ है।

मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीयम् की टीका में 'औषस:' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की है कि 'सन्धिवेला—' (४।३।१६) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सत्र 'अण्' से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। परन्तु इस समाधान में भी यह द्रष्टव्य है कि अन्य किसी वैयाकरण ने इस प्रकार योगविभाग को स्वीकार नहीं किया।[3]

भट्टोजि दीक्षित ने इन प्रयोगों को प्रामाणिक विद्वानों के विचार में, अपभ्रंश माना है।[4] बालमनोरमा में पहले तो इन प्रयोगों को 'केचित्' निर्देश द्वारा

---

१. किरातार्जुनीयम, ९।८।

२. कुमारसंभव, ८।५८।

३. मल्लिनाथ टीका, किरातार्जुनीयम्, ९।८।

४. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग २) पृ० ३४७।

'अमुकः' 'पुरतः', आदि शब्दों के समान अव्युत्पन्न माना गया है, परन्तु बाद में इन प्रयोगों को पृषोदरादिगण में मान कर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९) सूत्र द्वारा निष्पन्न माना गया है ।[1]

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३

साम्प्रतिकः

'सायंचिरं—' सूत्र द्वारा सायम्, चिरम् आदि शब्दों से 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' एवं 'लुट्' आगम का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'साम्प्रतिकः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'सम्प्रति' शब्द के अव्यय होने के कारण उससे 'ठञ्' प्रत्यय न होकर 'ट्यु' अथवा 'ट्युल्' होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'अ साम्प्रतिके' (४।३।९) सूत्र में निर्दिष्ट 'साम्प्रतिके' निपातन द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

न्यास, तत्वबोधिनी तथा बालमनोरमा में 'अ साम्प्रतिके' सूत्र की व्याख्या में इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'सम्प्रति' शब्द विनयादिगण में पढ़ा गया है । अतः 'विनयादिभ्यष्ठक्' (५।४।३४) सूत्र से 'ठक्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।[2]

शाश्वतिकः

प्रसंगतः दुर्घटवृत्तिकार ते 'शाश्वतिकः' प्रयोग पर भी विचार किया है । स्पष्टता की दृष्टि से यहां पर पूर्वपक्ष की दृष्टि से 'कथं शाश्वतिकः' पाठ होना चाहिए था परन्तु ऐसा कोई संकेत नहीं किया गया । केवल समाधान की दृष्टि से यह कहा गया है कि इस प्रयोग में 'अध्यात्मादिभ्यश्च' वार्तिक द्वारा 'ठञ्' होता है ।

यदि इस प्रकार 'ठञ्' की प्राप्ति मान ली जाए तो विचारणीय होगा कि 'शश्वत्' शब्द के तान्त होने के कारण 'ठञ्' को 'इसुसुक्तान्तात् कः' सूत्र दारा 'क' आदेश क्यों नहीं हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।९) सूत्र में निपातित 'शाश्वतिकः' निर्देश द्वारा 'ठञ्' को 'क' आदेश नहीं होगा । यह बात रक्षित ने 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' सूत्र की व्याख्या में कही थी, ऐसा दुर्घटवृति से पता लगता है ।

शाश्वतः

परन्तु यदि 'शाश्वतिकः' प्रयोग को साधु मान लिया जाए तो अमरकोश के

१. बालमनोरमा (भाग २), ४।३।११, पृ० ३४७ ।
२. न्यास (भाग १), ४।३।९, पृ० ९७७ ।

'शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्य:'[1] वाक्य का 'शाश्वत:' प्रयोग चिन्त्य होगा।

इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'कालाट्ठञ्' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् 'कालात्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय हो जाएगा। इस स्थिति में यह विचारणीय होगा कि 'अव्यायानां भमात्रे टिलोप:' वार्तिक द्वारा 'शश्वत्' की 'टि' का लोप क्यों नहीं हुआ ?

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'बहिषष्टिलोपो यञ् च'[2] वार्तिक द्वारा 'बहिस्' की 'टि' लोप का विधान करने से यह ज्ञापित होता है कि 'अव्ययानां भमात्रे टिलोप:' वार्तिक अनित्य है। यदि यह नित्य होता तो 'टि' लोप विधान की कोई आवश्यकता न होती तथा स्वत: लोप की प्राप्ति हो जाती। यही समाधान अमरकोश की टीका में दिया गया है।[3]

आकस्मिकम्

'अकस्मात् भवमाकस्मिकम्' प्रयोग के विषय में यह विचारणीय है कि 'अकस्मात्' शब्द के अव्यय होने के कारण उससे 'ट्यु' अथवा 'ट्युल्' प्रत्यय होना चाहिए था।

यहां यह कहा गया है कि 'अकस्मात्' शब्द निपात न होकर विभक्तिप्रतिरूपक निपात है। अत: इसको अध्यात्मादिगण में पठित मान कर 'अध्यात्मादिभ्यश्च' वार्तिक द्वारा 'ठञ्' हो जाएगा तथा बाद में 'अव्ययानां भमात्रे टिलोप:' वार्तिक द्वारा 'अकस्मात् की 'टि' का लोप होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

पुरातन

भारवि के 'दधत: पुरातनमुनेर्मुनिताम्'[4] श्लोकांश का 'पुरातन' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि स्वयं पाणिनि ने 'पुराणप्रोक्तेषु—' (४।३।१०५) सूत्र में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है। अत: 'बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति'[5] परिभाषा के अनुसार 'पुरातन' प्रयोग नहीं बनना चाहिए। दुर्घटवृत्ति में 'दधत: पुरातन…' श्लोकांश माघ के नाम से उद्धृत किया गया है परन्तु यह श्लोकांश वहां न मिल कर किरातार्जुनीयम् में मिलता है।

---

१. अमरकोश, ३।१।७२।
२. महाभाष्य, ४।१।८५ वा० ४।
३. अमरकोश सुधा टीका ३।१।७२।
४. किरातार्जुनीयम् ६।१६।
५. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ११६।

दुर्घटवृत्ति, परिभाषावृत्ति तथा अमरकोश की सुधा टीका में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अबाधकान्येव निपातनानि भवन्ति' परिभाषा के आश्रयण से निपातन रूप 'पुराण' शब्द को अबाधक मानकर पक्ष में 'पुरातन' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।[1]

परन्तु इस समाधान में यह आपत्ति की जा सकती है कि महाभाष्यकार ने यह परिभाषा न मान कर निपातों को बाधक ही माना है (बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति)। अत: भागवृत्तिकार के अनुसार तो यह प्रयोग कालदुष्ट अपशब्द ही है।

परन्तु शरणदेव को यह मत मान्य नहीं, क्योंकि उसके अनुसार तो पतंजलि ने भी 'अबाधकान्येव निपातनानि भवन्ति' परिभाषा मानी है। पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (८।४।३) सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि 'अणृगयनादिभ्यः' (४।३-७३) सूत्र में निपातित 'णत्व' रहित 'ऋगयन' निर्देश के होने पर भी जो 'अगः' ऐसा प्रतिषेध किया गया, उससे यही ज्ञापित होता है कि निपातन अबाधक होते हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रतिषेध करने की कोई आवश्यकता न होती तथा 'गकार' से परे 'नकार' को स्वतः षत्व निषेध की प्राप्ति हो जाती। परन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि महाभाष्य अथवा उसकी प्रदीप एवम् उद्योत टीकाओं में इस कथन से यह ज्ञापक नहीं निकाला गया। परिभाषेन्दुशेखर में तो स्पष्ट कहा गया हैं कि अबाधकान्यपि—' परिभाषा भाष्य विरुद्ध है।[2]

परिभाषावृत्ति में जयादित्य के नाम से 'त्रेस्त्रयः' (७।२।५३) सूत्र को अबाधकान्यपि—' परिभाषा का ज्ञापक माना गया है। यदि निपातन बाधक ही होते तो, 'त्रीणाम्' प्रयोग की प्राप्ति होने पर 'निजांश्रयाणां—' (७।२।७५) सूत्र में निपातित गुणसहित 'त्रयाणाम्' प्रयोग द्वारा स्वतः गुण की प्राप्ति हो जाती तथा सूत्रकार को 'त्रेस्त्रयः' सूत्र की रचना करनी पड़ती।[3]

अपने मत की पुष्टि में शरणदेव ने पाणिनिविरचित 'जाम्बवतीविजय' के तीन श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें 'पुरातनी' तथा 'पुरातन' शब्दों का प्रयोग किया गया है। कैयट तथा नागेश ने 'पुरातन' शब्द को पृषोदरादिगण में पठित मान कर सिद्ध किया है।[4]

यहां पर दुर्घटवृत्ति की अन्तिम पंक्तियां 'कैयटेन तु पृषोदरादित्वात् सिद्धिरुक्ता। सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) इत्यत्रोक्तम्' कुछ अशुद्ध प्रतीत होती

१. परिभाषावृत्ति, पृ० ९९।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ११९।
३. परिभाषावृत्ति, पृ० ४७-४८।
४. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।२७, पृ० २७४।

हैं। उनके स्थान पर 'कैयटेन तु सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) इत्यत्र पृषोदरादित्वात् सिद्धिरुक्ता' पाठ होना चाहिए।

द्वयजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक ४।३।७२

शास्त्रीयम्

'द्वयचृजब्राह्मण---' सूत्र द्वयच्, ऋकारान्त आदि शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार 'शास्त्रीयम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि शास्त्र शब्द के द्वयच् होने के कारण उससे 'ठक्' प्रत्यय होना चाहिए था। इसी प्रकार की समस्या 'वार्त्तम्' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि वृत्ति शब्द भी द्वयच् है।

प्रथम प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि 'तत आगतः' (४।३।७४) अथवा 'तस्येदम्' (४।३।१२०) सूत्र द्वारा 'अण्' होकर 'शास्त्र' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'छ' प्रत्यय करके 'शास्त्रीयम्' प्रयोग सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'वृत्ति' शब्द से 'ततः आगतः' अथवा 'तस्येदम्' सूत्र द्वारा 'अण्' होकर 'वार्तम्' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

आधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७

ज्योतिषम्

'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र द्वारा 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' अर्थ में 'अण्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'ज्योतिषम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'अण्' तथा वृद्धि आदेश होकर 'ज्यौतिषम्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, सुभूति के मत रूप में, यह कि संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर वृद्धि नहीं हुई है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'ज्योतिष्' शब्द को अर्शादिगण में पठित मान कर 'ज्योतींषि नक्षत्राणि अस्य सन्ति गणनीयत्वेन' अर्थ में 'अर्शादिभ्योऽच्' (५।२।११७) सूत्र द्वारा 'अच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अर्शादिगण आकृतिगण है।[1]

वासवदत्ताख्यायिका

'वासवदत्ताख्यायिका' प्रयोग में यह विचारणीय है कि वासवदत्ता को अधिकृत करके आख्यायिका के लिखे जाने के कारण 'वासवदत्ता' शब्द से 'अण्' होना चाहिए था।

---

१. काशिका ५।२।१२७।

इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के नाम से, यह दिया गया है कि वासवदत्ता शब्द तथा वासवदत्ता की आख्यायिका में साहचर्यमूलक अभिन्नता मानते हुए वासवदत्ता आख्यायिका के लिए 'वासवदत्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] इसी को दूसरे शब्दों में 'ताच्छब्द्य' न्याय कहा गया है अर्थात् शब्द और अर्थ में अभिन्नता होती है।[2]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्'[3] वार्तिक द्वारा 'अण्' का 'लुक्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस वार्तिक के विषय में गणपति शास्त्री ने, भागवृत्ति के नाम से, यह कहा है कि इसकी रचना संभवतः 'ताच्छब्द्य' न्याय के आधार पर हुई है। अतः यह वार्तिक कोई अपूर्व वचन नहीं है।[4]

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४

काञ्चनीम्

'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' सूत्र वृद्धसंज्ञक तथा शरादि शब्दों से अभक्ष्य आदि अर्थों में नित्य 'मयट्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भट्टिकाव्य तथा मेघदूत के 'पुरीं द्रक्ष्यथ काञ्चनीम्'[5] तथा 'काञ्चनी वासयष्टि'[6] श्लोकांशों में 'काञ्चनी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'काञ्चन' शब्द के वृद्ध संज्ञक होने के कारण नित्य 'मयट्' होकर 'काञ्चनमयम्' प्रयोग बनना चाहिए था जैसाकि श्रीगोविन्द ने वालमीकि ग्रन्थ में किया है— 'तेनेदं कांचनमयं निर्मितं पुरमुत्तमम्।'

इस समस्या का समाधान 'क्वचिदपवादविषयेऽपि—' परिभाषा के द्वारा यह दिया गया है कि यहां पर अपवाद रूप 'मयट्' के विषय में उत्सर्ग रूप 'अञ्' हुआ है। इसी प्रसंग में शरणदेव ने मैत्रेय द्वारा 'जातरूपेभ्यः—' (४।३।-१५३) सूत्र की व्याख्या में उल्लिखित मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार 'अनुदात्तादेश्च—' (४।३।१४०) सूत्र द्वारा 'काञ्चनी' प्रयोग में 'अञ्' की प्राप्ति हो जाएगी। धातुवृत्तिकार ने 'काञ्चन' शब्द को रजतादिगण में पठित मान कर 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (४।३।१५४) सूत्र द्वारा 'अञ् प्रत्यय की प्राप्ति

---

१. भाषावृत्ति, ४।३।८७।
२. दुर्घटवृत्ति, पृ० ६१, पादटिप्पण १।
३. महाभाष्यम् ४।३।८७, वा० १।
४. दुर्घटवृत्ति पृ० ६१ पादटिप्पण १।
५. भट्टिकाव्य ७।६३।
६. मेघदूत, (उत्तरमेघ), ७८।

मानी है। इस सूत्र द्वारा विहित 'अञ्' प्रत्यय 'मयट्' का अपवाद है।[1] परन्तु यहां यह विचारणीय है कि रजतादिगण में न तो कांचन शब्द पढ़ा गया और न ही यह गण आकृतिगण है।

जगन्मया

दुर्गासप्तशती के 'जगतोऽस्य जगन्मया'[2] श्लोकांश के 'जगन्मया' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'मयट्' प्रत्यय के 'टित्' होने के कारण 'टिड्ढाण…' सूत्र से 'ङीप्' होकर 'जगन्मयी' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'जगन्मयते जानाति' अर्थ में 'मय्' धातु से पचादि 'अच्' करके 'जगन्मय' स्थिति बन जाएगी। उसके पश्चात् इस शब्द को अजादिगण में मान कर 'अजाद्यष्टाप्' (४।१।४) सूत्र द्वारा 'टाप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अजादिगण आकृतिगण है।

आप्यम्

'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि एकाच् शब्द से नित्य 'मयट्' होता है। इस दृष्टि से 'वाङ्मयम्' प्रयोग के समान एकाच् 'अप्' शब्द में 'मयट्' होना चाहिए। अतः अमरकोश के 'आप्यमम्मयम्'[3] वाक्य का 'आप्यम्' प्रयोग चिन्त्य है।

प्रथमतः इस प्रयोग को, व्याख्यानशील ग्रन्थ के नाम से, प्रमादपाठ कहा गया है परन्तु बाद में 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह समाधान दिया गया है कि 'तद्धित' (४।१।७६) सूत्र में बहुवचन निर्देश से यह ज्ञापित करता है कि 'मयट्' प्रत्यय अनित्य है।

सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में यह समाधान दिया गया है कि 'तस्येदम्' सूत्र द्वारा 'अण्' होकर स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है।[4] अमरकोश की टीका में इसकी सिद्धि इस प्रकार की गई है कि 'तस्य विकारः' (४।३।१३४) सूत्र द्वारा 'अपां विकारः' विग्रह के अनुसार 'अण्' हो जाएगा। उसके पश्चात् 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा स्वार्थ में 'ष्यञ्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।[5]

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ८६।
२. दुर्गासप्तशती, १।७७।
३. अमरकोश १।१०।५।
४. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग २)—४।३।१४४, पृ० ३८४।
५. अमरकोश, सुधा टीका, १।२०।५।

चतुर्थ अध्याय : चतुर्थ पाद

सोदराद्यः ४।४।१०९

सोदरः

'सोदराद्यः' सूत्र 'सोदर' शब्द से 'शयितः' अर्थ में 'य' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से भट्टिकाव्य तथा अनर्घराघव के 'सहोदरस्यातिमदोद्धतस्य' तथा 'अरन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति'[1] श्लोकांशों के 'सहोदरस्य' तथा 'सोदरः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'विभाषोदरे' (६।३।८८) सूत्र द्वारा 'यत्' प्रत्यय के परे होने पर विकल्प से समान को 'स' आदेश होकर 'सोदर्यः' प्रयोग बनना चाहिए। भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'सहोदरस्यातिमदोद्धतस्य' के स्थान पर 'सोदरस्याति' पाठ मिलता है।[2] पाठ जो भी हो, समस्या तो बनी ही रहती है।

इस समस्या के दो समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम, सोमनन्दी के मत रूप में, यह कि 'समानस्य च्छन्दसि' (६।३।८४) सूत्र का योगविभाग करके 'समानं उदरं यस्य' विग्रह के अनुसार पृथक् सूत्र 'समानस्य' से 'समान' पद को 'स' भाव होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। जयमंगला तथा अनर्घराघव की रुचिपतिकृत टीका में यही समाधान दिया गया है।[3]

शरणदेव ने दूसरा समाधान 'सह' शब्द को 'समान' का पर्यायवाची मान कर दिया है। अपने मत की पुष्टि में उसने 'सर्वे ते सह जायन्ते' कथन उद्धत किया है जिसमें 'सह' 'समान' का पर्यायवाची है। इस प्रकार 'सह समानमुदरं यस्य' विग्रह के अनुसार 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८२) सूत्र द्वारा विकल्प से 'समान' को 'स' भाव होकर 'सोदरः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा में भी यही समाधान दिया गया है।[4]

---

१. अनर्घराघव, १।४।

२. भट्टिकाव्य, १२।२।

३. (क) —जयमंगला, भट्टिकाव्य, १०।२।
   (ख) अनर्घराघव, १।४।

४. तत्त्वबोधिनी (भाग २) ४।४।१०९, पृ० ४१२।

पञ्चम अध्याय : प्रथम पाद

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ५।१।९

पञ्चमनीयः

'आत्मन्विश्वजन……' सूत्र 'आत्मन्' आदि शब्दों से 'तस्मै हितम्' का विषय होने पर 'ख' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'विश्वजनीयः' प्रयोग विचारणीय है। इसी सूत्र पर 'खविधाने पञ्चजनादुपसंख्यानम्'[1] वार्तिक पढ़ी गई है जिसके अनुसार 'पञ्चजन' शब्द से 'ख' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस वार्तिक की दृष्टि से 'विश्वजनीय' प्रयोग में 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति विचारणीय है।

महाभाष्य, काशिका, भाषावृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी तथा दुर्घटवृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या करते समय यह समाधान दिया गया है कि 'विश्वजन' आदि शब्दों से 'ख' प्रत्यय का विधान 'कर्मधारयादिष्यते'[2] वार्तिक द्वारा कर्मधारय तत्पुरुष के प्रयोगों में ही किया गया है। परन्तु षष्ठी तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि की विवक्षा होने पर तो 'प्राक्क्रीतात्छः' (५।१।१) सूत्र से 'छ' प्रत्यय ही होता है। इस प्रकार 'विश्वस्य जनो विश्वजनः', 'विश्वस्य जनो यस्येति बहुव्रीहि वा' तथा 'पञ्चानां जनाय हितम्' इन विग्रह वाक्यों के अनुसार 'छ' प्रत्यय होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[3]

सार्वजनीनः

'आत्मन्विश्वजन…' सूत्र पर 'सर्वजनाट्ठञ्च' वार्तिक पढ़ी गई है जिसके अनुसार 'सर्वजन' शब्द से 'ठञ्' तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार 'सार्वजनिकः' तथा 'सर्वजनीनः' प्रयोग बनते हैं। इस दृष्टि से 'सार्वजनीनः' प्रयोग विचारणीय है।

भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति तथा तत्त्वबोधिनी टीका में इस समस्या का यह

---

१. महाभाष्य, ५।१।९।

२. काशिका में यह वार्तिक 'कर्मधारयादिष्यते' इस रूप में, सिद्धान्तकौमुदी में 'कर्मधारयादेवेष्यते' इस रूप में तथा दुर्घटवृत्ति में 'कर्मधारयादेवेदम्' इस रूप में उल्लिखित है।

३. काशिका, ५।१।९।

समाधान दिया गया है कि साधु अर्थ में 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' (४।४।९९) सूत्र से 'खञ्' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1]

दुर्घटवृत्तिकार ने बाद में इस प्रयोग को असाधु भी ठहराया है।

विनाशकालीनः

'विनाशकालीनः' प्रयोग में 'ख' प्रत्यय की स्थिति इसलिए विचारणीय है कि किसी भी अन्य सूत्र द्वारा इस शब्द से 'ख' प्रत्यय का विधान नहीं किया गया।

इस प्रयोग को इस प्रकार से सिद्ध किया गया है कि 'खः सर्वधुरात्' (४।४।७८) सूत्र का योगविभाग करके 'खः' सूत्र द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी। काशिका में इस सूत्र का योगविभाग इष्टसंग्रहार्थ माना गया है।

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५

पुत्रं मित्रवदाचरेत्

यदि क्रिया तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट व्यक्ति के समान होती है तो 'तेन तुल्यं···' सूत्र तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय का विधान करता है। जैसे 'ब्राह्मणेन तुल्यम् अधीते ब्राह्मणवद् अधीते' प्रयोग। इस प्रयोग का अर्थ है—ब्राह्मण के अध्ययन के समान क्षत्रिय का अध्ययन। इस दृष्टि से 'पुत्रं मित्रवदाचरेत्' वाक्य में 'वति' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर क्रिया की तुल्यता नहीं है। यहां पर तो पिता और मित्र रूप जो द्रव्य हैं, उनमें समानता है।

भाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति में समाधान के रूप में यह कहा गया है कि यहां पर यह अर्थ अभिप्रेत है—मित्र है कर्म जिसमें ऐसे आचरण रूप क्रिया के समान पुत्र के साथ आचरण करे। इसलिए यहां पर आचरण क्रिया में समानता है और समानता के कारण 'पुत्र' शब्द से 'वति' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।[2]

पितृवत् स्थूलः पुत्रः

'तेन तुल्यं···' सूत्र में 'क्रिया' पद का ग्रहण इसलिए किया गया है कि गुण तथा द्रव्य में तुल्यता होने पर प्रत्यय की प्राप्ति न हो। इस दृष्टि से न्यास में 'स्थानिवत्···' सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त 'पितृवत् स्थूलः पुत्रः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर स्थूल रूप गुण की तुल्यता है।

---

१. (क) भाषावृत्ति, ४।४।४९। (ख) तत्त्वबोधिनी (भाग २), ५।१।९, पृ० ९३।

२. भाषावृत्ति, ५।१। ११५।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'स्थूल' शब्द धर्मप्रधान है। अतः स्थूलता वृत्ति से युक्त है। 'पुत्र' शब्द प्रथमान्त न होकर सप्तम्यन्त है। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा— पिता में जो स्थूलता है, वह पुत्र में है। यह अर्थ होने पर 'तत्र तस्यैव' (५।१।११६) सूत्र से 'वति' प्रत्यय हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'स्थूल' शब्द विशेषण रूप से हेतु का निर्देश है। 'इस प्रकार यहां पर हेतु अर्थ मानने पर स्थूलता के कारण पिता की जो गमन आदि क्रिया है' उससे समानता होने पर 'तेन तुल्यं···' सूत्र से ही प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।

ज्ञापकसमुच्चय में यह कहा गया है कि 'स्थानिवत्···' 'सूत्र में निर्दिष्ट 'स्थानिवत्' पद से यह ज्ञापित होता है कि लिङ्ग तथा द्रव्य की तुल्यता में भी 'वति' प्रत्यय होता है।[1]

तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९

स्त्रीत्वम्

'तस्य भाव···' सूत्र द्वारा भाव अर्थ में 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का विधान किए जाने के कारण 'स्त्रीत्वम्' और 'पुंस्त्वम्' प्रयोगों में 'त्व' प्रत्यय का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'स्त्रीपुंसाभ्याम्···' (४।४।८७) सूत्र द्वारा विशेष विधान किए जाने के कारण सामान्य रूप से विहित 'त्व' और 'तल्' का बोध हो जाता है।

महाभाष्य, काशिका, न्यास पदमञ्जरी, दुर्घटवृत्ति आदि में इसी सूत्र की व्याख्या में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उत्तरवर्ती सूत्र 'आ च त्वाद्' (५।१।१२०) में 'चकार' के ग्रहण द्वारा 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय भी हो सकेंगे।[2]

सुरता

दुर्गासप्तशती के 'यस्याः समस्त सुरतासमुदीरणेन'[3] श्लोकांश में 'सुरता' पद विचारणीय है। इस श्लोकांश का अर्थ है—जिसका समस्त देवत्व उच्चारण से (सभी यज्ञों में तृप्ति प्राप्त करता है)। यहां पर 'सुरता' पद भाववाचक है। उसका उच्चारण से सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः भाव के उच्चारण के

१. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ५८

२. महाभाष्य, १।१।११९, पृ० ८१-८२।

३. दुर्गासप्तशती, ४।८।

के योग्य न होने के कारण 'सुर' शब्द से 'तल्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए था। यह कहना भी उचित नहीं है कि यहां पर प्रत्यय की प्राप्ति समूह अर्थ में हुई है, क्योंकि सूत्र केवल भाव अर्थ में ही प्रत्यय का विधान करता है।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि धर्म सुरत्व अथवा सुरता और धर्मी सुर इन दोनों में अभेद मानते हुए यहां पर केवल धर्मी रूप सुर अर्थ मानना अभीष्ट होगा। इस रूप में प्रत्यय का प्रयोग साधु सिद्ध हो जाएगा।

यों श्लोक को देखने से पता लगता है कि 'सुरता' पद का सम्बन्ध 'समुदीरणेन' से नहीं है अपितु वह श्लोक की क्रिया 'प्रयाति' का कर्ता है। 'समुदीरणेन' का सम्बन्ध 'यस्याः' पद के साथ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है अर्थात् 'यस्याः समुदीरणेन' का यह अर्थ 'जिस देवी के नाम के उच्चारण से समस्त सुरत्व यज्ञों में तृप्ति को प्राप्त करता है,' मानने पर पूर्वपक्ष उपस्थित ही नहीं होगा।

अस्तित्वम्

'अस्तित्वम्' तथा 'ममत्वम्' शब्दों में 'त्व' प्रत्यय का प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'तस्य भाव—' सूत्र में केवल प्रातिपदिक शब्दों का अधिकार है, निपातों का नहीं। 'अस्ति' और 'मम' शब्द निपात हैं, अतः उनसे प्रत्यय नहीं होना चाहिए।

इस प्रश्न उत्तर यह दिया गया है कि ये दोनों निपात विभक्ति-प्रतिरूपक निपात हैं। अतः इनसे प्रत्यय हो जाएगा। वाचस्पत्यम् में कहा गया है कि षष्ठ्यर्थ से युक्त 'अस्मद्' शब्द के अर्थ में 'त्व' प्रत्यय होकर 'ममत्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1]

नानात्वम्

'नानात्वम्', 'अन्यथात्वम्' आदि प्रयोगों की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'नाना' आदि शब्दों के अव्यय होने के कारण तथा 'चादयोऽसत्त्वे' (१।४।५७) सूत्र के अनुसार सत्त्ववाची न होने से उनका षष्ठी से सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः षष्ठी के साथ सम्बन्ध के अभाव में 'तस्य भाव—' सूत्र द्वारा षष्ठी के सामर्थ्य से प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण इन शब्दों से प्रत्यय की प्राप्ति विचारणीय है।

न्यास तथा दुर्घटवृत्ति में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि

---

१. वाचस्पत्यम्।

यहां पर 'नाना' आदि शब्दों से नानाभूत आदि अर्थ का ग्रहण अभिप्रेत है। नानाभूत अर्थ होने पर इसके द्रव्यवाची होने के कारण 'त्व' प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।[1]

प्रेम:

अमरकोश के 'प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्'[2] वाक्य का 'प्रेम' शब्द इसलिए विचारणीय है कि 'प्रियस्य भाव:' इस अर्थ में 'प्रिय' शब्द से 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) सूत्र द्वारा 'इमनिच्' प्रत्यय होने उपरांत 'प्रिय-स्थिर···' (६।४।१५७) सूत्र से 'प्रिय' को 'प्र' आदेश होकर 'प्रेमा' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'प्री' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।७५) सूत्र द्वारा 'मनिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अमरकोश में यह कारिका 'द्वयच्कमसिसुसन्नंत यदनान्तमकर्तरि'[3] मिलती है जिसके अनुसार 'अस्, इन्, उस् और अन्' प्रत्ययान्त शब्दों से नपुंसकलिंग का विधान किया गया है। इस प्रकार यहां पर 'प्रेम' शब्द से नपुंसकलिंग सिद्ध हो जाएगा। जब 'इमनिच्' प्रत्यय होगा तो उस स्थिति में पुल्लिग होकर 'प्रेमा' प्रयोग ही बनेगा।

पूर्णिमा

अमरकोश के 'पौर्णमासी तु पूर्णिमा'[4] वाक्य के 'पूर्णिमा' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'पूर्णिमा' शब्द के द्रव्यवाची होने के कारण यहां पर 'इमनिच्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए था।

इस कठिनाई का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'पॄ' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय कर लिया जाएगा। उसके पश्चात् 'तेन निवृतम्' अर्थ में 'त्रेमब् नित्यम्' (४।४।२०) सूत्र पर पठित 'भावप्रत्ययान्तादिमब्वक्तव्य': वार्तिक द्वारा 'इमप्' प्रत्यय करके तथा 'टाप्' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अमरकोश की टीका में 'पूर्णिमा' शब्द को 'पॄ' धातु से सिद्ध न करके 'पूरी आप्यायने' धातु से उपरिलिखित प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया गया है।[5]

---

१. न्यास, (भाग २), १।१।११६, पृ० ४८।
२. अमरकोश, १।७।२७।
३. उपरिबत्, ३।५।२४।
४. अमरकोश, १।४।७।
५. अमरकोश सुधा टीका, १।४।७।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४

वैरम्

'गुणवचन—' सूत्र गुणवाचक तथा ब्राह्मण आदि शब्दों से कर्म तथा भाव के अभिधेय होने पर 'ष्यञ्' प्रत्यय करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'वैरम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'वीरस्य भाव कर्म वा' विग्रह के अनुसार 'वीर' शब्द के गुणवाचक होने के करण 'ष्यञ' प्रत्यय होना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'द्वन्द्वात् वुन् वैरमैथुनिकयो :' (४। ३। १२५) सूत्र में निपातित 'वैर' शब्द से ज्ञापित होता है कि 'वैर' शब्द भी साधु है। कोशों में वैरम्' शब्द मिलता है जिसकी सिद्धि 'अण्' प्रत्यय द्वारा की गई है।[1]

चापलः

इसी प्रकार की कठिनाई शिशुपालवध के 'सहजचापलदोषसमुद्धतः'[2] श्लोकांश के 'चापलः' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि 'चपल' शब्द भी गुणवाचक है। अतएव उससे 'ष्यञ्' ही होना चाहिए। स्वयं माघ ने अष्टम सर्ग में 'चापल्य' शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया है—'चापल्यादथ पयसस्तरङ्गहस्तैः'।[3]

यहां शरणदेव का यह कहना है कि 'चपल' शब्द को शिवादिगण में पठित मान कर 'शिवादिभ्योऽण्' (४।१।११२) सूत्र से 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। परन्तु यह समाधान उचित नहीं, क्योंकि 'शिवादिभ्योऽण्' सूत्र अपत्यार्थ में प्रत्यय का विधान करता है। 'चपल' शब्द युवादिगण में पढ़ा गया है। 'हायनान्तयुवा···'(५।१।१३०) सूत्र भाव तथा कर्म अर्थ में 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार 'चपल' शब्द से भाव अर्थ में 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। शब्दकल्पद्रुम में भी इस प्रयोग को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है।[4] भट्टोजि दीक्षित के अनुसार कुशल, चपल आदि शब्द युवादिगण में पढ़े गए हैं। इस प्रकार 'चापलः' तथा 'चापल्यः' दोनों प्रयोग बनेंगे।[5]

---

१. 'वीरस्य भावः अण्'।—वाचस्पत्यम्।

२. शिशुपालवध, २।११७।

३. उपरिजत् ८।२२।

४. 'चपलस्य भावः कर्म वा युवादित्वादण्'।—शब्दकल्पद्रुम।

५. सिद्धान्त कौमुदी, (भाग २) ४।१।१३०, ४६१।

सख्युर्यः ५।२।१२६

दौत्येन

'दूतवणिग्भ्यां चेति वक्तव्यम्' (दूत तथा वणिक् शब्दों से भाव तथा कर्म में 'य' प्रत्यय होता है) वार्तिक की दृष्टि से दुर्गासप्तशती तथा अमरकोश के 'ततो नियुक्तो दौत्येन'[1] तथा 'वाणिज्यं चेति वृत्तयः'[2] वाक्यों में क्रमशः प्रयुक्त 'दौत्येन' तथा 'वाणिज्यम्' पद विचारणीय हैं, क्योंकि उपर्युक्त वार्तिक द्वारा 'य' प्रत्यय होकर 'दूत्यम्' तथा 'वणिज्यम्' प्रयोग बनने चाहिए थे। इसी प्रसंग में शरणदेव ने यह बताया है कि संदेशवाहक को दूत कहा जाता है तथा भाव और कर्म में 'दूत्यम्' बनाता है।

इस समस्या का समाधान सिद्धान्तकौमुदी, काशिका, भाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति में इसी सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि इन शब्दों को ब्राह्मणादिगण में पठित मान कर 'गुणवचन—' (५।१।१२४) सूत्र द्वारा 'ष्यञ्' होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[3]

इसी प्रंसग में दुर्घटवृत्तिकार ने भाषावृत्तिकार का वह मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'दूत' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय करके 'दौत्यम्' प्रयोग भी साधु माना गया है।[4] सिद्धान्तकौमुदी में 'ब्राह्मणादित्वाद्वाणिज्यमपि' (५।१।१२६) वचन मिलता है, जिसके 'अपि' शब्द के द्वारा बालमनोरमा टीकाकार ने 'दौत्यम्' पद का संग्रह माना है।[5]

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१

काव्यम्

'इगन्ताच्च—' सूत्र द्वारा भाव तथा कर्म में इगन्त तथा लघुपूर्व पदों से 'अण्' प्रत्यय का विधान किए जाने कारण 'कवेः कर्म काव्यम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कवि' शब्द के इगन्त तथा लघुपूर्व होने के कारण 'अण्' प्रत्यय होकर 'कावम्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस कठिनाई का निराकरण तीन प्रकार से किया गया है। प्रथम यह कि 'कवि' शब्द को ब्राह्मणादिगण में पठित मान कर 'ष्यञ्' प्रत्यय सिद्ध हो जाएगा।

---

१. दुर्गासप्तशती, ८।२८।
२. अमरकोश, २।६।२।
३. सिद्धान्तकौमुदी, भाग २, पृ० ४५६।
४. भाषावृत्ति, ५।१।१२६।
५. बालमनोरमा, ५।१।१२६, (भाग २) पृ० ४५६।

यह गण आकृतिगण है। यही समाधान काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, भाषावृत्ति में इसी सूत्र की व्याख्या में तथा धातुवृत्ति में दिया गया है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यह शब्द 'कवृत्रर्णे' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय होकर बना है। परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार से सिद्ध नहीं किया गया है।

तृतीय समाधान यह मान कर दिया गया है कि यह शब्द 'कु शब्दे' धातु से 'मनोहरत्वादवश्यं कूयते' इस अर्थ के अनुसार 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) सूत्र द्वारा 'ण्यत्' होकर निष्पन्न हुआ है। तत्वबोधिनी में भी इस शब्द को इसी प्रकार सिद्ध किया गया है।[2]

योपधात् गुरूपोत्तमाद्वुञ् ५।१।१३२

साहाय्यम्

जिसकी उपधा में यकार हो तथा उसके समीप गुरुवर्ण हो, ऐसे शब्द से भाव और कर्म में 'योपधात्—' सूत्र 'वुञ्' प्रत्यय का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'साहाय्यम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'सहाय' शब्द की उपधा में 'यकार' है तथा उसके समीप 'आ' रूप गुरु वर्ण है। अतः नित्य 'वुञ्' होकर 'साहायकम्' प्रयोग बनना चाहिए। शिशुपालवध के 'साहायकं व्यग्रभुजं प्रससे'[3] श्लोकांश में 'साहायकम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

काशिका में 'योपधात्—' सूत्र की वृत्ति में 'सहायाद्वेति वक्तव्यम्' वार्तिक मिलती है। सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, तत्वबोधिनी आदि के लेखक इस वार्तिक को स्वीकार करते हैं[4] परन्तु महाभाष्य में यह वार्तिक नहीं मिलती। बालमनोरमा में कहा गया है कि 'वुञ्' प्रत्यय का विकल्प से विधान किए जाने के कारण 'सहाय' शब्द को ब्राह्मणादिगण में मान कर पक्ष में 'ष्यञ्' प्रत्यय के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[5] परन्तु भागवृत्तिकार को यह मत मान्य नहीं। इसका उल्लेख इसी सूत्र के प्रसंग में भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति तथा हरिनामामृतम् में किया गया है।[6]

---

१. काशिका, ५।१।१३१।

२. तत्वबोधिनी (भाग २), ५।१।१३१, पृ० ४६१।

३. शिशुपालवध, ३।२५।

४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १) ५।१।१३१, पृ० ४६१।

५. बालमनोरमा (भाग २) ५।१।१३२, पृ० ४६१।

६. 'सहाय्यमिति जयादित्यः, नेति भागवृत्तिः।" (हरिनामामृतम् सूत्र २९०६ ॥) — भागवृत्तिसंकलन, ५।१।१३२।

शरणदेव ने भी उपर्युक्त मतों को दृष्टिपथ में रखते हुए यही कहा कि जयादित्य के अनुसार 'साहाय्यम्' प्रयोग भी बनेगा परन्तु भागवृत्तिकार के अनुसार यह प्रयोग असाधु है । कोशों में दोनों प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५।१।१३३

गुरुलाघवम्

'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा द्वन्द्वसंज्ञक तथा मनोज्ञा आदि शब्दों से भाव तथा कर्म में 'वुञ्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण द्वन्द्व समास के 'गुरुलाघवम्' प्रयोग में 'वुञ्' प्रत्यय का अभाव विचारणीय है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि महाभाष्यकार ने पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचिन्ता नास्ति'[1] परिभाषा पढ़ी है । उनको प्रमाण मानते हुए पूर्वविप्रतिषेध द्वारा 'इगन्ताच्च' (५।१।१३१) सूत्र द्वारा 'अण्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

इस समाधान में पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर 'लघु' के अकार को वृद्धि न होकर 'गुरु' के 'उकार' को वृद्धि होनी चाहिए थी ।

इस दोष का निवारण दो प्रकार से किया गया है । प्रथम यह कि स्वयं महाभाष्यकार ने 'लघु' के अकार की वृद्धि स्वीकार की है, अतः यह साधु ही है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि धर्मवाची 'गुरु' शब्द का 'लाघव' शब्द से समास किया जाए । ऐसा करने पर उपर्युक्त कठिनाई उपस्थित ही नहीं होगी ।

१. परिभाषेन्दुशेखर में यह परिभाषा 'पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते' इस रूप में मिलती है ।—परिभाषा संख्या ११४ ।

पञ्चम अध्याय : द्वितीय पाद

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६

शिखी

'प्राण्यङ्गादिति वक्तव्यः'[1] (प्राणियों के अंग वाचक शब्दों से 'लच्' प्रत्यय होता है) वार्तिक की दृष्टि से 'शिखी' शब्द इसलिए विचारणीय है कि 'शिखा' शब्द के प्राणी का अंगवाचक होने कारण इससे 'लच्' प्रत्यय होना चाहिए था।

काशिका, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, तत्वबोधिनी, अमरकोश की टीका तथा कोशों में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'शिखा' शब्द के व्रीह्यादिगण में पठित होने के कारण इससे 'इनि' प्रत्यय ही होता है[2] तथा पक्ष में 'मतुप्' होकर 'शिखावान्' प्रयोग भी निष्पन्न होता है।

सिध्मादिभ्यश्च ५।२।९७

कुष्ठी

'सिध्यादिभ्यश्च' सूत्र पर 'क्षुद्रजन्तूपतापयोश्चेष्यते' वार्तिक पढ़ी गई है जिसका अर्थ है—क्षुद्र जन्तु तथा 'उपताप' वाचक शब्दों से 'लच्' प्रत्यय होता है। 'उपताप' का अर्थ है— रोग[3]। इस वार्तिक के अनुसार 'कुष्ठी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कुष्ठ' शब्द के रोगवाची होने के कारण उससे 'लच्' होकर 'कुष्ठलः' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि दीर्घान्त शब्दों से ही 'लच्' प्रत्यय अभीष्ट है। काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में इस वार्तिक के जितने भी उदाहरण दिए गए हैं वे सब दीर्घान्त शब्दों से ही हैं। जैसे—विचर्चिकालः,[4] यूकालः आदि। ह्रस्वान्त शब्दों से तो 'द्वन्द्वोताप'—सूत्र द्वारा इनि प्रत्यय ही होता है। अतः ह्रस्वान्त 'कुष्ठि' शब्द से 'इनि' होकर 'कुष्ठिन्' शब्द सिद्ध हो जाएगा।

---

१. काशिका, ५।२।९६।

२. उपरिवत्, ५।२।११६।

३. काशिका, ५।२।९७।

४. उपरिवत्।

रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच् ५।२।११२

परिषद्वलान्

'परि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से 'सत्सूद्विष'— (३।२।६१) सूत्र द्वारा 'क्विप्' तथा 'सदिरप्रतेः' (८।३।६६) सूत्र से षत्व आदेश होकर 'परिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। उसके पश्चात् मत्वर्थ में 'रजःकृष्या—' सूत्र द्वारा विहित 'वलच्' प्रत्यय के संयोजन से 'परिषद्वलः' शब्द बनता है। इस शब्द का प्रयोग अश्वघोष तथा भट्टि की रचनाओं में क्रमशः इस प्रकार मिलता है— 'या सम्प्रति परिषद्वलानाम्' तथा 'परिषद्वलान् महाब्राह्मैः।'[1] लेकिन भट्टिकाव्य में एतद्विषयक स्थल छंद की दृष्टि से दोषपूर्ण है। अनुष्टुप् छंद में लिखे गए इस श्लोक के तृतीय चरण में, जहां इस शब्द का प्रयोग किया है, नौ अक्षर हैं, जबकि अनुष्टुप् छंद के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान भागवृत्ति के मत रूप में यह दिया गया है कि एक पाद में नौ अक्षर होने से अनुष्टुप् का अवान्तर भेद हो जाता है। अतः अवान्तर भेद हो जाने के कारण यह प्रयोग साधु माना जाएगा। अपने मत की पुष्टि में भागवृत्तिकार ने 'प्रधाने कर्मण्यभिहिते लादीनाहु—र्द्विकर्मणाम्'[2] श्लोक उद्धृत किया है, जिसके प्रथम पाद में नौ अक्षर हैं। इसी प्रकार उसके द्वारा उद्धृत 'तस्मै तिलोदकं दधद्यादपुत्राय भीष्मवर्मणे' श्लोक के द्वितीय चरण में नौ अक्षर हैं।

दूसरा समाधान भाषावृत्ति के मत रूप में यह दिया गया है कि 'परिषद्' शब्द को पृषोदरादिगण में पठित मान कर तथा 'परिषद्' के 'इकार' का लोप करके 'एकदेशविकृत—'[3] परिभाषा के अनुसार 'पर्षत्' शब्द से 'वलच्' प्रत्यय करके 'पर्षत्वल' शब्द बन जाएगा।[4] इसी प्रकार दुर्घटवृत्तिकार ने 'पर्षत्' शब्द की सिद्धि एक अन्य प्रकार से की है जो तत्वबोधिनीकार द्वारा भी सम्मत है।[5] 'पृषुस्नेहने' धातु से 'ऋदृभसोऽदि' उणादिसूत्र द्वारा 'अत्' प्रत्यय करके 'पर्षत्' शब्द बन जाएगा। इस प्रकार भट्टि के प्रयोग में 'परिषद्' के स्थान पर 'पर्षत्' पाठभेद मान कर छन्दोभंग का दोष उपस्थित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में ध्यातव्य यह है कि कुछ विद्वान् 'परिषद्' शब्द को सम्मत मानते हैं तथा

---

१. भट्टिकाव्य, ४।१२।

२. महाभाष्य, १।४।५१।

३. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ३७।

४. भाषावृत्ति, ५।२।११२।

५. तत्वबोधिनी, (भाग २), ५।२।११२, पृ० १।

कुछ 'पर्षत्' शब्द को। तत्वबोधिनी में महाभाष्य के दो वचन उद्धृत किए गए हैं जिनमें 'पर्षत्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] शब्दकोशों में दोनों ही शब्द पाए जाते हैं तथा भट्टिकाव्य के दोनों ही पाठ दिए गए हैं। लेकिन इस दोनों समाधानों में द्वितीय समाधान ही उचित जान पड़ता है। भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'पर्षत्वलान्' पाठ ही मिलता है।

रजोयुक्ताभूः

'रजोयुक्ता भूः' प्रयोग में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'रजस्' शब्द से नित्य 'वलच्' होकर 'रजस्वला' प्रयोग ही बनना चाहिए।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'रजःकृष्या—' सूत्र में 'तदस्या—' (५।२।९४) सूत्र से 'इतिकरण' की अनुवृत्ति आ रही है। 'इतिकरण' विषय के नियम के लिए किया गया है।[2] अतः इस प्रयोग में 'वलच्' प्रत्यय की विवक्षा न होने के कारण 'वलच्' नहीं होगा।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्वन्नूजस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः ५।२।११४

ज्योतिष्मती

'ज्योत्स्नातमिस्रा—' सूत्र द्वारा संज्ञा के विषय में मत्वर्थ होने पर 'ज्योत्स्ना' आदि शब्दों का निपातन किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'मतुप्' अर्थ में प्रयुक्त ज्योतिष्मती' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि उपर्युक्त सूत्र द्वारा 'ज्योत्स्ना' शब्द के निपातित होने के कारण नित्य 'ज्योत्स्ना' शब्द ही बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (५।२।१०९) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः पक्ष में ज्योतिरस्त्यस्याः इस विग्रह के अनुसार 'तदस्या···' सूत्र द्वारा 'मतुप्', होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

अत इनिठनौ ५।२।११५

हलन्ताद्

'अत इनिठनौ' सूत्र द्वारा अकारान्त शब्दों से 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्ययों का विधान किया गया है। यहां शरणदेव ने यह प्रश्न उठाया है कि हलन्त शब्दों से इन दोनों प्रत्ययों का विधान किस सूत्र से हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि हलन्त शब्दों को व्रीह्यादिगण में

---

१. तत्वबोधिनी, (भाग २) ५।२।११२, पृ० ५०१।
२. काशिका, ५।२।९५।

पठित मान कर 'व्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा इन दोनों प्रत्ययों की प्राप्ति हो जाएगी। यहां यह स्पष्ट नहीं होता कि दुर्घटवृत्तिकार का संकेत किन शब्दों की ओर है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि हलन्त शब्दों से इन दोनों प्रत्ययों का संयोजन बहुत ही कम प्रयोगों में दिखाई देता है। यों इस गण में दो शब्द ऐसे अवश्य मिलते हैं जो हलन्त हैं, जैसे कर्मन् और चर्मन्। लेकिन व्रीह्यादिगण को पठित गण माना गया है। इसलिए इनसे इतर शब्दों का इस गण में अन्तर्भाव मानना अपाणिनीय होगा।

सर्पिणी

'एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ'[1] (एकक्षर, कृत, जातिवाचक तथा सप्तम्यन्त से प्रत्यय नहीं होते) श्लोकवार्तिक की दृष्टि से 'सर्पिणी' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि सर्पिणी के जातिवाचक होने के कारण 'सर्प' शब्द से 'इनि' प्रत्यय नहीं होना चाहिए था।

इस प्रयोग को दो प्रकार से सिद्ध किया गया है। प्रथम प्रक्रिया यह दी गई है कि 'सर्पण सर्पः' जिसके अनुसार 'सर्प' शब्द से 'इनि' प्रत्यय करके यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यहां पर 'ङीप्' की प्राप्ति 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) सूत्र द्वारा होगी। दूसरे प्रकार के इस प्रयोग को इस प्रकार से सिद्ध किया गया है कि 'सृप्' धातु से 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) सूत्र द्वारा 'णिनि' प्रत्यय करके 'सर्पिन्' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'जातेरविषयत्वाद···' (४।१।६३) सूत्र द्वारा 'ङीष्' होकर 'सर्पिणी' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। वाचस्पत्यम् में भी 'णिनि' के संयोजन से इस शब्द को सिद्ध किया गया है।[2]

पठिपठी

'अत इनिठनौ' सूत्र में 'तदस्या···' सूत्र से 'इति' की अनुवृत्ति आ रही है। दुर्घटवृत्तिकार ने यहां यह कहा है कि 'एकाक्षरात् कृतौ···' वार्तिक द्वारा जो कुछ कहा गया है वह 'इतिकरण' की अनुवृत्ति से 'अत इनिठनौ' सूत्र द्वारा साध्य है। 'इतिकरण' का तात्पर्य यह है कि विषय के अनुसार प्रत्ययों का नियम कर लिया जाए अर्थात् यदि प्रत्यय की विवक्षा हो तो प्रत्यय कर लिया जाए अथवा स्वतः उसका प्रतिषेध हो जाए। इसीलिए भाषा में प्रयोग दर्शन के कारण कुछ प्रयोगों में 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्यय दृष्टिगत होते हैं। जैसे 'पठिपठी' प्रयोग। 'पठनं पठः' इस अर्थ के अनुसार 'पठ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके 'पठ' शब्द बन जाएगा। वृद्धि का अभाव 'संज्ञापूर्वक विधेरनित्यत्वम्' इस परिभाषा

---

१. महाभाष्य, ५।२।११५।

२. 'सृप-णिनि ङीप्'।—वाचस्पत्यम्।

के आश्रयण से हो जाएगा। उसके पश्चात् 'पठ' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'पठिन्' बन जाने के पश्चात् 'नित्यं वीप्सयो:' (८।१।४) सूत्र से द्वित्व होकर 'पठिपठी' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

शरणदेव ने इस प्रयोग को अन्य प्रकार से भी सिद्ध किया है। 'पठ्' धातु से 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' सूत्र द्वारा 'णिनि' प्रत्यय होकर तथा 'संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्' परिभाषा द्वारा वृद्धि के अभाव में 'पठिन्' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'आभीक्ष्ण्ये दे भवत:'[1] वार्तिक द्वारा द्वित्व होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। 'पठी' शब्द का अर्थ है···अभ्यासशील।

इसी प्रसंग में शरणदेव ने उज्ज्वल का मत उद्धृत किया है। उज्ज्वल ने उणादिवृत्ति में 'पठि' शब्द को 'इक् कृष्यादिभ्य:'[2] वार्तिक द्वारा विहित 'इक्' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध किया है। वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में 'सर्वधातुभ्य इन्' (४।११६) इस उणादिसूत्र सूत्र द्वारा विहित 'इन्' प्रत्यय के द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया गया है।[3]

श्रावीप्रत्यय:

'प्रभावे द्वयसज्द···' (५।२।३७) सूत्र द्वारा प्रमाण अर्थ में 'मात्रन्' प्रत्यय का विधान किया गया है। इसी सूत्र पर 'प्रमाणे ल:' यह वचन पढ़ा गया है जिसके अनुसार प्रमाण अर्थ में विहित 'मात्रच्' प्रत्यय के 'लुक्' का विधान किया गया है। इसी प्रसंग में 'द्विगोर्नित्यम्' वार्तिक भी मिलती है जिसके द्वारा द्विगु संज्ञक प्रयोगों में प्रत्यय के नित्य 'लुक्' का विधान किया गया है। परन्तु 'प्रमाण परिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रच्वक्तव्य:'[5] वार्तिक के अनुसार 'मात्रच्' प्रत्यय होकर उसका श्रवण होता है अर्थात् उपर्युक्त वार्तिक द्वारा उसका 'लुक्' नहीं होता। इस श्रूयमाणता की दृष्टि से काशिकाकार ने 'मात्रच्' प्रत्यय को 'श्रावी' प्रत्यय कहा है।[6]

शरणदेव ने इस 'श्रावी' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की है—'श्रवणं श्राव:' अर्थ में 'श्रु' धातु से 'बहुल' वचन द्वारा 'घञ्' होकर 'श्राव' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् अकारान्त 'श्राव' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'श्रावी' शब्द बन जाएगा। अथवा 'श्रावयतीतिश्राव:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आवश्यका'

---

१. महाभाष्य, ८।१।१२, वा० ७।

२. उपरिवत्।

३. 'पठ+सर्वधातुभ्य इन्' उणा० ४।११७। इति इन्।'—शब्दकल्पद्रुम।

४. महाभाष्य, ५।२।३७।

५. उपरिवत्।

६. काशिका, ५।२।३७।

(३।३।१७०) सूत्र द्वारा 'श्र' से 'णिनि' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि उच्चार्थमाण शब्द सब को सुनाई देता है।

गुर्विणी

'गुर्विणी' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'गुरु' शब्द के अकारान्त न होने के कारण उससे 'इनि' प्रत्यय कैसे हो गया ?

इस शब्द की सिद्धि दो प्रकार से की गई है। प्रथम यह कि 'गुरुत्त्वमिन्वतीति गुर्विणी' व्युत्पत्ति के अनुसार 'इव व्याप्तौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके तथा वकार का लोप होकर 'ऋन्नेभ्योङीप्' (४।१।४) सूत्र द्वारा विहित 'ङीप्' के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दूसरी प्रक्रिया इस प्रकार दी गई है कि 'गुरुरुदरे अस्या अस्ति' अर्थ के अनुसार 'गुरु' शब्द को व्रीह्यादिगण में पठित मान कर 'व्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा 'इनि' प्रत्यय करके यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। कोशों में दूसरी प्रक्रिया द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया गया है।[1]

व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६

मालिकः

'व्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र पर 'शिखादिभ्यइनिर्वाच्य इकनयवरवदादिषु[2] यह कथन मिलता है जिसके अनुसार 'शिखा' आदि शब्दों से कवल इनि प्रत्यय का विधान किया गया है। इस वचन की दृष्टि से 'मालिकः' प्रयोग में 'ठन्' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'माला' शब्द के शिखादिगण में पढ़े जाने के कारण उससे 'इनि' प्रत्यय ही होना चाहिए था।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'माला पण्यमस्य' इस विग्रह के अनुसार 'तदस्य पण्यम्' (४।४।५१) सूत्र द्वारा 'ठक्' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। अमरकोश की टीका तथा वाचस्पत्यम् के अनुसार 'माला शिल्पमस्याः' अर्थ के अनुसार 'शिल्पम्' सूत्र द्वारा 'ठन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जायेगा।[3]

तुन्दादिभ्य इलच्च ५।२।११७

जिह्वाले

'तुन्दादिभ्य'—सूत्र पर पठित 'स्वाङ्गाद् वृद्धौ च'[4] (अपने बढ़े हुए अंगों

---

१. 'गुरुगर्भोऽस्त्यस्याः व्रीह्यादित्वात् इनि'।—वाचस्पत्यम्।

२. महाभाष्य, ५।२।११६।

३. अमरकोश सुधा टीका, २।१०।५।

४. काशिका, ५।२।१७।

से 'इलच्' प्रत्यय होता है) इस गणसूत्र की दृष्टि से अनर्घराघव के 'जिह्वाले जुहवाम्बभूविम रुषा राजन्यसत्तामपि'[1] श्लोकांश का 'जिह्वाले' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'जिह्वा' शब्द के अंगवाचक होने के कारण इससे 'इलच्' होकर 'जिह्विल:' बनना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि उपर्युक्त गणसूत्र द्वारा विहित 'इलच्' प्रत्यय होकर 'वर्धिता जिह्वास्य' इस अर्थ में 'जिह्विल:' प्रयोग बनेगा, परन्तु वाचाल अर्थ की स्थिति में 'प्राणिस्थादात···'(५।२।९६) सूत्र द्वारा विहित 'लच्' के संयोजन से 'जिह्वाल:' प्रयोग ही बनेगा।

एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम् ५।२।११८

एकदेशी अवयवी

'एकगोपूर्वात्—' सूत्र मत्वर्थ के विषय में 'एक' तथा 'गो' पूर्वक प्रातिपादिकों' से नित्य 'ठञ्' का विधान करता है। इस नियम के अनुसार काशिका का 'एकदेशोऽस्यास्तीत्येकदेशी अवयवी'[2] प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर मत्वर्थ होने के कारण नित्य 'ठञ्' होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि उपर्युक्त सूत्र में 'एक' शब्द का व्यभिचार हुआ है अर्थात् एक की अपेक्षा गो के अल्पाच् होने के कारण उसका पूर्वनिपात होना चाहिए था। इस व्यभिचार से यह ज्ञापित होता है कि इस सूत्र द्वारा विहित कार्य अनित्य है। अतः यहां पर 'इनि' का प्रयोग साधु है।

पदमञ्जरी तथा तत्वबोधिनी में इस समस्या का समाधान इसी सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि 'पूर्वापर—' (२।२।१) सूत्र में निर्दिष्ट 'इनि' प्रत्ययान्त 'एकदेशिन्' शब्द से यह ज्ञापित होता है कि यह प्रयोग साधु है।[3] यह समाधान ही उचित जान पड़ता है क्योंकि 'एकगोपूर्वात्···' सूत्र में 'नित्य' पद का ग्रहण किया गया है तथा अन्य किसी वैयाकरण ने इस सूत्र की अनित्यता को स्वीकार नहीं किया है।

इस प्रयोग के विषय में पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कात्यायन के अनुसार जिन प्रयोगों में कर्मधारय तथा 'मतुप्' का अर्थ विद्यमान है उन प्रयोगों में लाघव की दृष्टि से बहुव्रीहि समास इष्ट है। बहुव्रीहि की विवक्षा में 'इनि' का निषेध हो जाता है। 'एकदेशी' शब्द कर्मधारय समास का मत्वर्थीय

---

१. अनर्घराघव, ४।२२।

२. काशिका, २।२।१।

३. पदमञ्जरी (भाग २), ५।२।११८, पृ० ३२७।

प्रयोग है। इसलिए यहां पर बहुव्रीहि समास अभीष्ट है। इस दृष्टि से इस प्रयोग में 'इनि' प्रत्यय का प्रयोग चिन्त्य होगा।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि जिन प्रयोगों में बहुव्रीहि तथा मत्वर्थ में एकार्थता होती है उन्हीं प्रयोगों में यह न्याय लगता है। 'एकदेशी' प्रयोग में 'एकदेशोऽस्येति एकदेशी' विग्रह द्वारा बहुव्रीहि मानने पर तो अवयव की ही प्रतीति होगी, अवयवी की नहीं। अत: एकार्थता के अभाव में यहां पर 'इनि' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। जैसे—'लोहितशालिमान् ग्राम:' प्रयोग। यहां पर एकार्थता न होने के कारण बहुव्रीहि समास नहीं हुआ है।

इसी प्रसंग में शरणदेव ने रक्षित का वह मत उदधृत किया है जिसके अनुसार बहुव्रीहि समास में 'एकदेशी' शब्द को 'एकदेश' शब्द से 'इनि' प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है।

अनुबन्धवत्

परन्तु यदि ऐसा माना जाए तो 'अ इ उ इत्यादि को विशिष्टानुबन्धवच्छब्द:', 'अनेकप्रकारवदस्त्वि', 'इकारानुबन्धवत्प्रातिपदिकम्', 'विसकिसलयच्छेद पाथेयवन्त'[1] 'फलवत्पूगमालिन'[2] तथा 'त्वगुत्तरासंगवतीम्' वाक्यों में 'अनुबन्धवत्', 'प्रकारवत्' 'पाथेयवन्त', 'फलवत्' तथा 'संगवतीम्' प्रयोग चिन्त्य हो ज एंगे, क्योंकि यहां पर बहुव्रीहि तथा मत्वर्थ में समानार्थता होने के कारण बहुव्रीहि समास ही इष्ट है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट मत कुछ ही विद्वानों को मान्य है। जो विद्वान् इस मत को नहीं मानते, उनके मत में ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

यहां पर दुर्घटवृत्ति के 'तन्मते नैते प्रयोगा:' इस पाठ के स्थान पर 'तन्मतेनैते प्रयोगा:' पाठ होना चाहिए, क्योंकि यह पाठ मानने पर ही अर्थ सुसंगत लगता है।

अस्मायामेधास्रजो विनि: ५।२।१२१

सरस्वान्

'अस्माया—' सूत्र असन्त, माया आदि शब्द से मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'सरस्वान्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि

---

१. मेघदूत, पूर्वमेघ ११।
२. रघुवंश, ४।४४।

'सरस्' शब्द के असन्त होने के कारण उससे नित्य 'विनि' ही होना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'एकगोपूर्वात्···' सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण होने पर भी 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (५।२।१०८) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की आवृत्तिः आ रही है। यद्यपि 'एकगोपूर्वात्···'सूत्र में 'नित्यम्' पद का प्रयोग हुआ है, परन्तु 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति इससे आगे के सूत्रों में भी आती है जिससे पक्ष में 'मतुप्' सहित प्रयोग भी निष्पन्न होते हैं।[1] दुर्घटवृत्तिकार ने भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त 'सरस्वती पयस्वान्' प्रयोग उद्धृत किया है। 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) सूत्र के भाष्य में 'पयस्वान्' तथा 'यशस्वान्' प्रयोग मिलते हैं जिनका उल्लेख बालमनोरमा, तत्वबोधिनी, पद-मञ्जरी तथा भाषावृत्ति में भी इसी सूत्र के प्रसंग में किया गया है। ये शब्द इस प्रकार सिद्ध होंगे कि मत्वर्थीय प्रकरण में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की अनुवृत्ति आने के कारण 'विनि' प्रत्यय से 'मतुप्' का बाध नहीं हो सकेगा।[2]

किरातार्जुनीयम् तथा कुमारसंभव के श्लोकांशों 'मायाविणु ये न मायिनः'[3] तथा 'जातवेदोमुखान् मायी'[4] में क्रमशः प्रयुक्त 'मायिनः' तथा 'मायी' प्रयोग चिन्त्य हैं, क्योंकि 'अस्माया—' सूत्र में 'माया' शब्द के पठित होने के कारण 'विनि' प्रत्यय होकर नित्य 'मायावी' ही बनना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर काशिका, दुर्घटवृत्ति तथा सिद्धान्तकौमुदी में इसी सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि 'माया' शब्द के व्रीह्यादिगण में पठित होने के कारण 'व्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र से 'इनि' होकर 'मायी' तथा 'मायिनः' दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[5]

फलवान्

'फलवर्हाभ्यामिनच्'[6] वार्तिक की दृष्टि से अमरकोश के 'फलवान् फलिनः फली'[7] वाक्य के 'फलवान्' पद की सिद्धि विचारणीय है, क्योंकि इस वार्तिक द्वारा 'इनच्' होकर नित्य 'फली' प्रयोग ही बनना चाहिए।

---

१. काशिका, ५।२।१२१।
२. 'बालमनोरमा, ५।२।१२१, (भाग २), पृ० ५०४।
३. किरातार्जुनीयम्, १।३०।
४. कुमारसंभव, २।४६।
५ काशिका, ५।२।१२८।
६. महाभाष्य, ५।२।१२२, वा० ४।
७. अमरकोश, २ ४।७।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस वार्तिक में 'बहुल' ग्रहण की अनुवृत्ति आ रही है। अतः पक्ष में 'तदस्या—' (५।२।९४) सूत्र द्वारा 'मतुप्' होकर 'फलवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः ५।२।१२८

चर्मवती कन्या

'द्वन्द्वोपताप—' सूत्र द्वारा द्वन्द्व समास, उपताप, गर्ह्य विषयक तथा प्राणिस्थ वाचक शब्दों से 'इनि' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'चर्मवती' प्रयोग की साधुता विचारणीय है, क्योंकि यह शब्द रोग (उपताप) का वाचक है तथा इसके अतिरिक्त इस सूत्र के द्वारा 'इनि' प्रत्यय का विधान 'ठन्' के बाध के लिए किया गया है।[1] 'आदि' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार 'मतुप्' का बाध हो जाने से 'चर्मवती' प्रयोग असाधु ठहरता है।

इस प्रश्न का उत्तर 'एके' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि चकार द्वारा मतुप् का भी समुच्चय होता है। अतः 'मतुप्' का प्रयोग साधु है। चकार की अनुवृत्ति इन विद्वानों ने संभवतः 'तुन्दादिभ्य इलच्च' (५।२।११७) सूत्र से मानी है, परन्तु महाभाष्य, न्यास आदि किसी ग्रन्थ में ऐसा स्वीकार नहीं किया गया। वैसे यह शब्द कोशों में पाया जाता है जिसकी सिद्धि 'चर्मन् अस्त्यर्थे मतुप्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'मतुप्' प्रत्यय के द्वारा की गई है।[2]

---

१. काशिका, ५।२।१२८।

२. 'चर्मन्। अस्त्यर्थेमतुप्'''। चर्मयुक्ते स्त्रियां ङीप्।—वाचस्पत्यम्।

पञ्चम अध्याय : तृतीय पाद

सर्वेकान्यकियत्तदः काले दा ५।३।१५

तत्र देव सर्वतः

'सर्वेकान्य—' सूत्र 'सर्व' आदि शब्दों से 'दा' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'तत्र देव 'सर्वतः' वाक्य में सर्वतः प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि उपर्युक्त सूत्र द्वारा 'दा' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण यहां पर 'तसिल्' प्रत्यय कैसे हो गया।

इस प्रश्न का उत्तर रक्षित के नाम से दिया गया है। रक्षित ने 'कालविभागे—' (३।३।१३७) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'सर्वेकान्य—'सूत्र अन्तरङ्ग होने के कारण कालसामान्य की विवक्षा में ही प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र द्वारा अर्थ का निर्देश नहीं किया गया है, इसलिए अल्पापेक्षा होने के कारण अन्तरङ्ग है। 'तत्र देव सर्वतः' वाक्य में 'तत्र' का प्रयोग होने के कारण कालविशेष की विवक्षा है। अतः यहां पर 'तसिल्' प्रत्यय हुआ है। भाषावृत्तिकार ने भी ऐसा ही माना है तथा उसने इस सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में 'यत्र तत्र दिवसः' ये प्रयोग प्रस्तुत किए हैं।[1]

इदमस्थमुः ५।३।२४

इत्थंभूतः

'इदमस्थमुः' सूत्र द्वारा प्रकार अर्थ में 'थमु' प्रत्यय का विधान किया गया है। यहां पर 'प्रकार' शब्द सादृश्य का वाचक है। इस कारण 'प्रकार' शब्द के योग में तृतीया का ही प्रयोग होने से 'इमं' प्रकारमापन्नं इत्थंभूतः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर द्वितीयान्त 'इदम्' शब्द से प्रत्यय हुआ है।

इस समस्या का समाधान दुर्घटवृत्ति तथा तत्वबोधिनी में यह दिया गया है कि 'इत्थंभूतलक्षणे' (२।३।२१) इस सौत्र निर्देश से यह ज्ञापित होता है कि द्वितीयान्त शब्द से भी 'थमु' प्रत्यय होता है।

यहां पर शरणदेव ने 'प्रकार' का अर्थ सादृश्य किया है जबकि काशिका, न्यास, पदमञ्जरी तथा तत्वबोधिनी के लेखकों ने इसका अर्थ सामान्य का भेदक विशेष किया है।[2]

---

१. भाषावृत्ति, ५।३।१५।

२. काशिका, ५।३।२३।

दक्षिणादाच् ५।३।३६

दक्षिणापथः

'दक्षिणादाच्' सूत्र द्वारा 'दक्षिण' शब्द से 'अस्ताति' प्रत्यय के अर्थ में 'आच्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'दक्षिणापथः', 'दक्षिणामुखम्', 'उत्तरापथम्' तथा 'उत्तरामुखम्' प्रयोगों में 'आच्' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर ये शब्द 'अस्ताति' अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन प्रयोगों में 'आप्' प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' तथा 'उत्तरा' शब्दों से क्रमशः 'पथिन्' और 'मुखम्' शब्दों का समास हुआ है। अतः यहां पर उपर्युक्त दोष उपस्थित नहीं हो सकता।

अस्ताति च ५।३।४०

पुरतः

'अस्ताति च' सूत्र 'पुर' आदि शब्दों को 'पुर' आदि आदेश करता है। इस प्रकार 'अस्ताति' प्रत्यय के संयोजन से 'पुरस्तात्' तथा पक्ष में 'असि' प्रत्यय होकर 'पुरः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि में 'पश्यामि तां तत इतः पुरतश्च पश्चात्', 'पुरः पुरतोऽग्रतः'[1] तथा 'पुरतः प्रथमे चाग्रे' (विश्व प्रकाश) वाक्यों में 'पुरतः' प्रयोग चिन्त्य है।

दुघटवृत्तिकार ने सर्वप्रथम, भाषावृत्तिकार के मत रूप में, इन प्रयोगों को असाधु ठहराया है।[2] परन्तु बाद में साधु सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इस प्रयोग को इस प्रकार से सिद्ध किया गया है कि 'पुरः तिष्ठति' इस विग्रह के अनुसार प्रातिपदिक 'पुर' शब्द से धात्वर्थ में 'णिच्', 'टि' लोप तथा पचादि 'अच्' करके 'तसि प्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक से 'तसि' प्रत्यय द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। आद्यादिगण आकृतिगण है।[3] यह 'पुरतः' शब्द 'पुरोवर्तिनी' अर्थ का वाचक है। अमरकोश का टीका में सीधे ही 'पुर' शब्द से इस वार्तिक द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति मानी गई है।

तत्वबोधिनी तथा बालमनोरमा में इसी सूत्र की व्याख्या में पहले तो 'बहवः' निर्देश द्वारा इस प्रयोग को प्रमादजन्य ठहराया गया है, परन्तु बाद में 'केचित्' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि 'दक्षिणोत्तरा···' (५।३।२८) सूत्र द्वारा विहित 'अतसुच्' प्रत्यय में 'अकार' का उच्चारण इसलिए किया है कि अन्य शब्दों से भी 'अतसुच्' हो सके। इन विद्वानों के मत में सूत्रकार को यदि ऐसा

---

१. अमरकोश, ३।४।७।

२. भाषावृत्ति, ५।३।४०।

३. काशिका, ५।४।४४।

अभीष्ट न होता तो वह केवल 'तसुच्' प्रत्यय का ही विधान करते। इस प्रकार 'अतसुच्' प्रत्यय के संयोजन से 'पुरतः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[1]

याप्ये पाशप् ५।३।४७

रक्षः पाशान्

'याप्ये पाशप्' सूत्र द्वारा 'याप्य' अर्थ में विद्यमान प्रातिपादिक से 'पाशप्' प्रत्यय का विधान किया गया है। 'याप्य' का अर्थ है—कुत्सित।[2] निन्दा अथवा कुत्सा का सम्बन्ध क्रिया अथवा गुण के साथ होने से भट्टि के 'रक्षः पाशान्' प्रयोग में 'पाशप्' प्रत्यय की स्थिति विचारणीय है, क्योंकि यहां पर गुण अथवा क्रिया की कुत्सा नहीं है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यहां पर भी राक्षसों की निन्दा की गई है। अतः प्रत्यय का प्रयोग साधु है।

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७

गोतरः

'द्विवचनविभज्यो...' सूत्र दो में से एक के अतिशय और विभज्य के उपपद होने पर सुबन्त तथा तिङन्त पदों से 'तरप्' तथा 'ईयसुन्' प्रत्ययों का विधान करता है। अतिशय का अर्थ है...प्रकर्ष।[3] प्रकर्ष का द्रव्य अथवा जाति से स्वतः सम्बन्ध न होकर गुण आदि के द्वारा ही उनसे सम्बन्ध होता है।[4] इस दृष्टि से 'गोतरः' प्रयोग में 'तरप्' प्रत्यय विचारणीय है, क्योंकि 'गो' शब्द क्रिया अथवा गुण का वाचक न होकर, द्रव्य का वाचक है।

इस समस्या का समाधान यह किया गया है कि 'गो' में नियमान 'गोत्व' रूप गुण का अतिशय होने के कारण 'गो' शब्द से प्रत्यय हुआ है।

प्रकारवचने जातीयर् ५।३।६९

एकजातीया

'प्रकारवचने...' सूत्र प्रकार रूप विशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुबन्त से 'जातीयर्' प्रत्यय का विधान करता है। प्रकार का अर्थ है—सामान्य का भेदक विशेष। इसी प्रकार 'संख्याया विधार्थे धा' (५।३।४२) सूत्र संख्यावाचक शब्दों से 'विधा' अर्थ में 'धा' प्रत्यय का विधान करता है। 'विधा' शब्द प्रकार

---

१. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ५।३।४०, पृ० ५१५।
२. काशिका, ५।३।४७।
३. उपरिवत्, ५।३।५५।
४. बालमनोरमा, (भाग २) ५।३।५५, पृ० ५२१।

अर्थ का वाचक है तथा प्रकार भेदक अर्थ का ।[1] इस प्रकार इस सूत्र की दृष्टि से 'एकजातीया' प्रयोग में 'जातीयर्' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'एक' शब्द के संख्यावाचक होने के कारण 'धा' प्रत्यय होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान दुर्घटवृत्ति तथा भाषावृत्ति में यह दिया गया है कि गुण तथा द्रव्य से प्रकार अर्थ में 'जातीयर्' प्रत्यय होता है तथा क्रिया से 'धा' प्रत्यय। इस प्रकार 'एकजातीया' प्रयोग में क्रिया के प्रकार के अभाव में 'जातीयर्' प्रत्यय सिद्ध हो जाएगा।[2]

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३

कतमो भवतां देवदत्तः

'वा बहूनां···' सूत्र द्वारा जातिपरिप्रश्न के विषय में बहुतों के मध्य में एक का निर्धारण गम्यमान होने पर 'डतमच्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः 'कतमो भवतां देवदत्तः' इस वाक्य में 'डतमच्' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर जातिविषयक परिप्रश्न का बोध नहीं हो रहा है।

इस समस्या का समाधान काशिका, पदमञ्जरी, न्यास तथा दुर्घटवृत्ति में इसी सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (२।१।६३) सूत्र में 'जाति' शब्द के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'डतमच्' प्रत्यय जाति के अतिरिक्त अन्य प्रयोगों में भी होता है।[3] यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'कतम' शब्द की 'वा बहूनां···'सूत्र द्वारा जातिविषयक परिप्रश्न में ही व्युत्पत्ति की गई। उसके साहचर्य से 'कतर' शब्द से भी यही अर्थ लिया जाता। अतः 'जाति' के पुनर्ग्रहण से यही ज्ञापित होता है कि 'डतमच्' प्रत्यय अन्यत्र भी होता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[4] यही समाधान तत्वबोधिनी में भी दिया गया है।[5]

□ □

---

१. काशिका, ५।३।४२।
२. भाषावृत्ति, ५।३।४२।
३. काशिका, ५।३।९३।
४. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६५।
५. तत्त्वबोधिनी (भाग २), २।१।६३, पृ० ६७-६८।

पञ्चम अध्याय : चतुर्थ पाद

अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः ५।४।७

अधीनम्

'अषडक्षाशित···' सूत्र 'अषडक्ष' आदि शब्दों से तथा 'अधि' के उत्तरपद होने पर स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र द्वारा केवल 'अधि' शब्द से प्रत्यय का निषेध होने के कारण भारवि के 'अस्मास्वधीनं किमु निस्पृहाणाम्'[1] श्लोकांश के 'अधीनम्' पद में 'ख' प्रत्यय का प्रयोग विचारणीय है।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम, भाषावृत्ति के कथन रूप में यह कि 'इनमधिगतो अधीनम्' व्युत्पत्ति के अनुसार 'अधीनम्' शब्द 'आयत' का पर्यायवाची है[2] जिसका प्रयोग कात्यायन ने 'कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि'[3] वार्तिक में किया है। इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है कि 'अधि' शब्द के उत्तरपद होने पर ही प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण 'अधीनम्' शब्द अव्युत्पन्न है तथा आयत अर्थ का वाचक है।[4] अमरकोश में इस शब्द को आयत का पर्यायवाची बताया गया है[5] तथा मल्लिनाथ ने भी इसका अर्थ आयत्त ही किया है।[6]

दूसरा समाधान 'अधीनम्' शब्द को नञ् समास का प्रयोग मानते हुए यह दिया गया है कि दिवादिगणीय 'धीङ् अनादरे' धातु से 'न धीनः' विग्रह के अनुसार यह शब्द सिद्ध हो जाएगा तथा आदर अर्थ का वाचक होगा। धातुवृत्तिकार ने 'न धीनः अधीनः' यह प्रयोग तो सिद्ध किया है परन्तु भारवि के लिए यह समाधान नहीं माना है।[7]

तीसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अस्मास्वधीनम्' प्रयोग में सप्तमी

---

१. किरातार्जुनीयम् ३।६।
२. भाषावृत्ति, ५।४।७।
३. महाभाष्य, १।१।५७, वा० ८।
४. प्रदीप, महाभाष्य, १।१।५७, पृ० ४४३।
५. अमरकोश, ३।१।१६।
६. मल्लिनाथ टीका, किरातार्जुनीयम्, ३।६।
७. धातुवृत्ति, पृ० ४११।

समास मानते हुए 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।४०) सूत्र से समास करके 'बहुल' वचन द्वारा विभक्ति का 'लुक्' नहीं होगा तथा इस प्रकार 'अस्मासु' शब्द के पूर्व में रहने पर उत्तरपद 'अधि' से प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११

उच्चैस्तराम्

'किम्' आदि जिन शब्दों से 'घ' प्रत्यय का विधान किया गया है, उन शब्दों से प्रकर्ष अर्थ में 'किमेति···' सूत्र 'आम्' प्रत्यय का विधान करता है परन्तु द्रव्य का प्रकर्ष होने पर नहीं। इस 'आम्' प्रत्यय का विधान क्रिया तथा गुण से ही किया गया है। इस दृष्टि से कुमारसंभव के 'उच्चैस्तरां वक्ष्यति शैलराजः'[1] श्लोकांश के 'उच्चैस्तराम्' प्रयोग में 'आम्' प्रत्यय विचारणीय है, क्योंकि यहां पर यह शब्द क्रिया अथवा गुण का विशेषण न होकर शीर्ष का विशेषण है। अतः उसके द्वारा शीर्ष के प्रकर्ष का बोध हो रहा है जो द्रव्य का वाचक है।

शरणदेव ने यहां पर 'उच्चैस्तराम्' पद को शीर्ष का विशेषण न मानकर 'वक्ष्यति' क्रिया का माना है। यह मानने पर क्रिया के प्रकर्ष में प्रत्यय हो जाएगा। मल्लिनाथ ने 'उच्चैस्तराम्' के स्थान पर 'उच्चैस्तरम्' पाठ माना है[2] जिसे मानने पर उपर्युक्त समस्या उपस्थित ही नहीं होती।

यावादिभ्यः कन् ५।४।२९

कृत्रिमपुत्रकैः

'यावादिभ्यः कन्' सूत्र पर रचित 'पुत्र कृत्रिमे' गण सूत्र के अनुसार कुमारसंभव के 'सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैः'[3] श्लोकांश का 'कृत्रिमपुत्रकैः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'कन्' प्रत्यय के द्वारा ही कृत्रिम अर्थ के उक्त हो जाने के कारण 'पुत्रक' शब्द के साथ 'कृत्रिम' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'पुत्रक' शब्द अनुकम्पा आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। अतः इन अर्थों की व्यावृत्ति के लिए कवि ने 'कृत्रिम' शब्द का भी प्रयोग किया है जिससे यहां पर केवल 'पुत्तलिका' अर्थ का बोध हो सके।

अपादाने चाहीयरुहोः ५।४।४५

मत्त

यदि अपादान 'ओहाक्' तथा 'रुह' धातुओं से सम्बन्धित न हो तो अपा-

---

१. कुमार संभव, ७।६८।
२. कुमारसंभव, मल्लिनाथ टीका, ७।६८।
३. कुमारसंभव, १।२९।

दान में विहित पञ्चमी से 'अपादाने चाहीयरुहोः' सूत्र द्वारा 'तसि' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'मा दर्शतान्यं भरतं च मत्त'[1] तथा 'केन संविद्रते नान्यस्त्वत्तो बान्धववत्सलः' श्लोकांशों में 'अस्मद्' तथा 'युष्मद्' शब्दों से 'तसि' का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर इन शब्दों की अपादान संज्ञा न होकर 'अन्य' शब्द के उपपद होने के कारण 'अन्यारात्…' (२।३।२९) सूत्र से पंचमी हुई है।

इन प्रयोगों को दो प्रकार से सिद्ध किया गया है। प्रथम इस प्रकार से कि 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि' (५।४।४४) सूत्र का योगविभाग करके 'तसिः' पृथक् सूत्र द्वारा पंचमी में 'तसि' की प्राप्ति हो जाएगी। परन्तु यहां द्रष्टव्य है कि अन्य किसी वैयाकरण ने इस प्रकार से इस सूत्र का योगविभाग नहीं किया।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को आद्यादिगण में अन्तर्भावित मान कर 'तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति हो जाएगी।

जयमंगला तथा चन्द्रकला-विद्योतिनी टीकाओं में इस शब्द की सिद्धि इस प्रकार से न करके 'पञ्चम्याः तसिल्' (५।३।७) सूत्र द्वारा विहित 'तसिल्' प्रत्यय के संयोजन से की गई है।[2]

संख्यायाश्च गुणान्तायाः ५।४।५९

सुखाभव

'सुखाप्रियाद…' (५।४।३३) सूत्र 'सुख' आदि शब्दों से 'अनुलोम्य' अर्थ में 'कृञ्' के योग में 'डाच्' प्रत्यय का विधान करता है। इस सूत्र में 'कृञो द्वितीयतृतीय…' (५।४।५८) सूत्र से 'कृञ्' पद को अनुवृत्ति आ रही है। इसकी वृत्ति में कहा गया है कि पुनः 'कृञ्' ग्रहण का प्रयोजन 'भू' तथा 'अस्' धातुओं की निवृत्ति करना है।[3] इस प्रकार इस सूत्र द्वारा केवल 'कृ' धातु के योग में ही प्रत्यय की प्राप्ति होने के कारण भट्टि का 'सीतामूचे सुखाभव'[4] प्रयोग चिन्त्य है।

शरणदेव ने इस प्रयोग को अपपाठ कहा है तथा उसके अनुसार प्रारम्भिक पाठ 'सुखाकुरु' ही था। चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका में कहा गया है कि मल्लिनाथ द्वारा सम्मत पाठ 'सुखाकुरु' है जिसका अर्थ है— हमारे चित का आराधन करो।[5]

---

१. भट्टिकाव्य, ३।१५।

२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ३।१५।

३. काशिका ५।४।५८।

४. भट्टिकाव्य, ५।६४।

५. चन्द्रकलाविद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, ५।६४।

भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'सुखाभव' पाठ ही मिलता है। भाषावृत्ति में तो इस सूत्र के उदाहरण के रूप में भट्टि का प्रयोग ही दिया गया है ।[1]

'दुर्घटवृत्तिकार ने यह समस्या 'संख्यायाश्च···' सूत्र की दृष्टि से प्रस्तुत की है, परन्तु इस प्रयोग का उससे कोई सम्बन्ध न होकर 'सुखाप्रिया···' सूत्र से है।

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५।४।७८

ब्रह्मवर्चसः

'ब्रह्महस्ति···' सूत्र द्वारा समास में ब्रह्म तथा हस्ति शब्दों से परे 'वर्चस्' शब्द से 'अच्' प्रत्यय का विधान किए जाने के कारण अनर्घराघव के 'अस्माकमपि ब्रह्मवर्चसो न बिभेषि'[2] वाक्य का 'ब्रह्मवर्चसः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर 'ब्रह्मवर्चसात्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रयोग को 'समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा सिद्ध किया गया है। अनर्घराघव के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में प्रत्यय सहित 'ब्रह्मवर्चसात्' पाठ मिलता है, जिसका उल्लेख गणपतिशास्त्री ने भी किया है ।[3]

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६

अङ्गुलम्

'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः...' सूत्र तत्पुरुष में संख्या अथवा अव्यय के पूर्व होने पर 'अंगुलि' शब्द से 'अच्' प्रत्यय का विधान करता है। अतः 'गामेका स्वर्णमेकं वा भूमेप्यर्धमंगुलम्' वाक्य में 'अंगुलम्' शब्द से 'अच्' का प्रयोग विचारणीय है क्योंकि सूत्रकार ने केवल 'अंगुलि' शब्द से प्रत्यय का विधान न करके समास में विधान किया है। जैसे 'उच्छ्वसिता भूमिः सांगुलान्येकविंशति' वाक्य में 'सांगुलानि' पद में प्रादि तत्पुरुष समास होने के कारण प्रत्यय हुआ है।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'अंगुलिरस्य परिच्छेदिका' विग्रह के अनुसार अर्शादि 'अच्' की प्राप्ति हो जाएगी। इसी प्रकार 'चाङ्गुलिपरिच्छिन्नो भागोऽगुलः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।

राजाहस्सखिभ्यष्टच् ५।४।९१

वायुसख्या

'राजाहस्सखि—' सूत्र राजन्, अहन् तथा सखि शब्दान्त शब्दों से तत्पुरुष में

---

१. भाषावृत्ति, ५।४।६३।

२. अनर्घराघव, अंक ४।

३. दुर्घटवृत्ति, पृ० १००, पादटिप्पण २।

'टच्' प्रत्यय करता है। इस नियम के अनुसार 'वायुसख्या' (वायोः सख्या) षष्ठीतत्पुरुष के प्रयोग में समासान्त 'टच्' प्रत्यय का अभाव चिन्त्य है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यह प्रयोग तत्पुरुष का न होकर बहुव्रीहि (वायुःसखाऽस्येति) का है। अतः 'टच्' का प्रश्न ही नहीं उठता।

वर्तमानाहर्

इसी प्रकार की समस्या 'आगामिवर्तमानाहर्युक्तायां निशि पक्षिणी' वाक्य के तत्पुरुष के 'वर्तमानाहर्' प्रयोग में उपस्थित होती है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि इस प्रयोग में तत्पुरुष की विवक्षा न होकर बहुव्रीहि (आगामि वर्तमाने अहनी यस्याष्टप्रहरस्य) का है। विकल्प के रूप में इस प्रयोग को 'समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा के आश्रयण से सिद्ध किया गया है। यह समाधान 'वायुसख्या' प्रयोग में भी कार्य कर सकता है, यदि वहां पर तत्पुरुष की विवक्षा मानी जाए।

'अहन्' शब्द को 'रोऽसुपि' (८।२।६९) सूत्र से 'न्' को रेफ आदेश होकर 'अहर्' प्रयोग बनता है। यहां पर 'हशि च' (६।१।११४) सूत्र से रेफ को 'उच्च' इसलिए नहीं होगा कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' परिभाषा के अनुसार 'रोऽसुपि' सूत्र द्वारा विहित कार्य 'हशि च' सूत्र के प्रति असिद्ध है।

उपसर्गाच्च ५।४।११९

विनसा

'वेग्रो वक्तव्यः'[1] ('वि' उपसर्ग पूर्वक नासिका शब्द को 'ग्र' आदेश होता है) वार्तिक की दृष्टि से भट्टि के 'यद्यहं नाथ! नासास्यं विनसा हतबान्धवा'[2] श्लोकांश के 'विनसा' प्रयोग में 'वि' उपसर्ग पूर्व में होने के कारण 'नासिका' शब्द को 'ग्र' आदेश का अभाव विचारणीय है। जैसाकि अमरकोश में 'विग्रो-विगतनासिकः'[3] प्रयोग किया गया है।

इस समस्या का समाधान, धातुप्रदीप टीका के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'विनसा' शब्द 'नासिका' से निष्पन्न न होकर 'नसा' शब्द से निष्पन्न हुआ है। कोशकारों के अनुसार 'नसा' शब्द 'नासा' तथा 'नासिका' का पर्यायवाची

---

१. महाभाष्य, ५।४।११९।

२. भट्टिकाव्य ५।८, यहां पर 'विनसा हत बान्धवा' पाठ मिलता है।

३. अमरकोश, २।६।४६, यहां पर यह कथन 'विग्रस्तु गतनासिके' इस रूप में मिलता है।

है ।[1] 'नसा' शब्द 'नस कौटिल्ये' धातु से पचादि 'अच' होकर सिद्ध हुआ है। अत: 'नसा' शब्द मानने पर उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं होगा ।[2]

सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में 'उपसर्गादनोत्पर:' (८।४।२८) सूत्र की व्याख्या में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग बहुव्रीहि का न होकर प्रादिसमास (विगता नासिका विनासिका) का है । बहुव्रीहि की विवक्षा के अभाव में 'ग्र' आदेश की प्राप्ति नहीं होगी । उसके पश्चात् 'विनासिका' शब्द से तृतीया में 'टा' विभक्ति परे होने पर 'पद्दन्…' (६।१।६२) सूत्र द्वारा 'नासिका' को 'नस्' आदेश होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जायेगा ।[3] यही समाधान चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका तथा अमरकोश में भी दिया गया है ।[4]

भट्टिकाव्य के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में 'विनासा हत बान्धवा:' पाठ मिलता है जिसको मानने पर कोई समस्या नहीं रहती । परन्तु सभी वैयाकरणों ने 'विनसा' पाठ मानते हुए इस प्रयोग पर विचार किया है । धातुवृत्तिकार ने 'महान्त:' निर्देश द्वारा इस प्रयोग को असाधु माना है ।[5]

अपनासिको बाल:

'अपनासिको बाल:' तथा 'अनुनासिको वर्ण:' प्रयोगों में भी यही विचारणीय है कि यहां पर भी 'नासिका' को 'नस्' आदेश तथा 'अच्' प्रत्यय होना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक:' (१।१।८) सूत्र में निर्दिष्ट 'अनुनासिक:' शब्द से यही ज्ञापित होता है कि 'उपसर्गाच्च' सूत्र अनित्य है ।

धनुषश्च ५।४।१३२

धृतधनुषम्

'धनुषश्च' सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास में 'धनुस्' शब्दान्त शब्द को 'अनङ्' आदेश का विधान किए जाने के कारण महिम्न स्तोत्र के 'स्वलावण्याशंसाधनुष-

---

१. 'नस—नासिकायाम् । नस्' ।—वाचस्पत्यम् ।
२. 'धातुप्रदीप, पृ० ४६ ।
३. बालमनोरमा, (भाग २), ८।४।२८, पृ० १४२,
४. (क) चन्द्रकला विद्योतिनी टीका, भट्टिकाव्य, ५।८ ।
   (ख) अमरकोश, २।६।४६ ।
५. धातुवृत्ति, पृ० १६४ ।

मह्लाय'[1] श्लोकांश में वहुव्रीहि समास के 'धृतधनुषम्' प्रयोग में 'अनङ्' का अभाव विचारणीय है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम समाधान में 'समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा यहां पर 'अनङ्' का अभाव सिद्ध माना गया है। यही समाधान तत्वबोधिनी तथा भाषावृत्ति में इसी सूत्र की व्याख्या में दिया गया है ।[2] बालमनोरमा टीकाकार के अनुसार यह प्रयोग आर्ष है ।[3]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि उत्तरवर्ती 'वा संज्ञायाम्' (५।४।१३३) सूत्र से सिंहावलोकितन्याय द्वारा 'वा' पद की अनुवृत्ति लाकर इस सूत्र में व्यवस्थितविभाषा मानी जाए । यह मानने पर इस प्रयोग में 'अनङ्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा । परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने इस सूत्र में व्यवस्थित विभाषा नहीं मानी है ।

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५।४।१३५

सुगन्धौ

'गन्धस्येदुत्पूति···' सूत्र पर 'गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणम्'[4] वार्तिक पढ़ी गई है जिसके अनुसार 'गन्ध' शब्द को 'इत्व' आदेश एकान्तग्रहण की स्थिति में होता है । 'एकान्त' का अर्थ है—एकदेश (अवयव) । जैसे 'सुगन्धि पुष्पं सलिलं च' प्रयोग में गन्ध पुष्प तथा जल का अवयव है । इस दृष्टि से शिशुपालबध के 'भग्नबालसहका सुगन्धौ'[5] श्लोकांश के 'सुगन्धौ' पद में 'इत्व' इसलिए विचारणीय है कि उपर्युक्त वार्तिक द्वारा गन्ध के स्वाभाविक रूप से अवयव होने पर ही 'इत्व' का विधान किया गया है ।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग को प्रमादजन्य मान कर 'भग्नबालसहकारसुगन्ध' यह पाठान्तर प्रस्तुत किया है । इसी प्रसंग में उसने 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह कहा है कि वार्तिक अनित्य होते हैं, क्योंकि उनकी रचना प्रयोगों के आधार पर की जाती है । इस प्रकार रक्षित ने 'एवं चानियोगे' वार्तिक को अनित्य माना है ।

इस प्रसंग में शरणदेव ने भारवि के 'महीरुहः पुष्पसुगन्धिरादद'[6] श्लोकांश

---

१. महिम्न स्तोत्र, २३ ।
२. तत्त्वबेधिनी, (भाग २), ५।४।१३२, पृ० १४७ ।
३. बालमनोरमा (भाग २) ५।४।१३२, पृ० १४७ ।
४. महाभाष्य, ५।४।१३५ ।
५. शिशुपालवध, १०।३ ।
६. किरातार्जुनीयम्, ८।२१।

पर की गई मल्लिनाथीय टीका को उद्धृत किया है। मल्लिनाथ ने 'सुगन्धि' शब्द के विषय में यह कहा है कि प्राक् अवस्था में ही दूसरे की गन्ध का सम्पादन करने के कारण गन्ध प्रारम्भिक है। इस प्रकार 'एकान्त' ग्रहण गन्ध का विशेषण है।

किन्तु यदि ऐसा माना जाए तो भट्टि के 'आघ्रायिवान् गन्धवहः सुगन्ध-स्तेन'[1] श्लोकांश की व्याख्या में जयमंगला का कथन असंगत होगा, क्योंकि वहां यह कहा गया है कि यहां पर 'सुगन्ध' शब्द को 'इत्व' इसलिए नहीं हुआ है कि सूत्र की वृत्ति में 'एकान्त' पद का ग्रहण हुआ है।[2]

वयसि दन्तस्य दतृ ५।४।१४१

सुदती

'वयसि दन्तस्य दत्' सूत्र द्वारा आयु के गम्यमान होने पर बहुव्रीहि समास में संख्यावाचक शब्द तथा 'सु' पद के पूर्व में होने पर 'दन्त' को 'दतृ' आदेश किया गया है। इस नियम के अनुसार कुमारसंभव तथा रघुवंश में क्रमशः प्रयुक्त-सा दक्षारोधात् सुदती ससर्ज[3] तथा 'सुदतीं', सुनन्दा'[4] श्लोकांशों के 'सुदती' प्रयोग में 'दतृ' आदेश इसलिए विचारणीय है कि यहां पर आयु का बोध न होने के कारण समासान्त प्रत्यय की प्राप्ति कैसे हो गई ?

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन काव्यों में भगवती गौरी तथा इन्दुमती, जिनके लिए 'सुदती' शब्द का प्रयोग हुआ है, 'बाला' पद से विशेषित है। स्मृति में कहा गया है कि बाला पञ्चदशवर्षीय होती है। इस प्रकार यहां पर वयस् अथवा यौवन का बोध हो रहा है। परन्तु इन श्लोकों में 'बाला' पद का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। रघुवंश में इस श्लोक से पूर्ववती श्लोक (६।३६) में 'कुमारी' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध इन्दुमती से ही है। इसी प्रकार कुमारसंभव में भी (१।३१) श्लोक में 'बाल्या परं साध वयः' प्रयोग हुआ है जिससे वयस् गम्यमान हो रही है।

नद्यृतश्च ५।४।१५३

वरतनु

'नद्यृतश्च' सूत्र नदी संज्ञक तथा ऋकारान्त शब्दों से 'कप्' प्रत्यय का

---

१. भट्टिकाव्य, २।१०।

२. जयमंगला, भट्टिकाव्य, २।१०।

३. कुमारसंभव, १।५३।

४. रघुवंश, ६।३७।

विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'वरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः' श्लोकांश का 'वरतनु' प्रयोग विचारणीय है क्योंकि यहां पर 'वरतनू' इस दीर्घ उकारान्त शब्द को 'अम्बार्थ…' (७।३।१०७) सूत्र द्वारा लघु आदेश की प्राप्ति होने से पूर्व 'वरतनू' शब्द के नदीसंज्ञक होने के कारण 'कप्' होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा के द्वारा यहां पर 'कप्' का अभाव सिद्ध है। इसी प्रकार शिशुपालवध के 'सुतनु ! सत्यमलंकरणाय'[1] तथा 'ननु सुतनूमनुपालयानुयान्तीम्'[2] श्लोकांशों में 'सुतनु' प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

□ □

१. शिशुपालवध, ६।१७।

२. उपरिवत्, ७।१२।

षष्ठ अध्याय : प्रथम पाद

श्लौ ६।१।१०

नादध्यात्

'श्लौ' सूत्र द्वारा श्लु विकरण के परे होने पर अभ्यास रहित धातु के प्रथम एकाच् अथवा द्वितीय एकाच् को द्वित्व विधान किए जाने के कारण मयूर के 'आदध्यादन्धकारे रतिमतिशयिनीम्'[1] श्लोकांश का 'आदध्यात्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि आशीर्लिङ् में 'श्लु' विकरण का अभाव होने के कारण यहां पर 'धाञ्' धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व नहीं होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'धा' धातु से निष्पन्न न होकर भौवादिक 'दध्' धातु से निष्पन्न हुआ है। जहां तक इस धातु के आत्मनेपदी होने का प्रश्न है, इस विषय में यह कहा गया है कि कार्य के अनित्य होने के कारण यहां पर आत्मनेपद का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

शरणदेव ने यहां पर विकल्प के रूप में 'आधेयात्' पाठान्तर भी दिया है। यह प्रयोग 'धाञ्' धातु से निष्पन्न हुआ है। धातुवृत्ति में भी 'धाञ्' धातु का आशीर्लिङ् में 'धेयात्' प्रयोग दिया गया है।

वचिस्वपियजादीनां किति ३।१।१५

ववाह

'वचिस्वपि···' सूत्र 'वच्' आदि धातुओं को 'कित्' प्रत्यय के परे होने पर सम्प्रसारण आदेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से दुर्गासप्तशती के 'ववाह रक्तं पुरुषाः'[2] श्लोकांश का 'लिट्' लकार का 'ववाह' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'वह्' धातु यजादि है अतः सम्प्रसारण होकर 'उवाह' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रयोग की साधुता के लिए दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान भ्वादिगण की आकृतिगणता के आधार पर यह दिया गया कि यजादि 'वह्' धातु से पृथक् 'वहि' की भ्वादिगण में कल्पना करके उससे यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3]

---

१. सूर्यशतक, श्लोक २५।

२. दुर्गासप्तशती, ८।४६।

३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ७।४।१८, पृ० २२१।

दूसरा समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रयोग 'बाहृ प्रयत्न' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'वाहृ' धातु के विषय में धातुवृत्ति तथा सिद्धान्तकौमुदी में यह कहा गया है कि कुछ विद्वान् इसे दन्त्यौष्ठ्य मानते हैं तो कुछ केवल औष्ठ्य।[1] दन्त्यौष्ठ्य मानने वालों के मत में 'वाहृ' धातु से यह प्रयोग सिद्ध हो जायगा।

इस समाधान में दो दोष उपस्थित होते हैं। प्रथम तो यह कि 'बाहृ' धातु आत्मनेपदी है तथा दूसरा यह कि इस धातु के अर्थ द्वारा श्लोकांश में अर्थसंगति नहीं बैठती।

दुर्घटवृत्तिकार तथा तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार प्रथम दोष का निवारण आमनेपद कार्य की अनित्यता के आधार पर हो जाएगा।[2] दूसरे दोष की ओर दुर्घटवृत्तिकार का ध्यान नहीं गया, परन्तु तत्त्वबोधिनीकार ने कहा है कि धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण यहां पर 'वाहृ' धातु का अर्थ 'प्रस्रवण' कर लिया जाएगा जिससे अर्थसंगति में कोई दोष नहीं रहेगा।[3]

यष्टिः

'यष्टिः' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'यज्' धातु से 'क्तिन्' अथवा 'क्तिच्' प्रत्यय के परे होने पर 'वचिस्वपि'··· सूत्र द्वारा सम्प्रसारण क्यों नहीं हुआ ?

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'शक्तियष्ट्योरीकक्' (४।४।५९) इस सौत्रनिर्देश द्वारा यह ज्ञापित होता है कि सम्प्रसारण रहित प्रयोग भी इष्ट है। कोशों में यह शब्द पाया जाता है। हरदत्त ने इसे अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।[4]

वाच्यति

'वाच्यति' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटपुजीश्रीणांदीर्घश्च'[5] ('वचि' आदि धातुओं को 'क्विप्' परे होने पर दीर्घ होता है परन्तु सम्प्रसारण नहीं होता) वार्तिक के अनुसार 'वच्' धातु से 'क्विप्' तथा दीर्घादेश करके 'वाच्' प्रयोग बनता है। यद्यपि 'वाच्' शब्द 'वच्' का ही विकृत रूप है तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'[6] परिभाषा के अनुसार उसके अन्यवत् न होने के कारण 'वचिस्वपि'—सूत्र द्वारा सम्प्रसारण होना चाहिए।

---

१. धातुवृत्ति, पृ० १६७।
२. तत्त्वबोधिनी (भाग ३), ६।४।१०६, पृ० १३०।
३. उपरिवत्, ६।४।१०६ पृ० १३७।
४. पदमञ्जरी (भाग २), ४।४।५९, पृ० २०९।
५. महाभाष्य ३।२।१७८।
६. परिभाषेन्दु शेखर, परिभाषा संख्या ३७।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'स्वप्' तथा 'यज्' आदि धातुओं के साहचर्य से 'वचिस्वपि—' सूत्र द्वारा अविकृत अर्थात् प्रकृत रूप में ही धातु ग्रहण किया जाएगा। 'वाच्' धातु 'वच्' का विकृत रूप है।

दूसरा समाधान व्यक्तिपक्ष द्वारा यह दिया गया है कि 'वाच्' के अन्य शब्द बन जाने के कारण यहां उसका ग्रहण नहीं हो सकेगा। काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी में 'वचिस्वपि—' सूत्र की व्याख्या में इस समस्या का समाधान 'धातोः' स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्'[1] (जिस कार्य के सम्बन्ध में धातु के स्वरूप का जहां ग्रहण किया गया है, वहां उसी धातु से प्रत्यय किये जाने पर विशिष्ट कार्य हो सकेगा) परिभाषा द्वारा यह दिया गया है कि 'सुपः आत्मनः—' (३१।१।८) सूत्र द्वारा 'क्यच्' की प्राप्ति होती है। यद्यपि क्विबन्त धातुत्व नहीं छोड़ते तो भी 'क्यच्' प्रत्यय का विधान धातु से न होकर शब्द से किए जाने के कारण क्विबन्त धातु 'वाच्' से सम्प्रसारण नहीं होगा।[2]

कर्णवेधः

'कर्णवेधः' तथा अमरकोश के 'व्यधो वेधे'[3] प्रयोगों में यह विचारणीय है 'व्यध्' धातु से 'व्यधजपो—' (३।३।६१) सूत्र द्वारा 'अप्' प्रत्यय के परे होने पर 'कित्' प्रत्यय के अभाव में 'व्यध्' को सम्प्रसारण कैसे हो गया? सम्प्रसारण के अभाव में 'व्यधः' प्रयोग बनना चाहिए था।

इन प्रयोगों को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि ये प्रयोग 'व्यध्' धातु से निष्पन्न न होकर 'विध विधाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुए हैं। अमरकोश की टीका में भी यही समाधान दिया गया है।[4] जहां तक अर्थसंगति का प्रश्न है, इस विषय में शरणदेव का यह कहना है कि धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण यहां पर अर्थ की संगति लग जाएगी।

श्रृतं पाके ६।१।२७

धान्यपटोलयोः

'श्रृतं पाके' सूत्र ण्यन्त 'श्रा पाके' धातु से विकल्प द्वारा पाक अर्थ में 'क्त' प्रत्यय के परे होने पर 'श्रृ' भाव निपातित करता है। महाभाष्य, काशिका,

---

१. परिभाषेन्दुशेखर में यह परिभाषा 'धातोः कर्ममुच्चमानं तत्प्रत्यये भवति' इस रूप में मिलती है। —परिभाषा संख्या ८६

२. काशिका, ६।१।१५।

३. अमरकोश, ३।२।८।

४. 'विध विधाने। घञ्' (३।३।१८)। —अमरकोश, सुधा टीका, ३।२।८।

न्यास, धातुवृत्ति आदि सभी ग्रंथों के अनुसार इस सूत्र में व्यवस्थितिविभाषा का ग्रहण किए जाने के कारण केवल क्षीर तथा हविष् के विषय में ही नित्य 'श्रृ' भाव की प्राप्ति होती है, अन्यत्र नहीं ।[1] अत: 'श्रृतं धान्यपटोलयो:' प्रयोग में 'श्रृ' भाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर धान्य तथा पटोल (एक प्रकार का कपड़ा) विषय है ।

इस विषय में कहा गया है कि व्यवस्थितविभाषा द्वारा कभी-कभी अन्य स्थलों में भी 'श्रृ' भाव की प्राप्ति हो जाने से ये प्रयोग साधु ही हैं । इसके पश्चात् दुर्घटवृत्तिकार ने 'पक्वम्' पाठान्तर भी दिया है । इसी प्रसंग में उसने चान्द्र व्याकरण का वह मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार क्षीर, आज्य तथा पयस् के पाक का विषय होने पर 'श्रा' धातु को 'श्रृ' भाव निपातन किया गया है, परन्तु चान्द्र व्याकरण में तो 'श्रृतं क्षीरहविषो:' (५।१।२३) यह सूत्र मिलता है ।

आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५

आह्वयः

जो धातु उपदेशावस्था में एजन्त है, उसको आदेचसूत्र द्वारा 'आत्व' का विधान किया गया है, परन्तु 'शित्' प्रत्ययों के परे होने पर नहीं । इस नियम के अनुसार 'ह्वे' धातु से 'पुंसि संज्ञायाम्—' (३।३।११८) सूत्र द्वारा (आहूयतेऽनेनेति आह्वय:) 'घ' प्रत्यय के परे होने पर 'ह्वे' को आत्व होकर 'आह्वाय:' का प्रयोग बनना चाहिए था । इस दृष्टि से 'आह्वय:' प्रयोग चिन्त्य है ।

इस समस्या का समाधान ज्ञापकसमुच्चय के मत के रूप में, यह दिया गया है कि 'का' और 'गा' धातुओं को दिवादिगण में पढ़ने के स्थान पर भ्वादिगण में 'कै' 'गै' रूप में पढ़े जाने के कारण यह ज्ञापित होता है कि आत्व कार्य अनित्य है । यदि यह कार्य नित्य होता तो ये धातुएं दिवादिगण में ही 'का' 'गा' रूप में पढ़ दी जातीं । अत: 'आह्वय:' प्रयोग साधु है । परन्तु काशिकाकार के अनुसार आत्व कार्य नित्य ही है ।[2]

दूसरा समाधान 'केचित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया कि इस प्रयोग को पृषोदरादिगण में पठित मानकर आत्व का अभाव सिद्ध हो जाएगा ।

१. महाभाष्य, ६।१।२७, पृ० ३३७ ।
२. काशिका, ६।१।४५ ।

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छरप्रभृतिषु ६।१।६३

मासि

'पद्दन्नोमास—' सूत्र पाद आदि शब्दों को 'शस्' आदि प्रत्ययों के परे होने पर 'पद्' आदि आदेशों का विधान करता है। इस सूत्र में 'शीर्षंछन्दसि' (६।१।६०) सूत्र से 'छन्दसि' पद कीं अनुवृत्ति आ रही है। अत: ये आदेश केवल केवल छन्द में ही होते हैं। इस दृष्टि से 'माघे मासि रटन्त्याप:', 'पद्गा' भरद्वाजमुनिं सशिष्यम्[1] तथा 'व्यायामक्षुण्णगात्रस्य' 'पद्भ्यामुद्वर्तितस्य' श्लोकांशों के 'मासि', 'पद्गा' तथा 'पद्भ्याम्' प्रयोगों में मास तथा पाद शब्दों को क्रमश: 'मास्' तथा 'पद्' आदेशभाव विचारणीय है, क्योंकि ये प्रयोग भाषा के हैं।

इस समस्या का समाधान, वृत्तिकार के मत रूप में, यह दिया गया है कि ये आदेश भाषा में भी इष्ट हैं। वृत्ति में कहा गया है कि कुछ विद्वान् इस सूत्र में 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति मानते हैं, परन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार ये आदेश विशेषण रहित होकर अर्थात् वेद तथा भाषा दोनों में प्रयुक्त होते हैं।[2]

भट्टिकाव्य की जयमंगला तथा चन्द्रकला-विद्योतिनी टीकाओं में 'पद्गा' प्रयोग की सिद्धि 'हिमकाषि—' (६।१।६३) सूत्र के चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थक मान कर 'गा' पद के उत्तर में होने पर 'पद्' आदेश द्वारा की गई है।[3] इन टीकाओं के रचयिता संभवत: 'पद्दन्नोमास—' सूत्र में 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति मानते हैं।

शरणदेव ने इसी प्रसंग में रक्षित का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'पद्' को 'पाद' का पर्याय माना गया है।

लोपो व्योर्वलि ६।१।६६

अन्वलश्च

'लोपो व्योवेलि' सूत्र द्वारा 'वल्' परे होने पर धातु तथा धातु से भिन्न शब्दों के वकार और यकार के लोप का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार अमरकोश के 'अन्वलश्च सा:'[4] प्रयोग में यह विचारणीय है कि

---

१. भट्टिकाव्य, ३।४१।

२. काशिका, ६।१।६३।

३. जयमंगला, भट्टिकाव्य, ३।४१।

४. अमरकोश, १।५।६।

'अवि' धातु से 'मूशक्यविम्य: क्ल:' सूत्र द्वारा क्ल प्रत्यय के परे होने पर 'व्' का लोप क्यों नहीं हुआ ?

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'य्' के साहचर्य से रेफ तथा लकार के विषय में लोप नहीं होता।

दुर्घटवृत्तिकार ने विकल्प के रूप में पवर्गान्त पाठान्तर की कल्पना भी की है। पवर्गान्त 'अन्बलश्च' पाठ मानने पर उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठता। अमरकोश तथा सिद्धान्तकौमुदी में पवर्गान्त पाठ ही मिलता है।[1] धातुवृत्ति में 'रवि लबि अबि शब्दे' यह निर्देश किया गया है।

वृश्चिक:

'वृश्चिक:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'व्रश्च्' धातु से 'ठक्' प्रत्यय के परे होने पर 'व्रश्च्' के वकार का रेफ रूप 'वल्' परे होने पर लोप की प्राप्ति होने के कारण 'वृश्चिक:' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'व्रश्चको व्रीहिवर्णे' आदि में 'व्' लोप का निषेध कर दिया गया है।[2] महाभाष्य, काशिका आदि में इस विषय में कहा गया है कि यहां पर उपदेश सामर्थ्य से 'व्' का लोप नहीं होगा। यदि 'व्' का लोप हो जाए तो उसके वकार सहित निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं थी।[3]

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८

अर्धपिप्पली

'हल्ङ्याब्भ्यो—' सूत्र में विचारणीय विषय है कि 'दीर्घ' शब्द को इस सूत्र में स्थान क्यों नहीं दिया गया? प्रत्ययग्रहण परिभाषा के अनुसार 'सुप्' आदि विभक्तियां ङ्यन्त से ही होती हैं। अत: 'ङी' (ई) के दीर्घ होने के कारण स्वत: सूत्र के 'ङी' पद से काम चल जाता तथा 'अर्धपिप्पली' जैसे प्रयोग सिद्ध हो जाते।

इस प्रश्न का उत्तर रक्षित के नाम से यह दिया गया है कि 'दीर्घ' ग्रहण से तदादि तथा तदन्त का नियमन हो जाता है अर्थात् यह सूत्र हलन्त आदि

---

१. 'अम्बलश्च'।—अमरकोश, १।५।९।

२. भाषावृत्ति, ६।१।६६।

३. महाभाष्य, ६।१।६३, पृ० २६४।

शब्दों में ही प्रवृत्त होता है न कि हलादि शब्दों में। इसीलिए 'निष्कोशाम्बि:' में 'सु' का लोप नहीं होता।

आद् गुण: ६।१।८७

पश्य उलूकपूर्णाम्

'आद् गुण:' सूत्र अवर्ण से 'अच्' परे होने पर पूर्व पर के स्थान पर गुणादेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से पंचतंत्र के 'दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णाम्'[1] इस श्लोकांश में यह विचारणीय है कि 'पश्य' तथा 'उलूक' पदों में गुण सन्धि क्यों नहीं हुई ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'संहितायाम्' (६।१।७२) सूत्र का अधिकार आने के कारण जब संहिता की विवक्षा होगी तभी गुणादेश की प्राप्ति हो सकेगी। शब्दकौस्तुभ में कहा गया है कि एकपद, समास, धातु और उपसर्ग में संहिता कार्य नित्य होता है परन्तु वाक्य में तो यह कार्य वक्ता की विवक्षा पर आधारित है।[2]

आउदकान्तम्

संहिता कार्य के एकपद में नित्य होने के कारण 'आउदकान्तं पद्गं प्रियमनुव्रजेत्' श्लोकांश के 'आउदकान्तम्' पद में 'आ+उ' में संहिता का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'ऊदनोर्देशे' (६।३।९८) सूत्र में दीर्घग्रहण का प्रयोजन अवग्रह के लिए है। कई बार शाखा में 'अनु ऊपोऽनूप:' इस प्रकार अवग्रह सहित पाठ किया जाता है।[3] इस दीर्घ उच्चारण से यह ज्ञापित होता है कि एकपद में भी संहिता कार्य अनित्य होता है। इस ज्ञापक का उल्लेख ज्ञापक समुच्चय में भी मिलता है।[4]

दुर्घटवृत्तिकार ने यह ज्ञापक एक अन्य सूत्र 'शक्तियष्टयोरीक्क्' (४।४।५९) के दीर्घ निर्देश 'ईकक्' से भी निकाला है। यह ज्ञापक भी इसी प्रकार निकाला गया है कि 'शक्ति-इकक्' इस स्थिति में लघु उच्चारण द्वारा भी इष्ट सिद्धि हो सकती थी, परन्तु फिर भी दीर्घोच्चारण किया गया। इस ज्ञापक का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. पञ्चतन्त्र, ३।१।

२. शब्दकौस्तुभ (भाग १), पृ० ३१।

३. तत्त्वबोधिनी (भाग २) ६।३।९८, पृ० १९०।

४. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ८५।

इसी प्रसंग में शरणदेव ने रक्षित का मत उद्धृत किया है। रक्षित ने 'उपसर्गाद्‌ध्रस्व—' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'एकपद में संहिता कार्य नित्य है' नियम प्रायिक है। अतः 'आउदकान्तम्' प्रयोग साधु है। अन्त में दुर्घटवृत्तिकार ने संहिता संहित 'औदकान्तम्' पाठान्तर भी दिया है। महाभाष्य में भी संहिता सहित 'आ उदकान्ताद्' ओछकान्तात् पाठ मिलता है।[1]

वृद्धिरेचि ६।१।८८

शुद्धोदनः

'वृद्धिरेचि' सूत्र अवर्ण से 'एच्' के परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि एकादेश करता है। इस नियम के अनुसार 'शुद्ध+ओदनः=शुद्धोदनः' प्रयोग में वृद्धि का अभाव विचारणीय है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इस प्रयोग को शकन्ध्वादिगण में पठित मान कर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक द्वारा पररूप एकादेश हो जाएगा। यह गण आकृतिगण है।[2]

पुञ्ज ! एतौ

इस प्रकार की कठिनाई 'द्रष्टुमुत्सुकमिति पुञ्ज ! एतौ' वाक्य के 'पुञ्ज ! एतौ' शब्दों में उपस्थित होती है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि यहां पर संहिता के विवक्षित न होने के कारण संधि नहीं हुई है।

औतोऽम्शसोः ६।१।९३

चित्रगुम्

'औतोऽम्शसोः' सूत्र ओदन्त को 'अम्' तथा 'शस्' विभक्तियों के परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर आकार एकादेश का विधान करता है। इस सूत्र को देखते हुए 'चित्रगुम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'चित्रा गावो यस्य चित्रगो' स्थिति में 'गोस्त्रियो—' (१।२।४८) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो कर 'चित्रगु' प्रयोग बनता है। उसके पश्चात् 'अम्' विभक्ति आने पर उकार को स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होने के कारण आत्व होना चाहिए था।

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर महाभाष्य, न्यास तथा दुर्घटवृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि 'स्थानिवदादेशो—' (१।१।५६) सूत्र

---

१. महाभाष्य, १।१।१४, पृ० २२६।

२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १) १।१।६४, पृ० ८२।

द्वारा अनल् विधि में स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होने के कारण यहां पर स्थानिवद् भाव नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'औतोऽम्शसोः' सूत्र से प्राप्त होने वाला 'आ' रूप आदेश'अल्' विधि है।[1]

अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१

प्रध्ययनस्य

'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र द्वारा 'अक्' से सवर्ण 'अच्' के परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर दीर्घ एकादेश का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'प्रध्ययनस्य' तथा 'कर्मणा यम—' (१।४।३२) सूत्र के न्यास में प्रयुक्त 'अभिप्रयणमभिप्रायः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'प्र+अध्ययनस्य' तथा 'प्र+अयनम्' प्रयोगों में दीर्घ एकादेश होना चाहिए था। यहां पर दुर्घटवृत्ति में 'अध्ययनस्य' पाठ मिलता है, परन्तु उसके स्थान पर 'प्रध्ययनस्य' पाठ होना चाहिए, जैसाकि समाधान से प्रतीत होता है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास वचने प्राक् सुबुत्पत्तेः'[2] परिभाषा के द्वारा 'प्र+अध्ययनस्य' तथा प्र+अयनम्' शब्दों में 'सुप्' की उत्पत्ति से पहले ही समास होकर 'अतो गुणो' सूत्र द्वारा पररूप होकर 'प्रध्ययनस्य' तथा 'प्रयणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। उसके पश्चात् ही इन प्रयोगों में 'सुप्' की उत्पत्ति होगी। इन पदों में दीर्घादेश इसलिए नहीं होगा कि संहिता पदों में ही होती है तथा पद संज्ञा सुबन्त तथा तिङन्त पदों की ही 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र के अनुसार होती है। उपर्युक्त परिभाषा का ज्ञापक 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) सूत्र का 'अतिङ्' पद है।

गति संज्ञक शब्दों का सुबन्तों के साथ ही समास होता है, यह मानते हुए दुर्घटवृत्तिकार ने दूसरा समाधान यह दिया है कि इन प्रयोगों को शकन्ध्वादिगण में मानकर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'[3] वार्तिक द्वारा पररूप आदेश सिद्ध हो जाएगा।

प्राध्ययनम्

परन्तु यदि 'गतिकारको—' परिभाषा को माना जाए तो भट्टि के 'तपोवनं प्राध्ययनाभिभूतम्'[4] श्लोकांश का 'प्राध्ययन' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा।

---

१. महाभाष्य, ६।१।९३, पृ० ४३२।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ७६।
३. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), १।१।६४।
४. भट्टिकाव्य, २।२४।

इस समस्या का समाधान रक्षित के मत रूप में यह दिया गया है कि 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।१।१४) सूत्र द्वारा 'अलुक्' विधान से यह ज्ञापित होता है कि यह परिभाषा इष्ट प्रयोगों में ही प्रवृत्त होती है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया है कि यदि यह परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त होती तो 'अलुक्' विधान व्यर्थ होता, क्योंकि समास की स्थिति में 'सुप्' की उत्पत्ति से पूर्व 'लुक्' का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार इस परिभाषा के प्रायिक होने के कारण 'प्राध्ययन' प्रयोग में 'सुप्' की उत्पत्ति के पश्चात् ही समास होगा तथा दीर्घादेश कार्य भी हो जाएगा।

अधीयते

'इङ्' धातु के बहुवचन के प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'अधि+इ+ते' स्थिति में सवर्ण दीर्घादेश करने के पश्चात् 'इयङ्' होकर 'अधियते' अनिष्ट प्रयोग बनेगा। यहां पर दुर्घटवृत्ति में 'अधीयत इति स्यात्' के स्थान पर 'अधियते' पाठ होना चाहिए।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'नेन्द्रस्य परम्' (७।३।२२) सूत्र से ज्ञापित होता है कि पूर्वोत्तर सम्बन्ध पहले हो जाते हैं और दीर्घादेश उसके पश्चात् ही होता है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'इन्द्र' शब्द दो अचों वाला है। अन्तिम 'अच्' का 'यस्येति च' सूत्र से लोप हो जाएगा। इसी प्रकार प्रथम 'अच्' को सवर्ण दीर्घादेश। अतः वृद्धि का स्थान ही न रहने पर 'नेन्द्रस्य' सूत्र द्वारा 'सोमेन्द्रः' प्रयोग में प्रतिषेध व्यर्थ है। इस ज्ञापक के आश्रय से 'अधीयते' प्रयोग में भी एकादेश से पूर्व 'इयङ्' हो जाएगा। यह ज्ञापक न्यास, पदमञ्जरी तथा ज्ञापक समुच्चय में भी मिलता है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा के अनुसार आङ्ग कार्य 'इयङ्' आदेश वार्ण कार्य एकादेश की अपेक्षा बलवान् है। अतः पहले 'इयङ्' हो जाएगा। इसी प्रसंग में शरणदेव ने न्यासकार का मत उद्धृत किया है। न्यासकार ने यह स्वीकार किया है कि उपर्युक्त परिभाषा वार्ण तथा आङ्ग कार्यों के भिन्न-भिन्न आश्रय अथवा निमित्त होने पर भी प्रवृत्त होती है। जैसे 'च्यवन्ते' तथा 'प्लवन्ते' प्रयोग। 'च्यु+अ+अन्ते' तथा 'प्लु+अ+अंते' स्थितियों में एकादेश का आश्रय 'अ+अ' है परन्तु गुण का आश्रय 'उ+अ' हैं। इस स्थिति में अङ्ग रूप कार्य पहले हो जाएगा।[2] रक्षित ने इस

---

१. ज्ञापकसमुच्चय, पृ० ६२।

२. न्यास (भाग १), १।२।४, पृ० १४४।

विषय में कहा है कि प्रयोगों के कारण यह परिभाषा कभी-कभी भिन्न-भिन्न आश्रयों में भी प्रवृत्त होती है। जैसे 'अभिप्रयण' प्रयोग। 'अभि + प्र + इ + अन' स्थिति में 'प्र + इ' वार्ण हैं जबकि गुण का आश्रय 'इ' है। अतः पहले गुण हो जाएगा।

परोक्षम्

'परोक्षम्' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'अक्ष्णः परम्' अव्ययीभाव समास के प्रयोग में 'अव्ययीभावे—' (५।४।१०७) सूत्र से 'टच्' होकर 'पराक्षम्' प्रयोग बनना चाहिए। यहां पर दुर्घटवृत्ति में 'अक्षणः परं परोक्षम्' पाठ मिलता है, लेकिन इसके स्थान पर 'पराक्षम्' पाठ होना चाहिए। यह पाठ मानने पर ही समस्या सुसंगत प्रतीत होती है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'परोक्षेलिट्' (३।२।११५) सूत्र निर्देश द्वारा 'उत्व' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। भट्टोजिदीक्षित ने यहां पर 'ओत्व' आदेश माना है।[1]

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२

देवो याति

'प्रथमयोः—' सूत्र प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के 'अच्' परे होने पर 'अक्' के स्थान पर पूर्वपर में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश करता है। इस नियम की दृष्टि से 'देवोयाति' प्रयोग विचारणीय है क्योंकि 'देव' शब्द से 'सु' विभक्ति तथा रुत्व आदेश के पश्चात् 'याति' पद के 'य्' रूप 'हश्' के परे होने पर 'हशि च' सूत्र द्वारा 'रू' को उत्व आदेश की प्राप्ति होगी। अतः 'देव + उ + याति' इस स्थिति में 'प्रथमयोः···' सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घादेश होना चाहिए।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'नादिचि' (६।१।१०४) सूत्र द्वारा 'इच्' के परे होने पर अकार को पूर्वसवर्ण दीर्घादेश का निषेध हो जाएगा।

सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८

विव्ययुः

'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र द्वारा सम्प्रसारण से 'अच्' के परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पर्वरूप एकादेश का विधान किया गया है। 'व्येञ् संवरणे' धातु के

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ५।८।१०७, पृ० २४।

'लिट्' लकार के अन्य पुरुष बहुवचन के प्रयोग में 'व्ये' धातु से 'उस्' प्रत्यय के परे होने पर 'वचिस्वपि…' (६।१।१५) सूत्र द्वारा धातु को सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है। 'आदेच उपदेशे…' (६।१।४५) सूत्र द्वारा 'आत्व' की प्राप्ति का 'न व्यो लिटि' (६।१।४६) सूत्र द्वारा निषेध कर दिया गया है। 'व्ये' के 'य्' को 'इ' रूप सम्प्रसारण होकर 'इ' तथा 'ए' को 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र द्वारा पूर्वरूप आदेश होकर 'वि+उस्' यह स्थिति बनती है। उसके पश्चात् अभ्यास आदि कार्य होकर 'वि+वि+उस्' अवस्था में 'एरनेकाच…' (६।४।८२) सूत्र द्वारा 'यण्' आदेश होकर 'विव्युः' प्रयोग निष्पन्न होता है। माघ ने भी अपने काव्य में इसका प्रयोग किया है—'संविव्युरम्बरविकासि'।[1] इस दृष्टि से भट्टि काव्य का 'विव्ययुर्देहान्'[2] प्रयोग चिन्त्य है।

दुर्घटवृत्तिकार ने पहले तो इस प्रयोग को चिन्त्य ठहराया है। परन्तु बाद में 'संज्ञापूर्वकविधेरनित्यः' परिभाषा द्वारा सम्प्रसारण विधि को अनित्य मानते हुए उसके अभाव में 'हलादि शेषः' सूत्र द्वारा अभ्यास आदि कार्य करके इस प्रयोग को सिद्ध किया है। यहां पर काशिका का मत द्रष्टव्य है जिसके अनुसार 'वचिस्वपि…' तथा 'ग्रहिज्या' सूत्रों द्वारा धातुओं का ग्रहण होने पर भी 'लिट्यभ्या…' (६।१।१७) सूत्र के 'उभयेषाम्' पद द्वारा जो पुनर्ग्रहण किया गया है उससे 'हलादि शेषः' सूत्र का बाध होकर सम्प्रसारण ही अभीष्ट माना गया है।[3]

जयमंगला तथा चन्द्रकला-विद्योयिनी टीकाओं में 'वचिस्वपि…' सूत्र द्वारा विहित कार्य की अपेक्षा करके 'लिट्यभ्या…' सूत्र द्वारा अभ्यास को सम्प्रसारण करके यह प्रयोग साधु माना गया है।[4] परन्तु सिद्धान्त कौमुदी तथा धातुवृत्ति में 'विव्युः' प्रयोग ही मिलता है। धातुवृत्ति में कहा गया है कि 'वचिस्वपि…' सूत्र से सम्प्रसारण होकर बाद में ही द्वित्व आदि कार्य होंगे।[5]

ऋत उत् ६।१।१११

जाग्रोऽविचि

'ऋत उत्' सूत्र ऋकारान्त से 'ङसि' और 'ङस्' परे होने पर पूर्वपर के

१. शिशुपालवध, ५।३।
२. भट्टिकाव्य, १४।७४।
३. काशिका, ६।१।१७।
४. जयमंगला, भट्टिकाव्य, १४।७४।
५. धातुवृत्ति, पृ० ३०३।

स्थान पर उकार एकादेश का विधान करता है। इस दृष्टि से 'जाग्रोऽविचि…' (७।३।८५) सूत्र की षष्ठी निर्दिष्ट 'जागृ' से 'ङस्' परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर उकार एकादेश द्वारा 'जागुर' प्रयोग बनना चाहिए जैसा कि 'उषविद्-जागुर' यह निर्देश हुआ है। परन्तु पाणिनि ने तो यह निर्देश न करके 'उषविदजागृभ्यो—' (३।१।४०) निर्देश किया है। हां, चान्द्र तथा जैनेन्द्र व्याकरणों में अवश्य 'जागुरलिटि' (६।२।६) तथा 'जागुरविचिणल् ङिति' (५।२।८२) इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं।

इस विषय में यह कहा गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि नियम प्रयोग में सदैव प्रवृत्त हों अथवा यह कहा जा सकता है कि शास्त्र प्रयोगों के प्रति परतंत्र होते हैं अर्थात् प्रयोगों की दृष्टि से ही नियम बनाए जाते हैं।

ख्यत्यात् परस्य ६।१।११२

सख्या:

'सखि' तथा 'सखी' शब्दों को 'ङसि' तथा 'ङस्' परे होने पर 'यण्' आदेश के पश्चात् 'ख्यत्यात्—' सूत्र द्वारा 'ङसि' तथा 'ङस्' के अकार को उत्वादेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार मेघदूत के 'एक: सख्यास्तव सह मया'[1] श्लोकांश के 'सख्या:' शब्द में 'उत्व' का अभाव इसलिए विचारणीय है कि सूत्र में विकृत 'ख्य' निर्दिष्ट है। अत: 'उत्व' होकर 'सख्यु:' बनना चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यह विकृत निर्देश 'खेन सह वर्तत इति सख:' शब्द से' 'सखमात्मन: इच्छति' व्युत्पत्ति के अनुसार 'क्यच्' होकर जो 'सखी' शब्द बनता है, उसके प्रति कृतार्थ है अर्थात् 'क्यच्' प्रत्ययान्त 'सखि' शब्द का प्रयोग होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है। परन्तु जब 'ख्या' धातु से उणादिसूत्र 'समाने ख्यस्य चोदात्त:' (सि० कौ० ५७६) द्वारा 'इन्' प्रत्यय होकर 'सखी' शब्द निष्पन्न होता है, तो उस स्थिति में 'आणनय:' (७।३।११२) सूत्र के पर होने के कारण 'आट्' आगम द्वारा 'सख्या:' प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार मेघदूत का प्रयोग साधु है।

दिव उत् ६।१।१३१

दिवोकस:

'दिव उत्' सूत्र पदसंज्ञक 'दिव्' शब्द को 'उत्' आदेश करता है। इस नियम की दृष्टि से 'दिवोकस:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'द्योरोको येषाम्'

---

१. उत्तरमेघ, ७७।

विग्रह के अनुसार 'दिव्' पद को 'उत्' आदेश होकर 'दि+उ—द्यु' स्थिति बन जाने के पश्चात् 'द्यु+औकस्' पदों में 'यण्' आदेश द्वारा 'द्य्वोकसः' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि शब्दपरविप्रतिषेध द्वारा 'दि+उ+ओकस्' इस स्थिति में 'उ+ओकस्' में यणादेश होकर 'दिवोकसः' शब्द प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यहां पर पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि 'अचः परस्मिन्···(१।१।५७) सूत्र द्वारा 'व्' को स्थानिवद् भाव हो जाने के कारण पुनः 'इ' तथा 'उ' को यणादेश की प्राप्ति होने लगेगी। इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव'[1] परिभाषा द्वारा पुनः यणादेश की प्राप्ति नहीं होगी। यही समाधान धातुवृत्ति में रक्षित के नाम से तथा अमरकोश की टीका में मिलता है।[2]

चान्द्र सम्प्रदाय के विद्वान् इस प्रयोग को पृषोदरादिगण में मानकर 'उत्व' का अभाव सिद्ध करते हैं। इसी प्रसंग में शरणदेव ने उन विद्वानों के मत का उल्लेख किया है जिनके अनुसार अकारान्त 'दिव' शब्द से 'दिवोकसः' प्रयोग भी बनता है। इस अकारान्त 'दिव' शब्द का अश्वघोष ने 'इदं पुरं···यथा दिवम्'[3] श्लोक में प्रयोग किया है। दुर्घटवृत्तिकार ने 'अपरः' निर्देश द्वारा 'दिवं नमः' वाक्य उद्धृत किया है जिससे विकल्प के रूप में दिवोकसः' प्रयोग भी बनता है। 'अपरः' निर्देश त्रिकाण्ड शेष के कर्ता पुरुषोत्तमदेव का निदशक प्रतीत होता है, क्योंकि यह वचन त्रिकाण्डशेष में मिलता है।[4]

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२

सो वा

'एतत्तदो···' सूत्र ककार रहित 'एतद्' तथा 'तद्' शब्दों से परे 'सु' लोप का विधान करता है। इस दृष्टि से 'सो वा कम्बलविक्रयी' वाक्य में यह विचारणीय है कि 'वा' रूप परे होने पर 'सो' (सः) की विसर्ग का लोप क्यों नहीं हुआ ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'सो' के स्थान पर 'स्यो' पाठ मानना चाहिए। यहां यह कहा गया है कि यद्यपि वृत्तिकार के

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ४०।
२. धातुवृत्ति, पृ० ४०२।
३. बुद्धचरितम् ८।१३।
४. त्रिकाण्डशेष, १।१।४।

अनुसार 'त्यद्' शब्द का वेद में ही प्रयोग होता है, परन्तु भाषा में कभी-कभी छान्दस् प्रयोग भी हो जाते हैं। इस प्रकार 'स्यो' पाठ मानने पर लोप का प्रश्न ही नहीं उठेगा। वैसे पाणिनि के 'स्योश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र के 'छन्दसि' पद से ही यह पता लगता है कि 'त्यद्' का प्रयोग भाषा में भी होता है। यदि ऐसा न होता तो इस प्रकार के निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं थी।

काशिका में 'स्योश्छन्दसि' सूत्र की वृत्ति में, 'त्यद्' शब्द छान्दस् है, यह कथन नहीं मिलता। हां, शब्दकौस्तुभ में यह मत अवश्य मिलता है।[1]

सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ६।१।१३७

संस्कारः

'सम्' आदि उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु के परे होने पर 'सम्पर्युपेभ्यः··' सूत्र द्वारा भूषण अर्थ में 'सुट्' का विधान किया गया है। अतः 'अनित्यः संस्कारः' तथा 'सर्वं संस्कारमनित्यम्' वाक्यों के 'संस्कार' पद में 'सुट्' का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर यह शब्द भूषण अर्थ का वाचक न होकर कार्य का पर्यायवाची है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, भाषावृत्ति के मत रूप में यह कि यह शब्द अव्युत्पन्न है।[2]

दूसरा समाधान 'अन्यः' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'सुट्कात् पूर्वः' (६।१।१३५) सूत्र विधि तथा अधिकार दोनों प्रकार का सूत्र है। अतः उसके विधि सूत्र होने पर उसके द्वारा 'संस्कार' शब्द में 'सुत्' हो जाएगा। परन्तु काशिका आदि में तो इस सूत्र को अधिकार सूत्र ही माना गया है।[3]

काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी में कहा गया है कि कभी-कभी भूषण अर्थ न होने पर भी 'सुट्' हो जाता है।[4] इस बात का ज्ञापक 'संस्कृतं भक्षाः' सूत्र है, क्योंकि पर 'संस्कृतम्' शब्द भूषण अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है।[5]

वस्तुतः 'भूषण' शब्द का अर्थ रूढ़ि अलंकार ही नहीं लेना चाहिए अपितु उसका यौगिक अर्थ संस्करण, सजाना, शब्द को सिद्ध करना भी लिया जा सकता है। इन यौगिक अर्थों की दृष्टि से 'संस्कार' शब्द में 'सुट्' का आगम 'सम्पर्युपेभ्यः—' सूत्र से स्वतः हो जाएगा। □ □

---

१. शब्दकौस्तुभ (भाग १), १।१।२७, पृ० १६६।

२. भाषावृत्ति, ६।१।१३७।

३. काशिका, ६।१।१३५।

४. उपरिवत्, ६।१।१३७।

५. न्यास (भाग २), ६।१।१३७, पृ० २८८।

षष्ठ अध्याय : तृतीय पाद

औजस्सहोम्भस्तमसस्तृतीयाया: ६।३।३

नैशततमोवृतम्

'औजस्सहोम्भ—-' सूत्र 'औजस्' आदि शब्दों से उत्तर पद होने पर समास में तृतीया के अलुक्' का विधान करता है। इस नियम के अनुसार भारवि के 'सततनैशततमोवृतम्'[1] श्लोकांश में 'नैशततमोवृत्तम्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'तमसावृतम्' विग्रह वाक्य में तृतीया का 'लुक्' कैसे हो गया ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम, रक्षित के मत रूप में, यह कि 'वृतु' धातु से 'क' प्रत्यय करके 'नैशतमो वृतं वर्तमानं तस्य' व्युत्पत्ति के अनुसार अर्शादि 'अच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यह व्युत्पत्ति मानने पर तृतीया समास की स्थिति ही नहीं बन पाएगी।

दूसरा समाधान 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति'[2] परिभाषा के द्वारा यह दिया गया है कि 'नैश' शब्द के साथ 'तमस्' का समास होने पर तथा तदन्त विधि का निषेध हो जाने के कारण यहां पर 'अलुक्' नहीं होगा। 'अलुक्' उस स्थिति में होता है जब पूर्वपदभूत 'तमस्' आदि शब्द हों। यहां पर तो 'तमस्' शब्द पूर्वपद न होकर उत्तरपद है। दुर्घटवृत्तिकार ने यह समाधान भाषावृत्ति के नाम से दिया है, परन्तु उसके द्वारा उद्धृत मत कुछ स्पष्ट नहीं है।[3] यह समाधान हरदत्त ने भी दिया है,[4] परन्तु तत्त्वबोधिनीकार इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार उत्तर पद के अधिकार में भी तदन्तविधि होती है। उन्होंने इस प्रसंग में महाभाष्यकार को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'इष्टक्वचितम्' तथा 'पक्वेष्टक्वचितम्' प्रयोगों में उत्तरपद का अधिकार होने पर भी तदन्तविधि हुई है। अत: तत्त्वबोधिनीकार ने इस समस्या का समाधान यह दिया है कि 'घञर्थेक विधानम्' वार्तिक द्वारा 'वृतु' धातु से 'क' प्रत्यय

१. किरातार्जुनीयम्, ५।२।
२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ३१।
३. भाषावृत्ति, ६।३।३।
४. पदमञ्जरी (भाग २), ६।३।३, पृ० ५८१।

करके 'तमसः वृत्तम्' विग्रह के अनुसार षष्ठी तत्पुरुष होने पर 'अलुक' का प्रश्न ही नहीं होगा।[1]

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५

अध्येतृवेदित्रोः

'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' सूत्र विद्या तथा योनि सम्बन्ध वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को 'आनङ्' आदेश का विधान करता है। अतः 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६४) सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'अध्येतृवेदित्रोः' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर पूर्वपद को 'आनङ्' आदेश होना चाहिए था जैसाकि मीमांसक के 'नेष्टोद्गातारौ' प्रयोग में किया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'अध्येतृ' और 'वेदितृ' पदों में परस्पर विद्या सम्बन्ध की विवक्षा न होने के कारण 'आनङ्' नहीं हुआ है। शब्दव्युत्पत्ति में विवक्षा प्रधान कारण होती है। इसका ज्ञापक 'तयाचिरव्या—' सूत्र है जिस पर पहले विचार किया जा चुका है।

होतृपोतृनेष्टोद्गातारः

इसी प्रकार की समस्या 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' प्रयोग में उपस्थित होती है। इस समस्या का समाधान, पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम से, यह दिया गया है कि समास में जो पद सबसे अन्तिम होता है, उसी को उत्तरपद की संज्ञा दी जाती है। बालमनोरमा में इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'होतृ' तथा 'पोतृ' शब्द उत्तरपदपरक इसलिए नहीं हैं कि बीच में 'नेष्टृ' तथा 'पोतृ' शब्दों का व्यवधान है।[2] इसीलिए रक्षित ने 'नैककीर्तिः' इस तीन पदों वाले बहुव्रीहि समास के विषय में कहा है कि यहां पर उत्तरपद का अभाव होने के कारण 'न्' का लोप नहीं हुआ है।

दुहितात्मजौ

त्रिकाण्डशेष के 'दुहितात्मजौ' प्रयोग में यह दोष उपस्थित होता है कि ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में ही पूर्वपद को 'आनङ्' आदेश का विधान किए जाने के कारण यहां पर 'दुहितृ' शब्द को 'आनङ्' नहीं होना चाहिए था, क्योंकि 'आत्मज' शब्द ऋकारान्त नहीं है। त्रिकाण्डशेष में उपर्युक्त कथन मिल नहीं सका।

दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग को असाधु ही ठहराया है। इसी प्रसंग में

---

१. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ६।३।३, पृ० १६६।
२. बालमनोरमा (भाग २) २।२।२६, पृ० १५६।

उसने 'केचित्' निर्देश द्वारा उन विद्वानों के उस मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार इस सूत्र में 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (६।३।२२) सूत्र में 'पुत्र' शब्द की अनुवृत्ति आ रही है। इस अनुवृत्ति द्वारा पुत्र के अर्थ ग्रहण से 'आत्मज' शब्द के परे होने पर भी पूर्वपद ऋकारान्त को 'आनङ्' हो जाएगा। परन्तु महाभाष्य आदि किसी भी ग्रंथ में यह मत स्वीकार नहीं किया गया। 'पुत्र' शब्द की अनुवृत्ति तो सभी मानते हैं।[1] स्वयं शरणदेव ने भी इस मत का खंडन यह कह कर किया है कि अतिप्रसंग दोष के कारण यह मत ग्राह्य नहीं तथा इस रूप में अन्य किसी वैयाकरण ने 'अनुवृत्त' पुत्र शब्द की व्याख्या नहीं की है।

देवताद्वन्द्वे च। ६।३।२६

रविचन्द्रौ

'देवताद्वन्द्वे च' सूत्र देवतावाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को 'आनङ्' आदेश करता है। इस दृष्टि से घटकर्पर के 'रविचन्द्रावपि लोपलक्षितौ'[2] श्लोकांश में 'रविचन्द्रो' पद विचारणीय है, क्योंकि रवि तथा चन्द्र के देवता-वाचक होने के कारण 'रवि' शब्द को 'आनङ्' होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि पूर्ववर्ती सूत्र 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे से' द्वन्द्वे पद के अनुवर्तित होने पर भी पुनः जो 'द्वन्द्वे' पद का ग्रहण किया गया, वह इस बात का सूचक है कि यह सूत्र उन्हीं प्रयोगों में प्रवृत्त होगा, जो वेद में प्रसिद्ध हों। इस सम्बन्ध में महाभाष्य काशिका आदि में कहा गया है कि वेद में जो अत्यन्त सहचरित रूप से प्रसिद्ध हैं उनमें ही यह सूत्र कार्य करता है।[3] 'रविचन्द्रौ' यह द्वन्द्व वेद में प्रसिद्ध नहीं है। अतः यहां पर 'आनङ्' आदेश नहीं होगा।

ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६।३।२७

कुशीलवौ

'ईदग्नेः' सूत्र सोम तथा वरुण शब्दों के देवतावाचक द्वन्द्व समास के प्रयोगों में 'अग्नि' शब्द को 'ईत्व' आदेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'एवं विनिश्चयं कृत्वा सम्प्रगृह्य कुशीलवौ' तथा 'भविष्यदुत्तरं काव्यं ययस्तौ कुशीलवौ' श्लोकांशों के 'कुलश्च कुशीलवौ' प्रयोग में 'ईत्व' चिन्त्य है, क्योंकि उपर्युक्त सूत्र में कुश तथा लव शब्दों का अन्तर्भाव नहीं किया गया।

---

१. काशिका, ६।३।२५।
२. घटकर्पर, श्लोक १।
३. महाभाष्य, ६।३।२६, पृ० ५९७।

इस दोष का निवारण, भाषावृत्ति के मत रूप में, इस प्रकार किया गया कि 'अग्नि' शब्द से 'इत्' का विधान करने के स्थान पर जो दीर्घ विधान किया गया उससे यह यह ज्ञापित होता है कि अन्य प्रयोगों में भी यह कार्य हो जाता है। ह्रस्व विधान किए जाने पर भी सवर्ण दीर्घादेश द्वारा अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती थी। इस प्रकार 'कुशीलवौ' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु यदि इन प्रयोगों को साधु माना जाए तो रघुवंश और सम्बन्ध (कोई ग्रंथ) के कवि कुशलावेव चकार किल नामत'[1] तथा 'राम इव कुशलवयोः रूपोच्छ्राय:' श्लोकांशों के ईत्व रहित 'कुशलवौ' तथा 'कुशलवयो:' प्रयोग चिन्त्य हो जाएंगे।

इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'ईदग्ने···' सूत्र में 'विभाषा स्वसृपत्यो:' (६।३।२४) सूत्र में 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। उसे व्यवस्थितविभाषा मान कर कहीं कहीं 'ईत्व' नहीं होगा। परन्तु अन्य किसी व्याकरण ग्रन्थ में इस सूत्र से 'इदग्नेः' सूत्र में विभाषा पद की अनुवृत्ति नहीं मानी गई।

यह समाधान उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसके स्थान पर 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रम्' परिभाषा द्वारा इन प्रयोगों को साधु माना जाना चाहिए।

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे
स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ।६।३।३४

दृढ़भक्तिः

'स्त्रियाः पुंवद्···' सूत्र का अर्थ है—तुल्य प्रवृत्तिनिमित्त के होने पर जिसने पुरुष को कहा है तथा जिसमे 'ऊङ्' नहीं हुआ है, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक शब्द के समान रूप होगा, यदि समानाधिकरण वाला स्त्रीलिंग शब्द उत्तरपद में हो, परन्तु 'पूरणी' प्रत्ययान्त तथा प्रियादिगण में पठित शब्दों के परे होने पर यह कार्य नहीं होता। इस सूत्र की दृष्टि से 'दृढ़ा भक्ति यस्य स दृढ़भक्तिः' शब्द के प्रियादिगण में पठित होने के कारण यहां पर पुंवद् भाव नहीं होना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम वृत्तिकार के मत रूप में, यह कि यहां पर 'दृढ़' शब्द के द्वारा स्त्रीलिंग की विवक्षा न होने के कारण पंवद् भाव का प्रश्न ही नहीं होगा। यही समाधान न्यासकार ने भी दिया है।[2]

---

१. रघुवश, १५।३२।

२. न्यास (भाग २), ६।३।३४, पृ० ४४०।

दूसरा समाधान पदसंस्कार पक्ष द्वारा यह दिया गया है कि 'दृढ़ भक्तिरस्य' विग्रह के अनुसार यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

भवतीसुतक्षयकर :

बेणीसंहार तथा दुर्गासप्तशती के 'एकोऽहं भवतीसुतक्षयकरः'[1] तथा 'भवतीप्रसादात्'[2] श्लोकांशों के 'भवती' पद में पुंवद्भाव का अभाव इसलिए विचारणीय है कि 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवदभावः'[3] वचन द्वारा पुंवद्भाव होना चाहिए था।

इस विषय में यह कहा गया है कि 'स्त्रियाः पुंवद्···' सूत्र का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'पुंवत्' से ही उपर्युक्त वचन द्वारा विहित कार्य साध्य है। अतः यह कार्य इष्ट प्रयोगों की दृष्टि से कभी-कभी होता है। इसी प्रसंग में शरणदेव का कथन है कि वृत्ति में यह वचन इसीलिए लिखा नहीं गया। परन्तु वृत्ति (काशिका) में 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' (५।३।२८) सूत्र की व्याख्या में यह वचन वार्तिक के रूप में मिलता है।

बाद में उपर्युक्त प्रयोगों के साधुत्व के लिए यह भी कहा गया है कि वार्तिकों के लक्ष्यपरक होने के कारण प्रायिक होने से 'एवं चानियोगे' वार्तिक के समान यह वचन भी प्रायिक है।

भाषावृत्तिकार के अनुसार दुर्गासप्तशती का प्रयोग असाधु है।[4] भाषावृत्ति के पादटिप्पण में इस प्रयोग को आर्ष होने के कारण साधु माना गया है।[5]

तसिलादिष्वा कृत्वसुचः ६।३।३५

सतीत्वम्

'त्वतलोर्गुणवचनस्य'[6] वार्तिक के अनुसार 'पट्व्या भावः पटुता' आदि प्रयोगों में पुंवद्भाव होता है। इस दृष्टि से 'सतीत्व सखि ! रक्षणीयम्' वाक्य के 'सतीत्वम्' पद में पुंवद्भाव का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'न कोपधायाः' (६।३।३७) सूत्र

१. वेणीसंहार, ५।६।
२. दुर्गासप्तशती, ४।१६।
३. काशिका, ५।३।२८। माहाभाष्य में यह मत वचन रूप में मिलता है।
४. भाषावृत्ति, ६।३।३५।
५. उपरिवत्, ६।३।३५, पादटिप्पण २५।
६. महाभाष्य, ६।३।३५, वा० १०।

का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'न' द्वारा यहां पर पुंवद्भाव का निषेध हो जाएगा। न्यासकार ने इस योगविभाग को स्वीकार किया है।[1]

पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२

गौरीब्राह्मणितरा

'पुंवत् कर्मधारय—' सूत्र द्वारा कर्मधारय समास में तथा 'जातीयर्' और 'देशीय' प्रत्ययों के परे होने पर भाषितपुंस्क स्त्रीलिंग शब्दों को पुंवद्भाव का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'सुप्तिङन्तं पदम्' (६।३।४२) सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'गौरीब्राह्मणितरा' कर्मधारय का यह प्रयोग जिसमें 'गौरी' शब्द पूर्व में है, विचारणीय है, क्योंकि गौरत्व स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग का प्रवृत्तिनिमित्तक है तथा इस प्रकार से अपने समान रूप में भाषितपुंस्क होने के कारण यहां पर 'गौरी' शब्द को पुंवद्भाव होना चाहिए था।

शरणदेव द्वारा दिए गए समाधान का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं है, क्योंकि यहां समाधान की पंक्ति में 'गौरीति' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि लेखक का आशय यह है कि अकारान्त पुलिंग शब्द 'गौर' के साथ स्त्रीलिंग प्रत्यय होकर 'गौरी' बना है तो 'गौरति' पाठ होना चाहिए, जैसाकि आगे के 'गौरब्राह्मणितरा' अंश से स्पष्ट है। परन्तु यह पाठ मानने पर 'यदा' तथा 'तददिमुक्तम्' पदों का अर्थ सुसंगत नहीं होता।

इस प्रयोग के विषय में हरदत्त ने यह कहा है कि वृत्ति में गौरी ब्राह्मिणातरा' प्रयोग पुंवत् रूप कार्य रहित समस्तप्रदर्शनपरक वाक्य है। अतः उपर्युक्त समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

महाष्टमी

'महाष्टमी' प्रयोग में पुंवद्भाव तथा आत्व कार्य इसलिए हुए हैं कि 'पुंवत् कर्मधारय…' सूत्र में 'स्त्रियाः पुंवद्…' सूत्र से 'अपूरणी…प्रियादिषु' पद की अनुवृत्ति नहीं आ रही है जिसके फलस्वरूप 'अष्टमी' शब्द के परे होने पर पुंवद्-भाव का निषेध नहीं हो सकेगा।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६

महतीप्रियः

'आन्महतः…' सूत्र समानाधिकरण में तथा 'जातीयर्' प्रत्यय के परे होने पर 'महत्' शब्द को आकार आदेश करता है। इस नियम की दृष्टि से 'महती-

---

१. न्यास (भाग २), ६।३।३५, पृ० ४४१।

२. पदमञ्जरी (भाग १), १।१।१४, पृ० २७४।

प्रियः' प्रयोग में 'महती' शब्द को आकार आदेश होना चाहिए, क्योंकि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'[1] परिभाषा के अनुसार स्त्रीवाचक 'महती' शब्द का भी 'महत्' शब्द से ग्रहण हो जाता है।

इस प्रयोग को महाभाष्य, दुर्घटवृत्ति तथा तत्वबोधिनी में इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि उपर्युक्त परिभाषा अनित्य है। अतः 'महतीप्रियः' प्रयोग इस परिभाषा का विषय नहीं बन सकेगा। इस परिभाषा का ज्ञापक पदमञ्जरी, दुर्घटवृत्ति तथा तत्त्वबोधिनी में 'अच प्रकरणे शक्तिलांगलांकुशयष्टितोम रघटघटीधनु:षुग्रहेरुपसंख्यानम्[2] वार्तिक के 'घट' पद के साथ 'घटी' पद का पाठ माना गया है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'घटी' शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'घट' शब्द से उसका स्वतः ग्रहण हो जाता।[3]

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७

सन्देहद्वापरौ

'द्व्यष्टनः···' सूत्र द्वारा 'द्वि' तथा 'अष्टन्' शब्दों को संख्यावाचक उत्तरपद होने पर 'आत्व' आदेश का विधान किया गया है, परन्तु बहुव्रीहि समास में तथा 'अशीति' पद के परे होने पर नहीं। इस नियम के अनुसार अमरकोश के 'संदेहद्वापरौ'[4] प्रयोग में 'द्वि' को 'आत्व' चिन्त्य है, क्योंकि उससे परे 'पर' शब्द संख्यावाचक नहीं है। इसी प्रकार की समस्या 'सप्ताविंशतिमौक्तिकैः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है।

इन प्रयोगों को तीन प्रकार से सिद्ध किया गया है। प्रथम समाधान यह दिया गया है कि 'आन्महतः···' (६।३।४६) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'आत्' से इन प्रयोगों में 'आत्व' हो जाएगा। महाभाष्य, काशिका आदि में इस प्रकार से योगविभाग नहीं किया गया।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'कुसीददशैकादशाद'—(४।४।३१) सूत्रस्थ 'एकादश' इस निर्देश द्वारा ये प्रयोग साधु माने जा सकेंगे।

शरणदेव ने वृद्धसुवर्ण नामक पुस्तक को उद्धृत करते हुए 'सप्ताविंशति' प्रयोग के लिए अन्य समाधान यह दिया है कि यहां पर 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) सूत्र द्वारा दीर्घ हो जाएगा। इसी प्रकार इस सूत्र द्वारा

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ७२।
२. महाभाष्य, ३।२।६।
३. पदमञ्जरी (भाग २), ४।१।१, पृ० ८।
४. अमरकोश, १।५।३।

'पूर्वामुखः', 'पश्चिमामुखः' 'उत्तरापथः' तथा 'दक्षिणापथः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएंगे। इन प्रयोगों के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'दक्षिणादाच्' (५।३।३६) तथा 'उत्तराच्च' (५।३।३८) सूत्रों द्वारा 'दक्षिण' तथा 'उत्तर' शब्दों से 'आच्' प्रत्यय होकर बाद में 'दिवसंख्ये—' (२।१।५०) सूत्र से समास हो जाएगा।

ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम् ६।३।६३

वैदेहिबन्धः

'ङ्यापोः संज्ञा—' सूत्र संज्ञा तथा छन्द के प्रयोगों में ङ्यन्त तथा आबन्त शब्दों को बहुल से ह्रस्वादेश का विधान करता है। इस नियम के अनुसार रघुवंश के 'वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे'[1] श्लोकांश के 'वैदेहिबन्धः' प्रयोग में ह्रस्वत्व चिन्त्य है, क्योंकि यह प्रयोग संज्ञा का नहीं है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'बहुल' वचन द्वारा संज्ञा का विषय न होने पर भी ह्रस्वत्व की प्राप्ति हो जाएगी। इसी प्रकार अमरकोश के 'प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्'[2] वाक्य का 'प्रमदानां वनम् प्रवदनम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा। दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया है कि 'प्रमदार्थं वनम्' विग्रह करने पर ह्रस्वत्व की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

भट्टि ने अपने काव्य में 'प्रविष्टः प्रमदावनम्'[3] इस प्रकार का ह्रस्व रहित प्रयोग किया है जिसमें 'प्रमदाया वनम्' के अनुसार संज्ञा का विषय न होने के कारण ह्रस्व नहीं हुआ है।

त्वे च ६।३।३४

जातेरेकत्वात्

'त्वे च' सूत्र द्वारा 'त्व' प्रत्यय के परे होने पर ङ्यन्त तथा आबन्त शब्दों को ह्रस्व का विधान किया गया है। इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि 'त्व' प्रत्ययान्त शब्दों के भाषा में संज्ञा विषयक न होने के कारण इस सूत्र से सम्बद्ध सभी उदाहरण वेदों में ही मिलते हैं।[4] जैसे 'तदजाया भाव अजत्वम्।' न्यास में इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'त्व' प्रत्यय के परे होने पर शब्दों को ह्रस्व करने के पश्चात् संज्ञा का बोध नहीं होता। इसलिए भाषा के प्रयोग इस सूत्र के विषय नहीं हैं।[5] इस दृष्टि से 'जातेरेकत्वात्' तथा 'परिभाषाः स्वरूपविषयत्वात्' प्रयोगों में 'एका' तथा 'विषया' शब्दों को ह्रस्वत्व विचारणीय है, क्योंकि ये प्रयोग भाषा के हैं।

इन साधुत्व के साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि सामान्य रूप से यहां पर स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है। अतः उसके अभाव में उपर्युक्त दोष उपस्थित नहीं होगा।

---

१. रघुवंश, १४।३३।
२. अमरकोश, २।४।३।
३. भट्टिकाव्य, ६।८२।
४. काशिका, ६।३।६४।
५. न्यास (भाग २), ६।३।६४, पृ० ४६०।

उपधत्वात्

इसी प्रकार की समस्या 'उपधत्वात्' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि यह प्रयोग भी भाषा का है। दुर्घटवृत्ति में 'उपधत्वात्' पाठ न मिल कर 'उपधात्वात्' पाठ मिलता है, जो समाधान तथा प्रसंग की दृष्टि मे ठीक नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यहां पर 'उपधा' शब्द से 'त्व' प्रत्यय न होकर 'उपदधातीत्युपध:' शब्द से प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। अत: ह्रस्व का प्रश्न ही नहीं उठेगा। 'उपधायक उपध:' प्रयोग में 'आतश्चोपसर्गे' (३।१।१३६) सूत्र से 'क' प्रत्यय हुआ है। इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने न्यासकार द्वारा 'धिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त 'अनुपधात्वात्' प्रयोग को प्रमादजन्य कहा है। परन्तु न्यास के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'अनुपधत्वात्' पाठ मिलता है।[1]

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७

आढ्यंसुकरणम्

'अरुर्द्विषद···' सूत्र द्वारा खिदन्त शब्दों के उत्तरपद होने पर 'मुम्' के आगम का विधान किया गया है। इसलिए 'आढ्यंसुकरणम्' जैसे प्रयोगों में 'मुम्' का आगम नहीं हो सकता, क्योंकि यहां पर खिदन्त 'करण' शब्द से पहले 'सु' का व्यवधान है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्'[2] परिभाषा द्वारा 'कृत्' प्रत्ययान्त 'करण' शब्द से पूर्व गतिसंज्ञक 'सु' का भी ग्रहण हो जाएगा और यहां पर 'मुम्' का प्रयोग साधु माना जा सकेगा।

धुरन्धर

'धुरन्धर:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'धुर्' शब्द के अजन्त न होने के कारण यहां पर 'मुम्' नहीं होना चाहिए था। इसी प्रकार की समस्या 'मध्यन्दिनार्कसन्तप्त: सरसीं गाहते गज:' वाक्य के 'मध्यन्दिन' पद में उपस्थित होती है, क्योंकि 'दिन' शब्द खिदन्त नहीं है।

दुर्घटवृत्तिकार ने इन प्रयोगों को पृषोदरादिगण में समाविष्ट मानकर 'पृषोदरादीनि···' (६।१।१०९) सूत्र द्वारा 'मुम्' का आगम सिद्ध किया है। अमरकोश में प्रयुक्त इसी प्रकार के 'सधुरन्धरा' प्रयोग को भानुजि दीक्षित ने 'वाचंयमं···' (६।३।६९) सूत्र के चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानकर सिद्ध

---

१. न्यास (भाग १), ३।१।८०।

२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या २८।

किया गया है ।[1] यह सूत्र 'वाचयमम्' तथा 'पुरन्दर' शब्दों में क्रमशः 'वाचम्' तथा 'पुर्' शब्दों को अम् प्रत्ययान्त निपातित करता है ।

चन्द्रगोमी के अनुसार 'मध्यस्य दिने' (चान्द्रव्याकरण ५।२।८३) सूत्र द्वारा 'मुम्' की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी । शरणदेव ने उसके मत का इस प्रसंग में उल्लेख किया है ।

नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या ६।३।७५

नासत्यः

'नभ्राण्नपात्र···' सूत्र में 'नासत्याः' शब्द बहुवचनान्त निपतित है । इस दृष्टि से 'नासत्यश्चैव दस्रश्च द्वावेतावश्विनीसुतौ' तथा 'नासत्यावश्विनौ दस्रावाश्विनेयौ च तावुभौ ।'[2] वाक्यों के एकवचनान्त तथा द्विवचनान्त 'नासत्यः' और 'नासत्यौ' प्रयोगों में 'नञ्' को प्रकृतिभाव चिन्त्य है ।

दुर्घटवृत्ति तथा तत्त्वबोधिनी इस समस्या का समाधान में यह दिया गया है कि सूत्रकार को निर्देश करने के लिए किसी न किसी वचन का आश्रय तो लेना ही था । अतः यह बहुवचनान्त निर्देश प्रयोग प्रवृत्तिपरक होने के कारण अविवक्षित है ।

सहस्य सः संज्ञायाम् ६।३।७८

सहकारः

'सहस्य···' सूत्र द्वारा संज्ञा के प्रयोगों में 'सह' को 'स' आदेश का विधान किए जाने के कारण शिशुपालवध के 'भग्नवालसहकारन्सुगन्धौ'[3] श्लोकांश के 'सहकार' पद में 'स' भाव का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यह शब्द संज्ञा का है ।

यहां यह कहा गया है कि जिन प्रयोगों में 'स' भाव होकर संज्ञा का बोध हो उन्हीं प्रयोगों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है, अन्यत्र नहीं । 'सहकार' शब्द में 'स' भाव होकर संज्ञा का बोध नहीं होगा ।

यहां जो पूर्वपक्ष रखा गया है वह देखते ही बड़ा निस्सार प्रतीत होता है, क्योंकि जिन प्रयोगों में 'सह' को 'स' भाव होकर संज्ञा की प्रतीति होगी उन्ही के लिए इस सूत्र की रचना की गई है । जहां पर संज्ञा का बोध नहीं होगा वहां पर तो इस सूत्र के प्रवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

---

१. अमरकोश, सुधा टीका २।६।६५ ।

२. अमरकोश, १।१।५१ ।

३. शिशुपाललध, १०।३ ।

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ६।३।८५

सपक्ष:

'ज्योतिर्जनपद···' सूत्र 'ज्योतिष्' आदि शब्दों के उत्तरपद होने पर 'समान' को 'स' आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'समानोपक्ष: यस्य इति सपक्ष:' प्रयोग में 'समान' को 'स' भाव विचारणीय है, क्योंकि 'पक्ष' शब्द सूत्र में अपठित है।

इस समस्या का समाधान, वृत्तिकार के मत रूप में यह दिया गया है कि 'समानस्य छन्दस्य···' (६।३।८४) का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'समानस्य' से यहां पर 'स' भाव हो जाएगा। काशिकाकार ने कहा है कि योगविभाग का प्रयोजन प्रसिद्ध शब्दों में 'स' भाव सिद्ध करना है। सिद्धान्तकौमुदी में भी यह समाधान काशिका के नाम से मिलता है।[1] भाषावृत्तिकार के अनुसार योगविभाग अनार्ष है।[2] पतञ्जलि ने इसका उल्लेख नहीं किया।

समानपक्ष:

परन्तु वृत्तिकार के इस समाधान को मानने पर 'समानपक्ष:' जैसे प्रयोग चिन्त्य हो जाएंगे।

इस दोष का निवारण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम यह कि इस सूत्र में 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८२) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अत: पक्ष: में 'समानपक्ष:' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा। परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने यह अनुवृत्ति नहीं मानी।

दूसरा समाधान, भाषावृत्ति के नाम से, यह दिया गया कि अव्ययों के अनेकार्थक होने के कारण 'सह' शब्द 'समान' अर्थ का वाचक है। अत: 'सह' शब्द के साथ विग्रह करके 'स' आदेश हो जाएगा तथा पक्ष में 'समानपक्ष:' ही रहेगा। यह समाधान भाषावृत्ति में भागवृत्ति के नाम से तथा पदमञ्जरी में 'अपर:' निर्देश द्वारा दिया गया है।[3]

को: कत्तत्पुरुषेऽचि ६।३।१०१

कूक्ति:

'को: कतत्पुरुषेऽचि' सूत्र तत्पुरुष समास में अजादि उत्तरपद होने पर 'कु' को 'कत्' आदेश करता है। अत: 'कुत्सिता उक्ति: कूक्ति:' प्रयोग में 'कु' को 'कत्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'उक्ति:' पद अजादि है।

---

१. सिद्धान्त कौमुदी (भाग २) ६।३।८४, पृ०२१६।

२. भाषावृत्ति, ६।३।८५।

३. 'अपर आह सहशब्द: सदृशवचनोऽस्ति··· समान: पक्षोऽस्य···।' पदमञ्जरी (भाग २), ६।३।८४, पृ० ६१५।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि पूर्ववर्ती सूत्र 'अर्थे विभाषा' (६।३।१००) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति लाकर उसे व्यवस्थित-विभाषा मान ली जाएगी तथा उसके द्वारा यहां पर 'कत्' आदेश का अभाव सिद्ध हो जाएगा। परन्तु अन्य किसी ग्रंथ में इस प्रकार 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति नहीं मानी गई है। संभवत: इसी दृष्टि से शरणदेव ने बाद में इस प्रयोग को असाधु ठहराया है।

कूपदेश:

इसी प्रकार की समस्या शूलपाणि के 'कुत्सित: उपदेश: कूपदेश:' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर भी उत्तरपद 'उपदेश' अजादि है।

इस प्रयोग के विषय में यह कहा गया है कि इस प्रयोग में बहुव्रीहि समास मानकर भी दोनों अर्थ सुसंगत हो जाएंगे। अत: तत्पुरुष की अविवक्षा में उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठेगा।

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२

परीवार:

'उपसर्गस्य—' सूत्र मनुष्यार्थ भिन्न शब्दों के उत्तरपद होने पर उपसर्गों को बहुल से दीर्घादेश का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'महाबल-परीवारो महांश्चापपतिर्बलि:' वाक्य में 'परीवार:' शब्द में दीर्घत्व चिन्त्य है, क्योंकि 'बल' शब्द मनुष्यों के समुदाय का वाचक है। इसी प्रकार की समस्या 'प्रतीहार:' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि यह शब्द भी मनुष्य का वाचक है। शरणदेव ने यह प्रश्न सूत्र के 'अमनुष्ये' पद में प्रसज्यप्रतिषेध मान कर उठाया है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि सूत्रस्थ 'बहुलम्' पद से कभी-कभी मनुष्य अर्थ होने पर भी दीर्घ की प्राप्ति हो जाती है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) सूत्र द्वारा यहां पर दीर्घ हो जाएगा। 'प्रतीहार' शब्द के 'द्वार' तथा 'द्वारपाल' दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ की विवक्षा में कोई दोष नहीं होगा।

□ □

षष्ठ अध्याय : चतुर्थ पाद

हलः ६।४।२

तृतीया

'हल' से युक्त जिस अङ्ग के उत्तर में सम्प्रसारण है उस सम्प्रसारणान्त अङ्ग को 'हलः' सूत्र द्वारा दीर्घ आदेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'तृतीया' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'त्रि' शब्द से 'तीय' प्रत्यय के परे होने पर 'त्रे सम्प्रसारणं च' (५।२।५५) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण की स्थिति में 'हलः' सूत्र द्वारा दीर्घादेश होकर तृतीया प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं—'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८) तथा 'द्वितीयतृतीय—' (२।२।३) सूत्रों में निपातित 'तृतीया' पद द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यह समाधान महाभाष्य, काशिका, न्यास तथा भाषावृत्ति में 'हलः' सूत्र की व्याख्या में ही दिया गया है।[1]

दूसरा उत्तर यह दिया गया है कि 'ढ्लोपे···(६।३।१११) सूत्र से इस सूत्र में 'अणः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'ऋ' के 'अण्' (अ, इ, उ) प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने के कारण दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यह समाधान भी महाभाष्य, काशिका तथा न्यास में 'हलः' सूत्र की व्याख्या में मिलता है।[2]

पितृणाम्

परन्तु यदि इस प्रकार 'अणः' पद की अनुवृत्ति मानी जाए तो 'पितृणाम्' प्रयोग में दीर्घत्व हो जाएगा।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'न तिसृचतसृ··· (६।४।४) सूत्र द्वारा दीर्घत्व का निषेध करने से यह ज्ञापित होता है कि 'नाभि' (६।४।३) सूत्र में 'अणः' पद की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। यदि यहां पर 'अणः' की अनुवृत्त माना जाता तो निषेध करने की कोई आवश्यकता ही न होती, क्योंकि ऋकार के 'अण्' न होने के कारण स्वतः निषेध हो जाता। 'नामि' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि यहां पर 'अण्' की निवृत्ति हो गई है।[3]

---

१. महाभाष्य, ६।४।२, पृ० ६७०।

२. महाभाष्य, ६।२।२, पृ० ६७०।

३. काशिका, ६।४।३।

नामि ६।४।३

नखीनाम्

'नामि' सूत्र द्वारा षष्ठी के बहुवचन में 'नाम्' (नुट्' सहित 'आम्) के परे होने पर दीर्घादेश का विधान किए जाने के कारण 'नदीनां च नखीनांचश्रृङ्गिणां शस्त्रपाणिनाम्' श्लोकांश के 'नखीनाम् तथा शस्त्रपाणिनाम्' प्रयोग विचारणीय हैं। 'नखीनाम्' शब्द इसलिए विचारणीय है कि 'नखिन्' शब्द इन्नन्त है। अत: उससे 'नुट्' नहीं हो सकता। 'नुट्' के अभाव में दीर्घादेश की प्राप्ति भी नहीं होगी। 'शस्त्रपाणिनाम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'शस्त्रपाणि' शब्द से 'नुट्' सहित 'आम' के परे होने के कारण दीर्घादेश होना चाहिए था।

प्रथम प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यह प्रयोग इन्नन्त 'नखिन्' से निष्पन्न न होकर अजन्त 'नखि' से निष्पन्न हुआ है। इस 'नखि' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि 'नखेन अतिक्रामति' अर्थ में 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' वार्तिक द्वारा 'णिच्' होकर उणादिसूत्र 'अच इ:' (सि०कौ०५७८) द्वारा 'इ' प्रत्यय के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। वाचस्पत्यम् में इस शब्द को इसी प्रकार से उज्ज्वलदत्त के नाम से सिद्ध किया गया है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग में ह्रस्वान्त 'नखि' शब्द मानने पर कोई दोष उपस्थित नहीं होगा।

'शस्त्रपाणिनाम्' प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यहां पर 'शस्त्रपाणि' शब्द का प्रयोग न होकर 'शस्त्रपाणिन्' का प्रयोग हुआ है। यह शब्द 'अत्यर्थं शस्त्रेण पणते व्यवहरति' अर्थ में 'बहुलमामीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) सूत्र द्वारा विहित 'णिनि' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध है। इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने 'कश्चित्' निर्देश द्वारा वह मत भी प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार यहां पर 'सुप्यजातौ—' (३।२।७८) सूत्र द्वारा प्रत्यय की प्राप्ति हुई है। इस प्रकार 'णिनि' प्रत्ययान्त शब्द मानने पर दीर्घत्व की प्राप्ति होगी ही नहीं। परन्तु कोशों में 'शस्त्रपाणि' शब्द ही मिलता है, 'शस्त्रपाणिन्' नहीं।

दीधीनाम्

'दरिद्राजागृदीधीनाम्' प्रयोग में 'नुट्' की प्राप्ति विचारणीय है, क्योंकि 'धी' धातु दीर्घान्त है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देश:' वचन के अनुसार 'धातु से 'इक्' प्रत्यय के परे होने पर

---

१. 'उज्ज्वलदत्तस्तु नखेनातिक्रमति नव+णि नखयति' अचइ: उणा० इ। वाचस्पत्यम्।

'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (७।४।५३) सूत्र द्वारा 'धी' के ईकार का लोप होकर ह्रस्वान्त की स्थिति बन जाएगी। उसके पश्चात् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' सूत्र द्वारा 'नुट्' हो जाएगा।

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ।६।४।८

सन्

'सर्वनामस्थाने···' सूत्र द्वारा सर्वनामस्थान के परे होने पर नान्त की उपधा को दीर्घादेश किए जाने के कारण 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३।१५) सूत्र में निर्दिष्ट 'सन्' की उपधा को दीर्घादेश का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रश्न के तीन उत्तर दिए गए हैं—प्रथम यह कि स्वयं पाणिनि द्वारा इस प्रकार निदिष्ट होने के कारण यह प्रयोग साधु है। दूसरा यह कि व्याकरणशास्त्र की रचना प्रयोगों की दृष्टि से होती है अर्थात् प्रयोगों को आधार मानकर ही नियम बनाए जाते हैं।

तीसरा उत्तर यह दिया गया कि यदि यहां पर दीर्घादेश और 'न्' का लोप कर दिया जाता तो पाठकों को सन्देह हो सकता था, क्योंकि 'सा' निर्देश द्वारा यह स्पष्ट नहीं हो सकता था कि यहां पर 'सन्' प्रत्यय अभीष्ट है। इसलिए सूत्रकार ने इस प्रयोग में ये कार्य नहीं किए।

अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४

गोमान्

'अत्वसन्तस्य—' सूत्र द्वारा 'अतु' तथा 'अस्' प्रत्ययान्त शब्दों की उपधा को 'सु' परे होने पर दीर्घादेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'गोमान्' प्रयोग में दीर्घत्व चिन्त्य है। गोमन्तमिच्छति' विग्रह के अनुसार 'क्यच्' प्रत्यय के परे होने पर 'क्यस्य विभाषा' (६।४।५०) सूत्र से 'य' का लोप हो जाता है। उसके पश्चात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विव्वा वक्तव्यः'[1] वार्तिक द्वारा 'क्विप्' होकर तथा 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) सूत्र से 'गोमत्' शब्द की धातु संज्ञा हो जाने के कारण 'अत्वसन्तस्य' सूत्र से दीर्घत्व नहीं होना चाहिए।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि इस सूत्र में आनन्तर्य अर्थात् व्यवधान रहित सम्बन्ध द्वारा 'अधातोः' पद का 'अस्' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ ही सम्बन्ध होगा। इस प्रकार 'अस्' प्रत्ययान्त शब्दों से ही निषेध होगा, 'अतु' प्रत्ययान्त शब्दों से नहीं। यह समाधान परिभाषावृत्ति में न्यास के नाम से दिया गया है। यही बात पदमञ्जरी और न्यास में भी कही गई है।[2]

दूसरा समाधान न्यास के नाम से दिया गया है। न्यासकार ने कहा है कि

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ३।१।११।

२. न्यास (भाग ३), ७।१।७०, पृ० ६६५।

'अत्वसन्तस्य—' सूत्र में चकार के अनुक्तसमुच्चयार्थक होने के कारण कभी-कभी धातुवाचक शब्दों की उपधा को भी दीर्घ की प्राप्ति हो जाती है।[1]

अनिदितां हल उपधाया क्ङिति ६।४।२४

प्रकृतिरञ्जनात्

'अनिदितां'-सूत्र पर पठित 'रजकरजनरजः सूपसंख्यानम्' (रजक आदि शब्दों की सिद्धि में 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होता है) वार्तिक की दृष्टि से रघुवंश के 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'[2] श्लोकांश के 'रञ्जनात्' प्रयोग में नकार के लोप का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया है कि 'वार्तिकस्थेरजस्' शब्द, जो औणादिक 'असुन्' प्रत्यय के संयोजन से बना है, के ग्रहण से औणादिक 'क्युन्' प्रत्यय का ही ग्रहण किया जाएगा। अतः औणादिक प्रत्ययों के परे होने पर ही नकार का लोप हो सकेगा। उपर्युक्त 'रञ्जनात्' पद 'कृत्' प्रत्यय 'ल्युट्' से निष्पन्न हुआ है। अतः लोप नहीं होगा।

महाभाष्यकार ने तो इस वार्तिक का इस प्रकार से प्रत्याख्यान कर दिया है कि 'रजक' शब्द के भी उणादि सूत्र 'क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः' (सि० कौ० १६०) से निष्पन्न हो जाने के कारण तीनों प्रयोगों में 'क्वुन्' 'क्युन्' तथा 'असुन्' प्रत्ययों के 'कित' होने से 'अनिदितां···' सूत्र द्वारा नकार का लोप स्वतः हो जाएगा।[3] हरदत्त भी ऐसा ही मानते हैं।[4]

घञि च भावकरणयोः ६।४।२७

रङ्गरचनात्

'घञि च' सूत्र द्वारा भाव तथा करण में 'घञ्' प्रत्यय के परे होने पर 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप किए जाने के कारण 'रङ्गरचनात्' प्रयोग में नकार के लोप का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यह प्रयोग करण में प्रयुक्त हुआ है।

इस समस्या का समाधान रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'रञ्जेश्च' (६।४।२६) सूत्र में 'दंशसञ्ज—' (६।४।२५) सूत्र से 'शपि' पद की अनुवृत्ति आ रही है तथा यह अनुवर्त्तन 'घञि च' सूत्र में भी माना गया है। इस प्रकार 'शपि' पद के ग्रहण से यह सूत्र भौवादिक 'रञ्ज्' धातु के प्रति प्रवृत्त

---

१. न्यास (भाग ३), ७।१।७०, पृ० ६६५।
२. रघुवंश, ४।१२।
३. महाभाष्य, ६।४।२४, पृ० ७०३।
४. पदमञ्जरी (भाग २), ६।४।२४, पृ० ६५०।

होगा, दैवादिक 'रञ्ज्' के प्रति नहीं। 'रङ्ग' शब्द दैवादिक धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः यहां पर लोप का प्रश्न ही नहीं उठता।

शास इदङ्हलोः ६।४।३४

शास्यैः

'शास इदङ्हलोः' सूत्र द्वारा 'शास्' धातु की उपधा को इकार आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार रघुवंश का 'अनाशास्य'[1] प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'एतिस्तु—' (३।१।१०८) सूत्र द्वारा 'क्यप्' प्रत्यय के परे होने पर 'शास्' की उपधा को 'इत्व' होना चाहिए था। यही समस्या 'शास्यैः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'शासनं शासः' अर्थ के अनुसार 'तत्करोति' अर्थ में 'शास्' से 'णिच्' करने के पश्चात् धातु के ण्यन्त बन जाने के कारण उसकी उपधा में आकार नहीं रहेगा तथा उपर्युक्त प्रश्न भी उपस्थित नहीं होगा। उसके पश्चात् 'यत्' प्रत्यय होकर 'णिच्' लोप द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

दूसरा समाधान, धातुप्रदीप टीका के नाम से, यह दिया गया है कि प्रस्तुत प्रयोग 'आस्' धातु से निष्पन्न न होकर भौवादिक 'शंसु हिंसायाम्' से हुआ है। इस धातु से स्वार्थ में 'णिच्' की प्राप्ति 'हन्त्यर्थाश्च' गणसूत्र द्वारा होती है। यह गणसूत्र नवगणों में पठित हिंसार्थक तथा गत्यर्थक धातुओं से स्वार्थ तथा पक्ष में 'णिच्' का विधान करता है।[2] उसके पश्चात् 'शासि' धातु बन जाने पर 'यत्' प्रत्यय तथा 'णि' लोप होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[3] यह समाधान धातुवृत्ति में आत्रेय के नाम से मिलता है।[4]

शास्तिः

'शास्ति' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'क्तिन्' प्रत्यय के परे होने पर 'शास्' की उपधा को 'इत्व' होकर 'शिष्टिः' प्रयोग क्यों नहीं बना?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'हन्त्यर्थाश्च' गणसूत्र द्वारा 'शंसु हिंसायाम्' धातु में 'णिच्' तथा 'स्त्रियां क्तिन्नाबादिभ्यश्च'[5] वार्तिक द्वारा 'क्तिन्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इस समाधान में यह विचारणीय

---

१. रघुवंश, ४।४४।
२. बालमनोरमा (भाग ३), ७।१।१०१, पृ० ३४६।
३. धातुप्रदीप, पृ० ५१।
४. धातुवृत्ति, पृ० ३८०।
५. महाभाष्य, ३।३।९०।

है कि धातु के ण्यन्त बन जाने के कारण 'ण्यास—' सूत्र द्वारा 'क्तिन्' का बाध हो जाना चाहिए। इस कठिनाई का निराकरण धातुवृत्तिकार ने इस प्रकार किया है कि यहां पर 'बहुल' वचन द्वारा 'क्तिन्' हो जाएगा। इस कठिनाई की ओर शरणदेव का ध्यान नहीं गया। धातुवृत्तिकार के अनुसार तो यह प्रयोग 'शास्' धातु से भी 'णिच्' होकर सिद्ध हो सकता है।[1]

प्रशस्तिः

'प्रशस्तिः' प्रयोग 'शंसु स्तुतौ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोजन द्वारा सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से 'प्रशंसा' प्रयोग में 'क्तिन्' का अभाव चिन्त्य है। इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'प्रशंसा वचनैः' (२।१।६६) इस सौत्र निर्देश द्वारा पक्ष में 'प्रशंसा' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७

नितान्त

'अनुदात्तोपदेश—' सूत्र अनुदात्तेत् 'वन्' आदि तथा 'तन्' आदि धातुओं से झलादि 'कित्', 'ङित्' प्रत्ययों के परे होने पर अनुनासिक लोप का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से कुमारसंभव के 'नितान्तदीर्घैर्जनिता'[2] श्लोकांश का 'नितान्त' पद इसलिए विचारणीय है कि 'तन्' धातु में 'क्त' प्रत्यय के परे होने पर धातु के नकार का लोप होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'तनु श्रद्धोपकरणयोः' धातु से बना है तथा यहां पर 'णिच्' की प्राप्ति आधृषाद्वा' गणसूत्र से हुई है। अतः अनुनासिक का लोप नहीं होगा।

हन्वः

'हन्वः' प्रयोग में यह समस्या उपस्थित होती है कि 'हन्' धातु में 'वस्' प्रत्यय के परे होने पर नकार का लोप होना चाहिए था। यहां पर दिए गए समाधान से यह प्रतीत होता है कि शरणदेव ने यह समस्या वकार तथा बकार में अभेद मानकर रखी है। 'वस्' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्र से ङितवत् है। इस समस्या का यही समाधान दिया गया है कि वकार के दन्त्योष्ठ्य होने के कारण वह झलादि नहीं है। अतः अनुनासिक लोप की प्राप्ति नहीं होगी।

यह प्रश्न बड़ा असंगत लगता है। प्रत्याहार सूत्रों में वकार तथा बकार के

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ३८०।
२. कुमारसंभव, ३।४।

अलग-अलग निर्दिष्ट होने के कारण उनमें अभेद नहीं माना जा सकता। अतः वकार के झलादि न होने के कारण उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठेगा।

वा ल्यपि ६।४।३८

अवमन्य

'वाल्यपि' सूत्र द्वारा अनुदात्तेत् 'वन्' तथा 'तन्' आदि धातुओं से 'ल्यप्' परे होने पर विकल्प से अनुनासिक के लोप का विधान किया गया है। इस सूत्र में 'वा' पद से व्यवस्थितविभाषा का ग्रहण किए जाने के कारण मकारान्त धातुओं से विकल्प द्वारा तथा अन्य धातुओं से नित्य अनुनासिक लोप की प्राप्ति होती है।[1] इस दृष्टि से कुमारसंभव के 'चतुर्दिगीशानवमन्य'[2] श्लोकांश का 'अवमन्य' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'मन्' धातु के मकारान्त न होने के कारण इसके अनुनासिक का नित्य लोप होना चाहिए।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि यह प्रयोग चौरादिक 'मन स्तम्भे' धातु से निष्पन्न हुआ है। परन्तु यदि इसे चौरादिक माना जाए तो इससे स्वार्थ में 'णिच्' होना चाहिए था, क्योंकि समस्त चौरादिक धातुओं से स्वार्थ में 'णिच्' का विधान किया गया है। इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि चौरादिक धातुओं से 'णिच्' के अनित्य होने के कारण 'णिच्' के अभाव में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यही समाधान भाषावृत्ति में मिलता है।[3]

दुर्घटवृत्तिकार ने बाद में रक्षित के नाम से 'अवमत्य' पाठान्तर भी दिया है। यही पाठ सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में मिलता है।

भ्रस्जो रोपधयोरमन्यतरस्याम् ३।४।४७

भृष्टम्

'भ्रस्जो···' सूत्र द्वारा 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ तथा उपधा को विकल्प से 'रम्' आदेश का विधान किया गया है। अतः 'भृष्टम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'ग्रहिज्या' (३।१।१६) सूत्र से सम्प्रसारण की प्राप्ति होने पर परवर्ती सूत्र 'भ्रस्जो···' से 'रम्' आदेश क्यों नहीं हुआ ?

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान 'एके' निर्देश द्वारा यह दिया गया कि इस सूत्र में 'अन्यतरस्याम् पद से व्यवस्थितविभाषा

---

१. काशिका, ६।४।३८।
२. कुमारसंभव, ५।५३।
३. भाषावृत्ति, ६।४।३८।

मानकर यहां पर उसके द्वारा 'रम्' नहीं होगा। परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने ऐसा नहीं माना।

दूसरा समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया कि 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्'[1] परिभाषा के अनुसार सम्प्रसारण कार्य के बलवान् होने के कारण सम्प्रसारण ही होगा। परिभाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है।[2]

तीसरा समाधान पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा वामन के मत रूप में यह दिया गया है कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा पहले सम्प्रसारण हो जाएगा। उसके पश्चात् 'रम्' की प्राप्ति होने पर 'सकृद्गतौ···' परिभाषा द्वारा उसका बाध हो जाएगा। काशिका में इस मत का तो उल्लेख मिलता है, परन्तु परिभाषा का नहीं।[3]

णेरनिटि ३।४।५१

गणेयम्

'णेरनिटि' सूत्र 'इट्' रहित आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर 'णि' का लोप करता है। इस सूत्र की दृष्टि से अमरकोश का 'गणेयम्'[4] प्रयोग विचारणीय है क्योंकि चौरादिक 'गण' धातु से 'यत्' प्रत्यय के परे होने पर 'णि' का लोप होना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार से सिद्ध किया गया है कि पूववर्ती सूत्र 'क्यस्यविभाषा' (६।४।५०) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति लाकर तथा उसको व्यवस्थितविभाग मान कर इस प्रयोग में 'णिच्' का लोप नहीं होगा। परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ में यह अनुवृत्ति नहीं मानी गई।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'चिन्तिपूजि···' (३।३।१०५) सूत्र द्वारा 'अ' के स्थान पर जो गुणभाव के लिए 'अङ्' प्रत्यय का विधान किया गया उससे यह ज्ञापित होता है कि 'णिच्' का लोप अनित्य है। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि यदि 'णिच्' लोप नित्य होता तो गुण प्राप्ति का प्रश्न ही न उठता। इस ज्ञापक का उल्लेख धातुप्रदीप में मिलता है।[5] यही बात धातुवृत्ति में, आत्रेय के नाम से, कही गई है।

चिन्तिया

इसी प्रकार की समस्या 'चिन्तिया', 'पूजिया' प्रयोगों में उपस्थित होती है।

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या-१२८।
२. परिभाषावृत्ति, पृ० ४६।
३. काशिका ६।४।८३।
४. अमरकोश, ३।१।६४।
५. धातुप्रदीप, पृ० १३१।

वहां पर भी शरणदेव तथा मैत्रेय रक्षित के अनुसार उपर्युक्त ज्ञापक द्वारा 'णि' लोप का अभाव सिद्ध हो जाएगा ।

गण्याः

परन्तु यदि 'गणेयम्' प्रयोग को साधु माना जाए तो 'गण्याः' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा । इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि विलोप होकर 'यत्' प्रत्यय के संयोजन से यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा ।

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।१।६६

संस्थाः

'घुमास्था…' सूत्र द्वारा 'घु' संज्ञक तथा 'मा' आदि धातुओं को इकार आदेश का विधान किए जाने के कारण 'संस्था' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'स्थः क च' (३।२।७७) सूत्र द्वारा 'क्विप्' होने पर धातु को 'ईत्व…' होना चाहिए था । 'क्विप्' का लोप हो जाने पर भी 'प्रत्ययलोपे…' सूत्र के अनुसार ईत्व की प्राप्ति होगी ही । धातुवृत्ति, भाषावृत्ति, सिद्धान्त-कौमुदी आदि में इसी प्रकार के प्रयोग 'संस्था' पर विचार किया गया है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम समाधान स्पष्ट नहीं हो हो सका ।

दूसरा समाधान, महाभाष्य के मत रूप में, यह दिया गया कि 'क्विप्' परे होने पर 'ईत्व' का प्रतिषेध हो जाता है । यही समाधान 'संस्था' प्रयोग के लिए पदमञ्जरी और भाषावृत्ति में दिया गया है ।[1]

महाभाष्य में 'ईत्वे वकारप्रतिषेधो घृतं घृतपावान इति दर्शनात्'[2] वार्तिक मिलता है । परन्तु वहां पर इसका प्रत्याख्यान कर दिया गया है जिसका संकेत धातुवृत्तिकार ने किया है ।[3] धातुवृत्ति और तत्त्वबोधिनी में इस प्रकार को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि स्वयं महाभाष्यकार द्वारा 'संस्था' शब्द का प्रयोग किए जाने के कारण उसके प्रमाणभूत होने से यहां पर ईत्व नहीं होगा ।[4] कैयट ने यह समाधान विकल्प के रूप में दिया है ।[5]

न ल्यपि ३।४।६९

आपीय

'न ल्यपि' सूत्र 'घु' संज्ञक आदि धातुओं से 'ल्यप्' के परे होने पर 'ईत्व' का

---

१. पदमञ्जरी (भाग १), ३।२।७७, पृ० ६२८ ।

२. महाभाष्य, ६।४।६६ ।

३. धातुवृत्ति, पृ० २५१ ।

४ उपरिवत् ।

५. प्रदीप, महाभाष्य ३।२।७७, पृ० २४६ ।

विधान करता है। इस नियम के अनुसार मयूर के 'आपीय प्रातरेव'[1] श्लोकांश के 'आपीय' प्रयोग में 'ईत्व' विचारणीय है।

इस दोष का निवारण दुर्घटवृत्ति, धातुवृत्ति तथा भाषावृत्ति में इस प्रकार किया गया है कि यह प्रयोग भावादिक 'पा' धातु से निष्पन्न न होकर 'दैवादिक' 'पीङ्' पाने से निष्पन्न हुआ है। अतः उपर्युक्त दोष का प्रश्न ही नहीं उठता।

उद्गीय

इसी प्रकार की समस्या 'उद्गीय' प्रयोग में उपस्थित होती है।

शरणदेव ने इस प्रयोग को, भाषावृत्ति के मत रूप में, चिन्त्य ठहराया है। परन्तु बाद में यह भी कहा है कि यह प्रयोग इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि उत्तरवर्ती सूत्र 'मयतेरिदन्यतरस्याम्' (३।४।७०) से सिंहावलोकितन्याय द्वारा 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति लाकर पवेन 'ल्यपि' सूत्र द्वारा विकल्प से कार्य होने लगेगा तथा पक्ष में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार अनुवर्तन स्वीकार नहीं किया गया।

न माङ्योगे ६।४।७४

मा त्वमगमः

'न माङ्योगे' सूत्र द्वारा 'माङ्' पद के योग में 'अट्' आगम का निषेध हो जाने के कारण वाल्मीकि के 'मा निषाद। प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' श्लोकांश के 'माङ्' पद के योग में 'आमः' शब्द में 'अट्' का आगम विचारणीय है। 'माङि-लुङ्' 'माङ्' के योग में काल सामान्य की विपक्ष में 'लुङ्' का विधान करता है। इसी प्रकार की समस्या 'मा: वालिपथमन्वगाः' वाक्य के 'अन्वगः' प्रयोग में उपस्थित होती है।

प्रथम प्रयोग के लिए तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इन प्रयोगों में 'आशंसायां भूतवच्च' (३।३।१३२) सूत्र द्वारा अतिदेशिक भूतवत् 'लुङ्' हुआ है। अतः कालसामान्य की अविवक्षा में 'न माङ्योगे' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।

दूसरा समाधान 'त्वमगमः' पद का 'तु+मा+अगमः' विच्छेद करके दिया गया है। यहां पर 'तु' को 'पुनः' अर्थ का वाचक तथा 'मा' को लक्ष्मी का वाचक माना गया है। इस प्रकार उसका 'नञ्' समास में प्रयोग मानने पर 'अगमः' के साथ बहुव्रीहि समास होकर 'गोस्त्रियो…' (१।२।४८) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो जाएगा। तथा 'त्वमगमः' प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। इस श्लोकांश का अर्थ होगा… हे अलक्ष्मी ! पुनः प्रतिष्ठा को प्राप्त मत होवो। इस प्रकार 'आमः' पदमें 'नञ्' समास मानने पर उपर्युक्त दोष उपस्थित ही नहीं होगा।

---

१. सूर्यशतक, श्लोक ५२।

तीसरे समाधान के रूप में यह कहा गया है कि वाल्मीकि ऋषि वाणी के विषय में स्वतंत्र थे। अत: यह प्रयोग साधु ही है। भाषावृत्तिकार के अनुसार तो यह प्रयोग चिन्त्य है।

वास्तव में शरणदेव द्वारा दिए गए प्रथम दो समाधान खींचातानी के समाधान हैं। वस्तुत: यह प्रयोग आर्ष होने के कारण साधु है। यही बात शरणदेव ने तीसरे समाधान में कही है।

'अन्वगा:' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि यहां पर 'अवि शब्दे' धातु से 'अच्' प्रत्ययान्त 'अन्व' शब्द सम्बोधन का प्रयोग है तथा 'गा' पद उससे भिन्न है परन्तु यह समाधान भी कुछ ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसा मानने पर अर्थ की संगति कुछ ठीक नहीं बैठती।

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७

क्रयादि:

'अचि श्नु···' सूत्र द्वारा 'श्नु' प्रत्ययान्त अङ्ग, इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु तथा 'भ्रू' शब्द को 'अच्' परे होने पर 'इयङ्' तथा 'उवङ्' आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'क्री+आदि:=क्रयादि:' प्रयोग में 'इयङ्' का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'अचि श्नु···' सूत्र द्वारा अङ्ग निमित्तक अजादि प्रत्यय के परे होने पर 'इयङ्' का विधान किया गया है। इस प्रयोग में 'आदि' शब्द प्रत्यय नहीं है। अत: 'क्री' अङ्ग' नहीं है। यहां पर 'इयङ्' नहीं होगा।

दुर्धिय:

महाभाष्य में 'गतिकारकपूर्वस्येष्यते'[1] वचन मिलता है जिसके अनुसार 'एरनेकाचो···' सूत्र द्वारा गति तथा कारक के उपपद होने पर 'यण्' का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'दुर्धिय:' प्रयोग में 'इयङ्' आदेश विचारणीय हैं क्योंकि यहां पर गतिसंज्ञक 'दुर्' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां पर पूर्वपक्ष 'दुर्' को गतिसंज्ञक मान कर रखा गया है।

इस समस्या का समाधान 'एरनेकाचो···' (६।४।८२) सूत्र के प्रसंग में सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में यह दिया गया है कि 'दु:स्थिता धीर्येषाम्' विग्रह के अनुसार 'दुर्' शब्द की गतिसंज्ञा 'धी' शब्द के प्रति न होकर 'स्थिता' पद के प्रति है क्योंकि 'प्र' आदिकी गति संज्ञा क्रिया के योग में ही

---

१. महाभाष्य, ६।४।८२।

होती है ।[1] दुर्घटवृत्तिकार ने भाषावृत्ति के नाम से, यह कहा है कि 'दुर्' की गति संज्ञा न मानते हुए भी अनिर्दिश्यमान 'दुर्' के साथ 'धी' का समास हो जाएगा ।[2] यहां पर समास की प्राप्ति प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः वार्तिक द्वारा होगी । इसी प्रकार 'श्रवणधियः', 'मन्दधियम्' तथा 'मूढधियः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएंगे ।

वातप्रमी

'वातप्रमी' शब्द से अजादि विभक्तियों के परे होने पर 'एरनेकाचो···' सूत्र से 'यण्' इसलिए नहीं होता कि 'वातवत् प्रमीयते' व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द 'वातप्रमीः' (सि०कौ०४४१) इस उणादि सूत्र द्वारा विहित 'ई' प्रत्यय के संयोजन से सिद्ध हुआ है । अतः धातुत्व के अभाव में 'यण्' नहीं होगा । अमरकोश के 'वातप्रमीर्वातमृगः'[3] वाक्य में 'वातमृगः' शब्द के साहचर्य से 'वातप्रमी' शब्द पुल्लिंग है । इस प्रकार 'अम्', 'शम्' तथा 'ङि' विभक्तियों के परे होने पर क्रमशः 'वातप्रमीम्', 'वातप्रमीन्' तथा वातप्रमी प्रयोग बनेंगे । 'वातप्रमी' शब्द स्त्रीलिंग में भी प्रयुक्त होता है तथा यह शब्द 'कृदिकारात्' वार्तिक द्वारा विहित 'ङीष्' के योग से सिद्ध हुआ है । इस शब्द से 'सु', 'जप्' तथा 'शम्' विभक्तियों के परे होने पर क्रमशः 'वातप्रमी' तथा 'वात्पमीः' प्रयोग बनेंगे । इसी प्रकार 'ङि' विभक्ति के परे होने पर 'वातप्रम्याम्' प्रयोग बनेगा । इस प्रकार यह शब्द पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है ।

मितां ह्रस्वः ६।४।९२

नियमयति

'मितां ह्रस्वः' सूत्र मितादि तथा घटादि धातुओं की उपधा को 'णिच्' परे होने पर ह्रस्व आदेश करता है । इस नियम की दृष्टि से 'नियमयति' तथा 'संयमयति' प्रयोगों में 'यम्' धातु की उपधा को ह्रस्व भाव चिन्त्य है, क्योंकि 'यम्' धातु को 'यमोऽपरिवेषणे' गणसूत्र द्वारा 'मित्' भाव का निषेध कर दिया है । यह धातु अमन्त होने के कारण 'जनीजृश···' गणसूत्र द्वारा 'मित्' थी ।

इन प्रयोगों को, धातुप्रदीप के नाम से इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'यमस्समु···' (३।३।६३) सूत्र द्वारा 'यम्' धातु में 'अप्' प्रत्यय होकर 'नियम' तथा 'संयम' शब्द बन जाएंगे । उसके पश्चात् 'तत्करोति' अर्थ में 'णिच्' होकर ये प्रयोग सिद्ध हो सकेंगे । यही समाधान धातुवृत्ति में भी दिया गया है ।[4]

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ६।४।८२, पृ० २३४ ।

२. भाषावृत्ति में यह मत इस प्रकार मिलता है—गतिसाङचर्यात् कारकपूर्वस्यापि नित्यसमारोड-न्युपगमान्नेह (भाषावृत्ति, ६।४।८२)

३. अमरकोश, २।५।७ ।

४. धातुवृत्ति, पृ० २०१ ।

संक्रामयति

'संक्रामयति' तथा 'उपक्रामयति' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि 'क्रम्' धातु के अपन्त होने से उसके 'मित्' होने के कारण उपधा को ह्रस्व होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि सूत्र में 'वा चित्तविरागे' (६।४।९१) सूत्र में 'वा' पद की अनुवृत्त आ रही है। उसके द्वारा व्यवस्थितविभाषा मान कर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।[1] यही समाधान काशिका तथा धातुवृत्ति में 'केचित्' निर्देश द्वारा मिलता है।[2] इसी प्रकार व्यवस्थितविभाषा द्वारा कुमारसंभव, रघुवंश तथा दुर्गासप्तशती के क्रमशः 'स तैराक्रमयायास[3]' 'यन्तारमादिश्य धुर्यान् विश्रामय'[4] तथा 'निशामय तदुत्पत्तिम्'[5] श्लोकांशों के 'आक्रमयामास' 'विश्रामय' तथा 'निशामय' प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। मल्लिनाथ ने यही समाधान रघुवंश के प्रयोग के लिए वृत्तिकार के नाम से दिया है।[6] 'निशामय' प्रयोग की सिद्धि दुर्घटवृत्तिकार ने चौरादिक 'शम लक्षा आलोचने' धातु से 'लोट्' में की है। इस बात को भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण श्रवण अर्थ में चौरादिक 'शम्' धातु से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[7]

ज्ञापयितुम्

वृत्तिकार के 'ज्ञापयितुं' बोधयितुमिष्यमाणो ज्ञीप्स्यमानः[8] वाक्य का 'ज्ञापयितुम्' प्रयोग 'मारणतोषणनिशामनेषुज्ञा' धातु से निष्पन्न हुआ है जो घटादि होने के कारण 'मित्' है। इसी प्रसंग में शरणदेव ने 'निशामनम् शब्द के अर्थ पर भी विचार किया है। यह चक्षु का साधन है। न्यासकार तथा रक्षित के अनुसार इसका अर्थ ज्ञानमात्र है।[9] रक्षित ने यह बात 'श्लाघह्नुङ्...' सूत्र की व्याख्या में कही थी ऐसा दुर्घटवृत्ति से पता लगता है। इस प्रकार ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु के घटादि होने के कारण उसकी उपधा को ह्रस्व होकर 'ज्ञपयितुम्' प्रयोग

---

१. भाषावृत्ति, ६।४।९२।
२. काशिका, ६।४।९२।
३. कुमारसंभव, ६।५२।
४. रघुवंश, १।५४।
५. दुर्गासप्तशती, १।२।
६. मल्लिनाथ टीका, रघुवंश १।५४।
७. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३) पृ० १६५।
८. काशिका, १।४।३४।
९. न्यास (भाग १), १।४। ३४, पृ० २८७।

बनना चाहिए । यही पाठ काशिका न्यास तथा पदमञ्जरी के सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में मिलता है ।[1]

परन्तु यदि 'ज्ञपयितुम्' प्रयोग को साधु माना जाए तो 'ज्ञापयति', 'ज्ञापकम्' तथा 'ज्ञापनम्' प्रयोग चिन्त्य हो जाएंगे ।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि व्यवस्थितविभाषा द्वारा इन प्रयोगों में ह्रस्वाभाव सिद्ध हो जाएगा ।

उद्घाटनम्

'उद्घाटयति' तथा मयूर के 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते में'[2] श्लोकांश के 'उद्-घाटनम्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है, क्योंकि 'घट' धातु के 'मित्' होने के कारण उनकी उपधा को ह्रस्व होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि ये प्रयोग भौवादिक 'घट्' धातु से निष्पन्न न होकर 'चौरादिक घट संघाते' से निष्पन्न हुए हैं, जो मित्' नहीं है ।[3]

चालयन्

इसी प्रकार की कठिनाई 'चालयन्' सकलां पृथ्वीम्[4] तथा 'चालयन् सर्वगा-त्राणि' वाक्यों के 'चालयन्' पद में उपस्थित होती है, क्योंकि 'चलि कम्पने' धातु भी घटादि होने के कारण 'मित्' है ।

इस कठिनाई के निवारण हेतु दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम समाधान यह दिया गया है कि ये प्रयोग 'चलि उच्चाटने' से निष्पन्न हुए हैं तथा यह धातु 'मित्' नहीं है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि व्यवस्थितविभाषा द्वारा इन प्रयोगों में ह्रस्व हो जाएगा ।

हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१

रुदिहि

'हुझल्भ्यो हेर्धिः' सूत्र द्वारा 'हु' तथा झलन्त धातुओं से परे 'हि' को 'धि' आदेश का विधान किए जाने के कारण 'रुदिहि' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'रुद्' धातु झलन्त है। अतः उससे परे 'हि' को 'धि' आदेश होना चाहिए था ।

---

१. काशिका, १।४।३४ ।
२. सूर्यशतक, श्लोक २ ।
३. धातुवृत्ति, पृ० १६० ।
४. दुर्गासप्तशती, १०।२७ ।

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्य, दुर्घटवृत्ति, बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में इसी सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'[1] परिभाषा के अनुसार निर्दिश्यमान को ही आदेश का विधान किए जाने के कारण यहां पर 'धि' आदेश नहीं होगा, क्योंकि यहां पर बीच में 'इट्' का व्यवधान है।[2]

परन्तु यदि उपर्युक्त परिभाषा मानी जाए तो 'मिन्द्' धातु से 'हि' परे होने पर 'अव्यय सर्वनाम्नाम्-' (५।३।७१) सूत्र द्वारा 'अकच्' होकर 'मिन्द्+ह्+अक्+इ' इस स्थिति में 'हि' को 'धि' की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस दोष का निवारण महाभाष्य, पदमंजरी, दुर्घटवृत्ति, भाषावृति आदि में 'हुझल्भ्योहेर्धिः' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस प्रकार किया गया है कि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' सूत्र 'अव्यय सर्वनाम्नाम्—' सूत्र की अपेक्षा पर है। अतः पहले ही 'धि' भाव हो जाएगा। उसके पश्चात् ही 'अकच्' होगा।[3]

श्नसोरल्लोपः ६।४।१११

निरस्यति

'श्नसो···'सूत्र 'कित्', 'ङित्' प्रत्ययों के परे होने पर 'श्ना' विकरण तथा 'अस्' धातु के अकार लोप का विधान करता है, इस सूत्र की दृष्टि से 'निरस्यति' प्रयोग में यह विचारणीय है कि ङित्वत् 'श्यन्' प्रत्यय के परे होने पर 'अस्' के अकार का लोप होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य'[4] परिभाषा के द्वारा इस सूत्र में देवादिक 'असुक्षेपणे' धातु का ग्रहण अभीष्ट नहीं है। 'निरस्यति' प्रयोग इस धातु से बना है। अतः सकार का लोप नहीं होगा।

इस समस्या का दूसरा समाधान स्पष्ट नहीं हो सका।

न शसददवादिगुणानाम् ६।४।१२६

वेमुः

'न शसदद—' सूत्र 'शस्', 'दद्' तथा वकारादि धातुओं से एत्वाभ्यासलोप कार्य का निषेध करता है। इस दृष्टि से दुर्गासप्तशती के 'वेमुश्च केचिद्रुधिरम्'[5]

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १२।
२. महाभाष्य, ६।४।१०१, पृ० ७५८।
३. महाभाष्य, ६।४।१०१, पृ० ७५८।
४ परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ८२।
५. दुर्गासप्तशती, २।५८।

श्लोकांश के 'वेमु:' पद में एत्वाभ्यासलोप कार्य चिन्त्य है, क्योंकि यह धातु वकारादि है। इस सूत्र में दन्त्यौष्ठ्य वकार का ही ग्रहण होता है, इस विषय में रक्षित ने कहा है कि यह बात भट्टि द्वारा प्रयुक्त 'ववमु:'[1] प्रयोग से स्पष्ट है। वर्णों का उपदेश करने वाले आचार्यों का भी यही मत है। इसीलिए 'ववलिरे' प्रयोग में एत्वाभ्यासलोप नहीं हुआ है।

इस समस्या का समाधान 'केचित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'अत एकहल्मध्येऽनादेशशसददवादिगुणानाम्' सूत्र निर्देश न करके जो अलग सूत्र बनाए गए उससे यही संकेतित होता है कि 'न शसदद···' सूत्र अनित्य है। परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने इस सूत्र की अनित्यता नहीं मानी।

भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस प्रयोग को आर्ष होने के कारण साधु माना है।[2] भागवृत्तिकार ने 'न शसदद···' सूत्र को वैकल्पिक मान कर 'वेमु:' प्रयोग को साधु माना है। भागवृत्ति के इस मत का उल्लेख धातुवृत्ति तथा सिद्धान्त-कौमुदी में मिलता है।[3]

अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७

अर्वताम्

'मघवा बहुलम्', (६।४।१२८) सूत्र के भाष्य में 'अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्' वचन मिलता है[4] जिसका अर्थ है—'अर्वण' और 'मघवन्' शब्दों का उपदेश नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ये शब्द छान्दस् हैं। अत: 'मतुब्वनी खल्वपि च्छन्दसि विधीयेते'[5] ('मतुप्' तथा 'वनिप्' प्रत्यय छन्द में होते हैं) नियम के अनुसार 'वनिप्' प्रत्ययान्त उपर्युक्त 'अर्वण' तथा 'मघवन्' शब्दों का भाषा में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से 'श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजा:'[6] तथा 'मघवद्वज्रलज्जानिदानम्' श्लोकांशों में 'मघवत्' तथा 'अर्वताम्' शब्दों का प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि ये प्रयोग भाषा के हैं।

इस विषय में यही कहा गया है कि कभी-कभी भाषा में भी छान्दस् शब्दों का प्रयोग हो जाता है। भाषावृत्ति में कहा गया है कि छान्दस् शब्दों के संज्ञा शब्द होने के कारण कवि लोग उनका भाषा में भी प्रयोग कर लेते हैं।[7]

---

१. भट्टिकाव्य, १४।३०।
२. भाषावृत्ति, ६।४।१२६, पाद टिप्पण ५३।
३. धातुवृत्ति, पृ० २१३।
४. महाभाष्य, ६।४।२२८, पृ० ७७२।
५. महाभाष्य, ६।४।१२८, पृ० ७७२।
६. शिशुपालवध, १२।३१।
७. भाषावृत्ति, ६।४।१२८।

दुर्घटवृत्तिकार ने विकल्प द्वारा यह भी कहा है कि 'मघवा बहुलम्' के 'बहुल' वचन द्वारा ये प्रयोग साधु माने जाएंगे।

हरदत्त के अनुसार अव्युत्पन्न 'मघन्' शब्द का भाषा में प्रयोग साधु है।[1] परन्तु नागेश अनुसार यह मत ठीक नहीं क्योंकि छन्द नियत विषयक होते हैं।[2]

पादः पत् ६।४।१३०

पादे

'पादः पत्' सूत्र द्वारा भसंज्ञक 'पाद्' शब्द को 'पत्' आदेश किया गया है। इस नियम के अनुसार 'पादे' पद में 'पत्' आदेश का अभाव इसलिए विचारणीय है कि 'पाद+इ' में गुणादेश होकर' पाद+ए 'स्थिति में 'इ' की दृष्टि से 'ए' आदिवत् हो जाता है। उसके आदिवत् हो जाने पर 'पाद्' शब्द की 'भ' संज्ञा होकर 'पाद्' को 'पत्' आदेश होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि विप्रतिषेध द्वारा 'पाद' शब्द में अकार को स्थानिवद्भाव हो जाने से उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठेगा।

आतो धातोः ६।४।१४०

क्त्वो ल्यप्

'आतो धातोः' सूत्र द्वारा धातु के आकार का लोप किए जाने से 'क्त्वो ल्यप्' प्रयोग में 'आ' का लोप चिन्त्य है, क्योंकि 'क्त्वा' शब्द नहीं है।

इस समस्या के दुर्घटवृत्ति तथा भाषावृत्ति में चार समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'समासेऽनञ्पूर्वे—' (७।१।३७) सूत्र में निर्दिष्ट 'क्त्वः' द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'आतो धातोः' सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'आतः' से यहां पर लोप की प्राप्ति हो जायेगी। महाभाष्य में विकल्प के रूप में यह समाधान दिया गया है।[3] सिद्धान्तकौमुदी तथा बालमनोरमा में भी यही माना गया है।[4]

तृतीय समाधान यह दिया गया कि इस प्रयोग में 'क्त्वा' शब्द के स्थान पर उसके एकदेश (क्त्व) का ग्रहण हुआ है। अतः उपर्युक्त दोष उपस्थित नहीं होगा।

---

१. पदमंजरी, (भाग २), ६।४।१२८, पृ० ६८५।
२. उद्योत, महाभाष्य, ६।४।१२८ पृ० ७७२।
३. महा भाष्य, ६।४।१००, पृ० ७८१।
४. सिद्धांतकौमुदी (भाग १), ६।४।१४०, पृ० २०९।

चतुर्थ समाधान महाभाष्य के मत रूप में दिया गया है। पतञ्जलि ने इस विषय में कहा है कि 'आतो धातोः' सूत्र निर्देश के स्थान पर 'आतोऽनापः' सूत्र बनाना चाहिए जिससे 'आप्' प्रत्ययान्त शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों के आकार लोप की सिद्धि हो जाएगी। इस प्रकार 'क्त्वो ल्यप्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।[1]

टेः ६।४।१५५

आशिषयति

'टेः' सूत्र पर 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य'[2] वचन मिलता है जिसके अनुसार 'णिच्' परे होने पर इष्ठवद्भाव का विधान किया गया है। इसका प्रयोजन यह है कि शब्दों को पुंवद्भाव, टिलोप, 'यण्' आदि कार्य हो सकें।[3] इस दृष्टि से 'आशिषयति' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'आशीष् शब्द से 'णिच्' होकर इष्ठवत् हो जाने से 'आशीष्' की 'टि' का लोप होना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'संग्राम युद्धे' निर्देश इस नियम का विधान करता है कि केवल संग्राम शब्द से ही सोपसर्ग होने पर प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। यह नियम होने पर 'शिष्' धातु से 'णिच्' होकर 'प्रकृत्यैकाच्' (६।४।१५३) सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाएगा। यहां पर शरणदेव ने यह कहा है कि 'णिच्' की उत्पत्ति केवल व्युत्पत्ति के लिए है, आशीष् अर्थ की प्रतीति तो समुदाय से ही होती है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम्' वचन के 'बहुल' पद द्वारा यहां पर 'टि' लोप का निषेध हो जाएगा।

नस्तद्धिते ६।४।१४४

शाश्वतिकः

'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः'[4] वार्तिक की दृष्टि से 'शाश्वतिकः' प्रयोग में टिलोप का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि 'शश्वत्' शब्द अव्यय है।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है 'वहिष्टिलोपश्च यश्च'[6] वार्तिक में 'बहिस्' शब्द के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'अव्य-

---

१. महाभाष्य, ३।४।१४०, पृ० ७८१।
२. महाभाष्य, ६।४।१५५।
३. काशिका, ६।४।१५५।
४. उद्योत, महाभाष्य, ३।१।१२, पृ० ६३।
५. सिद्धांतकौमुदी, (भाग २), ४।२।१०४।
६. महाभाष्य, ४।१।८५।

यानां भमात्रे टिलोप:' वार्तिक अनित्य है। इस ज्ञापक पर पहले विचार किया जा चुका है।

महाभाष्य तथा भाषावृत्ति में इसी सूत्र के प्रसंग में इस प्रयोग की सिद्धि 'येषां च विरोध: शाश्वतिक:' सूत्र में निपातित 'शाश्वतिक:' शब्द द्वारा की गई है।[1]

ओर्गुण: ६।४।१४६

स्वायंभुवम्

'ओर्गुण:' सूत्र उवर्णान्त भसंज्ञक को तद्धित प्रत्यय के परे होने पर गुणादेश करता है। अत: कुमारसंभव का 'स्वायंभुवम्'[2] प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'स्वयंभू' शब्द से तद्धित प्रत्यय के परे होने पर गुणादेश होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान काशिका, न्यास, सिद्धान्तकौमुदी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति आदि में 'ओर्गुण:' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि 'संज्ञापूर्वकविधिरनित्य:' परिभाषा के अनुसार गुण रूप, संज्ञा विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर गुणाभाव सिद्ध हो जाएगा।[3]

भूम्नि:

'भूम्नि:' शब्द में यह विचारणीय है कि 'बहोर्लोपो भू च बहो: (६।४।१५८) सूत्र द्वारा 'बहु' को 'भू' आदेश तथा 'इमनिच्' प्रत्यय के इकार लोप रूप कार्य होने के पश्चात् 'भू+मनि' इस स्थिति में इकारलोप को स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होने के कारण 'भू' को गुणादेश क्यों नहीं हुआ? यहां पर दुर्घटवृत्ति में भूम्नि:' पाठ मिलता है जिसके स्थान पर 'भूम्नि: होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'भू' दीर्घादेश सामर्थ्य से यहां पर गुण नहीं होगा। दीर्घादेश सामर्थ्य का तात्पर्य यह है कि यदि गुणादेश करना ही था तो ह्रस्वादेश से भी काम चल सकता था।

दूसरे समाधान में इस प्रयोग को 'बहोर्नञ्—' (६।२।१७५) सूत्र में निपातित भूम्नि:' पद द्वारा साधु माना गया है।

पट्वी

'पट्वी' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'पटु' शब्द से 'ङीष्' होने पर इसको गुणादेश होना चाहिए था।

---

१. महाभाष्य, ६।४।१४४, पृ० ७८५।

२. कुमारसंभव, २।१।

३. सिद्धांतकौमुदी, (भाग २), ६।४।१४६, पृ० १३६-१३७।

इस प्रश्न का उत्तर पदमञ्जरी, न्यास तथा दुर्घटवृत्ति में 'ओर्गुणः' सूत्र के प्रसंग में यह दिया गया है कि 'ओर्गुणः' सूत्र में 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र में 'तद्धिते' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः तद्धित प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों के होने पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।

यस्येति च ६।४।१५८

उपाध्यायी

'यस्येति च' सूत्र के 'भ' संज्ञक प्रयोगों के विषय में प्रवृत्त होने के कारण उपाध्यायी' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'उपाध्याय' शब्द से 'सु' आदि का अभाव होने के कारण उसकी 'भ' संज्ञा नहीं हो सकती। 'सु' आदि प्रत्ययों की बाधा इसलिए होगी कि यहां पर 'ङीष्' की प्राप्ति 'इङश्च' (३।३।२१) सूत्र पर पठित 'इङश्चेत्यपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीष्' वार्तिक द्वारा हुई है। यह सूत्र बहुलपादीय होने के कारण 'ङ्याप्—' (४।१।४) सूत्र के अधिकार से पहले का है। अतः 'सु' आदि के अभाव में 'उपाध्याय' शब्द की 'भ' संज्ञा न होने के कारण 'यस्येति च' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकेगा और 'उपाध्यायी' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस वार्तिक को स्त्रीप्रकरण में समझना चाहिए। 'इङश्च' सूत्र की व्याख्या में तो प्रसंगवश इस वार्तिक का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार स्त्री-प्रकरण में मानने पर उपर्युक्त दोष उपस्थित नहीं होगा।

मत्वर्थीयः

इस प्रकार की समस्या 'मत्वर्थीयः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि 'मत्वर्थ' शब्द से 'छ' प्रत्यय का विधान करने वाली 'मत्वर्थाच्छः' वार्तिक 'रोगाख्यायाम्—' (३।३।१०८) सूत्र की व्याख्या में पढ़ी गई है। यह सूत्र भी बहुल पाद का है। अतः 'सु, आदि का अभाव होने के कारण 'मत्वर्थ' शब्द की 'भ' संज्ञा नहीं हो सकेगी।

इस प्रश्न का उत्तर 'रोगाख्यायाम्—' (३।३।१०८) सूत्र के प्रसंग में न्यास, पदमंजरी, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, प्रदीप और उद्योत में यह दिया गया है कि 'बहुल' वचन द्वारा 'भ' संज्ञा के अभाव में भी अकार का लोप हो जाएगा।[1]

वृक्षे

'वृक्ष' शब्द से सप्तमी के एकवचनान्त 'वृक्षे' प्रयोग में यह विचारणीय है

---

१. पदमंजरी (भाग १), ३।३।१०८, पृ० ६६०।

कि, वृक्ष+इ, स्थित में 'यस्येति च' सूत्र द्वारा 'अ' का लोप क्यों नहीं हुआ ?

इस दोष का निवारण, रक्षिति के नाम से, इस प्रकार किया गया है कि 'यस्येत्यादौ श्यां प्रतिषेधः'[1] वार्तिक से यह ज्ञापित होता है कि 'यस्येति च' सूत्र में दीर्घ ईकार का ग्रहण हुआ है। यदि इस सूत्र के 'इति' पद में तपरग्रहण से ह्रस्व इकार का ग्रहण माना जाता तो वार्तिक द्वारा प्रतिषेध की आवश्यकता न होती, क्योंकि उस स्थित में तो 'शी—ई' के परे होने पर प्रतिषेध 'स्वतः' हो जाता। यहां पर तपरकरण मुख सुखार्थ के लिए है।

काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र का अर्थ इसी प्रकार किया गया है 'मस्य ईकारे परे, । वैसे 'यस्येति च' सूत्र का पदच्छेद करते समय संदेह हो सकता है कि 'यस्य इति' पदच्छेद किया जाए अथवा 'यस्य ईति'।

---

२. महाभाष्य, ६।४।१४८, वा० १।

सप्तम अध्याय : प्रथम पाद

अतो भिस् ऐस् ७।१।९

गन्धवरेभिः

'अतो भिस् ऐस्' सूत्र अकारान्त अङ्ग के परे 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश करता है। इस नियम की दृष्टि से बौद्ध प्रयोग 'मान्यचरेभिर्गन्धवरेभिः' में यह विचारणीय है कि अकारान्त 'गन्धवरः' शब्द से परे 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश क्यों नहीं हुआ ?

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि इस सूत्र का पूर्ववर्ती सूत्र 'बहुलं च्छन्दसि' (७।१।८) के 'बहुल' पद से सम्बन्ध है। अत: कभी-कभी 'ऐस्' कार्य नहीं होता। परन्तु महाभाष्य आदि किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं माना गया।

टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२

उदेधिस्य

'टाङसिङसाम्···' सूत्र अकारान्त अङ्ग से परे 'टा' आदि विभक्तियों को 'इन' आदि आदेश करता है। इस दृष्टि से वृद्धि ग्रन्थ के 'उदधिस्य' प्रयोग में 'स्य' भाव चिन्त्य है, क्योंकि इस सूत्र में 'अत' की अनुवृत्ति आने के कारण 'इन' आदि आदेश अकारान्त अङ्ग से परे होने पर ही होते हैं।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'उदधिमिच्छति' व्युत्पत्ति के अनुसार 'क्यच्' होकर 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायामसुग्वक्तव्यः[1] वार्तिक द्वारा 'सुक्' का आगम हो जाएगा। उसके पश्चात् स्त्रीलिंग की विवक्षा में 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय होकर 'उदधिस्य' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

सखेऽवदन्तस्य

'मा मा सखेऽवदन्तस्य' श्लोकांश में यह विचारणीय है कि 'अवदन्त' पद से 'स्य' कैसे हो गया ?

इस विषय में यह कहा गया है कि 'अवदन्' पद क्रियापद है तथा 'तस्य' भिन्न पद है। ऐसा मानने पर कहा जा सकता है कि यहां पर 'अवदन्' के नकार को 'नश्छव्यप्रशान्' (८।३।७) सूत्र द्वारा 'रुत्व' क्यों नहीं हुआ ? इस

१. महाभाष्य, ७।१।५१।

प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन पदों में संहिता की विवक्षा न होने के कारण 'रुत्व' नहीं हुआ है।

अतिजरसस्य

कलापवृत्ति के 'अतिजरसस्य भिक्षुस्य कन्या' वाक्य में 'अतिजरसस्य तथा भिक्षुस्य' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'अतिजरस् और 'भिक्षु' शब्द अकारान्त नहीं है।

शरणदेव ने पहले तो इन प्रयोगों को असाधु ठहराया है, परन्तु बाद में इनके साधुत्व के लिए यह भी कहा है कि 'टाङसिङसाम्…' सूत्र में 'ङस्' की अपेक्षा 'ङसि' के पूर्वनिपात से यह ज्ञापित होता है कि इस सूत्र में 'अत' की अनुवृत्ति अनित्य है।

'अतिजरस्य' प्रयोग को एक अन्य ढंग से भी सिद्ध किया गया है। 'अतिजरं स्यति नाशयति' अर्थ में इस शब्द को मूलविभुजादिगण में पठित मान कर 'क' प्रत्यय द्वारा 'अतिजरस्' अकारान्त शब्द बन जाएगा तथा उपर्युक्त दोष भी उपस्थित नहीं हो सकेगा।

दरिद्रस्य

'दरिद्रा' धातु से षष्ठी की विवक्षा में 'आतो धातोः' (६।४।१४०) सूत्र द्वारा आकार का लोप होकर 'दरिद्र्' हलन्त शब्द से परे 'ङस्' को 'स्य' आदेश नहीं होना चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं—प्रथम, वृत्ति के मत रूप में, यह कि 'ङ्यापो—'(६।३।६३) सूत्र द्वारा ह्रस्व होकर 'दरिद्र' अकारान्त शब्द बन जाएगा। यह समाधान न्यास में भी मिलता है।[1]

दूसरे समाधान में इस प्रयोग को 'इद्दरिद्रस्य' (६।४।१४४) इस सौत्र निर्देश द्वारा साधु माना गया है।

पुत्रादेकात्

'एकात्' प्रयोग में यह समस्या उपस्थिति होती है कि 'एक' शब्द के सर्वनाम संज्ञक होने के कारण 'ङसिङ्यो…' (७।१।५५) सूत्र द्वारा 'ङसि' को 'स्मात्' आदेश होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान, श्रीकण्ठ के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'ङसिङ्योः…' सूत्र में 'ङसि' पद के पूर्वनिपात व्यभिचार से यह ज्ञापित होता है कि यह सूत्र अनित्य है।

---

१. न्यास (भाग २), ६।४।११४, पृ० ५७६।

प्रस्तुत प्रसंग में शरणदेव ने रक्षित का मत भी उद्धृत किया है। उसने अट्कुपु—' (८।४।२) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'एकादाकिनि···' (५।३।५२) सूत्र में चकार पद द्वारा 'कन्' के 'लुक्' की अनुवृत्ति आ रही है। इससे आगे 'तत्र महाविभाषया··· रक्षितः' यह पंक्ति स्पष्ट नही हो सकी।

एकैकशः

'शक्नुवन्ति चैकैकशः परस्परसहिता' वाक्य के 'एकैकशः' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'एकं बहुव्रीहिवत्' (८।१।९) सूत्र द्वारा 'एक' पद के बहुव्रीहिवत् अतिदेश होने के कारण 'न बहुव्रीहौ' (१।१।२९) सूत्र द्वारा सर्वनाम कार्य का निषेध क्यों नहीं हुआ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आतिदेशिक बहुव्रीहि समास में 'न बहुव्रीहौ' सूत्र प्रवृत्त नहीं होता इस बात का ज्ञापक 'आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२१) सूत्र का 'एकस्मिन्' पद है। इस पद में सूत्रकार ने सर्वनाम कार्य किया है।

नपुंसकाच्च ७।१।१०९

दधिसुमनसी

'नपुंसकाच्च' सूत्र नपुंसकलिंग में 'औङ्' को 'शी' आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'दधिसुमनसी' प्रयोग में 'शी' भाव चिन्त्य है, क्योंकि 'परवल्लिङ्गम्···' सूत्र के अनुसार 'दधिसुमनसी' पद का लिंग पर शब्द 'सुमनस्' के समान होना चाहिए। 'सुमनस्' शब्द स्त्रीलिंग है।

इस प्रयोग को पहले तो असाधु ठहराया गया है। परन्तु बाद में उसके साधुत्व के लिए यह भी कहा गया है कि लिंगों का प्रयोग लोकाश्रित होता है। इस प्रयोग के लोक में इसी रूप में प्रसिद्ध होने के कारण यहां पर 'शी' भाव सिद्ध हो जाएगा।

शब्दकल्पद्रुप में 'एके' निर्देश द्वारा इस प्रयोग को छान्दस् होने के कारण साधु माना गया है।[1]

'अतोऽम्' (७।१।२४) सूत्र स्पष्ट नहीं हो सका।

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७

त्यज्य

'समासेऽनम्···' सूत्र समस्तपदों में प्रवृत्त होता है अतः 'स्वधनं त्यज्य गच्छति' वाक्य के 'त्यज्य' पद में 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश विचारणीय है। क्योंकि यह समास रहित प्रयोग है।

---

१ 'अप्रत्याख्येये दधिसुमनसीति क्लीवत्वं छान्दसमित्येके।' शब्दकल्पद्रुप।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'वा च्छन्दसि' सूत्र बनाने के स्थान पर 'क्त्वापिछन्दसि' (७।१।३८) सूत्र बनाए जाने से यह ज्ञापित होता है कि समास रहित प्रयोगों में भी 'ल्यप्' हो जाता है। काशिका, पदमञ्जरी आदि से भी यही माना गया है। इस सूत्र में 'अपि' शब्द समस्त उपाधियों के व्यभिचार के लिए है। अतः अप्राप्तविषय में भी कार्य अर्थात् 'ल्यप्' की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए 'अर्च्य देवानागतः' प्रयोग में 'ल्यप्' का प्रयोग साधु है। इस प्रकार 'छान्दसापि भाषायां क्वचिद्प्रयुज्यन्ते' परिभाषा के अनुसार 'त्यज्य' पद में भी 'ल्यप्' सिद्ध हो जाएगा।

इसी प्रसंग में 'अन्ये' निर्देश द्वारा 'सन्त्यज्य' पाठान्तर भी दिया गया है, जिसमें उपर्युक्त दोष उपस्थित नहीं होता।

त्रेस्त्रयः ७।१।५३

त्रीणाम्

'त्रेस्त्रयः' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि वेद में 'त्रि' को 'त्रय' आदेश रहित 'त्रीणाम्' प्रयोग भी अभीष्ट है।[1] इस दृष्टि से 'त्रीणां गोत्रेषु समागमः' वाक्य के 'त्रीणाम्' पद की साधुता विचारणीय है, क्योंकि इस पद का वेद में ही प्रयोग होने के कारण इसका भाषा में प्रयोग में चिन्त्य है।

इस समस्या का समाधान महाभाष्य के मत रूप में, यह दिया गया है कि भाषा में कभी-कभी छान्दस् प्रयोग भी हो जाते हैं।

दुर्घटवृत्तिकार ने यह समस्या भाषावृत्ति के नाम से रखी है, परन्तु वहां पर इस समस्या का उल्लेख नहीं मिलता।

ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४

दरिद्राणाम्

'ह्रस्व नद्यापो···' सूत्र द्वारा ह्रस्वान्त आदि शब्दों से परे 'आम्' को 'नुट्' आगम का विधान किए जाने के कारण 'तनिपतिदरिद्राणाम्' प्रयोग में 'नुट्' विचारणीय है, क्योंकि 'दरिद्र' धातु ह्रस्वान्त नहीं है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान वृत्तिकार के नाम से दिया गया है। वृत्तिकार तथा न्यासकार ने 'इद्दरिद्रस्य' (६।४।११५) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि सूत्रों के छन्दोवत् होने के कारण यहां पर 'संज्ञाच्छन्दसोः—' सूत्र के 'बहुल' वचन द्वारा ह्रस्व हुआ है।[2] इसी प्रकार 'दरिद्राणाम्' प्रयोग में भी ह्रस्व की प्राप्ति हो जाएगी।

१. काशिका, ७।१।५३।
२. काशिका, ६।४।११४।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग द्वन्द्व समाहार का है। समाहार में एकवद्भाव हो जाने के पश्चात् 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) सूत्र द्वारा नपुंसक लिंग का प्रयोग होगा। उसके पश्चात् 'ह्रस्वो नपुंसके···(१, २, ४, ७) सूत्र से ह्रस्व होकर एकशेष में यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा।

आङो यि ७।१।६५

उपालभ्य:

'आङो यि' सूत्र 'आङ' पूर्वक 'लम्' धातु को यकारादि प्रत्ययों के विषय में 'नुम्' आगम का विधान करता है। इस दृष्टि से 'पुमांस्तत्रानुपालभ्यो तत्पौरुष:' वाक्य का 'आलभ्य:' पद विचारणीय है, क्योंकि 'उप' के साथ 'आङ' के एकदेश होने पर भी पर के प्रति अर्थात्' 'लभ्' के प्रति आदिवत् होने से 'लभ्' को 'नुम्' का आगम होना चाहिए था।

इस समस्या का यह समाधान दिया गया है कि 'आगमशास्त्रमनित्यम्' परिभाषा के अनुसार यहां पर 'नुम्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

उपसर्गात् खल्घञो: ७।१।६७

दुरालभ:

'उपसर्गात्···' सूत्र उपसर्ग पूर्वक 'लभ्' धातु को 'खल्' तथा 'घञ्' प्रत्ययों के परे होने पर 'नुम्' आगम का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'दुरालभ:' प्रयोग में 'नुम्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'लभ' शब्द (दु:खेन लभ्यते) 'खल्' प्रत्ययान्त है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि आगम शासन के अनित्य होने के कारण यहां पर 'नुम्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

निर्लाभा वाणिज्ये

इसी प्रकार की समस्या 'निर्लाभा वाणिज्ये' प्रयोग में भी है, क्योंकि यहां पर 'लाभ' शब्द घञ्' प्रत्ययान्त है।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यह प्रयोग प्रादिसमास (निर्गता: लाभा:) अथवा बहुव्रीहि समास (निर्गता: लाभा: यस्मात्) का है। अत: 'लाभ' शब्द के सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही उसका उपसर्ग के साथ समास हुआ है।

राष्ट्रलम्भ:

'राष्ट्रलम्भ:' प्रयोग में 'नुम्' की स्थिति इसलिए विचारणीय है कि यहां पर 'लभ्' धातु से पूर्व उपसर्ग न होकर 'राष्ट्र' पद है। दुर्घटवृत्ति में 'राष्ट्रालम्भ:' पाठ मिलता है तथा भाषावृत्ति में [1] 'राष्ट्रलम्भ:'[2]। भाषावृत्ति का

---

१. भाषावृत्ति, ७।१।६७।

पाठ ही ठीक है क्योंकि 'राष्ट्रालम्भः' (राष्ट्र+आलम्भः) पाठ मानने पर तो कोई समस्या ही नहीं उठती।

इस प्रयोग को भाषावृत्ति के नाम से, चिन्त्य ठहराया गया है।

न सुर्दुर्भ्यां केवलाभ्याम् ७।१।६८

अतिसुलभम्

'न सुर्दुर्भ्याम्—'सूत्र द्वारा केवल 'सु' तथा 'दुर्' उपसर्ग पूर्वक 'लभ्' धातु को 'नुम्' का निषेध किया गया है। इस दृष्टि से 'अतिसुलभम् तथा अतिर्दुलभम्' पदों में 'नुम्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'सु' तथा 'दुर्' के साथ 'अति' का भी योग हुआ है।

इस प्रश्न का उत्तर, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण उसकी उपसर्ग संज्ञा का निषेध हो जाएगा, क्योंकि यहां पर एक संज्ञा का अधिकार है। अतः 'अति' पद के उपसर्ग न होने के कारण पूर्व में केवल 'सु' तथा 'दुर्' उपसर्ग ही रह जाते हैं जिसके फलस्वरूप यहां पर 'नुम्' नहीं होगा।[1] यहां पर यही समाधान काशिका पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी, भाषावृत्ति, तत्त्वबोधिनी आदि में मिलता है।[2]

इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३

प्रसूल्वः

'इकोऽचि···' सूत्र नपुंसक अंग को अजादि विभक्ति के परे होने पर 'नुम्' का आगम करता है। इस नियम के अनुसार सौत्र प्रयोग 'प्रसूल्वः' (३।१।१४६) में यह विचारणीय है कि समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास के प्रयोग में एकत्व हो जाने पर ह्रस्व हो जाने के पश्चात् 'नुम्' क्यों नहीं हुआ? यहां पर भी विचारणीय है कि 'हलसूकरयोः पुवः' (३।२।१८३) सूत्र निर्देश के समान यहां पर भी 'उवङ्' सहित निर्देश क्यों नहीं किया गया?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि स्वयं पाणिनि द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह प्रयोग साधु है। न्यासकार ने इस विषय में यह कहा है कि आगम शासन के अनित्य होने के कारण यहां पर 'नुम्' नहीं हुआ है।[3]

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति'

---

१. न्यास (भाग ३), ७।१।६८, पृ० ६६३।

२. काशिका, ७।१।६८।

३. न्यास (भाग १), ३।१।१४६, पृ० ५८६।

नियम के अनुसार सूत्रों के छान्दस् होने के कारण यहां पर 'उवङ्' का अभाव साधु है ।

शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१

कुर्वन्ती

'शप्श्यनो···' सूत्र' शप्' तथा 'श्यन्' के विषय में नित्य 'नुम्' का विधान करता है । इस सूत्र की दृष्टि से दुर्गासप्तशती के 'कुर्वन्ती व्यचस्तदा'[1] श्लोकांश का 'कुर्वन्ती' पद चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'शप्' अथवा 'श्यन्' न होने के कारण 'नुम्' नहीं होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान, भाष्य के मत रूप में, यह दिया गया है कि सूत्ररचना की सामर्थ्य से यहां पर 'नित्यम्' पद का ग्रहण अवधारणा अर्थ में हुआ है । आरम्भ सामर्थ्य का अर्थ यह है कि सूत्र के आरम्भ करने से ही उसकी नित्यता ज्ञापित होती है । यदि सूत्रकार को विकल्प से ही कार्य अभीष्ट होता तो 'आच्छी'—सूत्र द्वारा ही अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती थी तथा इस सूत्र की आवश्यकता नहीं थी । अतः यह सूत्र 'शप्' और 'श्यन्' के विषय में नित्य 'नुम्' करता है, परन्तु अनकारान्त पदों से भी कभी-कभी विकल्प द्वारा 'नुम्' हो जाता है । इस प्रकार 'कुर्वती' और 'कुर्वन्ती' दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे ।[2] यहां पर 'नित्यमत्रेत्यवधारणार्थम्' के स्थान पर 'नित्यमेवात्रेत्यवधारणार्थम्' पाठ होना चाहिए । इसके अतिरिक्त दुर्गासप्शती में 'कुर्वती' पाठ भी मिलता है ।

अनङ् सौ ७।१।९३

सखिः

'अनङ् सौ' सूत्र 'सखि' शब्द को 'सु' परे होने पर 'अनङ्' आदेश का विधान करता है । इस सूत्र की दृष्टि से महाभारत के 'अर्जुनस्य सखा कृष्णः कृष्णस्य 'सखिरर्जुनः' श्लोकांश में 'अनङ्' रहित 'सखिः' शब्द विचारणीय है ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ की रचना व्यास आदि ऋषियों की दृष्टि से नहीं की थी क्योंकि ऋषिगण व्याकरण की सीमाओं में बद्ध नहीं थे । अतः यह प्रयोग साधु है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'सखायं' सखित्वं करोति' अर्थ में 'णिच्' तथा उसका लोप होकर 'उणादि सूत्र अच इः' द्वारा इकार के संयोजन से निष्पन्न 'सखि' शब्द का प्रयोग हुआ है । अतः 'अनङ्' नहीं होगा ।

---

१. दुर्गासप्तशती, ८।३२ ।

२. महाभाष्य, ७।१।८१, पृ० ७५ ।

ॠत इद्धातोः ७।१।१००

उदगिरणम्

'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) सूत्र के भाष्य में 'इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन' वचन मिलता है जिसके अनुसार 'इत्व' और 'उत्व' के विषय में गुण तथा वृद्धि का विधान किया है। इस दृष्टि से 'उदगिरणम्' प्रयोग में 'इत्व' विचारणीय है, क्योंकि 'ल्युट्' के परे होने पर विप्रतिषेध द्वारा गुण होना चाहिए था। इसी प्रकार की समस्या 'किरण' पद में भी उपस्थित होती है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि पक्ष में 'इत्व' भी होता है परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने ऐसा नहीं माना है। महाभाष्यकार ने इस विषय में कहा है कि गुण के नित्य होने के कारण गुण भी होगा।[1] सिद्धान्त-कौमुदी में सुधाकर के नाम से इस प्रयोग को 'टुवम उद्गिरणे' निपातन द्वारा सिद्ध किया गया है।[2] यही समाधान भाषावृत्ति में भी दिया गया है।

'किरण' प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि यह शब्द 'कृ' धातु से उणादिसूत्र 'कृपृवृजि···' (सि० कौ० २३६) द्वारा विहित 'क्यु' प्रत्यय के संयोजन के सिद्ध हुआ है। अतः 'कित्' प्रत्यय के परे होने पर गुण का प्रश्न ही नहीं होगा।

---

१. महाभाष्य, ७।२।१०२, पृ० ६३।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ७।४।१६, पृ० १६६।

सप्तम अध्याय, द्वितीय पाद

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०

प्रवेता

'एकाच उपदेशे···' सूत्र एकाच् तथा अनुदात्त धातुओं से 'इट्' का निषेध करता है। इस नियम के अनुसार 'प्रवेता 'प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'वी' भाव को स्थानिवद् हो जाने के कारण 'अज्' धातु के उदात्त होने से 'इट्' होकर 'प्रवयिता' प्रयोग बनना चाहिए।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि शब्द के नित्य होने के कारण जिस प्रकार 'अस्' के प्रसंग में 'भू' भाव हो जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी 'अज्' के प्रसंग में 'वी' भाव हुआ है। यह मानने पर इसको आदेश नहीं माना जाएगा। इस विषय में न्यासकार का कथन है कि 'वी' भाव की प्राप्ति होने पर उसके अनुदात्त होने के कारण 'इट्' की प्राप्ति नहीं होगी।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि जिस प्रकार 'लुङि च' (२।४।५३) सूत्र द्वारा 'हन्' को आदिष्ट 'वध' आदेश उदात्त माना गया है उसी प्रकार 'वी' आदेश भी अनुदात्त ही है। अतः यहां पर स्थानिवद्भाव की समस्या नहीं होगी। यहां पर दुर्घटवृत्ति में 'लुङि च (२।४।५३) इति वधादेशो यथोदात्तः पठ्यते तथा वीभावोऽपि' पाठ मिलता है, जो अपूर्ण प्रतीत होता है। अतएव इसके साथ 'वीभावोऽपि अनुदात्तः' पाठ भी होना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर ही अर्थ की संगति बैठती है अन्यथा 'वी' भाव को उदात्त मानने पर उपर्युक्त समस्या बनी ही रहेगी। 'गणस्थ···स्वरूपग्रहणम्' पंक्ति स्पष्ट नहीं हो सकी।

भरितम्

'भरितम्' और 'लज्जितम्' प्रयोगों में यह दोष उपस्थित होता है कि 'भृ' तथा 'लज्ज्' धातुओं के अनुदात्त होने के कारण[2] उनसे 'इट्' के अभाव में 'भृतम्' तथा 'लग्नम्' प्रयोग बनने चाहिएं।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'मनस्+ईषा= मनीषा+इतच्--मनीषितम्' प्रयोग के समान ये प्रयोग भी 'क्त' प्रत्ययान्त

---

१. न्यास (भाग १), २।४।५६, पृ० ४६९।

२. (क) धातुवृत्ति, पृ० २३१।
(ख) धातुवृत्ति, पृ० ४६२।

न होकर 'भर' तथा 'लज्जा' शब्दों से तारकादि 'इतच्' के सयोग से बने हैं। धातुवृत्तिकार ने भी 'लज्जितम्' प्रयोग इसी प्रकार सिद्ध किया है।[1]

श्र्युकः किति ७।२।११

उदीरितम्

'श्र्युकः किति' सूत्र द्वारा 'श्रिञ्' तथा उगन्त धातुओं से 'कित्' प्रत्यय के परे होने पर 'इट्' का निषेध किया गया है। अतः 'ॠ' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'इट्' के अभाव में 'उदीर्णं' प्रयोग बनता है। इस दृष्टि से 'उदीरितम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'इट्' नहीं होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'ॠ' धातु से निष्पन्न न होकर 'ईर गतो' से सिद्ध हुआ है। अतः 'इट्' के निषेधाभाव में यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। 'उदीर्णं प्रयोग क्र्यादिक' 'ॠ गतो' से बना है।

गिलितः

इसी प्रकार की समस्या 'गिलितः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि 'गॄ' धातु भी उगन्त है। अतः 'इट्' के अभाव में 'गीर्णः' बनना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'घञ्' अर्थ में 'गॄ' धातु से 'क' प्रत्यय करके तथा 'इत्व', रपरत्व कार्यों के पश्चात् 'गिर' शब्द बन जाएगा। इसके पश्चात् रेफ तथा लकार के एक रूप में स्मृत होने के कारण 'गिल' शब्द से निष्ठा में 'णिच्' होकर 'गिलितः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

श्वीदितो निष्ठायाम् ७।२।१४

यतितम्

'श्वीदितो···' सूत्र 'श्वि' तथा 'ईदित्' धातुओं से निष्ठा में 'इट्' का निषेध करता है। इस दृष्टि से 'यतितम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'यती प्रयत्ने' धातु ऊदित् है। अतः 'इट्' के अभाव में 'यत्तम्' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि यह प्रयोग 'यती' धातु से निष्पन्न न होकर चौरादिक' यत निकारोपकारयोः' धातु से निष्पन्न हुआ है। यह धातु 'ईदित्' नहीं है। यहां पर 'णिच्' की अप्राप्ति इसलिए सिद्ध है कि 'चौरादिक धातुओं से 'णिच्' कार्य अनित्य होता है।

यस्य विभाषा ७।२।१५

धावितः

जिस धातु को किसी भी सूत्र से विकल्प द्वारा 'इट्' का विधान किया गया

---

१. 'लज्जितः इतीतचि'—धातुवृत्ति, पृ० ४६४।

हो, उस धातु से 'यस्य विभाषा' सूत्र निष्ठा में 'इट्' का निषेध करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'धावितः' प्रयोग में 'इट्' चिन्त्य है क्योंकि 'धावु' धातु के उदित होने के कारण 'स्वरतिसूति…' (७।२।४४) सूत्र द्वारा विकल्प से 'इट्' का विधान किया गया है। इसी प्रकार की समस्या 'पतितः' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि 'सनीवन्त—' (७।२।४९) सूत्र की वृत्ति में 'केचित्' निर्देश द्वारा 'तनि', 'पति' आदि धातुओं से विकल्प द्वारा 'इट्' का विधान किया गया है।[1]

इन प्रयोगों को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'सेऽसिचि—' (७।२।५७) सूत्र द्वारा 'नृत्' धातु से 'इट्' का विकल्प द्वारा निषेध किया गया है अतः 'यस्य विभाषा' द्वारा निष्ठा में 'इट्' का निषेध स्वतः हो जाएगा। परन्तु फिर भी इस धातु को ईदित् पढ़ा गया है जिससे 'श्वीदितो—' सूत्र द्वारा 'इट्' निषेध की प्राप्ति होगी। अतः 'नृती' धातु के ईदित्करण से ज्ञापित होता है कि 'यस्य विभाषा' सूत्र अनित्य है। यदि यह नित्य होता तो ईदित्करण की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस ज्ञापक का उल्लेख धातुवृत्ति में आत्रेय और मैत्रेय के नाम से किया गया है। यह ज्ञापक पदमञ्जरी और भाषावृत्ति में भी मिलता है।[2]

इस प्रकार 'यस्य विभाषा' सूत्र के अनित्य होने के कारण ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। यह समाधान धातुवृत्ति तथा भाषावृत्ति में भी दिया गया है।[3]

'पातितः' प्रयोग के लिए एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि 'द्वितीयाश्रितातीतपतित—' (२।१।१४) सूत्र में निपातित 'पतितः' शब्द द्वारा यहां पर भी 'इट्' सिद्ध हो जाएगा। यह समाधान धातुवृत्ति में भी मिलता है।[4]

घुषिरविशब्दने ७।२।२३

उच्चैर्घुष्टम्

'घुषिरविशब्दने' सूत्र 'घुष्' धातु से अविशब्दन अर्थ होने पर निष्ठा में 'इट्' का निषेध करता है। इस नियम के अनुसार 'उच्चैर्घुष्टं तु घोषणम्'[5] वाक्य के 'घुष्टम्' प्रयोग में 'इट्' का अभाव विचारणीय है, क्योंकि अविशब्दन

१. काशिका, ७।२।४९।
२. पदमञ्जरी (भाग २), ७।२।१५, पृ० ७६०।
३. धातुवृत्ति, पृ० ४०४।
४. धातुवृत्ति, पृ० २१०।
५. अमरकोश, १।६।१२।

अर्थ में ही सूत्र द्वारा 'इट्' का निषेध किया गया है । यहां पर तो विशब्दन अर्थ गम्यमान हो रहा है ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अविशब्दन' पद में भी 'नञ्' का प्रयोग 'अलवण' पद के समान अल्प अर्थ में हुआ है । अतः कभी-कभी विशब्दन अर्थ में भी 'इट्' का निषेध हो जाता है ।

अमरकोश की टीका में यह समाधान दिया गया है कि विशब्दन का अर्थ है—अपने अभिप्राय का प्रकाशन करना । 'घुष्टम्' प्रयोग में यह अर्थ अभिप्रेत न होने के कारण धातु के अविशब्दनार्थक होने से 'इट्' नहीं होगा ।[1] न्यासकार आदि ने भी 'अविशब्दन' का उपर्युक्त अर्थ ही माना है ।[2]

वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः ७।२।२७

पूर्त्तम्

'पूर्त्तं खातादिकर्मणि' वाक्य का 'पूर्तम्' पद इसलिए विचारणीय है कि 'वा दान्तशान्त—'सूत्र द्वारा निष्ठा में 'पूर्णम्' शब्द का निपातन किया गया है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'पूरी' धातु से निष्पन्न न होकर 'पॄ' धातु से निष्पन्न हुआ है, क्योंकि 'न व्याख्या···' (८।२।५७) सूत्र द्वारा 'पॄ' धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश का निषेध किया गया है । धातुवृत्ति में भी यह प्रयोग इसी प्रकार सिद्ध किया गया है ।[3]

हृषेर्लोमसु ७।२।२९[4]

हृष्टः पुरुषः

हृषेर्लोमसु' सूत्र द्वारा लोमार्थक 'हृष्' धातु को निष्ठा में विकल्प से 'इट्' का निषेध किया गया है । इस नियम के अनुसार 'हृष्ट', पुरुषः प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर नित्य 'इट्' रहित प्रयोग क्यों बनता है अर्थात् पक्ष में 'इट्' भी होना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि जब यह धातु लोम अर्थ की वाचक न होकर अन्य अर्थ अर्थात् पुरुष आदि की वाचक होती है तो उस स्थिति में 'हृषु' धातु के उदित् होने के कारण नित्य 'इट्' का निषेध होगा । अतः यह प्रयोग साधु है ।

---

१. अमरकोश सुधा टीका, १।६।१२ ।
२. न्यास, (भाग ३), ७।२।२३ ।
३. धातुवृत्ति, पृ० ३६६-३६७ ।
४. दुर्घटवृत्ति, पृ० १२३ ।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५

तर्तुम्

'आर्धधातुकस्येड्···' सूत्र वलादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'सागरं तर्तुमिच्छति' वाक्य में 'तर्तुम' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि वलादि' तुमुन्' प्रत्यय के परे होने के कारण 'इट्' होकर 'तरितुम्' प्रयोग बनना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि आगमशासन के अनित्य होने के कारण यहां पर 'इट्' नहीं हुआ है।

विश्वस्तः

इसी प्रकार की समस्या 'विश्वस्तः' तथा 'वान्तः' प्रयोगों में उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर भी 'क्त' प्रत्यय वलादि है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'आदितश्च' (७।२।१६) सूत्र के चकार पद के अनुक्तसमुच्चयार्थक होने के कारण उसके द्वारा 'श्वस्' तथा 'वम्' धातुओं का ग्रहण हो जाएगा तथा 'आदितश्च' सूत्र द्वारा निष्ठा में 'इट्' का निषेध हो सकेगा। काशिका, न्यास, पदमञ्जरी, भाषावृत्ति आदि में 'आदितश्च' (७।२।१६) सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[1]

कुछ विद्वान् 'वम्' धातु को उदित् पढ़ते हैं, परन्तु तत्त्वबोधिनीकार को यह मत मान्य नहीं, क्योंकि ऐसा मानना वामन के विरुद्ध होगा। यदि इसे उदित् माना जाए तो 'यस्य विभाषा' सूत्र द्वारा 'इट्' का स्वतः निषेध हो जाएगा।[2]

स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ७।२।३६

चिक्रंसया

'स्नु' तथा क्रम्' धातुओं के आत्मनेपद के निमित्त न होने के कारण 'स्नुक्रमो···' सूत्र द्वारा वलादि 'इट्' का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से माघ के 'चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः'[3] श्लोकांश के 'चिक्रसंसया प्रयोग में 'इट्' का अभाव विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'क्रम्' धातु आत्मनेपद की निमित नहीं है।

---

१. काशिका, ७।२।१६।

२. तत्त्वबोधिनी (भाग ३), ७।४।१६। पृ० १६६

३. शिशुपालवध, ३।५१।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अनुपसर्गाद्वा' (१।३।४३) सूत्र में 'वृत्तिसर्ग···' (१।३।३८) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। इस अनुवर्त्तन द्वारा 'अनुपसर्गाद्वा' सूत्र द्वारा अनुपसर्ग पक्ष में तथा उत्साह अर्थ में यह धातु आत्मनेपद की निमित है। अत: यहां पर 'इट्' नहीं हुआ है। परन्तु काशिका, सिद्धान्तकौमुदी आदि में तो इस सूत्र में केवल 'क्रम्' धातु की अनुवृत्ति मानी गई है।[1] मल्लिनाथ ने इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया है कि 'अनुपसर्गाद्वा' सूत्र के अनुसार यह धातु अनुपसर्ग पक्ष में विकल्प द्वारा आत्मनेपद की निमित है अत: यहां पर 'इट्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।[2]

इसी प्रसंग में शरणदेव ने काशिका तथा न्यास का यह मत उद्धृत किया है कि ऐसा होने पर अर्थात् योग्यतामात्र से आत्मनेपद की निमित्तता नहीं होगी। अत: उपर्युक्त समाधान द्वारा यहां पर 'इट्' का अभाव सिद्ध नहीं हो सका।

इस आक्षेप का निराकरण करते हुए शरणदेव ने कहा है कि आगमशास्त्र के अनित्य होने के कारण यहां पर 'इट्' नहीं हुआ है।

परन्तु काशिका के उपलब्ध संस्करण में दुर्घटवृत्ति में उद्धृत पाठ के स्थान पर 'तेनायं सत्यात्मनेपदे प्रतिषेधो भविष्यति' पाठ मिलता है।[3] इसी प्रकार न्यास में भी दुर्घटवृत्ति से भिन्न स्थिति मिलती है—कि यत्रात्मनेपदं प्रति योग्यतामात्रमपि सम्भवति तत्र तावात्मनेपदनिमित्ते'।[4] ये पाठ दुर्घटवृत्ति में उद्धृत पाठों की अपेक्षा ठीक जान पड़ते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर' स्नुक्रमो···' सूत्र के अर्थ की संगति लग जाती है।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'चिक्रंसया' प्रयोग के लिए, भागवृत्तिकार के नाम से एक अन्य समाधान यह दिया है कि यहां पर 'चिक्रंसया के समानार्थक 'ग्रहेर्जिघृक्षया' अथवा 'जिघांसया' पाठ होना चाहिए।

जृव्रश्च्योः क्त्वि ७।२।५५

जृत्वा

'जृव्रश्च्योः···' सूत्र द्वारा 'जृ तथा 'व्रश्चु' धातुओं से 'क्त्वा' प्रत्यय के परे होने पर 'इट्' का विधान किए जाने के कारण 'जृत्वा' प्रयोग में 'इट्' का अभाव चिन्त्य है।

---

१. काशिका, १।३।४३।
२. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, ३।५१।
३. काशिका, ७।२।३६।
४. न्यास, ७।२।३६।

इस प्रश्न का उत्तर, न्यास के मत रूप में यह दिया गया है कि इस सूत्र द्वारा क्रयादिक तथा दैवादिक 'जॄ' धातु का ग्रहण किया गया है न कि सानुबन्ध 'जॄष्' का। अतः इस धातु के प्रयोग में 'इट्' की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।[1]

परन्तु यहां द्रष्टव्य है कि 'इट्' के अभाव में भी 'जॄत्वा' प्रयोग असाधु ही है, क्योंकि 'इत्व' आदि होकर 'जीर्त्वा' प्रयोग बनना चाहिए न कि 'जॄत्वा'। न्यास तथा भाषावृत्ति में भी यही निर्देश मिलता है। अतः यहां पर 'जॄत्वा' के स्थान पर 'जीर्त्वा' पाठ होना चाहिए।

उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२

पेचिथ

उपदेश में जो धातु अकारवान् है तथा 'तास्' में नित्य अनिट् है उससे 'थल्' परे होने पर 'उपदेशेऽत्वतः' सूत्र द्वारा 'इट्' का निषेध किया गया है। इस नियम के अनुसार 'पेचिथ' प्रयोग में 'इट्' चिन्त्य है, क्योंकि यह धातु अकारवान् है तथा अनुदात्त होने के कारण अनिट् है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३) सूत्र द्वारा 'इट्' की प्राप्ति हुई है। भारद्वाज के अनुसार केवल ऋकारान्त धातुओं से, जो 'तास्' में नित्य अनिट् हैं, 'थल्' में 'इट्' का अभाव नहीं होता इस प्रकार पक्ष में 'इट्' रहित 'पपक्थ' प्रयोग भी बनेगा। यही समाधान तत्त्वबोधिनी, भाषावृत्ति तथा प्रदीप टीका में 'ऋतो भारद्वाजस्य' सूत्र की व्याख्या में दिया गया है।[2]

तुष्टोथ

परन्तु यदि भारद्वाज के मत को स्वीकार कर लेने पर 'तुस्टोथ' और 'दुद्रोथ' प्रयोगों में नित्य 'इट्' का अभाव चिन्त्य हो जाएगा, क्योंकि ये धातुएं ऋकारान्त नहीं है।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के नाम से, यह दिया गया है कि 'कृसृभृ··· (७।२।१३) सूत्र द्वारा इन धातुओं से 'इट्' का निषेध पहले ही कर दिया गया है। अतः प्रतिषेध के अपेक्षाकृत बलवान् होने से क्रयादि नियम द्वारा यहां 'इट्' नहीं होगा।[3]

विभाषा गमहनविदविशाम् ७।२।६८

विदित:

'विभाषा गमहन···'सूत्र द्वारा 'गम्' आदि धातुओं से विकल्प द्वारा 'इट्'

१. न्यास (भाग ३), ७।२।५५।

२. तत्त्वबोधिनी (भाग ३), ७।२।६३, पृ० १००।

३. भाषावृत्ति, ७।२।६२।

का विधान किए जाने के कारण 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) सूत्र द्वारा इन धातुओं से निष्ठा में नित्य 'इट्' का निषेध हो जाता है। इस दृष्टि से भारवि के 'विदितः समाययौ' श्लोकांश के 'विदितः' प्रयोग में 'इट्' चिन्त्य है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि इस सूत्र में शब्द-विप्रतिषेध द्वारा 'विश्' के साहचर्य से तौदादिक 'विद्लृ लाभे' का ग्रहण किया गया है न कि अदादिगणीय' 'विद् ज्ञाने' का। इस प्रकार 'इट्' का निषेध भी 'विद्लृ लाभे, से होगा न कि 'विद् ज्ञाने' से। काशिका, पदमञ्जरी तथा सिद्धान्तकौमुदी में भी यह साहचर्य स्वीकार किया गया है।[1] 'विदितः' प्रयोग विद् ज्ञाने' से सिद्ध हुआ है। अतः यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।

दूसरा समाधान, सुवर्णरेखा (संभवतः कोई ग्रन्थ) के मत रूप में, यह दिया गया कि यह प्रयोग 'वेदनं वित्' इस क्विवन्त शब्द से बना है। 'वित्' शब्द से 'तदस्य संजात्'··· सूत्र द्वारा 'इतच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९

त्रयो गावः

'त्रिचतुरोः···' सूत्र द्वारा स्त्रीलिंग 'त्रि' तथा 'चतुर' शब्दों को 'तिसृ' तथा 'चतसृ' आदेशों का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'एको विस्त्रयो गावः' प्रयोग इसलिए चिन्त्य है कि अर्धनारीश्वरक ग्रन्थ में कहा गया है कि वृषभ का वाचक होने पर 'गौ' शब्द पुल्लिग में प्रयुक्त होता है। अन्य अर्थों में प्रयुक्त होने पर यह स्त्रीलिंग का वाचक होता है। इसलिए यहां पर 'त्रि' का 'तिसृ' आदेश होना चाहिए था।

इस प्रश्न के उत्तर में दिया गया समाधान तनिक भी स्पस्ट नहीं है।

अदश औ सुलोपश्च ७।२।१०७

अमुकः

'सावौत्व प्रतिषेधः साकच्त्वादा वक्तव्यः सादुत्वं च[2]' वार्तिक द्वारा 'अकच्' सहित 'अदस्' (अदक) शब्द से विकल्प द्वारा 'औत्व' का प्रतिषेध तथा सकार से उत्तर को 'उत्त्व' का विधान किया गया है। जब 'ओत्व' का प्रतिषेध होता है तो उस स्थिति में सकार के उत्तर को 'उत्व' की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'असकौ' तथा 'अमुकः' ये दो प्रयोग बनते हैं। इस दृष्टि से 'अमुकः' प्रयोग चिन्त्य है।

---

१. काशिका, ७।२।६८।
२. महाभाष्य, ७।२।१०७, वा० १।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि इस सूत्र में मण्डुकप्लुति-न्याय द्वारा 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (७।२।१०१) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। उसको व्यवस्थितविभाषा मान कर 'तदोस्सः...' (७।२।१७६) सूत्र द्वारा 'सत्व' के अभाव में 'अदसोऽसेः' (८।२।८०) सूत्र से 'मत्व' तथा 'उत्व' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने इस प्रकार से अनुवृत्ति नहीं मानी है। कोशों में 'अमुक' शब्द मिलता है।

तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा में इस प्रयोग को असाधु ठहराया गया है। बाद में बालमनोरमा में 'केचित्' निर्देश द्वारा इस शब्द को 'अदस्' का पर्यायवाची मानते हुए अव्युत्पन्न माना गया है।[1] अव्युत्पन्न मानने पर तो कोई भी दोष उपस्थित नहीं होगा।

अचोञ्णिति ७।२।११५

अतिशायनम्

'अचोञ्णति' सूत्र अजन्त अङ्ग को 'ञित्' तथा 'णित्' प्रत्ययों के परे होने पर वृद्धि आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'अतिशायनम्' प्रयोग में वृद्धि चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'ल्युट्' प्रत्यय है जो 'अञ्णित्' है।

इस प्रश्न का उत्तर तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा में, 'अतिशायने तमप्' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'अतिशायने तमप्' सौत्र निर्देश द्वारा सिद्ध हो जाएगा।[2] यही समाधान धातुवृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति में भी दिया गया है।

अत उपधायाः ७।२।११६

वाहनम्

'अत उपधायाः' सूत्र द्वारा अङ्ग की उपधा 'अकार' को 'ञित्' तथा 'णित्' प्रत्ययों के परे होने पर वृद्धि आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'ल्युट' प्रत्ययान्त 'वाहनम्' प्रयोग में वृद्धि चिन्त्य है।

इस समस्या का समाधान न्यास, पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी में 'वाहनमाहितात्' (८।४।८) सूत्र की व्याख्या करते हुए यह दिया गया है कि 'वाहनमाहितात्' सौत्र निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[3] यही समाधान दुर्घटवृत्तिकार ने दिया है।

---

१. बालमनोरमा (भाग १), ७।२।१०७, पृ० ३८७।
२. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ५।३।५५, पृ० ५२०।
३. न्यास (भाग ३), ८।४।८, पृ० ११०६।

भाण्डे

'भाण्डे' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है। कि 'भडि कल्याणे' धातु से प्रत्यय होने पर 'भण्ड्' स्थित में उपधा में अकार न होने से वृद्धि कैसे हो गई ?

इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं प्रथम यह कि प्रयोग 'अण रण मण' धातु से उणादिसूत्र 'अन्ताड्डः' (सि० कौ० १११) से 'ड' प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है तथा वृद्धि 'बहुल' द्वारा हो जाएगी। वाचस्पत्यम् तथा शब्दकल्पद्रुम में 'ड' प्रत्यय द्वारा 'भण्ड' शब्द बना कर बाद में 'अण' प्रत्यय के संयोजन से यह प्रयोग किया गया है।[1]

दूसरा उत्तर यह दिया गया है कि 'पुच्छभाण्ड···' (३।१।२०) सूत्र में निपातित 'भाण्ड' शब्द द्वारा यह सिद्ध हो जाएगा।

प्रतिषेधपदम्

'प्रतिषेधपदम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'पद्' धातु से 'घज्' प्रत्यय के परे होने पर इसकी उपधा को वृद्धि क्यों नहीं हुई।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए है। प्रथम, न्यास के मत रूप में, यह कि 'अनुदात्त पदमेकवर्जम्' (६।१।१५८) सूत्र में निपातित 'पदम्' शब्द से यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु न्यास में इस सूत्र की व्याख्या में यह मत नहीं मिलता है।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'खनो घ च' (३।३।१२५) सूत्र द्वारा 'खन' धातु को 'घ' कारण से अन्य धातुओं से भी 'घ' प्रत्यय हो सकेगा। इस प्रकार 'पद्' धातु से 'घे' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। धातुवृत्ति में कहा गया है कि करण आदि की विवक्षा में सूत्र के चकार द्वारा 'घ' प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।[2]

ग्रथयितुम्

'ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुम्हृदयेशे' वाक्य का 'ग्रथयितुम्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'ग्रथ' धातु से 'णिच' होने पर उपधा को वृद्धि क्यों नहीं हुई ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग चौरादिक 'ग्रंथ दौर्बल्यं' धातु से निष्पन्न हुआ है इस धातु के उदन्त होने कारण वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठेगा तथा धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण यहाँ अर्थ की संगति

---

१. 'भण-ड-स्वार्थं अण् वा १—वाचस्पत्यम्।

२. धातुवृत्ति, पृ० ४२२।

लग जाएगी। परन्तु यह धातु धातुवृत्ति तथा सिद्धान्तकौमुदी में नहीं मिलती। इस विषय में गणपति शास्त्री का कहना है कि 'बहुलमेतान्निदर्शनम्' उक्ति द्वारा इस धातु के पाठ की कल्पना की जा सकती है।[1]

अभ्यस्या

'अभ्यस्या' तथा 'समस्या' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि 'अभ्' धातु से 'ण्यत्' परे होने पर वृद्धि होनी चाहिए थी।

इन प्रयोगों को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर वृद्धि का अभाव सिद्ध हो जाएगा। धातुवृत्ति में 'समस्या' प्रयोग की सिद्धि, आत्रेय के नाम से, इसी प्रकार की गई है।[2]

उद्यमः

'उद्यमः' तथा 'उपरमः' प्रयोगों में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'याम्' तथा 'रम्' धातुओं से 'घञ्' होने पर इनकी उपधा को वृद्धि क्यों नहीं हुई?

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि धातुपाठ में 'अड-उद्यमे' तथा 'यम उपरमे' निपातनों द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी में 'नोदात्तोपदेशस्य···' (७।३।३४) सूत्र की व्याख्या करते हुए यही समाधान दिया गया है।[3]

यहां पर यह कहा जा सकता है कि 'नोदातोपदेशस्य···' सूत्र द्वारा 'अत उपधायाः' सूत्र का निषेध हो जाएगा। इसका उत्तर यह दिया गया है कि ये धातुएं उदात्त न होकर अनुदात्त हैं जिससे वृद्धि की प्राप्ति होगी ही। 'नोदात्तोपदेशस्य···' सूत्र के प्रसंग में भी इन प्रयोगों पर इस दृष्टि से भी विचार किया गया है।

हरदत्त ने इन प्रयोगों के विषय में यह भी कहा गया है कि विद्वान् जो धातु पाठ के अर्थ निर्देश को अपाणिनीय मानते हैं उनकी दृष्टि से ये प्रयोग 'संज्ञापूर्वकविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा सिद्ध हो जाएंगे।[4]

तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७

भेषजम्

'तद्धिते···' सूत्र द्वारा 'ञित्' तथा 'णित्' तद्धित प्रत्ययों के परे होने पर

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृ० १२६, पादटिप्पण।

२. धातुवृत्ति, पृ० ४३७।

३. काशिका, ७।३।३४।

४. पदमञ्जरी (भाग २), ७।३।३४, पृ० ८१३।

अङ्ग के आदि 'अच्' को वृद्धि आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'भेषजम्' प्रयोग में वृद्धि का अभाव विचारणीय है, क्योंकि 'भिषजामिदम्' व्युत्पत्ति के अनुसार यहां पर 'अण्' प्रत्यय परे है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'भेषजात् ञ्य:' (५।४।२३) इस सौत्र निर्देश द्वारा यहां पर वृद्धि न होकर गुण हुआ है। तत्त्वबोधिनी में भी यही समाधान दिया गया है।[1]

ज्योतिषम्

इसी प्रकार की समस्या 'ज्योतिषम्' प्रयोग में भी उपस्थित होती है, क्योंकि यहां पर भी 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) सूत्र द्वारा विहित 'अण्' प्रत्यय परे हैं।

इस दोष का निवारण, भवभूति के मत रूप में इस प्रकार किया गया है कि संज्ञा पूर्वक विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर वृद्धि का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां पर भवभूति का नाम लिया है जिससे यह पता लगता है कि भवभूति ने कोई व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है लेकिन यह कहना कठिन है कि शरणदेव ने व्याकरण ग्रंथ के प्रणेता के रूप में जिस भवभूति का उल्लेख किया है वह संस्कृत नाट्य साहित्य में प्रख्यात भवभूति ही है अथवा कोई भिन्न व्यक्ति।

---

१. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ५।४।२३, पृ० ५५७।

सप्तम अध्याय : तृतीय पाद

द्वारादीनां च ७।३।४

स्वाभाव्यात्

'द्वारादीनां च' सूत्र द्वारा 'द्वार' आदि शब्दों को 'ऐच्' आगम का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'स्वाभाव्यात्' तथा 'स्वाभाविकम्' पदों में 'ऐच्' का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि द्वारादिगण में 'द्वार' शब्द पढ़ा गया है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'स्वागतादीनां च' (७।३।४) सूत्र द्वारा 'ऐच्' आगम का निषेध हो जाएगा। यहां पर यह द्रष्टव्य है कि 'स्वभाव' शब्द न तो स्वागतादिगण में ही पढ़ा गया है और न यह गण आकृतिगण ही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शरणदेव के अनुसार इस शब्द का इस गण में पाठ किया जाना चाहिए जिससे ये प्रयोग सिद्ध हो सकें।

परन्तु नागेश का इस विषय में यह कहना है कि द्वारादिगण में जो 'स्वाध्याय' तथा 'स्वग्राम' शब्द पढ़े गए हैं उनसे यही ज्ञापित होता है कि 'स्व' के योग में यदि वृद्धि का निषेध होता है तो केवल इन्हीं समस्तपदों से, अन्य शब्दों से नहीं। इसलिए 'स्वाभाविकम्' आदि प्रयोगों में 'ऐच्' आगम का अभाव सिद्ध हो जाएगा।[1]

द्वारिक:

इसी प्रकार की समस्या 'द्वारिक:' प्रयोग में उपस्थित होती है, क्योंकि 'द्वार' शब्द के इस गण में पठित होने के कारण 'ऐच्' (औ) का आगम होकर 'दौवारिक:' प्रयोग बनना चाहिए था।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि कोशों में 'द्वार्' तथा 'द्वार' ये दो शब्द मिलते हैं। द्वारादिगण में पठित 'स्वर्' शब्द के साहचर्य से अकारान्त 'द्वार' शब्द का ही ग्रहण होगा, हलन्त का नहीं। अत: अकारान्त से प्रत्यय होने पर 'दौवारिक:' प्रयोग बनेगा तथा हलन्त से 'द्वारिक:'।

हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७।३।१९

सौहृदम्

'हृद्' शब्दान्त पद के प्रयुक्त होने पर पूर्व तथा उत्तर दोनों पदों के आदि

---

१. उद्योत, महाभाष्य, ७।३।४, पृ० १९७।

'अच्' को 'हृद्भग…' सूत्र द्वारा वृद्धि का विधान किया गया है इस नियम के अनुसार 'सौहृद्यम्' पद तथा 'कुमारसंभव' के 'भावसाध्वसपरिग्रहादभूत् कामसौहृदसुखं मनोहरम्'[1] एवम् 'क्षणभिन्नसौहृद:'[2] श्लोकांशों का 'सौहृदम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि ये प्रयोग ब्रह्मणादि 'ष्यम्' (सौहृद्यम्) तथा युवादि 'अण्' (सौहृदम्) होकर सिद्ध हुए हैं। अत: उभयपद वृद्धि होकर 'सौहार्दम्' तथा 'सौहार्द्यम्' प्रयोग बनने चाहिए थे।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गये हैं। प्रथम यह कि 'संज्ञापूर्वकविधिरनित्य:' परिभाषा के अनुसार 'हृद्भग…' सूत्र के वृत्त न होने के कारण केवल पूर्वपद को ही वृद्धि हुई है। अत: ये प्रयोग साधु हैं।

'सौहृदम्' प्रयोग के लिए दूसरा समाधान, चन्द्र व्याकरण के नाम से, यह दिया गया है कि 'हृद्भग…' सूत्र में 'हृद्' शब्द का प्रतिपदोक्त ग्रहण किया गया है। अत: उसके द्वारा 'हृदय' शब्द के पर्यायवाची 'हृद' का ही ग्रहण होगा, हृद्लेख—' सूत्र से आदिष्ट 'हृद्' का नहीं। यहां पर 'हृद्' शब्द आदिष्ट हैं। अत: उभयपद वृद्धि नहीं होगी।[3] यही समाधान काव्यालंकार तथा मल्लिनाथ की टीका में दिया गया है।[4]

तीसरा समाधान, रक्षित के मत रूप में, दिया गया है कि कभी-कभी ,अर्थवद् ग्रहणी नानर्थकस्य' परिभाषा के अनुसार 'सुहृद्दुह्रदौ—' (५।४।१५०) सूत्र द्वारा निपातित ,सुहृद्' रूप का जो अवयव 'हृद्' है, उसके अन्त में होने पर उत्तरपद को वृद्धि नहीं होती, क्योंकि समुदाय रूप 'सुहृद्' शब्द ही मित्र का वाचक है, अवयव 'हृद्' तो निरर्थक है। अत: उत्तरपदत्व के अभाव में वृद्धि की प्राप्ति नहीं होगी।

अनुशतिकादीनां च ७।३।२०

आतिशायिक:

'अनुशतिकादीनां च' सूत्र द्वारा 'अनुशतिक' आदि शब्दों को उभयपद वृद्धि का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'आतिशायिक:', 'आजातशात्रवीम्'[5] तथा 'चातुवैद्यम्' प्रयोगों में उभयपद वृद्धि इसलिए चिन्त्य है कि ये शब्द इस गण में पढे नहीं गए।

---

१. कुमारसभव, ८।१।
२. वही, ४।६।
३. चान्द्रव्याकरण, ६।१।२६।
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ५।२।८३।
५. शिशुपालवध, २।११४।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह गणपाठ प्रायिक है अर्थात् इसको आकृतिगण माना जा सकता है । यहां पर 'प्रायिकः गण इत्युक्तम्' पाठ होना चाहिए । 'प्रत्ययः' पाठ मानने पर तो अर्थ की संगति ही नहीं लगती । इसके अतिरिक्त 'आकृतिगणत्वाद्भविष्यतीत्येके' पाठ से भी ऐसा ही लगता है । आकृतिगणता के आधार पर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे ।

परन्तु यह मानने पर तो अश्वघोष का 'व्याप्तिमातिशयिकेन' प्रयोग असाधु मानना पड़ेगा ।

इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि पाणिनि आदि के मतानुसार तो यह प्रयोग साधु ही माना जाएगा ।

वस्तुतः भाषा में 'आतिशयिकः' तथा 'आतिशयिकः' दोनों प्रयोग मिलते हैं । दुर्घटवृत्ति से ऐसा लगता है कि पाणिनि (त्रिमुनि) आदि इसको पठित गण मानते थे तथा अन्य विद्वान् आकृतिगण । इसके अतिरिक्त दुर्घटवृत्तिकार को इसकी आकृतिगणता में सन्देह था, क्योंकि बाद में उसने इन प्रयोगों को असाधु भी ठहराया है परन्तु काशिकाकार तथा प्रक्रियाकौमुदीकार इस गण को आकृतिगण मानते हैं ।[1] इसकी आकृतिगणता के आधार पर ही उन्होंने 'चतस्रोविद्या चातुर्वैद्यम्' प्रयोग सिद्ध किया है। चन्द्रगोमिन् ने तो इस प्रयोग को अनुशतकादिगण में ही समाविष्ट कर दिया है । वस्तुतः इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए इस गण को आकृतिगण ही माना जाना चाहिए ।

हनस्तोऽचिण्णलोः ७।३।३२

वार्त्रघ्नम्

'हनस्तो—' सूत्र 'ञित्' तथा 'णित्' प्रयोगों के परे होने पर 'हन्' धातु को तकार आदेश करता है । इस नियम के अनुसार 'वृत्रघ्नं इदं वार्त्रघ्नम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि ,वृत्रहन्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर 'हन्' के 'न्' को 'त्' आदेश होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान, वृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि जब धातु से कार्य का विधान किया जाए तो वह कार्य धातु से विहित प्रत्यय में ही होता है, न कि अन्य किसी शब्द से । 'हनस्तो···' सूत्र द्वारा कार्य का विधान 'हन्' धातु से किया गया है न कि प्रातिपदिक से । यहीं विचार महाभाष्य में 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानात्सिद्धमिति' रूप में व्यक्त किया गया है ।[2] इसका ज्ञापक 'भ्रौणहत्या' शब्द में तकार का निपातन है । इस ज्ञापक पर

---

१. काशिका, ७।३।२० ।
२. महाभाष्य, ७।२।११४ ।

पहले विचार किया जा चुका है। अतः प्रातिपदिक होने से यहां पर तकार आदेश की प्राप्ति नहीं होगी। यही समाधान महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी तथा भाषावृत्ति में 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्र के प्रसंग में दिया गया है।[1]

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ७।३।३४

वमः

'आचम्' धातु को छोड़ कर उदात्तोपदेश तथा मान्त धातुओं को 'चिण्', 'णित्' तथा 'ञित्' प्रत्ययों के परे रहते 'अत उपधायाः' सूत्र द्वारा विहित कार्य का 'नोदात्तोपदेशस्य···' सूत्र द्वारा निषेध किया गया है। इसी सूत्र पर 'अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्'[2] वार्तिक मिलती है जिसके अनुसार इन धातुओं से उपर्युक्त सूत्र की प्रवृत्ति का निषेध कर दिया गया है अर्थात् इनकी उपधा को 'अत उपधायाः' सूत्र द्वारा वृद्धि की प्राप्ति हो जाएगी। इस वार्तिक की दृष्टि से 'वमथुर्वम आमज्वरः' वाक्य के 'वमः' प्रयोग में वृद्धि का अभाव चिन्त्य है, क्योंकि यह शब्द 'घञ्' प्रत्ययान्त है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर वृद्धि न होने पर भी इस प्रयोग के अर्थबोधक होने से 'वमः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

आमः

'वमथुर्वम आमज्वरः' वाक्य का ही 'आमः' प्रयोग भी चिन्त्य है, क्योंकि यह धातु मान्त है। अतः 'नोदात्तोपदेशस्य···' सूत्र के अनुसार यहां पर वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग चौरादिक 'अम रोगे' धातु से 'णिच्' वृद्धि आदि कार्य होकर सिद्ध हुआ है। यहां पर यह आपत्ति की जा सकती है कि 'अम्' के 'मित्' होने के कारण इसकी उपधा को ह्रस्व होना चाहिए था। इस आपत्ति का निराकरण वृत्ति के मत रूप में, इस प्रकार किया गया है कि 'नान्ये मितोऽहेतौ' गणसूत्र द्वारा यहां पर 'मित्व' का निषेध हो जाएगा। धातुवृत्ति में इस प्रयोग की सिद्धि इसी प्रकार 'अच्' अथवा 'घञ्' प्रत्यय द्वारा की गई है।[3]

---

१. काशिका, ३।२।११४।

२. काशिका, ७।३।३४, महाभाष्य में यह कथन वार्तिक के रूप में न मिलकर वचन रूप में मिलता है। महाभाष्य, ७।३।३४।

३. धातुवृत्ति, पृ० ५५७।

विश्रामः

'विश्रामस्थितिहेतवो न गणिता वन्धूपमाः पादपाः', 'विश्रामाज्जायते बलम्' तथा 'सूर्यविश्रामभूमिः' वाक्यों में पद इसलिए विचारणीय है कि 'श्रम्' धातु मान्त है । अतः 'घञ्' प्रत्यय के परे होने पर उसकी उपधा को वृद्धि नहीं होनी चाहिए ।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, यह दिया गया है कि कुछ विद्वान् 'अनाचमि…' वार्तिक में 'श्रमिवमी' पाठ मानते हैं । यह पाठ मानने पर इस वार्तिक द्वारा 'विश्रामः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा । परन्तु अन्य वैयाकरण ऐसा नहीं मानते । उनके अनुसार तो 'विश्रमः' प्रयोग ही बनना चाहिए जैसाकि माघ ने 'विश्रमार्थमुपगूहमजस्रम्'[1] श्लोकांश में किया है ।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग चौरादिक 'श्रम निकेत कुण गुण चामन्त्रणे' धातु से 'णिच्' आदि कार्य होकर सिद्ध हुआ है । परन्तु सिद्धान्तकौमुदी, धातुवृत्ति आदि में यह धातु नहीं मिलती ।

काशिकाकार ने 'विश्राम' शब्द को अन्याय्य कहा है ।[2] दुर्घटवृत्तिकार ने इस मत का उल्लेख किया है । हरदत्त ने 'अन्याय्य' पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि यहां पर 'विश्रान्तिभूमिः' पाठ होना चाहिए ।[3] धातुवृत्तिकार तथा प्रदीपकार ने भी इस प्रयोग को असाधु ही माना है ।[4]

उपरम

इसी प्रकार की समस्या 'उपरमः' तथा 'उद्यमः' प्रयोगों में उपस्थित होती है । इन प्रयोगों पर पहले विचार किया जा चुका है ।[5]

इसी प्रसंग में शरणदेव ने यह भी कहा है कि धातुपाठ में जो अर्थ निर्देश है वह संभवतः अपाणिनीय है । इसलिए धातुपाठ में निर्दिष्ट 'उद्यमः' तथा 'उपरमः' शब्दों को मुनित्रय ने विलक्षण मानते हुए इन निर्देशों को अप्रधान (अप्रामाणिक) माना है । दुर्घटवृत्तिकार ने भागवृत्तिकार तथा भर्तृहरि के मत को उद्धृत किया है । उन्होंने 'यल्लक्षणमप्रयुक्ते' कथन के अनुसार 'उद्यमः' तथा 'उपरामः' प्रयोगों को ही प्रामाणिक माना था ।

---

१. शिशुपालवध, १०।८८ ।

२. काशिका, ७।२।३४ ।

३. पदमञ्जरी (भाग २), ७।३।३४, पृ० ८१३ ।

४. प्रदीप, महाभाष्य, ७।३।३४, पृ० २०४ ।

५. द्र० प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० ६८६—६८७१ ।

इसुसुक्तान्तात् कः ७।३।५१

आकस्मिकः

'इसुसु···' सूत्र तान्त शब्दों से परे 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश का विधान करता है। यह सूत्र 'ठस्येकः' (७।३।४०) सूत्र का अपवाद है। इस सूत्र की दृष्टि से 'आकस्मिकः' प्रयोग इसलिए चिन्त्य है कि 'अध्यात्मादिभ्यश्च' वार्तिक द्वारा 'ठक्' प्रत्यय के परे होने पर 'अकस्मात्' शब्द के तान्त होने से 'ठ' को 'क' आदेश होना चाहिए था।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान यह दिया गया है कि 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।६) सूत्र में निपातित 'शाश्वतिकः' प्रयोग से यह ज्ञापित होता है कि कभी-कभी तान्त शब्दों से भी 'ठ' को 'क' आदेश न होकर 'इक्' आदेश ही होता है। न्यासकार ने भी ऐसा माना है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया कि 'अकस्मात्' निपात विभक्ति प्रतिरूपक है अर्थात् मूल शब्द 'अकस्म' है। अतः तकारान्त के अभाव में 'क' आदेश की प्राप्ति नहीं होगी।

तीसरा समाधान यह दिया गया कि यदि इसको विभक्त्यन्त न माना जाए तो भी 'अकस्मात्' को 'जश्' भाव होने पर वह दकारान्त बन जाएगा। उस स्थिति में 'क' आदेश का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

वस्तुतः प्रथम समाधान ही ठीक है। अन्तिम दो समाधान तो बौद्धिक व्यायाम ही प्रतीत होते हैं।

चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२

'चजोः कु···' सूत्र द्वारा 'घित्' तथा 'ण्यत्' प्रत्ययों के परे होने पर चकार तथा 'जकार के स्थान पर कवर्ग आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार कुमारसंभव के 'वेदिसम्मार्जदक्षाः'[2] श्लोकांश के 'सम्मार्जी' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'मृज्' धातु से 'घञ्' परे होने पर 'कुत्व' क्यों नहीं हुआ ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'मृज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय न होकर 'घञर्थे' क विधानम्' द्वारा 'क' प्रत्यय हुआ है।

---

१. न्यास (भाग १), २।४।६, पृ० ४४७।

२. कुमारसंभव, १।६०।

अतः 'कुत्व' का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस प्रयोग में वृद्धि 'क्ङित्यजादौ वेष्यते'[1] वार्तिक द्वारा हुई है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'वेदिं सम्मार्ष्टि' व्युत्पत्ति के अनुसार 'कर्मण्यण्' (३।२।१) सूत्र द्वारा 'अण्' होकर 'वेदिसम्मार्जी' प्रयोग बन जाएगा। उसके पश्चात् 'वेदिसम्मार्जी चासौ दक्षाः' विग्रह द्वारा कर्मधारय समास कर लिया जाएगा। तथा बाद में 'मार्जी' शब्द को पुंवद्भाव करके यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार 'घञ्' प्रत्यय के अभाव में उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित ही नहीं होगा।

परन्तु कुमारसंभव के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'वेदिसम्मार्गदक्षाः' पाठ मिलता है जो 'चजोः कु···' सूत्र के अनुरूप है।

शोच्यः

'शोच्यः' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'शुच्' धातु से 'ण्यत्' के परे होने पर 'कुत्व' क्यों नहीं हुआ? इस प्रसंग में दुर्घटवृति में 'ण्यति घञि च' पाठ मिलता है। परन्तु यहां पर 'घञि च' पाठ नहीं होना चाहिए क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं है। 'शोच्यः' पद 'ण्यत्' द्वारा ही सिद्ध होता है।

इस प्रश्न के तीन उत्तर दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'अजिव्रज्योश्च' (७।३।६०) सूत्र के चकार को अनुक्त समुच्चयार्थ मान कर उससे 'शुच्' का भी ग्रहण हो जाएगा तथा इस प्रयोग में 'कुत्व' का निषेध हो सकेगा।

दूसरा समाधान 'कश्चित्' निर्देश द्वारा यह दिया गया है कि 'न क्वादेः' (७।३।५९) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'न' से यहां पर 'कुत्व' का निषेध हो सकेगा।

तीसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर आवश्यक अर्थ में प्रत्यय हुआ है। अतः 'ण्य आवश्यके' (७।३।६५) सूत्र द्वारा 'कुत्व' का निषेध हो जाएगा।

आलोचः

'लोचृ' तथा 'पचि' धातुओं से क्रमशः निष्पन्न 'घञ्' प्रत्ययान्त 'आलोचः' तथा 'प्रपञ्चः' प्रयोगों में भी 'कुत्व' का अभाव विचारणीय है।

इस समस्या के लिए दिया गया समाधान स्पष्ट नहीं हो सका।

काचाः

अमरकोश में 'काचाः शिक्यमृद्भेददृग्रुजः'[2] वाक्य के 'काचाः' प्रयोग में

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, ७।२।१४४ (भाग ३)।

२. अमरकोश, ३।३।२८।

यह विचारणीय है कि 'कच बन्धे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के परे होने पर 'कुत्व' क्यों नहीं हुआ ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यह प्रयोग णिजन्त 'काचि' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है। यह समाधान अमरकोश की टीका में विकल्प के रूप में मिलता है।[1]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि अजिव्रज्योश्च' सूत्र के चकार द्वारा 'कच्' धातु का भी ग्रहण मानकर यहां पर 'कुत्व' का निषेध हो जाएगा। परन्तु यहां पर चकार द्वारा 'कुत्व' के निषेध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'न क्वादेः' (७।३।५९) सूत्र से स्वतः निषेध हो जाएगा। अमरकोश की टीका में यह समाधान दिया गया है।[2] दुर्घटवृत्तिकार का ध्यान संभवतः इस ओर नहीं गया।

इषुगमियमां छः ७।३।७७

प्रतीच्छिष्यामि

'इषुगमियमां छः' सूत्र 'इषि', 'गमि' आदि धातुओं को 'शित्' प्रत्ययों के परे होने पर इकार आदेश करता है। इस सूत्र के अनुसार दुर्गासप्तशती के 'प्रतीच्छिष्याम्यहं प्रीत्या'[3] प्रयोग में 'इष्' को छकारादेश विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'इष्' धातु से 'शित्' प्रत्यय परे न होकर 'स्य' परे है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग क्विबन्त 'प्रतीच्छ्' शब्द से लृट्' लकार में सिद्ध हुआ है। 'प्रतीच्छ्' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की गई है कि 'इच्छां प्रतिगतः प्रतीच्छः तथा 'तद्वदाचरिष्यामि' व्युत्पत्ति के अनुसार आचार अर्थ में 'क्विप्' होकर 'प्रतीच्छ्' शब्द बन जाएगा।

निर्गच्छन्

निर्गच्छन्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'तुक्' के प्रति छत्व के असिद्ध होने के कारण यहां पर 'छे-च' (६।१।७३) सूत्र से 'तुक्' का आगम कैसे हो गया ? छत्व विधि की अपेक्षा 'तुक्' आगम के अन्तरंग होने के कारण 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा के अनुसार छत्व कार्य असिद्ध है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'न लोपः···' (८।२।२) सूत्र में 'तुग्विधि' के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि उपर्युक्त परिभाषा अनित्य है।

---

१. अमरकेश सुधा टीका, ३।३।२८।

२. अमरकेश सुधा टीका, ३।३।२८।

३. दुर्गासप्तशती, १२।११।

यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया है कि यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'वृत्रहन्+क्विप्+भ्याम्' स्थिति में 'न' लोप के तुग्विधि के प्रति असिद्ध होने से 'तुक्' की प्राप्ति स्वत: न होती । अतः इस परिभाषा के अनित्य होने के कारण 'निर्गच्छन् प्रयोग में 'तुक्' सिद्ध हो जाएगा । इस ज्ञापक का उल्लेख न्यास, पदमञ्जरी, परिभाषावृत्ति, तात्वबोधिनी आदि सभी ग्रन्थों में मिलता है ।[1]

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां
पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्छधौशीयसीदाः ७।३।७८

व्यतिपपे

'पाघ्राध्या—' सूत्र द्वारा 'पा' आदि धातुओं को 'शित्' प्रत्ययों के परे होने पर 'पिब' आदि आदेशों का विधान किया गया है । इस नियम के अनुसार 'व्यतिपपे' प्रयोग में 'पिब्' आदेश का अभाव विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'शित्' (एश्) प्रत्यय परे है ।

इस प्रश्न का उत्तर, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'वर्णे यत् स्यातच्च विद्यातदादौ' वार्तिक द्वारा 'व्यतिपपे' प्रयोग में 'पिब्' आदेश नहीं होगा, क्योंकि शकार 'एश्' के आदि में न होकर अन्त में है ।[2] यदि सूत्रकार को ऐसा ही अभीष्ट होता तो वह 'एश्' के स्थान पर 'शे' ही पढ़ते ।

पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६

ष्ठीवनम्

'पुगन्त—' सूत्र पुगन्त तथा लघुपध शब्दों की उपधा को सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्ययों के परे होने पर गुणादेश करता है । इस सूत्र की दृष्टि से 'ष्ठीवनम्' और 'सीवनम्' प्रयोग चिन्त्य है, क्योंकि 'ष्ठिवु निरसने' तथा 'षिवु तंतुसेताने' धातुओं से 'ल्युट्' पर होने पर इनकी उपधा को गुण होना चाहिए था न कि दीर्घादेश ।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं प्रथम यह कि इन प्रयोगों को पृषोदरादिगण में पठित मान कर 'पृषोदरादीनि—' (६।३।१९) सूत्र द्वारा दीर्घत्व साधु मान लिया जाएगा । धातुवृत्तिकार ने भी 'सीवनम्' प्रयोग को इसी प्रकार सिद्ध किया है ।[3]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि चन्द्रगोमिन् के 'ष्ठिविसिव्योर्दीर्घश्च'

---

१. परिभाषावृत्ति, पृ० २० ।
२. न्यास (भाग १), ३।४।८१, पृ० ७७७ ।
३. धातुवृत्ति, पृ० ४०२ ।

(१।३।९८) सूत्र के अनुसार यहां पर दीर्घ आदेश को प्राप्ति स्वत: हो जाएगी। धातुवृत्तिकार ने भी इस प्रसंग में चान्द्र सूत्र का उल्लेख किया है।[1]

भेत्ता

'भेत्ता' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'भिद्+-तृच्' स्थिति में 'द्+त्' रूप संयोग के परे होने पर लघूपध के अभाव में 'भिद्' की उपधा को गुण नहीं होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'त्रसिगृधि—' (३।२।१४०) तथा 'हलन्ताच्च' (१।३।१०) सूत्रों द्वारा 'बनु' तथा 'सन्' प्रत्ययों के कित्करण से यह ज्ञापित होता है कि प्रकृति तथा प्रत्यय का संयोग होने पर प्रत्ययनिमित्तिक कार्य में गुण संज्ञा नहीं होती। इस ज्ञापक पर पहले विचार किया जा चुका है यही समाधान काशिका, न्यास, पदमंजरी आदि में दिया गया है।[2]

तुलयति

माघ के 'तुलयति स्म विलोचनतारका:'[3] श्लोकांश के 'तुलयति' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'तुल उन्माने' धातु से 'णिच्' परे होने पर इसकी उपधा को गुण क्यों नहीं हुआ?

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'घञर्थे क विधानम्' वार्तिक द्वारा 'क' प्रत्यय करके स्त्रीलिंग में 'तुला' शब्द बन जाएगा। उसके पश्चात् 'तुलया परिछिन्नति' अथवा 'तत्करोति' अर्थ में 'णिच्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार 'तुलना' शब्द भी 'तुला' शब्द से सिद्ध हो जाएगा।

लिखनम्

'लिखनम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'लिखि्' धातु से 'ल्युट्' परे होने पर इसकी उपधा को गुण क्यों नहीं हुआ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'संज्ञापूर्वकविधिरनित्य:' परिभाषा द्वारा यहां पर गुण का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'गाङ्कुटादि—' (१।२।१) सूत्र में निर्दिष्ट 'कुटादि' पद में तत्पुरुष समास माना जाए। यह मानने पर 'लिख्' धातु कुटादि हो जाएगी तथा यहां पर ङित्वद्भाव होकर गुण की प्राप्ति नहीं

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ४०२।

२. काशिका, ७।३।८६।

३. शिशुपालवध, ६।४।

होगी । कुटादि पद में तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि समास माना जाए । इस विषय पर पहले विचार किया जा चुका है ।

लेखकः

परन्तु यदि 'कुटादि' पद में तत्पुरुष माना जाए तो 'लेखकः', 'लेखः' 'लेखनी' जैसे प्रयोग असाधु माने जाएंगे । इस विषय पर भी पहले विचार किया जा चुका है ।

अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१

जयन्ति

'अतो दीर्घो यञि' सूत्र द्वारा अकारान्त अङ्ग को 'यञ्' आदि सार्वधातुक प्रत्ययों के परे होने पर दीर्घादेश का विधान किया गया गया है । इस नियम के अनुसार न्यास के 'जयन्ति ते सदा सन्तः' वाक्य के 'जयन्ति' पद की सिद्धि विचारणीय है । 'जय्+अ+अन्ति=जय+न्ति' स्थिति में जो एकादेश रूप अकार है उसके पूर्व के प्रति अन्तवत् होने से 'जय' को दीर्घत्व की प्राप्ति होगी तथा उस एकादेश के पर के प्रति आदिवत् होने में 'न्ति' का सार्वधातुकत्व रहेगा । इस दृष्टि से 'जयन्ति' प्रयोग में दीर्घादेश होना चाहिए ।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया है कि 'उभयत आश्रये नान्तादिवत्'[1] परिभाषा के अनुसार एकादेश अकार में अन्तादिवत्भाव नहीं होगा तथा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा ।

यदि इस प्रकार अन्तादिवत् भाव न भी माना जाए तो भी 'जय+न्ति' स्थिति में 'एकदेशविकृतस्यानन्यवत् भवति' परिभाषा के अनुसार विकृत 'न्ति' में सार्वधातुकत्व तो रहेगा ही और 'जय, को दीर्घादेश की प्राप्ति होगी ।

यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'एकादेश विकृतस्य—' परिभाषा मानने पर 'उभयत आश्रये—' परिभाषा व्यर्थ हो जाएगी क्योंकि इसकी सार्थकता' वृक्षौ' जैसे प्रयोगों में है । यहां पर एकादेश औकार के पूर्व के प्रति आदिवत् होने से वह 'औ' प्रातिपदिक का अवयव बनकर सुबन्त बन जाएगा तथा पर के प्रति आदिवत् होने पर 'सुपो धातु—' (२।४।७१) सूत्र से 'सुप्' 'लुक्' की प्राप्ति होगी । परन्तु यहां पर 'उभयत आश्रये—' परिभाषा द्वारा अन्तवत् का अभाव होने से ,लुक्' नहीं होगा । यहां यह नहीं कहा जा सकता कि 'एकादेश विकृत-स्य—' परिभाषा से काम चल जाएगा तथा 'उभयत आश्रये—' परिभाषा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहां पर 'एकादेश विकृत नहीं हुआ है । इस प्रकार

---

१. परिभाषावृत्ति, परिभाषा संख्या ५१ ।

'एकदेश विकृतस्य—' परिभाषा के अनुसार 'जयन्ति' प्रयोग में समस्या बनी ही रहती है।

यहां प्रथम समाधान के रूप में दी गई पंक्तियां अस्पष्ट तथा असंगत प्रतीत होती हैं। हां, इतनी बात का अवश्य पता लगता है कि ऐसे प्रयोगों में 'एकदेश विकृतस्य—' परिभाषा काम नहीं करती।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३।२।७५) सौत्र निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

सुपि च ७।३।१०२

वृक्षाय

'सुपि च' सूत्र द्वारा यञादि 'सुप्' परे होने पर अकारान्त अङ्ग को दीर्घादेश का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'वृक्षाय' प्रयोग में दीर्घत्व इसलिए विचारणीय है कि 'वृक्ष' शब्द से 'ङे' विभक्ति को 'य' आदेश हो जाने पर 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'[1] परिभाषा के अनुसार यञादि रूप 'य' आदेश अपने सन्निपात ह्रस्व अकारान्त को नष्ट करने में निमित्त नही बन सकता। अतः यहां पर दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'कष्टाय क्रमणे' (३।१।१४) इस निर्देश द्वारा यह ज्ञापित होता है कि प्रस्तुत परिभाषा अनित्य है। अतः यहां पर दीर्घादेश हो जाएगा। सिद्धांतकौमुदी तथा परिभाषावृत्ति मे इस परिभाषा की अनित्यता स्वीकार की गई है।[2]

आङि चापः ७।३।१०५

अतिखट्वेन

'आङि चापः' सूत्र द्वारा 'आङ' तथा 'ओस्' विभक्तियों के परे होने पर आवन्त अंग को एकार आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'अतिखट्वेन' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'गोस्त्रियो—' सूत्र द्वारा ह्रस्व हो जाने पर भी स्थानिवद्भाव की प्राप्ति होने से एकार आदेश होना चाहिए। 'हल्ङ्याभ्यां—' (३।१।६८) सूत्र में तो 'दीर्घ' ग्रहण का प्रयोजन 'अतिखट्व' शब्द की व्यावृत्ति करना है परन्तु 'आङि चापः' सूत्र में ऐसा कोई निर्देश नहीं किया गया।

प्रस्तुत समस्या का समाधान, महाभाष्य के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस सूत्र के 'आपः' पद में 'आआपः' इस प्रकार से 'आ' का प्रश्लेष है। अतः

---

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ८६।
२. परिभाषावृत्ति, पृ० ७।

'एत्व' की प्राप्ति दीर्घान्त से ही होगी। इसलिए 'अतिखट्वात्' आदि प्रयोगों में ह्रस्व होने पर 'याडापः' (७।३।११३) सूत्र द्वारा 'याट्' कार्य नहीं होता।[1] कैयट के अनुसार यह प्रश्लेष 'याडापः' आदि इन सभी सूत्रों में है।[2] भाषावृत्ति में भी यह समाधान, महाभाष्य के नाम से, दिया गया है।

काशिका, न्यास तथा पदमंजरी में इसी सूत्र के प्रसंग में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'ङ्याग्रहणो दीर्घग्रहणम्' (ङी तथा 'आप्' का ग्रहण होने पर अदीर्घ को स्थानिवत् नहीं होता) वचन द्वारा यहां पर स्थानिवत् का निषेध हो जाने से एकार आदेश की प्राप्ति नहीं होगी।[3]

न्यासकार ने 'अपरः' निर्देश द्वारा एक अन्य समाधान यह दिया है कि 'हल्ङ्याब्भ्यो—' सूत्र को योगविभाग द्वारा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' तथा 'सुतिस्यपृक्तं हल्' रूपों में विभक्त किया जाए। प्रथम सूत्र का अर्थ होगा—ङ्याप् सम्बन्धी जिस भी कार्य का विधान किया जाए वह सर्वदा दीर्घ से ही हो, ह्रस्व से नहीं। यह मानने पर 'अतिखट्वेन' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८

सुतनु

'ह्रस्वस्प गुणः' सूत्र ह्रस्वान्त अङ्ग को सम्बुद्धि में गुणादेश करता है। इस नियम के अनुसार 'सुतनु'। सत्यमलंकरणाय ते'[4] 'सुतनु' जहीहि कोपम्' तथा 'वरतनु' सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः' वाक्यों के 'सुतनु, तथा वरतनु' प्रयोगों में गुणाभाव चिन्त्य है। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य जाति की विवक्षा में 'ऊङुतः' (४।१।६६) सूत्र द्वारा निष्पन्न ऊङन्त 'सुतनु' शब्द को 'अभ्यार्थ···' (७।३।१०७) सूत्र से ह्रस्व होकर ये प्रयोग बने हैं, क्योंकि भाषा में 'ऊङ्' रहित सगुण प्रयोग भी मिलते हैं जैसे-'सुतनो' स्तनौ च दयितोपगमे'।[6]

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि भाषा में उणादिसूत्र 'कृषिचमि द्वारा निश्पन्न 'तनू' शब्द भी मिलता है। अमरकोश में भी इस 'ऊङ्' प्रत्ययान्त 'तनू' शब्द का प्रयोग हुआ है—'स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः'।[7] विचारणीय स्थलों

---

१. महाभाष्य, १।१।५६, पृ० ४२३।
२. प्रदीप महाभाष्य, १।१।५६, पृ० ४२३।
३. पदमंजरी (भाग २), ७।३।१०५ पृ० ८४०।
४. न्यास, (भाग ३), ७।३।१०५ पृ० ८३०।
५. शिशुपालबध, ६।१७।
६. शिशुपालबध, ९।२२।
७. पदमंजरी (भाग २), ७।३।१०८, पृ० ८४२।

में इस शब्द का प्रयोग मानने पर 'अम्बार्थ—' सूत्र द्वारा 'ऊ' को ह्रस्व हो जाएगा। उसके पश्चात् ह्रस्वादेश सामर्थ्य से गुण की प्राप्ति नहीं होगी। भाषावृत्तिकार का इस विषय में यह कहना है कि यदि यहां पर सूत्रकार को गुण अभिप्रेत होता तो वह 'अम्बार्थानां ह्रस्वः' कह कर नदी 'ह्रस्वयोर्गुणः' निर्देश करते। न्यास, पदमंजरी, तत्वबोधिनी आदि में भी 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यहां पर ह्रस्व सामर्थ्य से गुण नही होगा। यदि गुण हो जाए तो ह्रस्व विधान निरर्थक हो जाएगा।[1] मल्लिनाथ ने भी यही समाधान दिया है।[2]

धातुवृत्तिकार ने इन प्रयोगों को ऊङन्त माना है। इस स्थिति में 'अम्बार्थ-—' सूत्र से ह्रस्व हो जाएगा।[3]

परन्तु इन शब्दों को दीर्घान्त 'तन्' शब्द से निष्पन्न मानने पर तो 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) सूत्र द्वारा यहां समासान्त 'कप्' की प्राप्ति होगी।

इस आक्षेप का निवारण इस प्रकार किया गया है कि समासान्त विधि के अनित्य होने के कारण यहां पर 'कप्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने 'अन्य' निर्देश द्वारा एक अन्यः समाधान यह दिया है कि 'संज्ञापूर्वकविधिरनित्यः' परिभाषा द्वारा यहां परगुण नहीं होगा। भट्टि तथा माघ ने अपने काव्यों में 'ऊङ' रहित प्रयोग भी किए हैं—'कुतस्त्यं भीरु। यत् तेभ्यः'[4], तथा 'सपदिवारिधरारवभीरवः।[5]

हे कर्तु

'हे कर्तृ, कुल' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'कृतृ' शब्द से सम्बुद्धि में 'सु' परे होने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र के 'स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।१३) की अपेक्षा पर होने के कारण गुण होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'सर्वविधिभ्यो लोपविधि—' बलवान्[4] परिभाषा के अनुसार पूर्वविप्रतिषेध द्वारा 'लुक्' के बलवान् होने के कारण पहले 'लुक्' ही होगा। यहां पर 'प्रत्यालोपे—' (१।१।६२) सूत्र द्वारा प्रत्यय लक्षण मान कर गुण इसलिए नहीं होगा कि 'न लुमतांगस्य' (१।१।६३) सूत्र द्वारा 'लुक्' के विषय में प्रत्ययलक्षण में होने वाले कार्य का निषेध कर दिया गया है।

---

१. मल्लिनाथ टीका, शिशुपालवध, ६।१७।
२. धातुवृत्ति, पृ० ५०७।
३. भट्टिकाव्य, ४।३६।
४. शिशुपालवध, ६।३८।
५. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या १००।

हे वारे

यदि 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र को नित्य माना गया तो 'हे वारे' तथा 'हे सुनो' प्रयोग असाधु माने जाएंगे, क्योंकि यहां पर नपुंसकलिंग में 'सु' का 'लुक्' हुआ है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'इकोऽचि—' (७।१।७३) सूत्र में 'अचि' पद के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'न लुमतांगस्य' सूत्र अनित्य है। इसीलिए बालमनोरमा टीका में 'धातृ' जैसे ऋकारान्त शब्दों में सम्बुद्धि में गुण रहित (हे धातृ) तथा गुण रहित (हे धात:) दो प्रयोग सिद्ध गए हैं।

ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः ७।३।११०

कर्तृणि

'ऋतो ङि—' सूत्र ऋकारान्त अङ्ग को 'ङि' तथा सर्वनामस्थान परे होने पर गुणादेश का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'कर्तृणि' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि गुणविधायक सूत्र के 'नुम्' विधायक 'इकोऽचि—' (७।१।७३) की अपेक्षा पर होने के कारण 'कर्तृ' शब्द को गुण होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'वृद्धयौत्वतृज्वद्भाव-गुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन[1]' वार्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध के आश्रय से गुण की अपेक्षा 'नुम्' ही होगा।

घेर्ङिति ७।३।१११

वारिणः

'घेर्ङिति' सूत्र द्वारा घ्यन्त अङ्ग को 'ङित्' प्रत्ययों के परे होने पर गुणादेश का विधान किया गया है। अतः 'वारिण:' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'घेर्ङिति' सूत्र के 'इकोऽचि—' की अपेक्षा पर होने के कारण 'ङस्' विभक्ति के परे होने पर गुण होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'शलालुनो—' (४।४।५४) सौत्र निर्देश द्वारा यह ज्ञापित होता है कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा गुण की अपेक्षा 'नुम्' ही होता है। 'शलालु' शब्द 'घि' संज्ञक है। उससे 'ङस्' परे होने पर गुण तथा 'नुम्' दोनों की प्राप्ति होती है। सिद्धांतकौमुदी में भी यह प्रयोग पूर्वविप्रतिषेध द्वारा ही सिद्ध किया गया है।[2]

---

१. बालमनोरमा (भाग १), ७।१।७५, पृ० २६१।
२. सिद्धान्तकौमुदी, (भाग १), ७।१।७३।
३. सिद्धांतकौमुदी, (भाग १), ७।३।७३, पृ० २७८।

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४

अनन्तरायाः

'सर्वनाम्नः—' सूत्र आवन्त सर्वनाम से परे 'ङित्' प्रत्ययों को 'स्याट्' आगम तथा अङ्ग को ह्रस्त्र विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'अनन्तरायाः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'नञ्' समास में भी 'अन्तरा' शब्द के सर्वनाम संज्ञक होने के कारण इसको 'स्याट्' आगम तथा ह्र्स्वादेश होन चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यह प्रयोग ,नम्' समास का न होकर बहुव्रीहि समास (अविद्यमानमन्तरं यस्याः) का है। बहुव्रीहि में 'न बहुव्रीहौ' (१।१।२६) सूत्र द्वारा सर्वनाम का निषेध कर दिया गया है। अतः यहां पर 'सर्वनाम्नः—' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६

क्त्वायाम्

'ङेराम्—' सूत्र नद्यन्त, आवन्त आदि अङ्गों से परे 'ङि' को 'आम्' आदेश करता है। इस नियम के अनुसार वृत्ति के 'क्त्वायां विकल्पः सिद्धः'[1] वाक्य के 'क्त्वायाम्' प्रयोग में 'ङि' को 'आम्' भाव चिन्त्य हैं, क्योंकि 'क्त्वा' शब्द आबन्त नहीं है।

इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि कहीं-कहीं अजादिगण में 'क्त्वा' शब्द पढ़ा गया। अतः 'अजाद्यष्टाप्' (४।१।४) सूत्र द्वारा 'टाप्' होकर यह शब्द आबन्त बन जाएगा। परन्तु गणपाठ सम्बन्धी प्रायः सभी पुस्तकों के इस गण में यह शब्द पढ़ा नहीं गया। वैसे इस गण को आकृतिगण अवश्य माना गया है। इस आधार पर इस प्रयोग को इस गण में अन्तर्भावित माना जा सकता है।

---

१. काशिका, ७।२।५०।

सप्तम अध्याय : चतुर्थ पाद

केऽणः ७।४।१३

तूष्णीकः

'केऽणः' सूत्र द्वारा 'क' प्रत्यय के परे होने पर 'अण्' को ह्रस्वादेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'कुर्वतेऽपि तूष्णीका गम्भीरचेतसः' तथा 'तूष्णीशीलस्तु तूष्णीकः[1]' वाक्यों के 'तूष्णीकः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'शीले को मलोपश्च' वार्तिक द्वारा 'तूष्णीम्' अव्यय से 'क' प्रत्यय परे होने पर तथा 'म्' का लोप हो जाने के पश्चात् 'तूष्णी' को ह्रस्व होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'न कपि' सूत्र का योगविभाग करके स्वतंत्र सूत्र 'न' से यहां पर ह्रस्व का निषेध हो जाएगा। तत्त्वबोधिनी में इस समाधान के अतिरिक्त एक अन्य समाधान यह दिया गया है कि स्वयं महाभाष्यकार[2] द्वारा प्रयुक्त किए जाने के फलस्वरूप यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा[3]। नागेश ने इस विषय में यह कहा है कि यहां पर ह्रस्व इसलिए नहीं होगा कि 'तूष्णीम्' शब्द हलन्त है, अणन्त (अ, इ, उ) नहीं।[4]

एकः

'एकः' प्रयोग की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'इण्भीका—(सि०कौ०) उणादि सूत्र द्वारा 'इण्' धातु से 'कन्' प्रत्यय होने पर तथा बाद 'इणभीकः' वचन से गुणादेश के पश्चात् 'केऽणः' सूत्र द्वारा 'ए' को ह्रस्व होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'केऽणः' सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण पूर्व णकार से ही होता है, पर णकार से यदि सूत्रकार को पर णकार से ही अभीष्ट होता तो वह 'केऽचः' अथवा नहीं, 'केऽटः' पढ़ते। इसी प्रसंग में शरणदेव ने महाभाष्यकार का वह मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'ढ्रलोपे—' 'केऽणः' 'अणोऽप्रगृह्य—' तथा 'उरण् रपरः' सूत्रों में 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण पूर्व णकार से अभिप्रेत है।[5]

---

१. अमरकोश, ३।१।३६।
२. महाभाष्य, ५।३।७२, पृ० २३१।
३. तत्वबोधिनी, (भाग २), ५.३।७३, पृ० ५३२।
४. उद्योत, महाभाष्य, ५।३।७२, पृ० २३१।
५. महाभाष्य, 'लण्' सूत्र, पृ० १२२-१२२।

महाभाष्य तथा न्यास में केवल 'केऽचः' पाठ ही मिलता है, 'केऽटः' नहीं। यह पाठ ही ठीक है, क्योंकि 'केऽटः' सूत्र न्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि ह्रस्व कार्य अचों को ही होता है, हलों को नहीं। वैसे यदि 'अचः' भी न कहा जाए तो भी काम चल सकता था, क्योंकि ह्रस्व विधि अचों को ही होती है ?[1] इस प्रकार पूर्व णकार के ग्रहण से 'एकः' में ह्रस्व की प्राप्ति नहीं होगी।

'आशीष्कः—सावर्ण्यनिषेधात्' पंक्तियां अस्पष्ट हैं।

एतेर्लिङि ७।४।२४

अभियात्

'एतेर्लिङि' सूत्र उपसर्ग सहित 'इण्' धातु के अङ्ग को चकारादि कित्, ङित्, लिङ् परे होने पर ह्रस्व का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से "अभियात्' प्रयोग में ह्रस्वादेश चिन्त्य है, क्योंकि 'अभि+ईयात् स्थिति में एकादेश होने पर यदि उसे पूर्व के प्रति अन्तवत् माना जाए तो उपसर्ग में प्रविष्ट हो जाने के कारण 'इण्' धातु का धातुत्व नष्ट हो जाएगा और यदि पर (इण्) के प्रति आदिवत् माना जाए तो 'अम्' रूप पद में उपसर्गत्व समाप्त हो जाएगा। अतः 'उभयत आश्रये नान्तादिवत्' परिभाषा के अनुसार अन्तादिवत् अभाव में 'एतोर्लिङि सूत्र द्वारा ह्रस्व नहीं हो सकता। तथा 'अभीयात्' ही बनना चाहिए। यही स्थिति 'परियात्' प्रयोग में भी है। यहां पर भी 'परियात्' ही बनना चाहिए। इसलिए कालिदास ने अपने मेघदूत में 'भक्तिनम्रपरीयाः[2]' प्रयोग किया है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि ज्ञापक सिद्ध कार्य सर्वत्र नहीं होता अर्थात् ज्ञापक-सिद्ध 'उमयत आश्रये···' परिभाषा सर्वत्र कार्य नहीं करती। अतः उपसर्ग के एकदेश के विकृत हो जाने पर भी 'एकदेश विकृत···' परिभाषा द्वारा 'अञ्' में उपसर्गत्व रहेगा जिससे एकादेश को पर का आदिवत् मान कर विशेष आदेश ह्रस्व हो जाएगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने यह समस्या 'अभीयात्' तथा 'परीयात्' प्रयोगों की दृष्टि से रखी है, परन्तु उसके समस्या रखने के ढंग तथा समाधान से यह प्रतीत होता है कि यहां पर 'अभियात्' और 'परियात्' पाठ होने चाहिए।

सिद्धान्तकौमुदी, पदमञ्जरी, प्रदीप आदि में 'एतेर्लिङि' सूत्र के प्रसंग में तथा धातुवृत्ति में 'उभयत आश्रये···' परिभाषा द्वारा' अभीयात्' प्रयोग ही

---

१. न्यास (भाग ३) ७।३।१३, पृ० ८४५।
२. मेघदूत, श्लोक ५७।

साधु माना गया है ।[1] जहां तक 'एकदेश विकृत…' परिभाषा का प्रश्न है उस विषय में यह कहा गया है कि अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए कभी-कभी इस न्याय का आश्रय नहीं लिया जाता ।

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५

प्रावृषायते

'अकृत्सार्व…' सूत्र 'कृत्' प्रत्ययों से भिन्न सार्वधातुक यकारादि कित्, ङित् प्रत्ययों के परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घादेश का विधान करता है । इस नियम के अनुसार 'शरदियं प्रावृषायते' वाक्यांश के 'प्रावृषायते' प्रयोग में दीर्घत्व चिन्त्य है, क्योंकि 'प्रावृष्' शब्द हलन्त है ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि हलन्त 'प्रावृष्' शब्द से अर्शादि 'अच्' होकर स्त्रीलिंग की विवक्षा में 'टाप्' द्वारा 'प्रावृषा' शब्द बन जाएगा उसके पश्चात् 'अय्' धातु के प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग 'अयते' द्वारा (प्रावृषा+अयते—प्रावृषायते) प्रयोग सिद्ध हो सकेगा ।

शरणदेव ने टाबन्त 'प्रावृषा' शब्द के लिए संसारावर्त्त नामक पुस्तक को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'प्रावृषा' शब्द को 'जलार्णवा' कहा गया है । यह मत त्रिकाण्डशेष में कुछ पाठभेद के साथ मिलता है—'कालप्रभातं शरदा प्रावृषा तु जलार्णवा ।[2]

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८

जागर्यते

'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' सूत्र ऋकारान्त अङ्ग को श, यक् तथा असार्वधातुक यकारादि लिङ् के परे होने पर 'रिङ्' आदेश का विधान करता है । इस दृष्टि से 'जागर्यते' प्रयोग में 'रिङ्' का अभाव इसलिए विचारणीय है कि यहां पर 'जाग्रोऽविचि…' (७।३।८५) सूत्र से गुण तथा उसके साथ-साथ 'रिङ्' आदेश भी प्राप्त होता है । इस स्थिति में 'रिङ्' आदेश के पर होने के कारण 'रिङ्' ही होना चाहिए । यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि गुण के इस प्रयोग के प्रति सावकाश होने से गुण अवश्य होगा क्योंकि 'जागर' आदि प्रयोग गुण के विषय हैं तथा 'क्रियते' प्रयोग 'रिङ्' का । अतः 'जागर्यते' प्रयोग में दोनों की प्राप्ति की अवस्था में 'रिङ्' आदेश के पर होने के कारण 'रिङ्' ही होना चाहिए ।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ७।४।२४, पृ० २४१ ।
२. त्रिकाण्डशेष, १।४।२६ ।

इस समस्या का समाधान, धातुपारायण के नाम से यह दिया गया है कि पूर्वविप्रतिषेध द्वारा गुण ही होगा, 'रिङ्' नहीं। धातुवृत्तिकार ने भी यही कहा है।[1]

गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९

संस्क्रियते

'गुणोऽर्त्ति···' सूत्र कृ संयोगादि तथा ऋकारान्त धातुओं को 'यक्' तथा असार्वधातुक 'लिङ्' के परे होने पर गुणादेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'संस्क्रियते' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का आगम हो जाने के पश्चात् वह संयोगादि बन जाती है। अतः यहां पर गुण होना चाहिए था।

इस प्रश्न का उत्तर, वृत्ति के मत रूप में दिया गया है। वृत्तिकार ने यहाँ पर गुणाभाव के लिए दो हेतु दिए हैं। प्रथम यह कि 'सुट्' गुण की अपेक्षा बहिरंग है क्योंकि वह द्विपदाश्रित है। इसके विपरीत गुण एक ही पद के आश्रित है। अतः वह अन्तरंग है।[2] इसलिए 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा के अनुसार 'सुट्' के असिद्ध हो जाने से धातु संयोगादि नहीं रहेगी।

दूसरा हेतु यह दिया गया है कि 'सुट्' के 'कृ' का भक्त न होने से उसे संयोगादि नहीं माना जा सकता। 'सुट्' की अभक्तता का ज्ञापक 'सुट् कात् पूर्वः' (६।१।१३५) सूत्र है। इस सूत्र में 'कात्' पद के ग्रहण से यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि 'सुट्' भक्त होता तो 'कात्पूर्वः' कहने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उस स्थिति में तो वह स्वतः ही 'कृ' से पूर्व होता।[3] धातुवृत्ति, भाषावृत्ति तथा ज्ञापक समुच्चय में 'संस्क्रियते' प्रयोग को इसी ज्ञापक द्वारा सिद्ध किया गया है।[4]

ह्रस्वः ७।४।५९

ऊचतुः

'ह्रस्वः' सूत्र द्वारा अभ्यास को ह्रस्व विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'ऊचतुः' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि एकादेश अकार को अभ्यास के प्रति अन्तवत् होने से उसको ह्रस्व होना चाहिए था।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के नाम से, यह दिया गया है कि एकादेश

---

१. धातुवृत्ति, पृ० ३७७।
२. न्यास (भाग ३); ७।४।२९, पृ० ८५१।
३. काशिका, ७।४।२९।
४. ज्ञापक समुच्चय, पृ० ८३।

ह्रस्व की अपेक्षा बहिरंग है। अतः 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा के अनुसार उसके असिद्ध होने से ह्रस्व नहीं होगा।

भवतेरः ७।४।७३

बभूव

'भवतेरः' सूत्र के विषय में यह विचारणीय है कि इस सूत्र में भौवादिक' 'भू' का निर्देश होने के कारण अदादीय 'अस भुवि' का ग्रहण कैसे हो गया ? यदि अस्' धातु का इस सूत्र द्वारा ग्रहण न हो तो 'अस्' धातु से निष्पक्ष 'बभूव' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'भवतेरः' सूत्र में सामान्य रूप से 'भू' का निर्देश किया गया है, किसी विशेष गण में पठित धातु का नहीं। सूत्रकार को तो किसी न किसी विभक्ति द्वारा निर्देश करना ही था। उसने यह निर्देश 'भवति' पद द्वारा कर दिया। यदि वह 'भवतेः' के स्थान पर 'भुवः' निर्देश करता तो यह समस्या ही न उठती। ऐसा उसने क्यों नहीं किया इसका कारण शरणदेव ने वैचित्र्य माना है।

अष्टम अध्याय : प्रथम पाद

नित्यवीप्सयोः ८।१।४

एकशः

जो शब्द नित्य तथा वीप्सा अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, उसको 'नित्यवीप्सयोः' सूत्र द्वारा द्वित्व का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'एकशः' प्रयोग में द्वित्व का अभाव विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'एक' शब्द वीप्सा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर 'संख्यैकवचनाच्च…' (५।४।४३) सूत्र द्वारा विहित 'शस्' प्रत्यय के संयोजन से ही वीप्सा अभिहित है। अतः द्वित्व की आवश्यकता नहीं है। महाभाष्य में कहा गया है कि तद्धित प्रत्यय 'शस्' के द्वारा वीप्सा का द्योतन होने पर द्वित्व नहीं होगा।[1] धातुवृत्ति में यह मत भाष्य के नाम से मिलता है।

परन्तु यदि यह माना जाए तो प्रयोगमुखी, कामन्दकीय (ग्रन्थ) तथा महाभाष्य में क्रमशः प्रयुक्त 'पदान्येकैकशस्तिङाम्', 'एकैकशः सहता वा' तथा 'एकैकशो देहि'[2] वाक्यों का 'एकैकशः' प्रयोग असाधु ठहरेगा।

इन प्रयोगों की दृष्टि से शरणदेव ने कहा है कि 'एकशः' प्रयोग 'नान्येकवचन…' (१।४।१०२) सूत्र में निर्दिष्ट 'एकशः' पद द्वारा सिद्ध हो जाएगा तथा 'एकैकशः' प्रयोग स्वयं महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त होने के कारण साधु माना जा सकेगा।

परन्तु महाभाष्य, प्रदीप तथा धातुवृत्ति में 'एकैकशः' प्रयोग के लिए यह कहा गया है कि जब तद्धित प्रत्यय अत्यन्त स्वार्थिक होता है तो उससे वीप्सा अभिहित नहीं होती। उस स्थिति में 'शस्' प्रत्यय होने पर भी द्वित्व होगा ही।[3]

यहां पर महाभाष्य की बात ही ठीक जान पड़ती है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो कोई सिद्धान्त भी बनता है।

---

१. महाभाष्य, ८।१।१, पृ० २८६।

२. अपरिवत्, ८।१।१।

३. (क) महाभाष्य, ८।१।१, पृ० २८६।
   (ख) प्रदीप, महाभाष्य, ८।१।१, पृ० २८६।
   (ग) धातुवृत्ति, पृ० ३५५।

उपर्यध्यधसस्सामीप्ये ८।१।७

उपर्युपरि

'उपर्युध्य···' सूत्र द्वारा 'उपरि' आदि शब्दों को सामीप्य की विवक्षा में द्वित्व का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' वाक्य के 'उपरि' शब्द को द्वित्व विचारणीय है, क्योंकि यहां पर सामीप्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर द्वित्व नहीं हुआ है अपितु प्रथम 'उपरि' शब्द उत्तरल अर्थ में तथा द्वितीय 'उपरि' शब्द ऊर्ध्व अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः इस वाक्य का अर्थ है—उत्तरल बुद्धियों पर ईश्वर की बुद्धियां विचरती हैं। इस प्रकार यहां पर भिन्न-भिन्न अर्थ होने के कारण दो बार 'उपरि' शब्द का प्रयोग हुआ है और ये दोनों भिन्नार्थक होने के कारण 'अर्थभेदात् शब्दभेदः' नियम के अनुसार दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। इस प्रकार यहां पर द्वित्व नहीं हुआ है।

प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२

भीतभीत इव

'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र प्रकार अर्थ में वर्तमान गुणवाचक शब्द को द्वित्व करता है। 'प्रकार का अर्थ है—भेद और सादृश्य। इस सूत्र में सादृश्यवाची 'प्रकार' शब्द का ग्रहण किया गया है।[1] अतः भारवि के 'भीतभीत इव शीतमयूखः'[2] श्लोकांश के 'भीत' शब्द को द्वित्व विचारणीय है, क्योंकि यहां पर 'इव' शब्द द्वारा ही सादृश्य का बोध हो रहा है।

इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र पर पठित 'आधिक्ये द्वे भवतः' वार्तिक द्वारा भीतत्व के आधिक्य में, द्वित्व हो जाएगा जैसाकि 'दर्शनीय दर्शनीयाय रोचते' वाक्य में दर्शनीयता के आधिक्य के विवक्षित होने पर हुआ है तथा इसी द्वित्व द्वारा उसके आधिक्य की प्रतीत हो रही है। परन्तु तत्त्वबोधिनी में इस समाधान का खंडन इसलिए कर दिया गया है कि उपर्युक्त वार्तिक के प्रसिद्ध न होने के कारण इस वार्तिक को माना नहीं जा सकता। यह वार्तिक अन्य किसी ग्रन्थ में न मिलकर केवल भाषावृत्ति में ही मिलती है। तत्त्वबोधिनी में इस प्रयोग के साधुत्व के लिए 'भीतभ्यो भीतः' विग्रह करके अतिभीत अर्थ किया गया है।[3]

---

१. काशिका, ८।१।१२।

२. किरातार्जुनीयम्, ६।२६।

३. तत्वबोधिनी, (भाग २), ८।१।१२, पृ० ५७८।

मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'भीतप्रकार इव' किया है। यह अर्थ मानने पर दोनों टीकाकारों ने 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र द्वारा ही यहां द्वित्व का प्रयोग साधु माना है।[1]

नवंनवम्

'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र में 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (८।१।११) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। अतः इस सूत्र द्वारा द्वित्व होने पर कर्मधारयवत् कार्यों का अतिदेश किया गया है। इस दृष्टि से शिशुपालवध के 'नवं नवं प्रीतिरहो करोति'[2] श्लोकांश का 'नवंनवम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि कर्मधारयवत् होने के कारण 'सुप्' का 'लुक्' होकर 'नवनवा' प्रयोग बनना चाहिए जैसाकि माघ ने स्वयं किया है—'नवनवा वन वायुमिरादधे'[3] तथा 'प्रियतमे नवनवत्व-मियाय।'

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि प्रस्तुत प्रयोग में 'अनवं नवं प्रीतिरहो करोति' इस प्रकार से अकार का प्रश्लेष मानना चाहिए। यह मानने पर इस श्लोकांश का अर्थ होगा— चिरन्तन प्रीति को भी नवीन बनाता है, यह कितना आश्चर्य है। इस प्रकार प्रश्लेष मानने पर उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठेगा।

तत्त्वबोधिनी तथा पदमंजरी में 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र की व्याख्या में यह कहा गया है कि यहां पर 'नित्यवीप्सयोः' सूत्र से द्विर्वचन हुआ है। अतः इस सूत्र द्वारा द्वित्व होने पर 'सुप्', लुक् का प्रश्न ही नहीं उठता।[4] यही समाधान मल्लिनाथ ने दिया है।[5]

मन्दं मन्दं नुदति

इसी प्रकार की समस्या 'मन्दं मन्दं नुदति'[6] तथा 'मन्दं मन्दं स्पृशति हरिणीशङ्कया साहसाङ्कम्' वाक्यों में उपस्थिति होती है, क्योंकि यहां पर भी 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र से द्वित्व होने के कारण कर्मधारयवत् भाव में 'सुप्' का 'लुक्' होना चाहिए।

इस प्रयोग के साधुत्व के लिए यह कहा गया है कि 'तस्य परमाम्रेडितम्'

---

१. मल्लिनाथ टीका, किरातार्जुनीयम्, ६।२६।
२. शिशुपालवध. ३।३१।
३. वही, ६।३२।
४. तत्वबोधिनी (भाग २), ८।१।१२, पृ० ५७८।
५. मल्लिनाथ ठीका, शिशुपालवध, ३।३१।
६. मेघदूत, (पूर्वमेघ), श्लोक ९।

(८।२।२) सूत्र द्वारा 'आम्रेडित' महासंज्ञा का विधान किया गया है। इस संज्ञा द्वारा यहां पर सामान्य रूप में द्वित्व समझना चाहिए। इसी प्रकार 'खिन्नः खिन्नः'[1] तथा 'क्षीणः क्षीणः' प्रयोगों में 'सुप्, लुक्' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

मल्लिनाथ ने 'मन्दं मन्दम्' प्रयोग का 'अतिमन्दम्' अर्थ किया है तथा यहां पर वीप्सा में द्वित्व माना है परन्तु 'खिन्नः खिन्नः' और 'क्षीणः क्षीणः' प्रयोगों में नित्य अर्थ में द्वित्व स्वीकार किया है।[2] तत्त्वबोधिनीकार ने इस वाक्य का 'स्वतः मन्दागामी तुझ मेघ को पवन मन्द रूप से प्रेरित करता है' अर्थ किया है। यह अर्थ मानने पर 'मन्दम्' शब्द मेघ का विशेषण बन जाएगा तथा द्वितीय 'नुदति' क्रिया का। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ होने पर द्वित्व का प्रश्न ही समाप्त हो जाएगा।[3]

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ८।१।१५

द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः

'द्वन्द्वम्...' सूत्र रहस्य आदि अर्थों में 'द्वन्द्व' शब्द का निपातन करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) प्रयोग तथा अमरकोश का 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः'[4] प्रयोग चिन्त्य है, क्योकि यहां द्वन्द्व शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रथम 'द्वन्द्व' पद 'च' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा द्वितीय 'कलहयुग्म' अर्थ में।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'द्वन्द्वम्...'सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'द्वन्द्वम्' से 'च' आदि अर्थों में भी इस शब्द के प्रयोग का अर्थ साधु माना जाएगा।[5] स्वयं पाणिनि ने 'चार्थे द्वन्द्वः' प्रयोग किया है। इससे यही ज्ञापित होता है कि इसका प्रयोग अन्य अर्थों में भी होता है।[6] काशिका, न्यास, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा आदि में इस योगविभाग को स्वीकार किया गया है।

---

१. मेघदूत, (पूर्वमेघ), १३।
२. (क) मल्लिनाथ टीका, (पूर्वमेघ), १०।
   (ख) मल्लिनाथ टीका, पूर्वमेघ १३।
३. तत्त्वबोधिनी (भाग २), ८।१।१२. पृ० ५७८।
४. अमरकोश, ३।३।२१२।
५. भाषावृत्ति, ८।१।१५।
६. बालमनोरमा (भाग २), ८।१।१५, पृष्ठ ५८५।

युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०

विनीतौ वाम्

'युष्मदस्मदोः' सूत्र द्वारा 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को षष्ठी आदि विभक्तियों के योग में क्रमशः 'वाम्' आदि आदेशों का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'गेये केन विनीतौ वाम्' वाक्य में 'वाम्' आदेश विचारणीय है, क्योंकि कर्म के अभिहित हो जाने से षष्ठी के अभाव में प्रथमा में 'युवाम्' का ही प्रयोग होना चाहिए था।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यहां पर 'युवाम्' के 'वाम्' रूप एकदेश का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार भाषा में 'भीमसेन' शब्द के स्थान पर उसके एकदेश 'भीम' का प्रयोग हो जाता है उसी प्रकार यहां भी एकदेश 'वाम्' का प्रयोग हुआ है। यहां यह द्रष्टव्य है कि नाम में तो एकदेश का प्रयोग हो जाता है परन्तु सर्वनाम में नहीं देखा जाता।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'द्वितीया' ग्रहण को कर्म का उपलक्षण (द्योतक) मानकर द्वितीया हो जायगी। इस प्रकार यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। परन्तु यह समाधान भी बुद्धिगम्य नहीं है, क्योंकि द्वितीया विभक्ति को कर्म के उपलक्षण रूप में किसी भी व्याख्याकार ने नहीं माना है।

अन्त में इस प्रयोग को प्रमाद भी कह दिया गया है। वस्तुतः यह प्रयोग असाधु ही है।

अष्टम अध्याय : द्वितीय पाद

पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१

वृक्षः

पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र का अर्थ है—अष्टाध्यायी के प्रथम सात अध्याय तथा अष्टम अध्याय के प्रथम पाद के प्रति अन्तिम तीन पाद असिद्ध हैं तथा उनमें भी पूर्व के प्रति पर शास्त्र असिद्ध हैं। इस नियम के अनुसार 'वृक्षः' प्रयोग की सिद्धि इसलिए विचारणीय है कि 'सु' को 'रू' करने पर 'रू' के उकार की इत्संज्ञा करने में 'रुत्व' असिद्ध है, क्योंकि रुत्वविधायक सूत्र 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) इत्संज्ञा विधायक 'उपदेशेऽज···' (१।३।२) सूत्र के प्रति असिद्ध है। अतः इत्संज्ञा के अभाव में 'वृक्षः' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता।

इस समस्या का समाधान, रक्षित के मत रूप में, दिया गया है। रक्षित ने 'उपदेशेऽज···' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'रु' के उकार की इत्संज्ञा के लिए आवश्यक है कि उसे अनुनासिक माना जाए। 'प्रतिज्ञानुनासिकयाः पाणिनीयाः' नियम के अनुसार इस अनुनासिक प्रतिज्ञान सामर्थ्य से 'रु' के उकार को असिद्ध नहीं माना जाएगा।

यहां पूर्वपक्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 'रु' के उकार की अनुनासिक प्रतिज्ञा का प्रयोजन इत्संज्ञाकरण न होकर यह है कि 'अतो रो···'(६।१।११३) तथा 'हशि च' सूत्रों द्वारा अनुनासिक सहित 'रु' का ही ग्रहण हो, 'तरुवन' आदि शब्दों के 'रु' का नहीं।

दुर्घटवृत्तिकार ने यहां सिद्धान्त रूप में यह उत्तर दिया है कि यदि आचार्य को ऐसा ही अभीष्ट होता तो वह उकार अनुबन्ध सहित पाठ न करके केवल 'र्' का ही पाठ कर देते तथा उसको अनुनासिक पढ़ देते। इस प्रकार 'रु' के उकार की इत्संज्ञा होकर 'वृक्षः' प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

प्रागियम्

'प्रागियम्' तथा 'घृतस्पृगयम्' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि 'प्राञ्च्' तथा 'घृतस्पृश्' शब्दों से 'क्विन्' हो जाने के पश्चात् 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।२।६२) सूत्र द्वारा 'कुत्व' होकर 'प्राक्+इयम् तथा घृतस्पृक्+अयम्' स्थिति बनती है। उसके पश्चात् 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) सूत्र से 'जश्त्व' होकर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहां यह विचारणीय है कि 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र के प्रति 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र के असिद्ध होने के कारण 'जश्त्व कैसे हो गया।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'स्रग्दिगष्णिगुञ्चु···' तथा 'प्रागीश्वरान्निपाताः, सौत्र निर्देशों द्वारा ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

रजोपमा

'रजोपमा' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'रजस्+उपमा' स्थिति में रुत्व तथा यकारादेश होकर 'रज+य्+उपमा' स्थिति बनती है। उसके पश्चात् 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र द्वारा 'य्' लोप हो जाएगा तथा गुणादेश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो सकेगा। परन्तु यहां पर यह विचारणीय है कि 'आद् गुणः' (६।१।८७)सूत्र के प्रति 'य्' लोप के असिद्ध होने के कारण गुण कैसे हो गया?

इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया है कि यह प्रयोग 'रजस्' शब्द से सिद्ध न होकर अकारान्त 'रज' शब्द से सिद्ध हुआ है। अतः गुणप्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होगी। इस शब्द का अर्थ है—रज के सदृश।

कृपो रो लः ८।२।१८

क्लृप्ता

'कृपो रोलः' सूत्र 'कृप्' धातु के रेफ को लकार आदेश करता है। इस सूत्र की दृष्टि से 'क्लृप्ता' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'कृप्' धातु के 'लुट्' लकार प्रथम पुरुष एकवचन में धातु को गुण तथा उसके रेफ को लकार आदेश होकर 'कल्पता' प्रयोग बनना चाहिए। इस दृष्टि से 'क्लृप्ता' प्रयोग की साधुता चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'लुटि च क्लृपः' (१।४।९३) सौत्र निर्देश के अनुसार ऋकार को लृकार आदेश होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

कृपा

'कृपा' प्रयोग में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'कृप्' धातु से 'अङ्' प्रत्यय करके 'कृपो रो लः' सूत्र द्वारा लत्व होना चाहिए। यदि यह प्रयोग 'ऋप कृपायाम्' धातु से सिद्ध माना जाए तो भी समस्या बनी ही रहती है, क्योंकि 'ऋप्' को सम्प्रसारण होकर 'कृप्+अ' स्थिति में 'लत्व' प्राप्ति होगी। इसी प्रकार की समस्या 'कृपाणः' 'कर्पटः' तथा 'कर्परः' प्रयोगों में भी उपस्थित होती है।

'कृपा' प्रयोग के लिए काशिका, न्यास, पदमञ्जरी तथा दुर्घटवृत्ति में 'कृपो रो लः' सूत्र के प्रसंग में यह समाधान दिया गया है कि 'ऋप्' धातु का मिदादिगण में पाठ लाक्षणिक है। अतः 'लक्षणप्रतिपदोक्तयो···'[1] परिभाषा

---

१. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा संख्या ११४।

के अनुसार 'क्रप्' धातु 'कृपो रो लः' सूत्र का विषय नहीं बन सकती ।[1] 'कृपाणः' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए इन्हीं ग्रन्थों में यह कहा है कि ये प्रयोग उणादिसूत्रों से सिद्ध हुए हैं । अतः इन प्रयोगों की सिद्ध में कोई समस्या नहीं है ।[2] महाभाष्यकार ने इन प्रयोगों को 'कृपणादीनां प्रतिषेधः' वार्तिक द्वारा 'लत्व' के अभाव में सिद्ध किया है ।[3]

धि च ८।२।२५

पयोधि:

'धि च' सूत्र पर 'धि सकारे सिचो लोपश्चकाद्धीति प्रयोजनम्' श्लोकवार्तिक पढ़ी गई है जिसका अर्थ है—धकार परे होने पर सकार लोप के विषय में केवल 'सिच्' का लोप होता है तथा इसका प्रयोजन 'चकाद्धि' प्रयोग है, जिसमें 'चकास्' के 'स' का लोप नहीं हुआ है । दुर्घटवृत्तिकार ने यह मत 'एके' निर्देश द्वारा प्रस्तुत किया है परन्तु महाभाष्यकार के अनुसार सामान्यकार के अनुसार सामान्य रूप से सभी सकारों का लोप होता है । अतः उनके मत में 'चकाधि' प्रयोग ही बनता है ।[4] दुर्घटवृत्ति में यह मत 'सर्वे' निर्देश द्वारा दिया गया है । इस मत की दृष्टि से 'पयोधीयते पयोधिः' प्रयोग में 'पयस्+धा' स्थिति होने पर 'पयस्' के सकार का लोप होना चाहिए ।

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं । प्रथम यह कि 'पयस्+धावति' प्रयोग में 'स्' को 'रुत्व' आदेश एकपद के प्रति आश्रित होने के कारण अन्तरंग है तथा 'स्' लोप द्विपदाश्रित होने के कारण बहिरंग है । अतः 'स्' लोप की अपेक्षा 'रुत्व' आदेश ही होगा ।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि एकपद में ही निमित्त तथा निमित्ति होने पर सकार लोप का विधान किया गया है । 'पयस्+धावति' में एकपद न होकर दो पद हैं । अतः यहां पर 'स्' का लोप नहीं होगा । यह समाधान न्यास में भी दिया गया है ।[5]

तीसरा समाधान भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस सूत्र में व्यवस्थितविभाषा की अनुवृत्ति आने के कारण प्रस्तुत प्रयोग में 'स्' का लोप नहीं होगा ।[6] न्यास में भी इस सूत्र में व्यवस्थितविभाषा मानी गई है ।[7]

---

१. काशिका, ८।२।१८ ।
२. उपरिवत्,
३. महाभाष्य, ८।२।१८, वा० १ ।
४. उपरिवत्, ८।२।२५, पृष्ठ ३८९ ।
५. न्यास (भाग ३), ८।२।२५, पृ० ९८ ।
६. भाषावृत्ति, ८।२।२५ ।
७. न्यास (भाग ३)। ८।२।२५ ।

चोः कुः ८।२।३०

अल्पाच्तरम्

'चोकुः' सूत्र द्वारा पदान्त में तथा 'झल्' परे होने पर चवर्ग के स्थान पर कवर्ग आदेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'अल्पाच्तरम्' तथा 'अत्यल्पाच्त्वात्' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि यहां पर तकार रूप 'झल्' के परे होने पर चकार को 'कुत्व' क्यों नहीं हुआ?

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि 'अल्पाच्तरम्' सौत्र निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध किया जाएगा।

दूसरा समाधान अस्पष्ट प्रतीत होता है।

कुञ्च्

'कुञ्च्' शब्द में 'क्विन्' प्रत्यय परे होने पर कुत्व होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'युजि कुञ्चान्—' निर्देश द्वारा यहां पर 'कुत्व' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६

परिव्राट्

'व्रश्चभ्रस्ज…' सूत्र 'व्रश्च्' आदि धातुओं तथा छकारान्त और शकारान्त पदों को पदान्त में तथा 'झल्' परे होने पर षकार आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'परिव्राट्' प्रयोग में 'षत्व' इसलिए चिन्त्य है कि 'व्रज्' धातु उपर्युक्त सूत्र में नहीं पढ़ी गई है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' वचन द्वारा 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'व्रज्' धातु से 'क्विप्' करके पदान्त में षकार आदेश की प्राप्ति हो जाएगी। दुर्घटवृत्तिकार ने इस प्रसंग में, रक्षित के नाम से, यह कहा है कि यह वचन उणादि सूत्र के रूप में उक्त है। वस्तुतः यह वाक्य वचन न होकर उणादिसूत्र (सि० कौ० २१६) ही है। सिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमा तत्त्वबोधिनी में 'चोकुः' सूत्र के प्रसंग में तथा धातुवृत्ति में यह प्रयोग इसी सूत्र द्वारा यह सिद्ध किया गया है।[1]

झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

जश्त्वम्

'झलां, जशोऽन्ते' सूत्र पदान्त में 'झलों' को जश्त्व' करता है। इस सूत्र

१. (क) सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ८।२।३०, पृ० ३३८।
(ख) धातुवृत्ति, पृ० १०२।

की दृष्टि से 'जश्त्वम्' प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि 'जश्' रूप पद के शकार रूप 'झल्' को 'जश्त्व' क्यों नहीं हुआ ? इस प्रयोग में यह भी विचारणीय है कि 'जश्' को 'व्रश्चभ्रस्ज…' सूत्र द्वारा षकार आदेश भी होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त यहां पर 'श्चुत्व' होना चाहिए।

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'झलां जश्झशि' (८।४।५३) सौत्रनिर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'व्रश्चभ्रस्ज…' सूत्र में धातुग्रहण की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'जश्' पद के धातु न होने के कारण यह सूत्र यहां प्रवृत्त नहीं होगा।

तीसरे प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'शात्' (८।४।४४) सूत्र द्वारा यहां पर 'श्चुत्व' का निषेध हो जाएगा।

मरुत्वान्

भट्टि के 'मरुत्वान्'[1] प्रयोग में भी यही कठिनाई उपस्थित होती है कि 'मरुत्' के पद संज्ञक होने के कारण उसको 'जश्त्व होना चाहिए था।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) सूत्र द्वारा मत्वर्थ में प्रयुक्त शब्दों की 'भ' संज्ञा द्वारा पद संज्ञा का निषेध हो जाता है। अतः पदत्व के अभाव में 'जश्त्व' नहीं होगा। भाषावृत्ति में तो इस सूत्र के उदाहरण के रूप में 'मरुत्वान्' प्रयोग ही प्रस्तुत किया गया है।[2]

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२

आर्त्तः

'रदाभ्यां…' सूत्र द्वारा निष्ठा के तकार तथा दकार को नकार आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'आ+ऋ+क्त=आर्+तः=आर्त्तः तथा 'उप+ऋ+क्त = उप+आर+त = उपार्त्तः प्रयोगों में निष्ठा के तकार को नत्वाभाव चिन्त्य है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'उपसर्गादृति…' (६।१।९१) सूत्र द्वारा विहित वृद्धि कार्य वहिरंग तथा 'नत्व' कार्य अन्तरंग है। अतः यहां पर 'नत्व' नहीं होगा। वृद्धिकार्य को बहिरंग संभवतः इसलिए कहा गया है कि वह वर्णों के साथ-साथ उपसर्गत्व की भी अपेक्षा करता है।

---

१. भट्टिकाव्य, १०।१९।
२. भाषावृत्ति, १।४।१९।

इसके विपरीत नत्व कार्य केवल वर्णों की अपेक्षा करता है । अतः वह अन्तरंग है । भाषावृत्ति में भी यही समाधान दिया गया है ।[1]

निमित्तम्

'निमित्तम्' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'मिद' धातु से 'क्त' प्रत्यय परे होने पर 'रदाभ्यां…' सूत्र द्वारा निष्ठा के तकार को तथा धातु के दकार को 'नत्व' होकर 'निमिन्नम्' प्रयोग बनना चाहिए था ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह प्रयोग 'तस्य निमित्तम्' (५।१।३८) सौत्रनिर्देश द्वारा सिद्ध हो जाएगा ।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२

दृग्भ्याम्

'क्विन्प्रत्ययस्य…' सूत्र द्वारा 'क्विन्' प्रत्ययान्त शब्दों को 'कुत्व' आदेश का विधान किया गया है । इस दृष्टि से 'दृग्भ्याम्' प्रयोग में 'कुत्व' भाव इसलिए चिन्त्य है कि यहां पर 'क्विन्' प्रत्यय न होकर 'संपदादिभ्यः क्विप' वार्तिक द्वारा 'क्विप्' हुआ है ।

इस समस्या का समाधान, भागवृत्तिकार के मत रूप में यह दिया गया है कि सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण की सामर्थ्य से उसमें बहुव्रीहि समास (क्विन्प्रत्ययो यस्माद् दृष्टः) मानकर अन्य प्रत्ययों का भी 'क्विनप्रत्ययस्य…' सूत्र से ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार अन्य प्रत्ययान्त शब्दों से भी 'कुत्व' की प्राप्ति हो जाएगी । महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि में 'क्विन्प्रत्ययस्य…' सूत्र के प्रसंग में यह बात इस प्रकार कही गई है कि 'क्विन् कुः' कहने के स्थान पर जो 'प्रत्ययस्य' पद का भी ग्रहण किया गया उसका यही प्रयोजन है कि 'क्वन्' प्रत्ययान्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययान्त शब्दों का भी ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार 'दृग्भ्याम्' प्रयोग में 'कुत्व' सिद्ध हो जाएगा ।[2]

रज्जुसृड्भ्याम्

यदि 'क्विन्' प्रत्यय से भिन्न 'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्दों से भी 'कुत्व' की प्राप्ति मानी जाए तो 'रज्जुसृड्भ्याम्' प्रयोग असाधु माना जाएगा, क्योंकि यहां पर भी 'कुत्व' होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान, न्यास के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस सूत्र में उत्तरवर्ती सूत्र 'नशेर्वा' (८।२।६३) से 'वा' पद की अनुवृत्ति लाकर

---

१. भाषावृत्ति, ८।२।४२ ।

२. महाभाष्य, ८।२।६२, पृ० ४०७ ।

उसे व्यवस्थितविभाषा माना जाए। इस व्यवस्थितविभाषा द्वारा यहां पर 'कुत्व' का निषेध हो जाएगा ।[1]

तत्त्वबोधिनी में इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि स्वयं महाभाष्यकार द्वारा 'रज्जुसृड्भ्याम्' शब्द का प्रयोग किए जाने के कारण यह प्रयोग साधु है । इसी पुस्तक में दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'व्रश्चभ्रस्ज···' सूत्र 'क्विन्प्रत्ययस्य···' सूत्र का अपवाद है । अतः पदान्त में षत्व ही होगा ।[2]

विश्वसृग्विधिः

परन्तु यदि 'रज्जुसृड्भ्याम् में कुत्वाभाव सिद्ध है तो अमरकोश का 'विश्वसृग्विधिः' प्रयोग चिन्त्य हो जाएगा ।

इस प्रयोग के लिए यही कहा गया है कि यहां पर व्यवस्थितविभाषा द्वारा 'कुत्व' हो जाएगा । अमरकोश के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में यह पाठ न मिलकर 'विश्वसृङ्विधिः' पाठ मिलता है ।[3]

इस प्रसंग में शरणदेव ने प्रसिद्धपद नामक पुस्तक का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार इस शब्द के 'नयङ्क्—' आदि गण में पठित होने के कारण कुत्व हो जाएगा । यहां पर भाषावृत्ति को भी उद्धृत किया गया है । भाषावृत्ति में कहा गया है कि किसी-किसी अन्यप्रत्ययान्त अर्थात् 'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्दों में 'कुत्व' होता है, समस्त पदों से नहीं । अतः जिन पदों में कुत्वभाव प्रसिद्ध होने के कारण इष्ट है, वहां तो कुत्व हो जाएगा परन्तु अन्यत्र नहीं । यह मानने पर उपर्युक्त प्रयोगों में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी ।[4]

रोऽसुपि ८।२।६९

अहोवचनः

यदि 'सुप्' परे न हो तो 'रोऽसुपि' सूत्र द्वारा 'अहन् शब्द को रेफ आदेश का विधान किया गया है । इस सूत्र की दृष्टि से 'अहोवचनविन्यासः पठ्यते न च बुध्यते 'वाक्य का 'अहोवचनः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि यहां पर 'अहर्भागवत्' के समान 'सुप्' के परे न होने के कारण रेफ आदेश क्यों नहीं हुआ ? इस प्रकार यहां पर 'उत्व' नहीं होना चाहिए था ।

---

१. न्यास (भाग ३), ८।२।६२, पृ० १००४-१००५ ।
२. तत्त्वबोधिनी (भाग १), ८।२।३०, पृ० ३३८ ।
३. अमरकोश, १।१।१७ ।
४. भाषावृत्ति, ८।२।६२ ।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'अहोवचन:' के स्थान पर 'अहोरूपस्य निर्माणम्' पाठ होना चाहिए। यह पाठ मानने पर 'उत्व' की सिद्धि 'रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यान्'[1] वार्तिक द्वारा हो जाएगी।

परन्तु यहां यह समझ में नहीं आता कि शरणदेव ने यह समस्या रखी ही क्यों? 'अहो' शब्द अव्यय है। अत: 'अहन्' के अभाव में उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकता।

उपधायां च ८।२।७८

विव्यतुः

धातु के उपधाभूत हल्परक, जो रेफ तथा वकार हैं, के 'इक्' को 'उपधायां च' सूत्र द्वारा दीर्घादेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'विव्यतुः' तथा 'विव्युः' प्रयोग विचारणीय है क्योंकि 'एरनेकाचो...' (६।४।८२) सूत्र द्वारा 'यण्' होकर 'वि+व्य्+अतुस्' तथा 'वि+व्य्+उस्' स्थिति में हल्परक 'व्य्' के उपधाभूत इकार को दीर्घ होना चाहिए था। इस सूत्र द्वारा दीर्घ हो जाने पर ह्रस्व इसलिए नहीं होगा कि 'ह्रस्वः' (७।४।५९) सूत्र के प्रति 'उपधायां च' सूत्र असिद्ध है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि 'अचः परस्मिन्...' सूत्र द्वारा पूर्वविधि में यणादेश के स्थानिवत् होने से हल्परत्व के अभाव में इसकी उपधा को दीर्घत्व नहीं होगा। परन्तु इस समाधान में यह विचारणीय है कि 'न पदान्त...' (१।१।५८) सूत्र द्वारा दीर्घ विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया गया है। इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी तथा सिद्धान्तकौमुदी में 'उपधायां च' सूत्र के प्रसंग में यह दिया गया है कि 'न पदान्त...' सूत्र पर 'प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपो आदेशः' वचन पढ़ा गया है जिसके अनुसार स्थानिवद्भाव का निषेध न होने के कारण स्थानिवद्भाव होकर उपर्युक्त समस्या समाधित हो जाएगी।[2]

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' प्रकरण में स्थानिवद्-भाव का निषेध होने के कारण यहां पर दीर्घादेश होना ही चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी में 'उपधातां च' सूत्र की व्याख्या में यह दिया गया है कि स्थानिवद्भाव न मानने पर भी 'असिद्धं वहिरंगमन्तरङ्गे' परिभाषा द्वारा दीर्घत्व नहीं होगा। यणादेश अङ्गाधिकार के प्रति विहित होने के कारण प्रत्यय के आश्रित होने से बहिरंग है तथा

१. महाभाष्य, ८।२।६८।
२. उपरिवत्, ८।२।७८, पृ० ४१२।

दीर्घादेश केवल प्रकृति के आश्रित होने के कारण अल्पापेक्ष होने से अन्तरंग है। अतः दीर्घ के प्रति यणादेश प्रसिद्ध है।[1]

प्रदीपटीका में कहा गया है कि पूर्वत्रासिद्धम् प्रकरण के प्रति स्थानिवद्-भाव के असिद्ध होने के कारण 'अभ्यासप्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक माननी चाहिए।[2]

चतुर्यितेः

इसी प्रकार की समस्या 'चतुर्यितेः' प्रयोग में उपस्थित होती है। क्यजन्त 'चतुर्य' शब्द से 'तृच्' के परे होने पर 'क्यस्य विभाषा' (३।४।५०) सूत्र द्वारा 'य' के अकार का लोप होकर 'चतुर्य्+तृच्' इस स्थिति में हल्परक रेफ की उपधा 'उ' को दीर्घादेश होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर, महाभाष्य के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'उपधायां च' सूत्र में 'रोऽसुपि' (८।२।६९) सूत्र से 'असुपि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'असुपि' पद में विभक्ति विपर्यय द्वारा षष्ठी मानकर इस सूत्र का अर्थ होगा—धातु के उपधाभूत हल्परक जो रेफ और वकार हैं उनके 'इक्' को दीर्घ होता है परन्तु सुअन्त में 'इक्' को नहीं। 'चतुर्यिता' प्रयोग 'क्यजन्त' होने के कारण नामधातु है तथा यहां पर अन्तर्वर्ती 'सुप्' का 'लुक्' हुआ है। अतः यहां पर निषेध न होने के कारण उपधा को दीर्घ नहीं हो सकेगा।[3]

यही समाधान भाषावृत्ति में भी दिया गया है।[4] उद्योत टीका में 'असुपि' पद में विभक्ति विपर्यय पञ्चमी द्वारा माना गया है।[5]

---

१. पदमञ्जरी (भाग २), ८।२।७८, पृ० ६५७।
२. प्रदीप महाभाष्य, ८।२।७८७, पृ० ४१२।
३. महाभाष्य, ८।२।७८, पृ० ४१२।
४. भाषावृत्ति, ८।२।७८।
५. महाभाष्य, ८।२।७८, पृ० ४१२।

अष्टम अध्याय : तृतीय पाद

पुमः खय्यम्परे ८।३।६

पुंस्काण्डम्

'पुमः खय्यम्परे' सूत्र 'पुम्' शब्द को 'अम्' परक 'खय्' परे होने पर 'रु' आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'पुंकाण्डम्' प्रयोग में रुत्वाभाव चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर अम्परक 'खय्' परे है।

इस प्रयोग को असाधु ठहराया गया है तथा इसके स्थान पर 'पुंस्काण्डम्' पाठान्तर में प्रस्तुत किया है। यह प्रयोग कोशों में नहीं मिलता।

नश्छव्यप्रशान् ८।३।७

महान्

प्रशान् शब्द को छोड़कर, अम्परक 'छव्' के परे होने पर नश्छव्यप्रशान्' सूत्र नकारान्त पद को 'रु' आदेश करता है। इस दृष्टि से 'महाँ हि यत्नस्तव देवदारौ' वाक्य के 'महान्' पद के नकार को रुत्वभाव विचारणीय है, क्योंकि यहां पर उससे परे अप्परक 'छव्' न होकर अप्परक हकार है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर यह पाठ न होकर 'महान् हि यत्नः' पाठ होना चाहिए।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५

रथातिगाः

'खरवसानयोः···' सूत्र रेफान्त पद को 'खर्' परे होने पर तथा अवसान में विसर्जनीय आदेश करता हे। इस सूत्र के 'खरवसानयोः' पद में यदि परसप्तमी मानी जाए तो 'रथातिगाः' प्रयोग में पदान्त रेफ को विसर्जनीय आदेश चिन्त्य होगा, क्योंकि रेफ रूप अवसान से परे वर्ण का अभाव होने के कारण यहां पर विसर्जनीय आदेश नहीं होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि रेफ से परे पद का विशेषण होने पर रेफान्त पद को विसर्ग आदेश हो जाएगा। यह समाधान संभवतः 'अवसान' पद में विषय सप्तमी मान कर दिया गया है। परन्तु यह समाधान स्पष्ट नहीं है। न्यास तथा पदमञ्जरी में इस विषय पर इस प्रकार विचार किया गया है, कि 'अवसान' का अर्थ है—जिस वर्ण के द्वारा विराम हो जाए। 'विरति' का अर्थ है—वर्ण का उच्चारण न होना। अतः पदान्त

रेफ का जिस वर्ण द्वारा विराम हो जाता है वह उससे परे संभव नहीं। इसके अतिरिक्त अवसान अभाव रूप है। उसके अभाव रूप होने पर पौर्वापर्य संभव नहीं। इसलिए 'खर्' में परसप्तमी तथा 'अवसान' पद में विषयसप्तमी माननी चाहिए। यह मानने पर विसर्ग की प्राप्ति हो सकेगी।[1]

शरणदेव ने एक अन्य समाधान, अनुन्यासकार के नाम से, यह किया है कि अवसान में भी बौद्धपरत्व है। यह परत्व वर्णों के उच्चरित हो जाने के पश्चात् विध्वंस हो जाने से बुद्धि विरचित है। अतः 'अवसान' पद म भी परसप्तमी मानने पर विसर्जनीय आदेश की प्राप्ति हो सकेगी। पदमञ्जरी में यह मत 'अपर आह' निर्देश द्वारा तथा न्यास में 'केचित्तु' निर्देश द्वारा मिलता है।[2]

इसी प्रसंग में शरणदेव ने कालापों के नाम से यह भी बताया है कि दो बिन्दुओं (:) की विसर्जनीय संज्ञा होती है।

लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९

गवित्याह

शाकल्य के मत में 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र द्वारा अवर्ण पूर्वक पदान्त वकार तथा यकार का 'अश्' परे होने पर लोप का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'गो+इत्याह=गव्+इत्याह=गवित्याह' प्रयोग में यह विचारणीय है कि यहां पर वकार का लोप क्यों नहीं हुआ ?

इस समस्या का समाधान, अनुन्यास के मत रूप में दिया गया है। अनुन्यासकार ने 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्ये···' (१।१।१६) सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'गो इत्याह' प्रयोग के 'गो' शब्द में पदान्तत्व का अभाव होने के कारण 'औ' को आदिष्ट 'अव्' के वकार का लोप नहीं होगा। काशिका में इसी प्रकार का 'गवित्ययमाह' प्रयोग मिलता है। वहां पर भी इसको पद नहीं माना गया।[3] न्यासकार ने इसका अपदान्तत्व इस प्रकार स्पष्ट किया है कि किसी व्यक्ति ने शक्ति वैकल्प के कारण 'गोः' के स्थान पर 'गो' उच्चारण किया। उसके पश्चात् उसका अनुकरण करते हुए अनुकरण के अर्थवान् होने के कारण 'गो' शब्द से विभक्ति की प्राप्ति होनी चाहिए परन्तु विभक्ति की प्राप्ति तभी होगी, जब अनुकार्य तथा अनुकरण में भेद की विवक्षा मानी जाए। इस प्रयोग में तो अभेद की विवक्षा है। अतः 'गो' पद नहीं बन सकेगा।[4]

---

१. पदमञ्जरी (भाग २), ८।३।१५, पृ० ८७७।
२. उपरिवत्।
३. काशिका, १।१।१६।
४. न्यास (भाग १), १।१।१६, पृ० ६५।

नश्चापदान्तस्यो झलि ८।३।२४

कुवलयं वलयन् मरुदाववौ

माघ के 'कुवलयं वलयन्मरुदाववौ'[1] श्लोकांश में यह विचारणीय है कि षष्ठ सर्ग में यमक का प्रकरण होने के कारण 'वलयन्' के नकार को अनुस्वार आदेश होना चाहिए था। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि श्लोकांश में व्यपेत यमक का प्रयोग हुआ है। अर्थात् पदांश की आवृत्ति हुई है, क्योंकि सम्पूर्ण सर्ग में अव्यपेत यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यमक को व्यजंन के अव्वयधायक होने के काण 'वलयन्' पद का प्रयोग साधु है।

कुप्वोः क पौ च ८।३।३७

भास्करः

'कुप्वोः—' सूत्र कवर्ग तथा पवर्ग परे होने पर विसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्यानीय आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'भास्करः' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'भास्' शब्द के सकार को 'रुत्व' तथा विसर्ग आदेश होने के पश्चात् पक्ष में जिह्वामूलीय आदेश क्यों नहीं हुआ ?

इस प्रयोग के दो प्रकार से सिद्ध किया गया है। प्रथम इस प्रकार से कि 'दिवाविभा—' (३।२।६१) सूत्र में निपातित 'भास्करः' शब्द द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यही समाधान काशिका, न्यास तथा पदमंजरी में भी 'दिवाविभा—' सूत्र की व्याख्या में दिया गया है।[2]

दूसरा समाधान, भाषावृत्ति के नाम से, दिया गया है। भाषावृत्ति तथा सिद्धांतकौमुदी में यह शब्द कस्कादिगण में पढ़ा गया है। अतः 'कस्कादिषु च' (८।३।४८) सूत्र द्वारा यहां पर सकार सिद्ध हो जाएगा। बालमनोरमा में भी यही समाधान दिया गया है।[3]

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ८।३।४१

दुःखेन

'इदुदुपधस्य—' सूत्र द्वारा इकारोकारोपध शब्दों की विसर्ग के स्थान पर षत्वादेश का विधान किया गया है, परन्तु प्रत्यय पर आदिष्ट विसर्ग को नहीं। इस दृष्टि से कण्ठाभरण के 'कान्तः' सर्वगुणोपेतो वाले ! दुःखेन लभ्यते' 'श्लोकांश के 'दुःखेन' पद में 'षत्व' का अभाव चिन्त्य है।

---

१. शिशुपालवध, ६।३।
२. काशिका, ३।२।२१।
३. बालमनोरमा, (भाग ४)' ३।२।२१, पृ० ४६।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यह शब्द धातुपाठ में पठित 'सुख-दु:ख तत्क्रियायाम्' धातु द्वारा बना है। अत: धातु की उपधा में विसर्ग पाठ की सामर्थ्य से यहां पर 'षत्व' नहीं होगा।

मातु: करोति

'मातु: करोति' प्रयोग में यह विचारणीय है कि 'मातृ+ङस्' स्थिति में रपर 'उर्' आदेश हो जाने के पश्चात् 'रात्सस्य' (८।२।२४) सूत्र द्वारा 'ङस्' के सकार का लोप हो जाता है तथा 'मातुर' स्थिति बनती है उसके पश्चात् रेफ को विसर्ग आदेश होकर 'मातु: करोति' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु यहां पर यह विचारणीय है कि रेफ के प्रत्यय न होने के कारण यहां पर 'करोति' का ककार परे होने पर विसर्ग को षत्वादेश क्यों नहीं हुआ?

इस समस्या का समाधान, महाभाष्य के मत रूप में, यह दिया गया है कि कस्कादिगण में पठित 'भ्रातुष्पुत्र:' शब्द से यह ज्ञापित होता है कि जिस 'इण्' का एकादेश निमित्त है उससे परे विसर्ग को 'षत्व' नहीं होता। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया कि आचार्य को यदि एकादेशनिमित्तिक 'इण्' से परे विसर्जनीय को 'षत्व' अभीष्टे होता है तो उनको कस्कादिगण में पढ़ाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यहां पर 'इदुदुपधस्य—' सूत्र द्वारा षत्व की प्राप्ति स्वत: हो जाती है। 'मातु: करोति' प्रयोग में 'उर्' आदेश का एकादेश 'उ' निमित्त है। अत: यहां पर षत्व नहीं होगा।[1] यही समाधान काशिका, न्यास, पदमंजरी सिद्धांतकौमुदी, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी तथा भाषावृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए दिया गया है।[2]

तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२

तिरस्कृत्य

'तिरस्' शब्द को कृत विसर्जनीय के स्थान पर 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' सूत्र द्वारा विकल्प से सकार आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र में 'तिरोऽन्तर्धौ' (१।४।७१) सूत्र से 'गति' की अनुवृत्ति आ रही है।[3] 'तिरोऽन्तर्धौ' सूत्र 'गति' संज्ञा का विधान अन्तर्धि (व्यवधान) अर्थ में करता है। इस दृष्टि से 'तिरस्कृत्य जरामिभाविना' तथा 'गौरीमुखतिरस्कारलज्जयेव न वर्धते' श्लोकांशों के 'तिरस्कृत्य, तथा 'तिरस्कार' पदों में सकार आदेश विचारणीय है, क्योंकि यहां पर व्यवधान अर्थ गम्यमान न होकर तिरस्कार अर्थ गम्यमान हो रहा है।

---

१. महाभाष्य, ८।३।४२, पृ० ४५८।
२. काशिका, ८।३।४१।।
३. उपरिवत्, ८।३।४२।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम समाधान 'अन्तर्धि' शब्द के अर्थ की दृष्टि से यह दिया गया है कि इस शब्द का उपलक्षित अर्थ है—असन्निधान अर्थात् समीपता का अभाव। 'तिरस्कार' में भी असन्निधान अर्थ का बोध होता है। अतः यहां पर 'गति' संज्ञा हो जाएगी।

दूसरा समाधान, भाषावृति के नाम से, दिया गया है। भाषावृत्ति में 'केचित्' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि इस सूत्र में 'गति' संज्ञा की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। अतः सकार आदेश में कठिनाई नहीं होगी।[1] यह समाधान तत्त्वबोधिनी में माधव के नाम से तथा धातुवृत्ति में 'केचित्' निर्देश द्वारा दिया गया है।[2]

षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ८।३।५३

श्रियः पतिः

'षष्ठ्याः—' सूत्र छान्दस् प्रयोगों में सकार आदेश का विधान करता है। इस सूत्र की दृष्टि से शिशुपालवध में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्'[3] श्लोकांश के 'श्रियः पतिः' प्रयोग में सकार क अभाव चिन्त्य है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि इस सूत्र में 'वा छन्दसि' (६।१।१०६) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यहां पर सत्वा-भाव सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु यहां यह समझ नहीं आता कि इस सूत्र द्वारा 'वा' पद का अनु-वर्त्तन क्यों माना गया, जबकि 'षष्ठ्याः—' सूत्र के समीपस्थ 'छन्दसि वा—' (८।३।४९) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति लाई जा सकती थी। इसके अतिरिक्त यहां यह भी विचारणीय है कि इस प्रयोग में यह समस्या रखी ही क्यों गई? यह प्रयोग छान्दस् न होकर लौकिक है। अतः यहां पर सत्व प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

वाचस्पतिः

'वाचस्पतिः' तथा 'दिवस्पतिः' प्रयोगों के छान्दस् होने के कारण उनमें सत्त्व विचारणीय है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह की कभी-कभी छान्दस् प्रयोग भी भाषा में प्रयुक्त हो जाते हैं। अतः इन प्रयोगों में 'सत्त्व' साधु है।

---

१. भाषावृत्ति' ८।३।४२।
२. तत्त्वबोधिनी, (भाग २), १।४।७२, पृ० ८१।
३. शिशुपालवध, १।१।

दूसरा समाधान यह दिया गया कि इन प्रयोगों को कस्कादिगण में पठित मान कर यहां पर 'सत्व' सिद्ध हो जाएगा । यह गण आकृति-गण है ।[1]

आदेशप्रत्यययो: ८।३।५९

प्रियस्य

'इण्' से परे आदेश का प्रत्यय का जो सकार है उसको 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र द्वारा मूर्धन्य षकार आदेश का विधान किया गया है । इस नियम के अनुसार 'प्रियस्य' प्रयोग विचारणीय है । 'ए' के कण्ठ तथा तालु दो स्थान माने गए हैं । द्विस्थानीय होने के कारण उसे कण्ठ्य भी कहा जा सकता है और तालव्य भी । 'यो ह्युभयोस्सथाने निष्पद्यते लभतेऽसौ प्रत्येकमपि व्यपदेशम्' नियम के अनुसार कण्ठ्य होने के कारण 'ए' के साभ अकार (कण्ठ्य) का सावर्ण्य सिद्ध है और दोनों के सवर्णी होने के कारण 'ए' के द्वारा अकार का ग्रहण हो सकता है इस प्रकार जैसे 'इण्' प्रत्याहार में 'ए' माना जाता है वैसे ही अकार को भी इस प्रत्याहार में मानते हुए 'य' में विद्यमान 'इण्' रूप 'अ' से परे 'स' को 'आदेश प्रत्यययो:' सूत्र द्वारा 'षत्व' होना चाहिए ।

यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'अ' तथा 'ए' में प्रयत्नभेद होने के कारण 'ए' 'अ' का ग्रहण नहीं करा सकता, क्योंकि 'अ अ' सूत्र रूप प्रत्यापति के द्वारा संवृत अकार को भी विवृत माना गया है । यदि यह कहा जाए कि 'एङौ विवृततरो' नियम के अनुसार 'ए' और 'ओ' विवृततर हैं अतः प्रकर्ष होने के कारण इसके द्वारा 'अ' का ग्रहण नहीं हो सकता तो इस प्रश्न का उत्तर, रक्षित के मत रूप में यह दिया गया है कि जातिपक्ष में इसको विवृत ही माना जाएगा । परन्तु यदि इस प्रकार जातिपक्ष माना गया तो 'गौः' पद में (एङ् में 'ऐ' भी मान कर) 'एङ ह्रस्वात्—' (६।१।६९) सूत्र से 'सु' लोप की प्राप्ति होगी । इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि 'ए ओङ्' में अनुबन्ध ङकार द्वारा 'एङ्' को 'ऐच्' से अलग कर दिया गया है। अतः 'एङ्' से 'औ' का ग्रहण नहीं हो सकता । इस प्रकार जातिपक्ष की दृष्टि से विवृतता सामान्य के आधार पर 'य' के 'अ' को विवृत तथा उसको 'ए' का सवर्णी मानते हुए 'प्रियस्य' प्रयोग में 'षत्व' की प्राप्ति होगी ही ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि व्यक्तिपक्ष में 'ए' के विवृततर होने से उसके द्वारा विवृत अकार का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि इनमें सावर्ण्य

---

१. काशिका, ८।३।४८ ।

नहीं है । यह बात का ज्ञापक 'अङ्गस्य' (६।४।१) सूत्र है। यदि यहां पर व्यक्तिपक्ष अभीष्ट न होता तो षत्व होना चाहिए था ।

यहां पर 'अन्यथा दासीष्टेत्यत्र—न्यासः' पंक्तियां स्पष्ट नहीं हो सकीं ।

निंस्से

'णिसि चुम्बने' धातु के 'निंस्से' प्रयोग में 'षत्व' का अभाव इसलिए विचारणीय है कि 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र में 'नुम्विसर्जनीय—' सूत्र की अनुवृत्ति आने के कारण 'नुम्' का व्यवधान होने पर भी 'षत्व' होना चाहिए था ।

इस समस्या का समाधान 'नुं विसर्जनीय—' सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमंजरी सिद्धांतकौमुदी तथा भाषावृत्ति में यह दिया गया है कि 'नुं विसर्जनीय—' सूत्र में प्रयुक्त 'व्यवाये' पद 'नुम्' आदि प्रत्येक से स्वतंत्र रूप में सम्बन्धित है । अतः केवल एक का ही व्यवधान होने पर 'षत्व' की प्राप्ति होगी । 'निंस्से' प्रयोग में तो 'नुम्' तथा 'शर्' (सकार) दो का व्यवधान है । अतः 'षत्व' नही होगा ।[1] यही समाधान दुर्घटवृत्ति में दिया गया है ।

पुंसु

इसी प्रकार की समस्या 'पुंसु' प्रयोग में भी उपस्थित होती है । यहां पर तो केवल अनुस्वार का ही व्यवधान है ।

इस प्रश्न का उत्तर दुर्घटवृत्ति तथा सिद्धांतकौमुदी में यह दिया गया है कि 'नुम्' का स्थानिक अनुस्वार उपलक्षण अर्थ वाला है । अतः उसका प्रयोग होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त होगा ।[2]

उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासे-
नयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ८।३।६५

दुःस्थः

'उपसर्गात्सुनोति—' सूत्र उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'सु' आदि धातुओं के सकार को षकारदेश करता है । षकारदेश के निमित्त 'इण्' तथा कवर्ग हैं इस दृष्टि से 'दुस्थः' 'सुस्थः' तथा 'सुस्थितः' प्रयोगों में 'षत्व' का अभाव विचारणीय है ।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि यहां पर 'दुर्' तथा 'सु' उपसर्ग न होकर उनके प्रतिरूपक हैं । अतः उपसर्गत्व

---

१. महाभाष्य, ८।३।५८। पृ० ४६६ ।

२. सिद्धांतकौमुदी (भाग १), ८।३।५८, पृ० ३७९-३८० ।

के अभाव में 'षत्व' नहीं होगा। सिद्धांतकौमुदी तथा तत्त्वबोधिनी में यह समाधान दिया गया है कि 'दुरःषत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक द्वारा 'षत्व' तथा 'णत्व' विधि में उपसर्गत्व का निषेध हो जाने से यहां पर 'षत्व' नहीं होगा।[1]

अतिस्तुतम्

इसी प्रकार की समस्या 'अतिस्तुतम्' प्रयोग में भी उपस्थित होती है। इस प्रयोग को इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि 'अतिरतिक्रमणे च' (१।४।९५) सूत्र द्वारा 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है। अतः उपसर्गत्व नष्ट हो जाने के कारण 'षत्व' की प्राप्ति नहीं होगी। काशिका, सिद्धांतकौमुदी तथा भाषावृत्ति में इसी प्रकार के प्रयोग 'सुसिक्तम्' के लिए यही समाधान दिया गया है। यहां पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की प्राप्ति 'सुः पूजायाम्' (१।४।९५) सूत्र द्वारा होगी।[2]

अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८।३।६८

अवष्टब्धः

'अवाच्—'सूत्र में चकार द्वारा पूर्व सूत्र'स्तन्भेः' (८।३।६७)से सौत्र 'स्तन्भु' धातु की अनुवृत्ति आ रही है। अतः इस सूत्र द्वारा 'स्तन्भु' धातु से 'अव' पूर्वक आलम्बन तथा विदूर्य अर्थों में धातु के सकार को षकार आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'अवष्टब्धः' प्रयोग में 'षत्व' चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर उपर्युक्त दोनों अर्थों का बोध नहीं हो रहा है।

इस समस्या के दो समाधान दिए गए हैं। प्रथम यह कि यह प्रयोग सौत्र धातु से निष्पन्न न होकर भौवादिक 'ष्टभि स्कभि प्रतिबन्धे' धातु से निष्पन्न हुआ है। यहां पर 'षत्व' की प्राप्ति इस प्रयोग को सुषामादिगण में पठित मान कर 'सुषामादिषु च' (८।३।९८) सूत्र द्वारा हो जाएगी। यह गण आकृतिगण है।[3]

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि यहां पर 'अवष्टब्धनिष्टब्धो च' निर्देश द्वारा 'षत्व' सिद्ध हो जाएगा।

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ८।३।९७

सव्येष्ठाः

'अम्बाम्ब—' सूत्र द्वारा 'अम्ब' आदि शब्दों से 'स्थः शब्द के परे होने पर

१. तत्त्वबोधिनी (भाग ३), ८।३।३५, पृ० ७९।
२. काशिका, १।४।९४।
३. महाभाष्य, ८।३।९।८, पृ० ४८५।

सकार को षकार आदेश का विधान किया गया है अतः 'सव्येष्ठा', 'सव्येष्ठारो' तथा 'परमेष्ठी' प्रयोगों में 'षत्व' चिन्त्य है क्योंकि यहां पर 'स्थः' पद परे न होकर 'स्था', स्थृ' तथा 'स्थिन्' परे हैं।

इस प्रश्न का उत्तर भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि ये सभी प्रयोग ओणादिक हैं तथा इनको सुषामादिगण में पठित मान कर 'षत्व' सिद्ध हो जाएगा।[1] महाभाष्य, काशिका, न्याम, पदमंजरी तथा सिद्धांतकौमुदी में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह समाधान दिया गया है कि यहां पर 'स्थः स्थास्थिन्स्थृणामिति वक्तव्यम्' वार्तिक द्वारा षत्व हो जाएगा।[2]

सात्पदाद्योः ८।३।१११

तनुषेकमलम्

'सात्पदाद्योः' सूत्र 'सात्' प्रत्यय के सकार तथा पदादि सकार को षकार आदेश का निषेध करता है। इस दृष्टि से वासवदत्त के 'तनुषेकमलं कमलम्' वाक्य के 'षेकमलम्' प्रयोग में 'षत्व' चिन्त्य है, क्योंकि यहां पर 'स' पद के आरम्भ में है।

इस प्रयोग को अपपाठ ठहराया गया है।

त्रिष्टुप्

इसी प्रकार की समस्या 'त्रिष्टुप्' तथा 'अनुष्टुप्' प्रयोगों में उपस्थित होती है, क्योंकि ये प्रयोग सोपदेश 'स्तुभ् स्तम्भे धातु से निष्पन्न हुए हैं। यदि यहां पर 'षत्व' कर दिया जाए तो धातु को सोपदेश पढ़ना व्यर्थ हो जाएगा।

इस कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि इन प्रयोगों को सुषामादिगण में अन्तर्भावित मान कर 'षत्व' सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रसंग में शरणदेव ने यह भी कहा है कि कभी कभी 'षत्व' रहित 'प्रतिस्तब्धः' प्रयोग भी बनता है।

धातुवृत्ति तथा क्षीरतरङ्गिणी में यह धातु सोपदेश न मिलकर षोपदेश मिलती है तथा इसी से ये प्रयोग सिद्ध किए गए हैं।[3]

---

१. भाषावृत्ति, ८।३।९७।
२. महाकाव्य, ८।३।९७, पृ० ४८४।
३. धातुवृत्ति, पृ० १२२।

निष्टब्धाः

इसी प्रकार की समस्या 'निष्टब्धाः' प्रयोग में उपस्थित होता है । यहां पर भी 'षत्व' नहीं होना चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'नि' पूर्वक 'स्तब्ध' धातु को 'षत्व' निपातन किया गया है । इसी प्रसंग में चान्द्र सूत्र उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार 'नि' तथा 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'स्तम्भ्' धातु को 'षत्व' का विधान किया गया है ।

यहां पर यह स्पष्ट नहीं है कि 'खर्परे ··· लोपः' पंक्ति का प्रस्तुत प्रश्न के साथ क्या सम्बन्ध है ?

अष्टम अध्याय: चतुर्थ पाद

पूर्वपदात् संज्ञायामगः ८।४।३

नरवाहनः

'पूर्वपदात्···' सूत्र पूर्व पद में निमित्त होने पर संज्ञा के विषय में नकार को णकार आदेश करना है। इस नियम के अनुसार 'नरवाहनः',[1] 'दुर्नामा', 'पुनर्नवा' श्रीधनः', 'स्वर्भानुः' 'चित्रभानुः' आदि प्रयोगों में णत्वाभाव चिन्त्य है, क्योंकि प्रत्येक के पूर्वपद में रेफ का निमित्त विद्यमान है।

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि इन शब्दों को क्षुम्नादिगण में पठित मान कर 'क्षुम्नादिषु च' (८।३।३९) सूत्र द्वारा 'णत्व' का निषेध हो जाएगा। यह गण आकृतिगण है ।[2]

वाहनमाहितात् ८।४।८

नरवाहनः

'वाहनमाहितात्' सूत्र द्वारा आहित वाचक पूर्वपद होने पर यदि उसमें 'णत्व' का निमित्त हो तो 'वाहन' शब्द के नकार को णकार आदेश का विधान किया गया है 'आहित' का अर्थ है रख कर ले जाया जाना। जैसे 'इक्षुवाहणम्। इस दृष्टि में 'धनदां नरवाहनः' प्रयोग में 'णत्व' का अभाव विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर नर आहितवाचक नहीं है। यहां पर तो नर का वाहन के साथ स्वामित्व सम्बन्ध है। अतः 'णत्व' नहीं होगा। 'नरवाहन' शब्द कुबेर का वाचक है।

दूसरा समाधान यह दिया गया है कि इस शब्द को क्षुभ्नादिगण में पठित मानकर 'णत्व' नहीं होगा। यहीं समाधान शब्दकल्पद्रुम में भी दिया गया है।[3] यह समाधान मानने पर इस प्रयोग के प्रति 'पूर्वपदात्···' सूत्र भी प्रवृत नहीं होगा।

---

१. अमरकोश, १।१।६९।

२. महाभाष्य, ८।४।३९, पृ० ५०६।

३. 'क्षुभ्नादिषु च' (८।४।३९)। इति न णत्वम् —शब्दकल्पद्रुम।

एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२

ब्रह्मघ्नम्

यदि पूर्वपद में 'णकार' का निमित्त हो तो एकाच् पद के उत्तर में होने पर समास में प्रातिपदिकान्त 'नुम्' तथा विभक्ति के नकार को 'एकाजु···' सूत्र द्वारा 'णत्व' का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मघ्नम्' प्रयोग में 'णत्व' का अभाव विचारणीय है।

इस दोष का निवारण दो प्रकार से किया गया है। प्रथमतः इस प्रयोग को क्षुम्नादिगण में माना गया है तथा महाभाष्य के नाम से, दूसरा समाधान यह दिया गया है कि 'घ्' का व्यवधान होने पर आदेश अभीष्ट नहीं है। अतः यहां पर 'णत्व' नहीं होगा।[1]

सिद्धान्तकौमुदी में इस प्रयोग को 'हन्तेरत्पूर्वस्य' (८।४।२२) सूत्र का योगविभाग करके पृथक् सूत्र 'अत्पूर्वस्य' द्वारा सिद्ध किया गया है।[2]

कुमति च ८।४।१३

दुःखेन

यदि पूर्वपद में णकार का निमित हो तो 'कुमत्ति च' सूत्र द्वारा कवर्ग युक्त उत्तरपद परे होने पर प्रातिपदिकान्त, 'नुम्' तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से शिशुपालवध के 'दुःखेन भोजयितुमाशयिता शशाक'[3] श्लोकांश का 'दुःखेन' पद विचारणीय है। दुर्घटवृत्तिकार ने संभवतः यह समस्या 'दुश्खेन' पाठ मानते हुए रखी है। यह पाठ मानने पर ही 'णत्व' की प्राप्ति का प्रश्न उठ सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि 'णत्व' के निमित्त रेफ तथा षकार हैं।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि 'षात् पदान्तात्' (७।४।३५) सूत्र द्वारा यहां पर 'णत्व' का निषेध हो जाएगा।

इस समस्या का एक अन्य समाधान, सुभूति के मत रूप में, यह भी दिया गया है कि इस प्रयोग को क्षुम्नादिगण में पठित मान कर 'णत्व' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु यहां यह समझ में नहीं आता कि शरणदेव ने यह समस्या रखी ही क्यों? उसने स्वयं 'इदुदुपधस्य···' (८।१।४१) सूत्र की व्याख्या में 'दुःखेन'

---

१. महाभाष्य, ८।४।२२, पृ० ५०१।
२. सिद्धान्तकौमुदी (भाग १), ८।४।२२, पृ० ३१७।
३. शिशुपालवध, ५।५१।

पद में 'षत्व' का अभाव सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त शिशुपालवध के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में भी 'दुःखेन' पाठ ही मिलता है।

शास्त्रवाक्यानि

'चन्द्रगोमिन्' तथा 'शास्त्रवाक्यानि'[1] प्रयोगों में भी 'णत्व' का अभाव विचारणीय है, क्योंकि दोनों के पूर्वपदों में 'णत्व' का निमित्त विद्यमान है।

दुर्घटवृत्ति तथा भाषावृत्ति में इन प्रयोगों को क्षुम्नादिगण में अन्तर्भावित मानकर सिद्ध किया गया है।[2] न्यास के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'शास्त्रवाक्याणि' पाठ मिलता है।[3]

प्रातिपदिकान्तनुंविभक्तिषु च ८।४।११

प्रेन्वनम्

यदि पूर्वपद में णकार का निमित्त हो तो 'प्रातिपदिकान्त, सूत्र प्रातिपदिकान्त, 'नुम्' तथा विभक्तिस्थ नकार को विकल्प से णकार आदेश का विधान करता है। इस नियम के अनुसार 'इवि' धातु के 'प्रेन्वनम्' प्रयोग में 'णत्व' का अभाव विचारणीय है।

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि साहचर्य अथवा प्रत्यासत्ति द्वारा प्रातिपदिक से ही विहित 'नुम्' का ग्रहण होगा, धातु से विहित 'नुम्' का नहीं। अतः यहां पर 'णत्व' नहीं होगा।

परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं अनुपदकार ने 'णत्व' सहित 'प्रेण्वनम्' पद का प्रयोग किया है।

शरणदेव का कहना है कि इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। जो विद्वान् उपर्युक्त मत को नहीं मानते उनके अनुसार इस प्रयोग में 'प्र' उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है। अतः प्रादि समास के अभाव में पूर्वपदत्व तथा उत्तरपदत्व न रहने के कारण 'णत्व' नहीं होगा।

भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रयोग को क्षुम्नादिगण में पठित मानकर सिद्ध किया है।[4]

यहां पर भी दुर्घटवृत्तिकार को यह समस्या रखने की कोई आवश्यकता ही

---

१. काशिका, १।३।२।
२. भाषावृत्ति, ८।४।१३।
३. न्यास (भाग १), १।३।२।
४. सिद्धान्तकौमुदी (भाग २), ८।४।११, पृ० २२९।

नहीं थी क्योंकि 'प्रातिपदिकान्त···' सूत्र विकल्प से 'णत्व' का विधान करता है। अतः प्रादि समास होने पर दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। बालमनोरमा में भी यही कहा गया है।[1]

क्षत्रिययूनाम्

'क्षत्रिययूनाम्' प्रयोग में भी 'णत्व' का अभाव विचारणीय है, क्योंकि यहां पर भी पूर्वपद में 'णत्व' का निमित्त विद्यमान है।

इस प्रश्न का उत्तर, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि इस प्रयोग को क्षुभ्नादिगण में पठित मानकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा।

महाभाष्य, काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी के अनुसार तो 'युवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक द्वारा 'णत्व' का अभाव सिद्ध हो जाएगा।[2]

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४

दुर्नीतम्

यदि उपसर्ग में 'णत्व' का निमित्त विद्यमान हो तो णोपदेश धातु के नकार को 'उपसर्गाद···' सूत्र द्वारा णकार आदेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'दुर्नीतम्' तथा 'दुर्नयम्' प्रयोग विचारणीय है क्योंकि 'नी' धातु उपदेशावस्था में णकारादि है तथा उससे पूर्व 'दुर्' उपसर्ग में 'णत्व' का निमित्त भी विद्यमान है। अतः यहां पर 'णत्व' होना चाहिए।

इस समस्या का समाधान, भाषावृत्ति के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'दुर्' उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है। परन्तु भाषावृत्ति में इन प्रयोगों को क्षुभ्नादिगण में मान कर सिद्ध किया गया है।[3]

भाषावृत्ति के पादटिप्पण में 'अन्ये' निर्देश द्वारा यह कहा गया है कि 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक द्वारा 'णत्व' विधि में दुर्' का उपसर्गत्व नष्ट हो जाने से णत्व नहीं होगा।[4] यह वार्तिक सिद्धान्तकौमुदी में मिलती है।[5]

परन्तु यदि इस प्रकार 'णत्व' का अभाव सिद्ध मान लिया जाए तो 'षात्

---

१. बालमनोरमा (भाग २), ८।४।११, पृ० २२९-२३०।
२. महाभाष्य, ८।४।११, पृ० ४६६।
३. भाषावृत्ति, ८।४।१४।
४. उपरिवत् पादटिप्पण ४०।
५. सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३), ८।४।१६, पृ० ४५।

पदान्तात्' (८।४।३५) सूत्र की वृत्ति में 'षात्' पद के 'प्रत्युदाहरण के रूप में दिया गया 'निर्णयः' तथा 'दुर्णयः' प्रयोग असाधु ठहरेंगे।

इस आक्षेप की निवृत्ति इस प्रकार की गई है कि इन प्रयोगों में उपसर्ग ग्रहण न होने के कारण 'णत्व' होगा ही। 'दुर्नीतम्' तथा दुर्नयम्' प्रयोगों में 'दुर्' उपसर्ग न होकर उसका प्रतिरूपक है।

कृत्यचः ८।४।२९

प्रख्यानम्

यदि उपसर्ग में 'णत्व' का निमित्त हो तो 'कृत्यचः' सूत्र द्वारा 'अच्' से परे 'कृत्' प्रत्यय के नकार को णकार आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र के अनुसार 'प्रख्यानम्' तथा 'प्रघ्यानम्' प्रयोगों में 'णत्व' का अभाव विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इस सूत्र में 'वमोर्वा (८।४।२३) सूत्र से मण्डूकप्लुतिन्याय द्वारा 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इसको व्यवस्थित विभाषा मानकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे। परन्तु अन्य किसी वैयाकरण ने इस प्रकार व्यवस्थित विभाषा स्वीकार नहीं की है।

भाषावृत्तिकार ने इस प्रयोग को क्षुम्नादिगण में मानते हुए सिद्ध किया है।[1]

इजादेः सनुमः ८।४।३२

प्राङ्गणे

इजादि 'नुम्' सहित हलन्त धातु से जिस 'कृत्' प्रत्यय का विधान किया गया है उसके नकार को 'इजादेः सनुमः' सूत्र 'णत्व' का विधान करता है। इस नियम के अनुसार सूर्यशतक के 'प्रांगणे पान्तु युष्मानूष्माणाम्'[2] श्लोकांश के 'प्रांगणे' पद में 'णत्व' विचारणीय है, क्योंकि 'अगि' धातु इजादि नहीं है।

इस समस्या का समाधान, धातुप्रदीपिका के मत रूप में, यह दिया गया है कि 'अंगणम्' प्रयोग में 'णत्व' की प्राप्ति इस शब्द को पृषोदरादिगण में पठित मानकर हो जाएगी।[3]

---

१. भाषावृत्ति, ८।४।२९।

२. सूर्यशतक, श्लोक ३।

३. धातुप्रदीप, पृ० १८।

इसी प्रसंग में शरणदेव ने यह भी कहा है कुछ विद्वानों के अनुसार इन प्रयोगों में 'णत्व' अभीष्ट नहीं है। शरणदेव का यह संकेत संभवतः महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि की ओर है, क्योंकि इन ग्रंथों में इस सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में 'प्रमङ्कनम्' तथा 'प्रमङ्गनम्' प्रयोग प्रस्तुत किए गए हैं।[1] इन विद्वानों के मतानुसार तो अमरकोश का 'अङ्गणं चत्वराजिरे' प्रयोग-असाधु सिद्ध होगा। परन्तु अमरकोश के सम्प्रति उपलब्ध संस्करण में 'अंगनं चत्वराजिरे' पाठ मिलता है।[2] अमरकोश की टीका में पाठभेद की दृष्टि से इस प्रयोग की सिद्धि धातुप्रदीप के समान ही की गई है।[3] दुर्घटवृत्तिकार ने भी अमरकोश के इस पाठ को अपपाठ माना है। सूर्यशतक में भी 'प्राँगने' पाठ ही मिलता है। इसके अतिरिक्त माघ ने भी अपने काव्य में 'णत्व' रहित प्रयोग किया है—'अचलाङ्गनमङ्गना'।[4]

'पदान्तस्य' (८।४।३७) सूत्र स्पष्ट नहीं हो सका।

स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०

शत्रून् जयति

'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र द्वारा सकार तथा तवर्ग का शकार और चवर्ग के साथ योग होने पर शकार और चवर्ग आदेश का विधान किया गया है। इस नियम के अनुसार 'शत्रुन् जयति' प्रयोग में श्चुत्व (न् के स्थान पर स्) का अभाव चिन्त्य है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि यहां पर संहिता की विवक्षा न होने के कारण श्चुत्व नहीं हुआ है।

अल्पाच्तरम्

इस प्रकार की समस्या 'अल्पाच्तरम्' प्रयोग में भी उपस्थित होती है। इस समस्या का समाधान, रक्षित के नाम से यह दिया गया है कि 'नश्ञ् स्नञो...' (८।४।८७) सौत्र निर्देश द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। 'नञ्स्नञो' प्रयोग में 'ञ्' तथा 'स्' में श्चुत्व की प्राप्ति होती है।

मज्जति

'मज्जति' तथा 'लज्जते' प्रयोगों की सिद्धि में यह कठिनाई उपस्थित होती

---

१. महाभाष्य, ८।४।३२, पृ० ५०३।

२. अमरकोश, २।२।१३।

३. अमरकोश सुधा टीका, २।२।१३।

४. शिशुपालवध ६।३३।

है कि 'मस्ज्' तथा 'लस्ज्' धातुओं को 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) सूत्र द्वारा सकार को दकार आदेश होकर 'मद्ज्' तथा 'लद्ज' स्थिति बनती है। उसके पश्चात् श्चुत्व होकर 'मज्जति' और 'लज्जते' प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहां यह विचारणीय है कि 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र के प्रति 'झलां जश् झशि' सूत्र के असिद्ध होने के कारण इन प्रयोगों में श्चुत्व कैसे हो गया ?

इस समस्या के तीन समाधान दिए गए हैं। प्रथम, न्यास के मत रूप में यह कि प्रस्तुत प्रयोग 'मस्जिनशोर्झलि' (७।१।६०) निर्देश द्वारा सिद्ध हो जाएगा। परन्तु यह सूत्रपाठ ठीक नहीं है। न्यास में 'मज्जिनशोर्झलि' पाठ मिलता है।[1] जो समाधान की दृष्टि से अधिक उचित जान पड़ता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, भाषावृत्ति आदि में 'मस्जिनशोझलि' पाठ ही मिलता है। अतः उसके स्थान पर 'ग्रहिज्या···' (६।१।१६) सूत्र में निर्दिष्ट 'भृज्जतीनाम्' पद को ज्ञापक माना जा सकता है—जिसका संकेत गणपतिशास्त्री ने भी किया है।[2] पदमञ्जरी तथा धातुवृत्ति में यही समाधान मिलता है।[3]

दूसरा समाधान, रक्षित के मत रूप में, दिया गया है। रक्षित ने 'गाङ्कुटादि···' (१।२।१) सूत्र की व्याख्या मे कहा है कि जिस प्रकार 'निशा' शब्द के 'निश्' भाव होकर सप्तमी के बहुवचन में (निश्+सु) पहले 'झलां जशोऽन्ते' (८।४।३९) सूत्र से जकार हो जाता है तथा बाद में श्चुत्व और वैकल्पिक छत्व द्वारा 'निच्छु' प्रयोग बनता है उसी प्रकार 'मज्जति' और 'लज्जते' प्रयोगों में भी दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार होकर तथा पुनः श्चुत्व द्वारा जकार हो जाएगा। इस प्रकार ये प्रयोग सिद्ध हो जाएंगे।

यहां पर 'यथा' चिणोलुक्··· इति' पंक्तियों का समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

तीसरा समाधान, भाषावृत्ति के नाम से, यह दिया गया है कि श्चुत्व के प्रति जश्त्व के असिद्ध होने के कारण पहले श्चुत्व तथा बाद में जश्त्व होकर ये प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे।[4] यह समाधान धातुवृत्ति में विकल्प के रूप में दिया गया है।[5] सिद्धान्तकौमुदी में भी ऐसा ही माना गया है।

---

१. न्यास (भाग ३), ८।४।४०, पृ० ११२९।
२. दुर्गटवृत्ति, पृ० १४३, पादटिप्पण १।
३. (क) पदमञ्जरी (भाग २), ८।४।४०, पृ० १०३१।
(ख) धातुवृत्ति, पृ० ४८७।
४. भाषावृत्ति, ८।४।४०।
५. धातुवृत्ति, पृ० ४८७।

ष्टुनाष्टुः ८।४।४१

षड्धा, षोढ़ा

सकार तथा तवर्ग का षकार और चवर्ग के साथ योग होने पर 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र द्वारा षकार और टवर्ग आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र की दृष्टि से 'षड्धा' तथा 'षोढ़ा' प्रयोगों में यह विचारणीय है कि यहां पर ष्टुत्व कैसे हुआ ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि इन प्रयोगों के पृषोदरादिगण में अन्तर्भावित माने जाने के कारण नित्य ष्टुत्व होगा। 'उत्व' तथा 'ढत्व' आदेश भी इसी गण में पाठ किए जाने के कारण होंगे। इस प्रकार 'षोढा' तथा 'षड्ढा' प्रयोग बनेंगे। इसी प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने 'अपरे' निर्देश द्वारा यह भी कहा है कि 'ढत्व' तथा 'उत्व' विकल्प से होते हैं तथा न्यासकार और रक्षित के अनुसार 'षड्धा' प्रयोग भी बनता है। इस प्रकार 'षड्ढा', 'षड्धा' तथा 'षोढा' ये तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं।

परन्तु इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि न्यासकार के अनुसार 'उत्व' ही विकल्प से होता है जिससे 'षोढा' तथा 'षड्ढा' प्रयोग बनते हैं।[1]

खरि च ८।४।५५

अस्ति

'खरि च' सूत्र 'खर्' परे होने पर झलों को 'चर्' आदेश करता है। इस नियम के अनुसार 'अस्ति' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि 'त्' रूप 'खर्' परे होने पर सकार (झल्) को चर्त्व तकार आदेश क्यों नहीं हुआ ?

इस दोष का निवारण इस प्रकार किया गया है कि 'सः स्यादार्धधातुके' (७।४।४९) सूत्र द्वारा सकार को तकार आदेश करने से यह ज्ञापित होता है कि इस सूत्र से सम्बन्धित प्रयोगों से अन्य प्रयोगों के सकार को तकार आदेश नहीं होता। यदि यह नियम न माना जाए तो 'वस्से' और 'आस्से' प्रयोगों में भी चर्त्व तकार की प्राप्ति होने लगेगी।

इसी प्रयोग में शरणदेव ने ज्ञापक समुच्चय का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'उदः स्था···' (८।४।६१) सूत्र से यह ज्ञापित होता है कि यदि 'खर्' परे हो तो सकार के स्थान पर चर्त्वतकार नहीं होता। यह ज्ञापक इस प्रकार निकाला गया है कि 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्र द्वारा सकार का लोप होकर 'उत्थानम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु इस नियम के होते हुए भी

१. न्यास (भाग २), ६।३।१०९, पृ० ४८० ।

'उदः स्था···' सूत्र की रचना से यह ज्ञापित होता है कि यहाँ पर पूर्वसवर्ण आदेश होता है। यदि 'खरि च' सूत्र को सार्थक मान लिया जाए तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाएगा।[1] इस प्रकार 'प्रकृतिचरां प्रकृतिचरो भवन्ति' नियम के अनुसार सकार के स्थान पर सकार ही होगा।

वा पदान्तस्य ८।४।५९

पुंवत्

यदि 'यय्' परे हो तो 'वा पदान्तस्य' सूत्र द्वारा पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण आदेश का विधान किया गया है। इस दृष्टि से 'पुंवत्' प्रयोग इसलिए विचारणीय है कि दन्त्योष्ठ वकार का कोई सवर्णी न होने के कारण यहां पर परसवर्ण आदेश कैसे हो गया? दुर्घटवृत्तिकार ने यह समस्या पुंवत्' प्रयोग के विषय में रखी है, परन्तु समाधान को देखते हुए यह समस्या उसके विषय में ठीक नहीं जान पड़ती।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि अन्तस्थ (य् र् ल् व्) वर्ण दो प्रकार के हैं—अनुनासिक और निरनुनासिक। अतः वकार परे होने पर उसके पूर्व अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होकर 'पुवं्वत्' प्रयोग बन जाएगा। इस प्रकार 'पुंवत्' और 'पुवं्वत्' दो प्रयोग सिद्ध होंगे।

इस प्रकार पक्ष में 'प्रमादलिखितम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा।

इस प्रसंग में दुर्घटवृत्तिकार ने 'पुवंत्' शब्द की सिद्धि भी की है। 'बद् स्थैर्ये' धातु से 'क्विप्' होकर यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। यहां पर पवर्गादि 'बद्' धातु को वकारादि माना गया है।

झरो झरि सवर्णे ८।४।६५

भवद्भ्याम्

यदि सवर्ण 'झर्' परे हो तो 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र विकल्प द्वारा 'हल्' से उत्तरवर्ती 'झर्' के लोप का विधान करता है। इस दृष्टि से अष्टधातु के 'भवद्भ्याम्' प्रयोग में 'अनचि च' (८।४।४७) सूत्र द्वारा किए गए द्वित्व रूप प्रथम दकार (भवद्द्भ्याम्) का लोप विचारणीय है, क्योंकि सूत्र में 'हल्' की अनुवृत्ति आने के कारण 'भव' के 'व' के अकार से परे दकार का लोप नहीं हो सकता। इसीलिए इस सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में दिए 'वाग्ग्मी' प्रयोग में प्रथम गकार का लोप नहीं होता। अपने मत की पुष्टि में दुर्घटवृत्तिकार ने भाषावृत्तिकार के मत को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'वाग्ग्मी' प्रयोग

---

१. ज्ञापक समुच्चय, पृ० १००।

द्विगकार सहित है ।[1] अतः 'झरो झरि सवर्णे, सूत्र में 'हल्' की अनुवृत्ति अवश्य मानी जानी चाहिए। यदि यह अनुवृत्ति न मानी जाए तो 'ढो ढे लोपः' (८।३।१३) सूत्र व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि 'लीढम्' जैसे प्रयोगों में 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र द्वारा 'ढ्' लोप की प्राप्ति स्वतः होने लगेगी । काशिका में भी 'हल्' की अनुवृत्ति मानी गई है ।[2]

इस समस्या का समाधान यह दिया गया है कि एक दकार वाला 'भव-द्भ्याम्' प्रयोग लेखक के कारण है । विकल्प के प्रमाद के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि कोशों में एक गकार सहित 'वाग्मी' प्रयोग भी मिलता है । जहां तक 'ढो ढे लोपः' सूत्र के वैयर्थ्य का प्रश्न है उस विषय में यह कहा जा सकता है कि यह सूत्र नियमार्थ है अर्थात् 'ढ्' परे होने पर ही 'झर्' भूत 'ढ्' का लोप होगा, अन्यथा नहीं तथा इस सूत्र की व्यावृत्ति 'लिड्ढोकते जैसे प्रयोगों में होगी ।

---

१. भाषावृत्ति में 'वाग्ग्मी' उदाहरण न मिलकर 'शिण्ड्ढि, शिण्ढिवा' आदि उदाहरण मिलते हैं । भाषावृत्ति, ८।४।६५ ।

२. काशिका, ८।४।६५ ।

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रन्थ तालिका

क्रम	पुस्तक का नाम	प्रकाशक
१.	अनर्घराघव (रुचिपति कृत टीका सहित)	पाण्डुरंग जावाजी, निर्णय सागर प्रेस, १९३७।
२.	ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर	ओरियटल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, १९६१।
३.	अमरकोश (सुधा व्याख्या सहित)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, वाराणसी, १९७०।
४.	आप्टे का शब्दकोश	
५.	उत्तररामचरितम् (चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका सहित)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९५३।
६.	काव्यादर्श	मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, बनारस सिटी, १९८८।
७.	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५४ ई०।
८.	काशिका	चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९५२ ई०।
९.	किरातार्जुनीयम्	निर्णय सागर-मुद्रणालय, मुंबई, १९५४।
१०.	कुट्टनीमतम्	इन्डोलॉजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, १९६१ ई०।
११.	कुमारसंभव	निर्णय सागर मुद्रणालय, मुबई, १९५५।
१२.	क्षीर तरङ्गिणी	श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, संवत् २०१४।
१३.	गणरत्न महोदधि	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३।

१४. गीतगोविन्द	निर्णय सागर-मुद्रणालय, मुंबई, १९४९।
१५. चान्द्रव्याकरण	दक्षिण कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, १९५३।
१६. ज्ञापक समुच्चय	वरेन्द्र रिसर्च म्यूजियम राजशाही, बंगाल, १९४६।
१७. त्रिकाण्डशेष	खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१६।
१८. दुर्गासप्तशती	गीता प्रेस, गोरखपुर।
१९. दुर्घटवृत्ति	पेरिस सोसाइटी प्रकाशन, १९४०।
२०. धातुप्रदीप	सविता राय-स्मृति संस्करण-ग्रन्थमाला संख्या २।
२१. न्यास (भाग १)	वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल १९१३-१९१६।
(भाग २)	उपरिवत्, १९१९।
(भाग ३)	उपरिवत्, १९२५।
२२. पञ्चतंत्र	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७।
२३. पदमञ्जरी (भाग १)	मेडिकल हाल यन्त्रालय सं० १९५२। १८९५ ई०।
(भाग २)	उपरिवत्, सं० १९५५। १८९८ ई०।
२४. परमलघु मञ्जूषा	बड़ौदा संस्कृत महाविद्यालय, बड़ौदा, १९६१।
२५. परिभाषावृत्ति	वरेन्द्र रिसर्च म्यूजियम, राजशाही बंगाल, १९४६।
२६. परिभाषेन्दुशेखर	चोखम्बा संस्कृत सीरिज, आफिस बनारस १९३१।
२७. प्रक्रियाकौमुदी	भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, १९२५।
२८. बीस स्मृतियाँ	संस्कृत संस्थान बरेली, १९६६ ई०।
२९. बृहच्छब्देन्दुशेखर (भाग ३)	सरस्वती भवन ग्रन्थमाला वाराणसी, १९६०।
३०. बृहत्स्तोत्र रत्नाकर	पण्डित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१६ वि०।

१४. भट्टिकाव्य (जयमंगला टीका सहित)	श्री क्षेमराज-श्री कृष्णदास, मुंबई १९२८।
(चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका सहित)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी १९५२।
३२. भागवृत्ति संकलन	भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, १९५२ ई०।
३३. भाषावृत्ति	वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, १९१८।
३४. महाभाष्य नवाह्निकम् (प्रदीप-उद्योत सहित)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९५४।
३५. माधवीया धातुवृत्ति	प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४।
३६. मालती माधव	पाण्डुरंग जावजी, मुंबई, १९३६।
३७. मेघदूत (भरतमल्लिक-टीका सहित)	जितेन्द्र विमल चौधरी, कलकत्ता, १९५१।
३८. मेघदूत (संजीवनी टीका सहित)	लक्ष्मी जनार्दन प्रेस, कलकत्ता, १९५८।
३९. मोनियर विलियम शब्दकोश	
४०. रघुवंश	चौखखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस, १९५६।
४१. वाचस्पत्यम्	
४२. वेणी संहार	चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी १९५९।
४३. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा-तत्वबोधिनी टीकाओं सहित)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६१।
४४. व्याकरण महाभाष्य (४ भाग)	हरियाणा-साहित्य-संस्थान गुरुकुल, झज्जर (रोहतक), १९६३।
४५. व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९१४।
४६. शतकत्रय	भारतीय विद्या भवन, बम्बई १९४६।
४७. शब्दकल्पद्रुम	

४८. शब्द कौस्तुम (२ भाग)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस १६२६।
४६. शाश्वत कोश	ओरियण्टल बुक्स सप्लाईंग एजेंसी, १६१८।
५०. शिशुपालवध	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६५७।
५१. श्री सिद्धहेमचन्द्र व्याकरण	गोविंद लाल मोहन लाल जानी श्री क्रिश्ना पिन्टरी, रतनपोल, अहमदाबाद, १६५०।
५२. श्लोक वार्तिक व्याख्या	मद्रास विश्वविद्यालय, १६४०।
५३. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (२ भाग)	भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर सं० २०२० वि०।
५४. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	शारदा मन्दिर वाराणसी, १६६६।
५५. संस्कृत साहित्ये बंगालीर अवदान	संस्कृत पुस्तक भण्डार
५६. सिद्धान्तकौमुदी (अंग्रेजी संस्करण)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६२।
५७. सूर्यशतक	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६४।

दुर्घटवृत्तेरुदाहरणानुक्रमणी

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
अकारयत्	२२९	अधिकं दशानाम्	१९३
अक्षपादः	१६२	अधिजगे	१४
अक्षरलवक्षिप्ता	३०६	अधित्वद्	२२
अखट्वेन	४४३	अधिपतिना	१८१
अगमः	४००	अधिष्ठकः	२४१
अग्ने:	९५	अधीत्य	१५३
अङ्क्तिना बाधा	१९५	अधीनम्	३५५
अडित्	१६८	अधीयते	३७३
अङ्गुलम्	३५८	अध्येतृवेदित्रोः	३८०
अजां नयति ग्रामम्	१७५	अननुसूयवः	२५६
अजीहरन्	२२९	अनन्तरायाः	४४७
अटति	४४	अनन्यगुर्व्याः	३०४
अतिखट्वाद्	४४३	अनाराध्य	२८६
अतिजरस्य	४१३	अनाशास्यजयः	३९५
अतित्वम्	१०६	अ(प) नासिकः	३६०
अतिदुर्लभम्	४१७	अनुषज्ञे	७६
अतिलक्ष्म्यै	८३	अनुनाथे	६४
अतिशायनम्	४२८	अनुनासिकः	३६०
अतिसखेः	८६	अनुपधात्वात्	३८७
अतिसुभम्	४१७	अनुपलब्धेः	१८४
अतिस्तुतम्	४२,१४० ४७४	अनुपालभ्यः	४१६
अतृणेत्	२१	अनुष्ठप्	४७५
अत्यल्पाच्त्वात्	४६१	अनुहरते	६४
अधयनस्य	३६२	अनूद्यम	२४०

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
अनेकः	१३५	अल्पाच्तरम्	४६१
अनेकप्रकारवत्	३४७	अवतारः	२६७
अनेके	१३५	अवदन्तस्य	४१२
अनेकेषाम्	३७, १६	अवमन्य	३९७
अन्यथा कृत्वा गतः	२८८	अवष्टधः	४७४
अन्यथात्वम्	३३५	अश्राद्धभोजी	१०६
अन्तर्धौ	१९०	अश्वघासः	१२१
अन्वगाः	४००	असावि	२५२
अन्वेषमाणम्	८०	असूर्यपश्याः	१०६
अन्वलः	३६८	अस्ति	४८४
अपन्थानम्	२११	अस्तिक्षीरा	१५५
अपन्यायः	११६	अस्तित्वम्	३३५
अपर्णामिति	१७०	अस्मान् द्वेष्टि	९७
अपव्यवहारः	११६	अहमिव करोति	१०८
अपशब्दः	११६	अहर्युक्तायाम्	३५९
अपुषत स्वपोषम्	२८८	अहोवचनविन्यासः	४६४
अपूपार्धम्	१३३	आ उदकान्तम्	३७०
अपेतमैथिलीम्	१५५	आकस्मिकम्	३२६, ४३७
अपोभिः	५७	आक्रमयामास	२९, १६
अभिजानासि	६३	आक्रमयामास	४०३
अभीयात	४४९	आग्रहायणः	३१५
अभूत्	२५२	आग्र हायणी	३१५
अभ्यस्या	४३०	आचरचञ्चुरा	२२७
अमयन्	५७	आजघ्ने	६५
अमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे	२९	आजातशात्रवीम्	४३३
अमोचयत्	२९	आढ्यं सुकरण	३८७
अम्भसां निधिः	१५५	आतिशायिकः	४३३
अयुङ्क्त	६१	आतिष्ठद्गु	५७, ३६४
अर्थमर्थं प्रति	११२	आपीयः	३९९
अर्धपिप्पली	३६,३६९	आप्यम्	३३०
अर्वताम्	४०६	आमज्वरः	४३५
अलं कुमार्यै	१५२	आर्त्तः	४९२
अल्पश्रुतः	१६२	आयूषि	१०२

उदाहरणम्	पृष्ठम	उदादहरणम्	पृष्ठम्
आराव	२६३	उद्धिरणम्	४१६
अरोहयते	८२	उद्गीय	४००
आलोच:	४३८	उद्ग्रथयितुम्	१२६
आवयोरन्तरा	१७२	उद्घाटनम्	४०४
आविश्चक्षुष:	१०३	उद्घाटयति	४०४
आशिषयति	४०८	उद्यमोपरमौ	४३०
आशीष्क:	४४८	उद्वेजिता	२७
आश्वसेयुः	२२१	उपक्रम्यते	१८३
आस	२१५	उपक्रामयति	४०३
आसुति:	७५, १०	उपधात्वात्	३८७
आह	२५३	उपरमोद्यमम्	४३६
इकारानुबन्धवत्	३४८	उपरि शिरसः	११३
इतिकरण:	२८३	उपर्युपरि बुद्धीनाम्	४५४
इत्थम्भूत:	३५१	उपलब्धिः	२७९
इदानी करिष्यसि	२८४	उलूकपूर्णा	३७६
इष्यते	२६०	उपवसन्ति	८
ईश्वरज्ञात:	१४३	उपाध्यायी	४१०
ईश्वरी	३००	उपाध्यायेन सहायताः	१८४
उच्चारणार्थवर्णान्तिर्भाविण	१८२	उपायंसत	७४
उच्चुकुटिषति	५३	उपायंस्त	७४
उच्चैस्तराम्	३५६	उपायष्वम्	७४
उडडयितम्	३२	उपार्त्त:	४६२
उड्डीन:	३२	उपासते	९२, २६, २२
उत्तरापथम्	३५२	उपोष्य रजनीम्	२८, ५
उत्तरापथ:	३८६	ऊचतु:	४५१
उत्तरामुखम्	३५२	ऊहति	१४, १८
उत्तरेण	१८१	एक:	४४८
उत्तिष्ठते	६५	एकजातीया	३५३
उदकस्पृशः	२४९	एकस्वात्	३८६
उदधिस्य	४१२	एकदेशी	३४७
उदरम्भरयः	२४७	एकध्वनिमुस्वर	१२०
उदीरितम्	४२१	एकपूली	२०१
उदीर्ण:	४२१	एकवीर:	१२६

उदाहरणम्	पृष्ठम्
एकशः	४५१
एकाकिना	१८१
एकात्	४१३
एकाशीम्	२८४
एकापूर्पा	१२७
एकैकम	४१४
एकैकशः	४५३ ११६,१३२ १४,२१
एनम्	२१४
एवकारः	२८२
ऐन्द्रम्	३१६
ओदनं पचति	६६
औषसरागः	३२४
ककारः	२३६
कटकात्	१८६
कर्णेहत्य पयः पिवति	२८७
कण्डूतिः	२३७, २७६
कतमः	३५४
कथं कृत्वा	२८६
कन्या	३०३
कफापहा	२४८
कमण्डलुपाणिः	१६१
कम्पयते	८२
करस्य करभो बहिः	११७
करिष्यमाणा	२६८
कर्णजापः	२७१
कर्णवेधः	३६६
कर्तारौ	२६१
कर्तृ	४४५
कर्तृणि	४४६
कलहंसराममहितः	१४३, २४३,२५६
कल्याणक्रोडी	३७
कां दिशं गन्तव्यम्	१६४
काश्चनी	३२६
काश्चनीम्	३२६
काचाः	४३८
कातीयः	३२१
कापथः	२१२
कामहा	२५१
कारयामास	२२६
कार्तवीर्यार्जुनः	३४, १८
काव्यम्	३३८
कासाश्चक्रे	२३२
किंकृते	१४०
किङ्कराः	३०१
किरण	४१६
कीर्तना	२७४
कुकुरकौरवस्त्रियः	४१६
कुक्षिम्भरिः	२४७
कुटित्वा	३३
कुटीकुटम्	
कुप्यते	७६
कुरु तेनेयम्	१५४
कुर्वन्ती	४१८
कुशीलवौ	३८१
कुष्ठी	३४१
कूक्तिः	१३, ८६
कूपदेशप्रविष्ठः	१३६०
कूपमाण्डूकि ।	३०२
कूपात्	६५
कृतघ्ने	२४८
कृतपूर्वी कटम्	१६४
कृता जनैः (कृताजिरैः)	२१७
कृत्रिमपुत्रकैः	३५६
कृत्वा विप्रकुलम्	२८७
कृपा	४५६
क्लृप्ता	४५६

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
केकयीम्	३१३	गिलितः	४२१
केकयीतः	२५२, ६८, ८६, १,२	गिरिसागरविहार	२०६
केकय्युपज्ञम्	३१३	गुणिनां हिते	१७७
कैरवकोरकीयति	२२५	गुपितम्	२३०
कैलासाद्रिः	१२८	गुरुतुल्यः	१२०
कौरवाः	२१९	गुरुलाघवम्	३४०
कौरव्यः	२१८	गुरौ भक्तः	२९०
कौसल्यायनिवल्लभाम्	३१२	गुर्विणी	३४६
क्त्वः	४०७	गृहवित्तभर्त्रा	११४
कत्वायाम्	४४७	गृहस्थूणम्	२०८
क्रव्यादः	२४९	गृहादारभ्य	११६
क्रीडते	६२	गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्	२८६
क्रुश्चाम्	४६१	गोतरः	३५३
क्रयादिः	४०१	योऽभवत्	६
क	४६	गोभ्य स्वस्ति	१९९
क्षत्रिययूनाम्	४८०	गोमान्	३९३
क्षमा	३०३	गोविट्	२३१
शान्तिः	२७९	गोस्वामी	१३९
क्षीणः क्षीणः	४५६	गोहितम्	२१, २२
खपुष्पकृतशेखरः	३८, १०	गौरी ब्राह्मणितरा	३८४
खिन्नः खिन्नः	४५६	गौर्वाहीकः	७, ०
गच्छते	७८	गसति	५८
गणरात्रम्	२०८	ग्रामणीः	२०
गणेयम्	३९८	ग्रामार्धम्	३७, ७
गण्याः	३९९	ग्रामो गन्तुमिष्यते	१७२
गन्धवरेभिः	४१२	ग्राहयितुम्	३७ ७
गमकत्वात्	४३५	ग्रीवाकुक्षिललाटेषु	२०२
गमयति ग्रामम्	१००	ग्रैवेयम्	३१९
गर्वायसे	२२४	घुष्टम्	४२२
गवित्याह	४६८	घृतस्पृगयम्	४५८
गां वाहीकम्	६	चक्रपाणि	१६१
गिरिशम्	२४५	चञ्चुचरणैः	२२७, ५४, ६
गिरिशः	२४५	चतुर्दिशीमेघोदयः	२०१

उदाहरणम्	पृष्ठम्
चतुर्दिशीयान्	२०१
चतुर्यिता	४६६
चन्द्रकान्तयिता	५९
चन्द्रगोमिना	१४१
चरन्ति	२३५
चर्मवती	३५०
चातुरर्थिक:	३०९
चातुर्विद्यः	३१०, ३१८
चातुर्वैद्यम्	३१०
चापल	३३७
चालयन्	४०४
चिक्रसया	४२४
चित्रगुम्	३७१
चित्रभानुः	४७६
चिन्तिया	३९८
चुचुम्बे	७९
चुरा	२८१
चैत्रं यावच्छीतम्	१६७
छात्रोपाध्याम्	२०४
छिदुरम्	२५६
छिदुरया	२५६
छिदुरान्	२५६
जगन्मया	३३०
जन्म जन्म	१९०
जयति	२९३
जयन्ति	४४२
जश्त्वम्	४६१
जागरतया	२४१
जागर्यते	४५०
जाप्र:	३७५
जातिस्मरौ	५४३
जाने	२०, ६
जिघांसीयात्	२९४
जिष्णुः	३
जिह्वाले	३४६
जीवपत्याम्	८९
जुघुषुः	५२८
जूत्वा	४२५
ज्ञापकम्	४०३
ज्ञापनम्	४०३
ज्ञापयति	४०३
ज्ञापयितुम्	४०३
ज्ञायते	२६०
ज्ञास्यति	२५४
ज्योतिषम्	३२८, २३४
ज्योतिष्मती	३४३
ज्योत्स्नाहरः	२४४
तदस्मिन्नधिकम्	१९३
तदुपरि	१४०
तनिपतिदरिद्राणाम्	४१५
तनुषेकमलम्	४७५
तमस्तानवम्	२३९
तरुशैलाः	२०४
तर्कविद्या	१२९
तर्तुम्	४२४
तस्य ग्रहणम्	१४७
तस्याभिगमनाय	१७६
तां प्रति क्रुद्धः	९८
तिरस्कार	४७०
तिरस्कृत्य	१०५, ४७०
तुन्दपरिमृजः	२१
तुलयति	४४१
तुष्टोथ	४२६
तूष्णीकः	४४८
तृतीया	३९१

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
ते	६३	दरिद्राजागृदीधीनाम्	३६२
ते वनम्	६३	दर्शनीयदर्शनीय	४५४
तैराक्रमयामास	१७०	दर्शयते	८२
त्यज्य	४१४	दवः	२४२
त्याजितम्	२६	दाक्षिणापथी	३२१
त्रपा	३०३	दात्रेण	१६०
त्रयो गावः	४२७	दाराः	६२
त्राहि	५६	दारिद्र्यात्	१८८
त्रिष्टुप्	४७५	दासीदासम्	४१
त्रीणाम्	४१५	दिदृक्षते	३१
त्रैवर्णिकः	३०८	दिवस्यति	४७१
त्वं ब्राह्मणी	२६५	दिवोकसः	३७६
त्वकत्पितृकः	७	द्रिवौकसः	३७६
त्वगुत्तरासङ्गवर्ताम्	३४८	दुःखेन	४७८, ४६६
त्वत्कल्पो देवदत्तो याति	१०७	दुःस्थः	४७३
त्वत्तः	३५७	दुद्रोथ	४२६
त्वत्तरो यासि	१०७	दुरालभः	४१६
त्वद्भवति	१०७	दुर्धियः	४०१
त्वमागमिष्पसि	१०८	दुर्नयम्	४८०
त्वया ज्ञातः	२५८	दुर्नामा	४७७
त्वया रक्षितः	१६६	दुर्नीतम्	४८०
त्वया शीलितः	२५८	दुर्योधनः	२८४
दंष्ट्रांतुला	२८१	दुर्विज्ञेयम्	२८४
दक्षिणापथः ३५२, ६१,१०६, १७, २२		दुहितात्मजौ	३८०
दक्षिणामुखम्	३५२	दूतेषु	६४
दङ्क्षणवः	४	दृग्भ्याम्	४६३
दत्से	६१	दृढभक्तिः	३८२
ददरिद्रौ	२३३	दृष्टवा	२८६
ददृशे	८	देवासुरैः	२०४
दधतुः	५८	देवो याति	३७४
दधिसुमनसी	४१४	दोषाणां विवर्जितम्	१६७
दन्तमुष्टितलैः	२०३	दौत्येन	३३८
दरिद्रस्य	४१३	द्वन्द्वम्	४५६

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उराहणम्	पृष्ठम्
द्वन्द्वः	४५६	नासत्यौ	३८८
द्वयेषाम्	९	नास्ति	२५४
द्वापरः	३८५	निस्से	४७३
द्वारिकः	४३२	नितान्त	३९६
ह्यल्ला	२१	निर्घिर्जलानाम्	१५५
धवित्रम्	२४, २०	निन्यतुः	१५
धार्यैरामोदम्	१९३	निमित्तम्	४६३
धावितः	४२१	नियमयति	४०२
धूमायन्ते	२२५	निरस्यति	४०५
धूर्तबकः	१३१	निर्गच्छन्	४३९
धृतधनुषम्	३६०	निर्बन्धसे	२४१
नखीनाम्	३९२	निर्मितिः	२८१
नतः	२४३	निर्लाभा	४१६
नदीष्णः	८०	निविशती	६०
नन्दते	८०	निशामय	४०२
नप्ता कुमारी	२९७	निष्टब्धाः	४७६
नप्त्री	२९७	निहन्यते	२५४
नमश्नकार देवेभ्यः	१७९	निह्नुतड्रिया	८९
नमस्कृत्य मुनित्रयम्	१७७	नीचः	६६, १००, २०, १८
नयः	२६४	नुवति	९०
नयन्ति	६९	नृपतिसभाम्	२०७
नरकस्य जिष्णवः	१९७	नेष्टोद्गातारौ	३८०
नरवाहनः	४७७	नैककीर्त्तिः	३८०
नवं नवम्	४५५	नैशतमोवृतम्	३७९
नवनवत्वम्	४५५	पक्त्वौदनो भुज्यते	१७१
नवनवा	४५५	पचमाना	२९८
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्	१४२	पचानस्य	२५३, ६८, १६, २६
नाथसे	६३	पचानि	२३७
नान्तरीयकः	३२३	पच्यते	७८
नाप्रोथीदस्य	१८०	पच्यते ओदनो मोक्तुम्	१७१
नाभिनदः	९०	पच्चगुः	१२६
नारद इति	१६९	पच्चजनीयः	३३२
नासत्यः	३८८	पच्चपूल्यः	२००

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
पट्वी	४०९	पाक्तिः	२८२
पठिपठी	३४४	पाश्चकपालः	३०८
पणायान्	२३१	पाश्चकपालीयम्	३०८
पणायितम्	२३१	पाणिनीयम्	३२०
पतितः	४२२	पाण्डवाः	३१४
पतिना	८८	पाण्डयाः	२२०
पतौ	८८	पातयां प्रथममास	२३४
पदम्	४२९	पादे	४०७
पदाः	२६२	पार्थः	३१२
पद्भाः	३६८	पार्वतीपरमेश्वरौ	१५८
पद्भ्याम्	२६८	पितृवत्	३३३
पयोधिः	४६०	पितृणाम्	३९१
परमत्वम्	१०६	पिपतिषति	२२३
परमपूज्यः	१३२	पीडा	२७८
परमेष्ठी	४७५	पीडना	२७८
परश्शतम्	१२२	पीतप्रतिबद्धवत्साम्	२१०
परश्शताः	१२२	पीवरोरु !	३०८
परश्शताद्याः	१२२	पुंकाण्डम्	४६७
परस्सहस्राः	१२२	पुंवत्	४८५
परार्धभारनिर्वोढुम्	११९	पुंसु	४७३
परापवादसस्येषु	९५	पुंस्त्वम्	३३४
परिमलम्	२६५	पुञ्ज एतौ	३७१
परिवारः	२६९	पुनर्नवा	३७६
परिव्राट्	४६१	पुप्रोथास्मै	१८०
परिषद्बलान्महाब्राह्मैः	३४२	पुरः कौतुकाधानहेतोः	३०
परिष्वजति	५७	पुरतः	३२२
परीयाः	४४९	पुरस्सरां	३०२
परीयात्	४४९	पुरस्सरा	२४७
परीवारौ	२६९	पुरां भेत्ता	१४८
परोक्षम्	३७४	पुराणैकम्	१२५
पलाति	५२	पुरातनमुनेः	३२६
पश्चिमामुखः	३८६	पुरुषाराधनमृते	१६०
पश्य	३७०	पुरुषोत्तमः	१३७

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
पुरो रामस्य	११४	प्रवेता	४२०
पुष्टिः	४४	प्रशंसा	३६६
पुष्यः	३१५	प्रशंसीयात्	१८८
पूजिया	३९८	प्रशस्तिः	३६६
पूरयित्वा भुङ्क्ते	२८७	प्रशास्महे	७७
पूर्णिमा	३३६	प्रसज्यते	८१
पूर्त्तम्	४२३	प्रसरं	२६८
पूर्वं कायस्य	१८८	प्रसूतस्य	१६३
पूर्वफाल्गुनी	३९	प्राक्तनजन्मविद्याः	३१९
पूर्वामुखः	३८६	प्रागियम्	४५८
पेचिथ	४२६	प्राङ्गणे	४८१
पौनःपुन्यम्	३३५	प्राच्यासु	३२०
प्रक्लृप्यमानः	४	प्रातिपदिकात् परतः	१८९
प्रख्यानम्	४८१	प्राध्ययनाभिभूतम्	३७२
प्रचक्रमुः	७१	प्राप्तजीविका	१३४
प्रचुरतरव्यञ्जनवत्यः	३४७	प्राप्यकर्म	१२९
प्रणम्य शितिकण्ठाय	१७८	प्राप्स्यते	८०
प्रतिजृम्भति	५५	प्रावृषायते	२२५, ४५०
प्रतिस्तब्धः	४७६	प्रियस्य	४७२
प्रतीच्छिष्यामि	४३९	प्रुसुल्वः	४१७
प्रत्यक्षः	१११	प्रेन्वनम्	४७९
प्रत्ययः	२६३	प्रेम	३३७
प्रत्येकम्	११२	प्रेष्यब्रुवोः	२१६
प्रध्यानम्	४८१	प्लक्षः	४, २०
प्रपञ्चः	४३८	फलवत्पूगमालिना	३४८
प्रपरापसमन्ववनिर्दुर्व्यतिसूदभि-निपर्यपयः	१५८	फलवान्	३४९
		फलानामाशितः	२८१
प्रबोधयन्ते	८१	फली	३४९
प्रभावः	२६४	फलैः	१४२
प्रभूयते भूस्यः	१८३	वभूव	३०, ४५२
प्रमदवनम्	३८६	बहिर्ग्रामात्	११७
प्रमिलौ	२४१	बहुश्रुतः	१६२
प्रलम्बघ्नः	२४८	बहुसंख्या	८७

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
बहुसंख्युः	८७	भीतम	२६६
बालाम्	३०३	भीतभीत इव	४५४
बिन्दव	२५७	भीरवः	३०७
बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः	३४८	भीरु	४४५, ३०७, २, १७
बुध्यति	५५	मुक्ता ब्राह्मणाः	२६०
बुभुक्षालुः	२५५	मुक्त्वा तुष्टिः	२८६
बुभुक्षितं न प्रतिभाति	१६७	भुङ्क्ते	१७६
बुभुजाते	७५	भूतपूर्वगतिः	१११
बुभुजे	७५	भूम्रि	४०६
बोभूयते	५४	भूषणभूष्यभावः	१५८
ब्रह्मघ्नम् ४७८, ६६, १४१, १२, १३		भूषणाः	२८३
ब्राह्मणी	३०५	भृतिः	२७५
भयनम्	७२, २१	मृष्टम्	३६७
भयशोकहर्ता	१५०	भेत्ता	४४१
भयापहाः	२४८	भेषजम्	४३०
भरः	२६४	भोक्ता	८६
भरितम्	४२०	भोक्ष्यते	७५
भवति	१६, ४२, ४७	भ्रान्तं देशम्	१६६
भवतीप्रसादात्	३८३	मकत्पितृकः	८
भवतीसुतक्षयकरः	३८३	मघवद्	४०७
भवद्च्छायाम्	४८५	मज्जति	४८२
भवान् यति	३०, १७	मश्चाः क्रोशन्ति	१६२
भवितव्यप्रियसङ्गमम्	२६१	मतिः	२७६
भवो	४०	मत्तः	३५६
भाण्डे	४२६	मत्वर्थीयम्	४१०
भारतो ग्रन्थः	३१७	मधुपर्कपाणिः	१६१
भार्या	२७५	मधुपी	३००
भास्करः	४६६	मधुहा	२५१
भिक्षुणी	३०६	मध्यन्दिनार्कसंतप्तः	३८८
भिक्षुस्य	४१३	मनीषितम्	४२०
भित्तिः	२८०	मन्त्रजापम्	२७१
भिदुरं	२५६	मन्दधियाम्	४०१
भिन्धकी	४०५	मन्दं मन्दम्	४५५

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
मन्ये धातुः	१७१	म्लानिः	२७३
ममत्वम्	३३५	यजेय	४६
ममायं प्रभुः	१८०	यतितम्	४२१
मत्रे	७५	यत्कृते	१४०
मया ज्ञातः	२५८	यत्र शीलितः	१९६
मरतकाह्वयः	३६७	यथाशक्त्या	३२, १४
मरुत्वान्	४६२	यथोक्तरीत्या	११५
महतीप्रियः	३८४	यष्ठिः	२७४, ३६५
महद्भूतः	३०, १६	यायावराः	२२६
महाबलपरीवारः	३९०	यूपाय	१९०
महाष्टम	३८४	यौगपद्यम्	३३६
महाँ हि	४६७	रकारादीन्	२८३
महिष्यः	९३	रक्षःपाणान्	३५३
मातुः करोति	४७०	रक्षोगणं क्षाप्नुम्	१९३
माच्छादयामि	२८५	रङ्क	३९४
मादः	२७१	रजोपमाः	४५९
मान्यचरोभिः	४१२	रजोयुक्ताः	३४३
मा भवतु	२८५	रज्जुसृङ्भ्याम्	४६३
मा भैः	२२२	रञ्जनात्	३९४
मायिनः	३४९	रणे प्रत्तागतम्	१८७
मायी	३४९	रत्नज्योतिर्दन्तुरः	१२०
मालिकः	३४६	रथनागाश्वैः	२०३
मासि	३६८	रथातिगाः	४६७
माहिष्मतीम्	३१८	रन्धनाय स्थाली	१२१
मित्रवत्	३३३	रविचन्द्रौ	३८१
मुक्ताजालम्	१०२	राजकुलानी	३०५
मुखनासिकाभ्याम्	२०२	राजपूजितः	१४३
मुच्यते	७९	राजा	९०
मुत्	२२	रावणाय नमस्कुर्याः	१७९
मुमूर्षति	२२४	राष्ट्रालम्भः	४१६
मूढधियः	४०१	रुजा	२८०
मृगतृष्णाम्भसि	१३७	रुदिहि	४०४
मेरुवर्वतः	१२८	रुद्रौ	४०

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
रोगिणां हितम्	१७७	वर्णकम्	१२४
लज्जते	४८३	वर्षणम्	२६६
लज्जालुः	२५५	वर्षाभ्वै	८६
लज्जितम्	४२०	वलमानः	८१
लभन्ति	५५	वलयन्	४६९
लम्भयति	२९	ववलिरे	४०६
लम्भयन्	२९	ववाह	३६४
लवणा	३०१	वस्त्रं वयति	२८
लालामितः	२२६	वहन्ति	९४
लिखनम्	२५, ४४१	वाम्	४५७
लिखापयति	२२७	वाग्मी	४८५
लिङ्गानुशासनम्	१४४	वाचस्पतिः	४७१
लेखः	४४२	वाच्यति	३६५
लेखकः	४४२	वाणिज्यम्	३३८
लेखनी	४४२	वातवीजनैः	२१७
लैखिनी	४४२	वायुसंख्या	३५८
वृक्ष्यति कर्मणि द्वितीया	१७१	वारिणः	४४६
वंशे	९६	वारे !	४४६
वज्रपाणिः	१६१	वार्त्तम्	३२८
वञ्चकवृत्त्य	३०४	वार्तिसूत्रिकम्	१५७
वत्सा	३०३	वातघ्नम्	४३४
वनस्य मोक्षः	३४	वासगृहम्	१२१
वनाय	३४	वासवदत्ता	३२८
वने	३५	वासुदेवः	३१०
वनेभ्यः	३४	वाहयेत्	२२९
वन्ध्यासुतः	१३७	विंशतेरधिकः	१८७
वर्मः	४३५	विगाह्य स्थितः	२८७
वमथुः	४३५	विदधामः	२९३
वयं गच्छामः	४३५	विदितः	२६१, ४२६
वयं वैयाकरणाः	३८	विधिः	२७२
वरम्	२७०	विमसा	३५९
वरतनु	३६२, १०२, १३०, १७, १९	विनिन्युः	६८
वर्णायपति	२२७, २	विनियम्यम्	२३८

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
विभूतिः	९६	व्यजनम्	२१७
विवेकशून्यमनसो मा देहि	१७६	व्यतिपपे	४४०
विव्यचिथ	२६	व्याकरणशास्त्रम्	१२८
विव्यतुः	४६५	शत्रुघ्न	२४८
विव्ययुः	३७४	शत्रून जयति	४८२
विव्युः	३७४	शपामि	६२
विशिष्टानुबन्धवच्छब्दः	३४८	शब्दानुशासनम	१४४
विश्रामः	४३६	शब्दे	९४
विश्रामय	४०३	शमीतरुः	१२८
विश्वसेत्	२२०	शम्भुना	१९८
विश्वजनीयः	३३२	शयनीयम्	२९१
विश्वसृग्	४६४	शयानेन भुक्तम	१९१
विश्वस्तः	४२४	शयामि	५६
विषकुम्भपयोमुखम्	१३०	शय्या	२९१
विषवृक्षः	१९९	शरीरार्धहराम्	१३३
वीज्यते	२१७	शशश्रृङ्गधनुर्धरः	१३७
वृक्षः	१७, ४५८	शशिना सह	१८४
वृक्षाय	४४३	शशोर्णम्	२०८
वृक्षे	४१०	शस्त्रपाणिनाम्	३९२
वृक्षोऽयम्	१९१	शान्त्युदकुम्भहस्ता	१६०
वृक्षस्तिष्ठति	१८	शार्वरस्य	३२४
वृत्तौ	९६	शाश्वतः	३२५
वृत्रस्य हन्तुः	२५२	शाश्वतिकः	३२५
वृश्चिकः	३९९	शास्ति	३९५
वेमुः	४०५	शास्यै	३९५
वैयाकरणः	१२	शास्त्रवाक्यानि	४७९
वैदेहिबन्धोः	३८६	शास्त्रीयम्	३२८
वैदेहीमन्तरा	१७३	शिशपावृक्षः	१२८
वैरम्	३३७	शिखी	३४१

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
शिञ्जत्	५५	शुद्धोदनः	३७१
शिलापुत्रकस्य	१३७	शुध्यते	७९
शिष्योपाध्यायम्	१५८	शुभाङ्गी	३०६
शीतालुः	२५५	शृणुष्व	८०
शृतम्	३६६	सत्कृत्यशालिनः	१३२
शेषम्	२६२	सत्यवद्यः	२३९
शेषाणि	२६२	सन्	३९३
शोच्यः	४३८	सन्ददृशे	६८
शोभति	५५	सपज्ञः	३८९
शोभनं ग्रामं गच्छन्ति	१७६	सपत्नीमाता	१५७
शोभनं समया ग्रामम्	११३	सप्तविंशतिमौक्तिकैः	३८५
शोभा	२७७	सभां वा न प्रवेष्टव्यम्	१६५
श्रवणधिया	४०१	समगच्छत	६७
श्रवणा	३०१	समया ग्रामम्	११३
श्रावी	३४५	समस्या	४३०
श्रितः	२९१	समाक्रामति	७१
श्रियः पतिः	४७२	समानपक्षः	३८९
श्रीधनः	४७६	समारन्त	२३५
श्वो गमिष्यसि	२८५	समितिः	२७६
षड्ढा	४८४	समीहे	२३३
षोढा	४८४	समुच्छ्रयाः	२६५
ष्ठीवनम्	४४०, १३७, ९, ५५	समुदायिभ्योऽनन्यः	१८९
संयमयति	४०२	समपृच्छे	२९, ६८
संवत्सरकरणीणं	१२४	सम्प्रहरिष्यन्तौ	७०
संशृणुमहे	६८	सम्भावयां राघवमास	२३५
संस्कारः	३७८	सम्मार्जदक्षा	४३७
संस्क्रिमते	४५१	सरस्वान्	३४८
संस्थाः	३९९	सरोजीयति	२२५
सखिः	४१८	सर्पिणी	३४४

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
सखिना	८६	सर्वत:	३५१
सख्या:	३७६	सव्येष्ठा:	४७४
सङ्क्रमते	७२	सव्येष्ठारौ	४८४
संक्रामयति	४०३	अस्त्रे	७८
संग्रह	२६६	सहकारसुगन्धौ	३८८,१०१,११०,२४
सङ्घातान्	२७२	सहचरीम्	२४६, ६६
सतीत्वम्	३८३	सह मेघेन	१८४
सत्कर्तव्यम्	१४१	सह लक्ष्मणेन	१८३
सहेत्	५८	सौहृद्यम्	४३२
सहोदरस्य	३३१	स्तव्यपरावरोक्ति:	२४०
साङ्गुलानि	३५८	स्त्रीत्वम्	३३४
साधु खलु पयसः पानम्	१५४	स्नात्वा-सुखम्	२८६
सापत्न	३११	स्पृहा	२८१
साम्प्रतिकाभावे	३२५	स्मितस्त	१७२
सार्वजनीन:	३३२	स्यन्द	५५
सावर्णि:	३११	स्यात्	२८५
साष्टे	११६	स्वकीयस्य	३२२
साहाय्यम्	३३६	स्वयंग्राह:	२६८
सितम्ना	१०२	स्वरूपविषयत्वात्	३८६
सितेतरस्य	१६२	स्वर्भानु	४७६
सिसृक्षते	८	स्वस्थे	२८६
सुखाभव	३५७	स्वाभाविकम्	४३२
सुटा सीयुटो बाधा	१६५	स्वाभाव्यात्	४३२
सुतनु !	४४४	स्वायम्भुवम्	४०६
सुदती	३६२	स्वीयम्	३२३
सुनो !	४४६	स्वैरिणी	२५०
सुभ्रु ।	८६	हनौ	२६६
सुमतये	८३	ह्न्व:	३६६

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
सुरतासमुदीरणेन	३३४	हा अम्ब !	१६३
सुस्तुतम्	१५४	हा कष्टम्	१६४
सुस्थः	४७३	हा तात !	१६३
सुस्थितः	४७३	हा पितः	१६३
सेवति	५५	हाहा गिरः	१६४
सन्धवः	३२१	हितमात्मनः	१७६
सो वा	३७७	हिते	१७६
सौमित्रे !	३११	हिमहा	२५०
सौम्पः	३१६	हुंकारेण	२८२
सौवम्	३२३	हृष्टः	४२३
सौहृदः	४३२	हे गौः !	५१

दुर्घटवृत्तौ व्याख्यातानां सूत्राणां सूचनिका

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
अक: सवर्णे	३७२	अनङ् सौ	४१८
अकर्मकाच्च	७३	अनभिहिते	४४
अकृत्सार्व	४५०	अनिदितां	३९४
अङ्गस्य	११२	अनुदात्तङित	५२
अच: परस्मिन्	१२	अनुदात्तोप	३९६
अचि श्नुधातु	४०१	अनुपसर्गाद् ज्ञ:	७६, २१
अचो ञ्णिति	४२८	अनुपसर्गाद्वा	७२, १९
अचो यत्	२३७	अनुशतिका	४३३
अच् प्रत्यन्वव	१००	अनेकमन्य	१५५
अजाद्यत:	२९५	अन्तरान्तरेण	१७२
अजेर्व्यघ	२१७	अन्यथैव	२८८
अत इञ्	३१०	अन्यपदार्थे	११८
अत इनि:	३४३	अन्यारादि	१८८
अत उपधा	४२८	अपथं नपु	२११
अतोऽम्	११९	अपपरि	११७
अतो दीर्घो	४४२	अपादाने चा	३५६
अतो भिस	४१२	अपादाने पञ्च	१८६
अत्वसन्तस्य	३९३	अपे क्लेश	२४८
अदर्शनम्	१७	अ प्रत्ययात्	१७६
अदस औ	४२७	अमनुष्य	२४८
अदिप्रभृति	२२०	अम्बाम्ब	४७४
अधिकरणे शे	२४५	अरुर्दिष	११०
अधिकृत्य कृ	३२८	अर्धं नपु	१३३
अध्ययनतो	२०४	अर्वणस्त्रसा	४०६

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
अलुगुत्तर	१०७	इगन्ताच्च	३३८
अल्पाच्तरम्	१५८	इजादेश्च्र	२३३
अवाच्चाल	४७४	इजादेस्स	४८१
अव्ययं विभक्ति	३१	इञश्च	३२०
अप्रडक्षाशि	३५५	इदमः स्थमुः	३५१
असंयोगा	२६	इदुदुपधस्य	४६६
असिद्धवद्	११२	इन्द्रवरुण	३०५
अस्ताति च	३५२	इन्धिभवतिभ्यां	३०
अस्तेर्भूः	२१५	इषुगमि	४३६
अस्मदो द्व	३८	इसुसुक्ता	४३७
अस्मद्युत्तमः	१०८	ईदपेः	३८१
अस्मायामेघा	३४८	ईषद्दुस्सुषु	२८४
आकडारा	२३	उगिनश्च	२६८
आग्रहायण्य	३१५	उणादयो	७१
आङ उद्गमने	७०	उदिश्रयति	२६५
आङि चापः	४४३	उदोऽनुर्घ्व	६५
आङो दो	६१	उपदेशेऽत्व	४२६
आङो यम	६५	उपधायां च	४६५
आङो यि	४१६	उपपदम	१५४
आतश्चोप	२८१	उपर्यध्यधसः	४५४
आतो धातोः	४०७	उपसर्गस्य घ	३६०
आतोऽनुप	२४३	उपसर्गाच्च	३५६
आतो युच्	२८४	उपमर्गात् खल्	४१६
आत्मन्विश्व	३३२	उपसर्गात् सु	४७३
आदेच	३६७	उपसर्गादस	४८०
आदेशप्रत्यय	४७२	उपसर्गे घोः	२७२
आद्गुणः	३७०	उपसर्गे रुवः	२६३
आनङ् ऋतो	३८०	उपसर्जनं	१५६
आने मुक्	१२४	उपाद्यमः	७४, २०
आन्महतः	३८४	उपान्वध्याङ्वसः	६८
आर्धधातुकस्ये	४२४	उभयप्राप्तौ	१६५
आशिषि नाथः	१७	ऊङुतः	८४
इकोऽचि वि	४१७	ऊतियूति	२७४

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
ऊरूत्तरप	३०८	कर्मण्यण्	२४३
ऊर्यादिच्वि	१०३	कषादिषु	२८८
ऋत उत्	३७५	कालाट्ठञ्	३२४
ऋतो ङिसर्व	४४६	कास्प्रत्ययात्	२३२
ऋत्विग्दधृग्	२४६	किमेत्तिङ	३५६
ऋन्नेभ्यो ङीप्	२९७	कुगतिप्रा	१५२
ऋहलोर्ण्यत्	२४१	कुप्वोः ≍क≍पौ	४६९
ऋत इद्धातोः	४१९	कुमति च	४७८
ऋदोरप्	२६७	कुमुदनड	३१८
एकगोपूर्वात्	३४७	कुलकुक्षि	३१९
एकाच उप	४२०	कुञ्चानुप्रसु	२३४
एकाचो द्वे	१०३	कृत्यचः	४८१
एकाजुत्तरपदे णः	४७८	कृत्यतुल्याख्या	३६
एतत्तदोः	३७७	कृत्यैर्ऋणे	१२४
एतिस्तुशा	२४०	कृदतिङ्	२३६
एतेर्लिङि	४४९	कृपो री ल	४५९
एरच्	२६५	केऽणः	४४८
एरुः	२९३	कोः कत्तः	३८९
ओजस्सहोऽम्भ	३७९	कौरव्यमा	३०२
ओल्	६	कौसल्यका	३१२
ओर्गुणः	४०९	क्ङिति च	१
ओसि च	१३०	क्तस्य च वर्त	१९६
औतोऽम्शसोः	३७१	क्तादल्पाख्या	८४
कर्तरि कर्म	५८	क्तेन च पू	१४३
कर्तरि कृत्	२८९	क्रतूक्थादि	३१८
कर्तरि च	१५०	क्रव्ये च	२४९
कर्तुः क्यङ्	२२४	क्रीडोऽनुसं	६२
कर्तुरीप्सित	९९	क्रुधद्रुहेर्ष्या	९७
कर्तृकरण	१८१	क्विन्प्रत्ययस्य	४६३
कर्तृकर्मणोः	१९३	खरवसानयोः	४६७
कर्तृस्थे चा	६९, १८	खरि च	४८४
कर्मणि-च	१४४	ख्यत्यात्परस्य	३७६
कर्मणि द्विती	१६३	गतिबुद्धि	१००

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
गत्यर्थकर्मणि	१७४	णेरनिटि	३६८
गदमद	२३८	णौ चङ्युप	१३२
गन्धस्येदु	३६१	ण्यासश्रन्थो	२८१
गहादिभ्यश्च	३२२	ण्वुल्तृचौ	२४१
गाङ्कुटादि	२४	तत्पुरुषस्या	३५८
गातिस्थाघु	२२२	तद्धितार्थो	१२६
गुणवचन	३२७	तद्धितेष्व	४३०
गुणोऽर्तिसं	४५१	तद्राजस्य	२१८
गुपुधूप	२३०	तयोरेव कृ	२८६
गोस्त्रियो	३६	तसिलादिष्वा	३८३
ग्रहवृदृ	२६८	तस्य भावः	३३४
घञि च भाव	३६४	तिरसोऽन्य	४७०
घुमास्थागा	३६६	तिष्ठद्गुप्र	११८
घुषिरवि	४२२	तुन्दादिभ्य	३४६
घेर्ङिति	४४६	तुल्यार्थैरतु	१६८
चजोः कु	४३७	तुल्यास्यप्र	४
चतुर्थी चाशि	१६६	तृतीया तत्कृ	१२०
चतुर्थी तद	१२१	तेन तुल्यम्	३३३
चतुर्थी सम्प्र	१७६	तेन रक्तम्	८६
चरेष्टः	२४६	त्रिचतुरोः	४२७
चोः कुः	४६१	तेस्त्रयः	४१५
जनपदः	३१३	त्वे च	३८६
जनिकर्तुः	६६	दक्षिणादाच्	३५२
जातिरप्रा	२०४	दिव उत्	३७६
जॄव्रश्च्योः	४२५	दुन्योरनुप	२४१
ज्योतिर्जन	३८६	देवताद्वन्द्वे	३८१
ज्योत्स्नातमिस्र	३४३	देविकाशिंश	१२६
झलां जशोऽन्ते	४६१	द्युप्रागपा	३१६
झरो झरि	४८५	द्वन्द्वं रहस्य	४५६
टाङसिङसां	४१२	द्वन्द्वमनोज्ञा	३४०
टिड्ढाणञ्	२६६	द्वन्द्वश्च प्राणि	२०२
टित आत्मने	२६१	द्वन्द्वे घि	५५८
टेः	४०८	द्वन्द्वोपताप	३५०

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
द्वारादीनां च	४३२	न सुदुर्भ्याम्	४१७
द्विगुरेक	२००	नस्तिद्धते	४०८
द्विगोर्लुंग	३०८	नाभि	३६२
द्वितीयाटौ	२१४	निगरणचलन	८२
द्वितीया श्रिता	११६	नित्यं कौटिल्ये	२२६
द्विर्वचने	१४	नित्यं ङतः	२६३
द्विवचनवि	३५३	नित्यं वृद्ध	३२६
ह्यचः	३१२	नित्यवीप्सयोः	४५३
ह्यजृद्ब्राह्मण	६१	निष्ठा	१६२
ह्यष्टनः सङ्ख्या	३८५	निष्ठा शीङ्स्विदि	३२
घनुषश्च	३६०	नेयङुवङ्	८४, २३
धातुसम्बन्धे	७८	नैर्विशः	६०
धातोः कर्मणः	२२३	नोदात्तोपदेश	४३५
धान्यानां भवने	६५	पञ्चमी भयेन	१२२
धि च	४६०	पतिः समास	८८
धूमादिभ्यश्च	३२१	पदान्तस्य	१४२
ध्रुवमपाये	६४, २६	पद्दन्नोमास्	३६८, १०४
न क्रोडादि	८४	परवल्लिङ्गम्	२०८
नञ्	१३५	परिमाणाख्या	२६३
नद्यृतश्च	३६२	परोक्षे लिट्	५२५
न निर्धारणे	१३७	पाघ्राध्मा	४४०
नपुंसकाच्च	४१४	पादः पत्	४०७
न बहुव्रीहौ	७	पादशतस्य	६६
नभ्राण्नपा	३८८	पुंवत् कर्म	३८४
नमः स्वस्ति	१७७	पुगन्तलघू	४४०
न माङ्योगे	४००	पुमः खय्यम्परे	४६७
न लुमता	२२	पुमान् स्त्रिया	४०
न लोकाव्यय	१६७	पुरोऽप्रतो	२४७
न ल्यपि	३६६	पूरणगुण	१३६
न विभक्तौ	४६	पूर्वकालैक	१२४
न शसदद	४०५	पूर्वत्रासिद्धम्	४५८
नश्चापदान्तस्य	४६६	पूर्वपदात् सं	४७७
नश्छव्यप्र	४६७	पूर्वपराधरो	३७

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
पूर्वसदृश	३४	मतुवसो रु	१३८
पोटायुवति	१३१	मनुष्यतत्स्थ	३८१
पोरदुप	२३८	मदोऽनुप	२७१
प्रकारवचने	२५३	माङि लुङ्	२८५
प्रकारे गुण	४५४	मितां ह्रस्वः	४०२
प्रत्ययः	५९	म्रियतेर्लुङ्लि	७५
प्रत्ययलोप	१९	यथासंख्यम	४७
प्रथमयोः पूर्व	३७४	यथासादृश्ये	११५
प्राक् क्रीताच्छः	९२	यस्मात् प्रत्यय	९०
प्राग् दिशो	९८	यस्य विभाषा	४२१
प्राग्वहतेः	९२	यस्येति च	४१०
प्राणिस्थादा	३४१	याष्ये पाशप्	३५३
प्रातिपदिकान्त	४७९	सावादिभ्यः	३५६
प्रादिपदिकार्थ	१९१	यासुट् पर	२९४
प्राप्तापने	१३४	ध्रुवोरनाकौ	११८
प्रैषातिसर्ग	२८४	युष्मदस्मदोःषष्ठी	४५७
प्रोपाभ्यां युजे	२०	युष्मदस्मदोरन्य	८९
प्रोपाभ्यां स	७१, १९	युष्मद्युपपदे	१०६
फलेग्रहिरा	२४७	यू स्त्र्याख्यौ	८३, २३
फल्गुनीप्रो	३९	येषां च विरोधः	२०४
बहुषु बहु	९२, २६	योपधात्	३३९
बाष्पोष्म	२२५	रजःकृष्यासुति	३४२
बाह्वादिभ्यश्य	३०४	रदाभ्यां निष्ठा	४६२
युधयुध	८१, २२	रलो व्युपधा	३३
ब्रह्मभ्रूण	२५०	रषाभ्यां नो णः	१४१
ब्रह्महस्तिभ्यां	३५८	राजाहस्सखि	३५८
ब्रवो वचिः	२१६	रात्राह्नाहाः	२०८
भवतेरः	४५२	रिङ् शयग्लिङ्क्षु	४५०
भावे	२६२	रोगाख्यायां	२८२
भुजोऽनवने	७५, २०	रोऽसुपि	४६४
भूवादयो धा	४२	लटः शतृशानचा	२५४
भ्रस्जो रोप	३९७	लिङ्निमित्ते	२८५
मतिबुद्धि	२५८	लुंपसदचर	२२७

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
लुबविशेषे	३१५	व्रीह्यादिभ्यश्च	३४६
लोपः शाकल्यस्य	४६८	शप उपालम्भने	१६
लोपो व्योर्वलि	३६८	शप्श्यनो:	४१८
ल्युट् च	२८३	शास इदङ्	३६५
वचिस्वपि	३६४	श्रृतं पाके	३६६
वदः सुपि	२३६	शेषात् कर्तरि	७७, २१
वयसि दन्तरण	३६२	शेषो घ्यसखि	८६, २३
वयसि प्र	३०३	श्नसोरल्लोप:	४०५
वर्तमाने लट्	२५३	श्रणांभुवो	२६३
वा दान्त	४२३	श्रघुकः किति	४२१
वा पदान्तस्य	४८५	श्लौ	३६४
वाहनमा	४७७	श्वीदितो	४२१
वा बहूनां	३५४	षष्ठी	१३८
वा यौ	५७	षष्ठी शेषे	१६३
वारणार्थानां	६५, २७	षष्ठयतसर्थ	१८६
वा ल्यपि	३६७	षष्ठयाः पति	४७१
वासरूपो	२३७	षिद्गौरादि	३०३
विज इट्	२७	षिद्भिदादि	२७६
विदिभिदि	२५६	ष्टुना ष्टुः	४८४
विन्दुरिच्छुः	२५७	सयोगे गुरु	८६, २४
विभाषा कृञि	१०५	सख्युर्य	३३८
विभाषा गम	४२६	संखयापूर्वो	१२७
विभाषा गुणे	१८४	संखयायाश्च	३५७
विभाषा जसि	६	संघामे प्र	३१७
विभाषो दरे	१२१	संघीद्धौ	२७२
विशेषणं वि	१२८	संज्ञायां समज	२७५
बृद्धाच्छः	३२१	सत्यापपाश	२२७
वृद्धिरेचि	३७१	सत्सू द्विष	६७
वृद्धेत्कोसला	३१४	स नपुंसकम्	२०६
वोतो गुण	३०४	सनाशंस	२५६
व्यधजपो	२७१	सप्तमीवि	१६०
व्रजयजोः	२७४	सप्तम्यधि	१६०
व्रश्चभ्रस्जसृज	४६१	सभा राजा	२०७

उदाहरणम्	पृष्ठम्	उदाहरणम्	पृष्ठम्
समर्थः पद	१०६	स्त्रियाः पुंवद्	३८२
समानकर्तृकयोः	२८६	स्त्रियां क्तिन्	२७३
समानोदरे	६२	स्त्रीभ्यो ढक्	३११
समासेऽनञ्	४१४	स्नुक्रमोरना	४२४
समो गम्यृच्छि	६७	स्पृशोऽनुदके	२४६
सम्पर्युपेभ्यः	३७८	स्पृहिगृहि	२५५
सम्प्रसारणाच्च	१०६	स्पृहेरीप्सितः	६६
सम्माननोत्स	६८	स्वाङ्गोच्चो	८४
सर्तिशास्त्यर्ति	२३५	स्वादिष्वसर्व	६०, २५
सर्वनामस्थाने	३६३	हनस्तोऽचि	४३५
सर्वैकान्य	३५१	हरतेरनु	२४४
सहयुक्ते	१८३	हरतेर्गति	१७
सह सुपा	१११	हलः	३६१
सहस्य सः	३८८	हलन्ताच्च	३१
सापदाद्योः	४७५	हलन्त्यम्	११
सायंचिरं	३२५	हलि च	१३७
सास्य देवता	३१६	हल्ङ्याब्भ्यो	३६६
सिचि वृद्धिः	१२२	हुझल्भ्यो	४०४
सिध्मादिभ्यश्च	३४१	हृद्भगसि	४३२
सुपि च	४४३	हृषेर्लोमसु	४२३
सुप्यजातौ	२५०	हेतुमति च	२२६
सोदराद्यः	३३१	ह्रस्वः	४५१
स्तोः श्चुना श्चुः	४८२	ह्रखनद्या	४१५

डॉ० ऊषा सिंहल का जन्म ३ नवम्बर, १९४३ को जगाधरी, जिला अंबाला (हरियाणा) में हुआ। आपने सन् १९६७ में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते हुए एम० ए० (संस्कृत) की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस गौरव-पूर्ण उपलब्धि के फलस्वरूप आपको विश्वविद्यालय पदक, उदयचन्द जैन स्वर्ण पदक तथा हरियाणा राज्य के नकद पुरस्कार से सम्मानित किया गया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की छात्रवृत्ति प्राप्त करते हुए आपने सन् १९७३ में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि अर्जित की। सन् १९७३ में दिल्ली विश्वविद्यालय से भाषा-विज्ञान में तथा सन् १९७५ में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के दिल्ली परिसर से अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान में निष्णातोत्तर उपाधि पत्र प्राप्त किए। सन् १९८१ तथा सन् १९८२ में क्रमशः एम० ए० (हिन्दी) तथा एम० फिल् (हिन्दी) की परिक्षाऐं ए ग्रेड में उत्तीर्ण कीं। 'भारवि की काव्यकला' (आलोचना), 'दूतवाक्यम्' (आलोचनात्मक भूमिका एवम् हिन्दी अनुवाद सहित) 'हिन्दी-शिक्षण' तथा "शैलीविज्ञान और नाटक" आपकी उल्लेखनीय कृतियां हैं। सम्प्रति आप कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में प्रवक्ता हैं।

PARIMAL PUBLICATIONS
A House of Indological Books
27/28 Shakti Nagar, Delhi-110007